Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Chintan-Srjan

Vol. 6 2008-9

Gurukul Kangri Collection, Ha

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
131737
Stock Verification-2004
,ch0
131737
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

131737
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्य : 20 रुपये

ISSN 0973-1490

वर्ष-6 अंक-1 -4 जुलाई-सितम्बर 2008

चिन्तन-सृजन

www.asthabharati.org

त्रैमासिक

आस्था भारती, दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

अंक 1 जुलाई-सितम्बर 2008

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

सम्पादक

बी. बी. कुमार

,ch0
131737

आस्था भारती

दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेन्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

12/604 ईस्ट एंड अपार्टमेन्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096
से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।
फोन : 011-22712454
ई.मेल : asthabharati@yahoo.com, asthab@vsnl.net
वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-क्रम

	सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1.	मंगोल और आचार्य रघुवीर *लोकेश चन्द्र*	8
2.	स्वात्रंत्र्य की अभीप्सा और सृजन *यशदेव शल्य*	16
3.	कोसी, जल-प्रलय और बिहार की त्रासदी *ब्रज बिहारी कुमार*	24
4.	कोसी : परिचय एवं संदर्भ *देवेन्द्र कुमार 'देवेश'*	30
5.	सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध सिक्किमी संघर्ष *ए.सी. सिन्हा*	43
6.	वैश्विकृत समाज में अश्लीलत्व की नयी अवधारणाएँ *पुष्पपाल सिंह*	54
7.	इतिहास और साहित्यः स्मृति और सत्य *रमेश दवे*	61
8.	रवीन्द्रनाथ ठाकुर और हिन्दी में छायावादी आन्दोलन *विमला उपाध्याय*	70
9.	स्त्रीवाद (Feminism) : साम्प्रतिक वहुआयामी निनाद *पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'*	79
10.	राष्ट्रस्य चक्षु इतिहासमेतत् *गुंजन अग्रवाल*	104
11.	पुस्तक-समीक्षाः सीता की खोज *श्रीभगवान सिंह*	118
	पाठकीय प्रतिक्रिया	122

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य 5

1. बोरोबुदुर : ब्रह्माण्ड ज्ञान का गुप्त या प्रच्छन्न आधार
डॉ. लोकेशचन्द्र 9

2. तन्त्र या आगम और भाषा
राममूर्ति त्रिपाठी 27

3. डायरी के पन्नों से
रमेश चन्द्र शाह 33

4. पाँचवें भूटान नरेश का राज्याभिषेक : धर्मतन्त्र, राजतन्त्र और प्रजातन्त्र की अबूझ पहेली
ए. सी. सिन्हा 40

5. हिन्दू इतिहास-बोध और रामायण
शंकर शरण 51

6. आज भी खरे हैं तालाब 64

7. ललित-निबंध : आधुनिकता के संदर्भ में
श्रीराम परिहार 81

8. हिन्दी भाषा और इण्टरनेट
डॉ. सातापा लहू चव्हाण 86

9. पुस्तक-चर्चा : शंख-सिन्दूर
ब्रज बिहारी कुमार 93

10. पुस्तक समीक्षा : आप्तलोक की तलाश की कहानियाँ
संजय कुमार सिंह 96

11. पुस्तक समीक्षा : समग्र यथार्थ की कहानियाँ
संजय कुमार सिंह 101

पाठकीय प्रतिक्रिया 105

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य 5

1. लोक सौन्दर्य और लोकोत्तर ऐश्वर्य का संश्लेषोत्कर्ष-अजन्ता
लोकेश चन्द्र 9
हिन्दी रूपांतर : बाबूराम वर्मा

2. नेपाल में नाटकीय पटाक्षेप : कितने तंत्र :
राजतंत्र, प्रजातंत्र या माओतंत्र
ए. सी. सिन्हा 22

3. छुटकारा
महात्मा गांधी 37

4. वर्णमाला, भाषा और शिक्षा
राम मनोहर लोहिया 44

5. एक पुस्तक के बहाने....
नरेन्द्र कोहली 51

6. आधुनिकतावादी भारतीय बौद्धिकों की बौद्धिक
भ्रान्ति की पराकाष्ठा : दर्शन के क्षेत्र में फैला अज्ञान
रामेश्वर मिश्र पंकज 76

7. अलबेला फकीर था—साई बुल्लेशाह 96
महीप सिंह

8. प्रचार
शंकर पुणतांबेकर 102

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

9. पुस्तक-चर्चा : गहन अध्ययन, चिन्तन एवं
मनन पर आधारित विवेचन
ब्रज बिहारी कुमार 112

10. हिन्दी भाषा के विकास में मराठी भाषी पत्रकारों का योगदान
(विशेष सन्दर्भ स्वातन्त्र्य पूर्वकाल)
तुकाराम दौड 113

11. पाठकीय प्रतिक्रिया 118

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य 5

1. वर्ण-जाति प्रथा 11
लोकेशचन्द्र
अनुवादक : बाबूराम वर्मा

2. मार्क्स, गांधी और लोहिया 21
सत्यमित्र दुबे

3. वर्तमान सभ्यता, महात्मा गाँधी और हिन्द-स्वराज 42
डॉ. नरेश कुमार अम्बष्ट

4. कला का सत्य 46
यशदेव शल्य

5. राजनीतिक संस्कृति एवं चुनाव 57
डॉ. कुमार विमल

6. सूफीवादः दर्शन और राजनीति 66
शंकर शरण

7. गोरखालैंड का गोरखधंधा 84
ए.सी. सिन्हा

11. राष्ट्रीय काव्य-धारा और दिनकर का काव्य 97
कमल किशोर गोयनका

12. भारत में अध्यापक शिक्षा : नये परिप्रेक्ष्य 108
अजय कुमार सिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

13. प्रकृति, प्रकाश, कविता एवं बच्चों में अपने होने का एहसास 117
डॉ. कमल किशोर गोयनका

14. 'समस्त भारतीय भाषाओं के लिए एक अनुकरणीय प्रयास 120
डॉ. कामेश्वर पंकज

पाठकीय प्रतिक्रिया 125

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

पब्लिक सब जानती है!

जिस दिन दिल्ली पुलिस के कमाण्डो दल ने दिल्ली के जामिया इलाके में जेहादी आतंकवादियों के स्थान पर आक्रमण किया था, अंग्रेजी दैनिक *हिन्दुस्तान टाइम्स* में 'पब्लिक नोज इट आल' याने 'पब्लिक सब जानती है' शीर्षक से छोटी सा समाचार छपा था। मुठभेड़ के क्षेत्र में कुछेक बातें हो रही थीः 'दोनो तरफ से गोली नहीं चली थी' 'नकली मुठभेड़', 'दिल्ली पुलिस द्वारा आरोपित', इत्यादि। समाचार माध्यमों, वामपंथी रुझान के मानवाधिकारवादियों आदि के मुख से ऐसे ही विचार व्यक्त किए जा रहे थे। 'उसने अपने पैर में स्वयं गोली मारी होगी।' 'वे ऐसा वीरता–पदक पाने के लिए प्रायः ही करते हैं।' 'अंसल प्लाजा दुहराया गया', 'सरकार का दुःशाहस पूर्ण कदम।'

मानवाधिकारवादियों की गतिविधियाँ अचानक तेज हो गयी थीं। जामिया क्षेत्र के परिचितों के टेलिफोन लगातार खटखटाए जा रहे थे। इलेक्ट्रोनिक समाचार माध्यम समय की नाजुकता तथा कड़े सम्पादकीय नयाचार की आवश्यकता को भूलकर लगातार सड़क पर खड़े अनजान लोगों की बातें, अफवाह तथा साम्प्रदायिक सोच वालों के वाक्य प्रसारित कर रहे थे। वे ऐसे प्रसारणों के दुष्प्रभाव से अनजान थे; वे सही स्रोतों तक पहुँचकर सही जानकारी लेने तथा लोगों तक पहुँचाने की आवश्यकता से जुड़े अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं कर रहे थे। 'पब्लिक सब जानती है' की अवधारणा के आधार पर सड़क पर चलने वाले हर आदमी–विशेषतः उनका जिन्हें टेलिविजन के पर्दे पर दिखने की तीव्र लालसा हो, जो अफवाह फैलानेवाले लोग हों, जिन्होंने पुलिस, सरकार, समाज आदि के प्रति गलत पूर्व धारणा बना रखी हो–नहीं प्रसारित की जा सकती। उस दिन इलेक्ट्रोनिक समाचार चैनल लगातार भय, आक्रोश एवं उन्माद बढ़ानेवाले प्रसारण कर रहे थे। बिना जाने कि उनके अनुत्तरदयित्वपूर्ण व्यवहार से देश तथा समाज को कितना नुकसान होगा। उस दिन मुझे लगा था कि इन्सपेक्टर शर्मा ने अपने बलिदान से पुलिस बलों को उनके विरूद्ध लगातार होनेवाले प्रदर्शनों, आदि से बचा लिया था। उनकी मृत्यु से लगे झटके के प्रभाव से प्रदर्शनों का सिलसिला तो नहीं चला, किन्तु आरोप लगाने से लोग कहाँ चुकनेवाले थे कि शर्मा पुलिसवालों की गोली से ही मरे।

इस देश में समाचार माध्यमों की सबसे बड़ी कमजोरी है कि राष्ट्र की समस्याएँ उनकी कमजोरी नहीं हैं। वे राष्ट्र-विरोधी ताकतों को बल प्रदान करते हैं, उनको स्थापित करते हैं, उनके विध्वंशक विचारों को जोर-शोर से फैलाते हैं। उनकी गलत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य पद्धति सामाजिक सौहार्द बिगाड़ती है, इस देश को भीतर से कमजोर करती है। शायद इस देश के समाचार माध्यम यह मानकर चलते हैं कि उनके बेहद अनुत्तरदायित्वपूर्ण कार्यों से समाज नहीं टूटेगा, देश कमजोर नहीं होगा, जो गलत है। यह मानने के पर्याप्त कारण हैं कि इस देश को तोड़ने के लिए चल रहे षडयंत्र में समाचार-माध्यमों के एक वर्ग की सहभागिता है।

यहाँ एक अन्य बात का उल्लेख आवश्यक है। जब देश के सामने कठिन समस्या उपस्थित होती है; जब हमारे सामने गहन आत्म - विश्लेषण की आवश्यकता होती है तो हमारे समाचार माध्यम लोगों का ध्यान बँटाकर हास्यास्पद हल्की फुल्की बातें करना शुरू करते हैं, जैसा कि गृह-मंत्री शिवराज पाटिल के कपड़ो की आलमारी में ताकझाँक करना। ध्यातव्य है कि मोरारजी देशाई के शासन-काल के प्रारंभ में हमारे समाचार माध्यमों ने ''शिबाम्बु'' की चर्चा कर, 'मूत्र-चिकित्सा' का ज्ञान देकर देश को काफी उपकृत किया था।

इस देश में जेहादी रोज बम फोड़ रहे हैं। निर्दोष व्यक्ति मारे जा रहे हैं। आतंकवाद के विरूद्ध लड़ाई जीतना जरुरी है। किन्तु यह लड़ाई कठिन है। इसे कई मोर्चो पर लड़ना होगा। जब अबू बसर जैसा आतंकवादी पकड़ा जाता है तो उत्तर-प्रदेश के एक भूतपूर्व मुख्य मंत्री, एक संसद-सदस्य सहानुभूति जताने उसके घर जाते हैं। भारत के इस्लामी छात्र आन्दोलन सिमी को बचाने में लालू प्रसाद यादव, मुलायम सिंह यादव जैसे नेता लग जाते हैं; राम विलास पासवान जैसे नेता बांगलादेशियों को भारतीय राष्ट्रीयता दिए जाने की वकालत करते हैं; जामिया मिलिया जैसे केन्द्रीय विश्वविद्यालय के कुलपति मुशिरूल हसन सरकारी पैसे से जेहादी आतंकवादियों को कानूनी-सहायता देने की बात करते हैं। ऐसे में समस्या की गंभीरता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

देश में जब कभी कहीं भी आतंकवादी बारदात होती है तो पुलिस पर अत्यधिक दबाव पड़ता है। दूसरी तरफ उसके हाथ पाँव बाँध दिए जाते हैं। शक के आधार पर उसे छानबीन करने पर एक तरह की रोक लगती है। नारे लगते हैं, बाधाएँ पैदा की जाती हैं। फिर उसकी विश्वसनीयता पर प्रश्न-चिह्न लगाए जाते हैं। उस पर साम्प्रदायिकता का लेबल लगाया जाता है, जिसमें मुस्लिम वर्ग बढ़ चढ़ कर भाग लेता है। इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि पुलिस बलों में साम्प्रदायिक तत्व हो सकते हैं। छानबीन के समय गलती भी हो सकती है। किन्तु सम्पूर्ण पुलिस बल पर लांछन लगाना स्वतः कुत्सित साम्प्रदायिकता का परिचायक है। आवश्यक है कि पुलिस के कार्य पारदर्शी हों। लेकिन मुसलमान अपनी सीमाओं को लाँघकर जेहादियों का पक्षधर बनें यह प्रवृत्ति भी घातक है।

आतंकवाद की बात करते समय एम.जे. अकबर मुसलमानों को कांग्रेस से न्याय नहीं मिलने की बात करते हैं; मुसलमानों के असहाय निराशावादिता की भी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये बातें बिल्कुल गलत हैं। फिर कांग्रेस से ही मुसलमान उम्मीद क्यों करें? एम.जे. अकबर जैसे लोग इस बात को समझना नहीं चाहते कि मुसलमान अपनी साम्प्रदायिकता के चलते थोक व्होटों की राजनीति करते रहे जिसके चलते न केवल हमारी राजनीति दूषित हुई बल्कि विकास भी बाधित हुआ; साम्प्रदायिकता भी बढ़ी। असगर अली इंजिनियर यह हास्यास्पद बात कह जाते हैं कि आतंक के लिए केवल एक समुदाय पर दोषारोपन मत करो। फिर आतंक और हिंसा का यह कह कर बचाव करते हैं कि बिना राजनीतिक असफलता और अन्याय के ऐसी हिंसा नहीं हो सकती। यह भाषा आतंकवाद को बल पहुँचाकर साम्प्रदायिक सौहार्द को नष्ट करनेवाली है। वास्तव में ऐसे लोग मुसलमानों के हित-चिन्तक नहीं हैं। यह दुखद बात है कि मुसलमान बुद्धिजीवी अपनी साम्प्रदायिक सोच को छिपाने में अपने को असमर्थ पा रहा है एवं तथाकथित अन्याय एवं निषेधात्मकता आदि का मिथक रच कर मुसलमानों को गुमराह कर रहा है। उसमें इतनी हिम्मत तथा इमानदारी नहीं कि तबलीगी जमात तथा बहावियों के द्वारा चलाए जा रहे कुचक्र की तरफ ऊँगली उठा सकें। मुसलमान नाराज होते हैं कि मुसलमानों को आतंकी कार्यों के लिए बदनाम किया जाता है लेकिन अबू बसर जैसे आंतकबादी के लिए वे रैली भी निकालते हैं। वैसे जेहादी बम विस्फोट होने पर लोग मुसलमानों पर नहीं, आतंकवादियों पर दोष लगाते हैं। अतः मुसलमान नेताओं को अपनी बात दूसरों के मुँह में नहीं डालनी चाहिए। फिर इससे बड़ी विडम्बनापूर्ण बात क्या हो सकती है कि पुलिस जब आतंकवादियों को पकड़ती है तो उस पर गलत आरोप लगाए जायँ और यदि वह आतंकवादी वारदात रोक न पाये या आतंकवादियों को पकड़ न पाए तब भी उसके विरूद्ध आक्रोश प्रदर्शित किया जाय, जैसा कि मालेगाँव की रिपोर्ट है। ऐसी परस्पर-विरोधी बातें नहीं होनी चाहिए। हमारा सौभाग्य है कि आज भी प्रायः सभी गाँवों एवं शहरों में हिन्दू-मुसलमान परस्पर सौहार्दपूर्ण वातावरण में रह रहे हैं। उनके बीच बंचित किए जाने एवं परस्पर अविश्वास पैदा करने की गतिविधि घातक है, जिसे चलने नहीं दिया जा सकता। आज दो बातों पर विशेष घ्यान दिया जाना अत्यन्त आवश्यक है: (क) इन दिनों लोगों में भीतरी क्रोध बढ़ता जा रहा है। आवश्यक है कि उसका अराजक हिंसात्मक विस्फोट न हो। समस्याओं का हल हमें शान्तिपूर्ण गणतांत्रिक तरीके से ही करना होगा, हिंसा द्वारा नहीं। (ख) सुनियोजित ढंग से हमारे बौद्धिकों का एक वर्ग हमारी व्यवस्था, राजनीति, न्याय व्यवस्था, पुलिस तंत्र आदि के प्रति अविश्वास का वातावरण बना रहा है। इनमें कमियाँ है, अच्छाइयाँ भी हैं। इसलिए इनके प्रति पूर्ण अविश्वास पैदा करने के षडयंत्र की सबल अस्वीकृति आवश्यक है। हम किसी भी कीमत पर 'सीनिक' समाज बनाने की, सीमाओं को लाँघ कर दोषदर्शिता की स्वीकृति नहीं देंगे।

—ब्रज बिहारी कुमार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंगोल और आचार्य रघुवीर

लोकेश चन्द्र*

अनु. बाबूराम वर्मा**

मेरे पिताश्री की मंगोल जनों की अनेक शताब्दियों और उनके कितने ही राज्यों की यात्राएँ बड़ी लम्बी और कष्टकर रही हैं जिनमें उनकी अस्मिता के सपने अचेतन में गहरे स्पन्दित जीवन की सम्पन्नता, साम्राज्यवादी दासता से मुक्त हुए भविष्य की कल्पनादृष्टि और एक पुनर्जागरण सभी तो आते-जाते रहे हैं, जहाँ विज्ञान मूल्यों से समन्वित है और सभी कुछ पराधर्मग्रन्थ पारगामिता में प्रतिष्ठित है।

पिताश्री की माता उनके बचपन के दो वसन्त देख पाने से पूर्व ही उन्हें छोड़ स्वर्ग सिधार गई थीं। जब वे जनवादी मंगोल गणराज्य में 1955 की शीत ऋतु में मंगोल बौद्ध ग्रंथों के अणुचित्र प्राप्त करने गए तो 1956 के नववर्ष–प्रभात की आरम्भिक घड़ियों में उलन बातोर के, मोटे पर्दे चढ़ाए होटल कक्ष में उनका बिखरा चिन्तन यों मुखरित हुआ था:

बिछौना ठण्डा है
हाथ-पैर भी उतने ही ठण्डे बने
हृदय माँ की गोद के लिए लालायित
लोरियाँ नहीं, न ही दुलराते हाथ यहाँ
न कोई पालना, जो मुझे झुलाए।

माँ के अभाव की क्षतिपूर्ति हुई उनकी किशोर वयस में भारत माता की 'वन्दे मातरम्' की पुकार में; यह था भारत के स्वतन्त्रता संघर्ष का महान गीत। वन्दे मातरम् का ही प्रतिशब्द है प्राचीन रूसी जयघोष, *जिव्योत रोदिना मात*, जिसने स्तालिन के शक्तिशाली 'एकत्र हो जाओ' आह्वान बनकर स्लावी चेतना को गहराइयों से निकाल जगा दिया और हिटलर की फासिस्टवादी आक्रमणकारी सेनाओं को हराने का नवजीवन भर दिया। इसी जयघोष ने द्वितीय विश्व महायुद्ध की धारा पलट दी और

* प्रकाण्ड विद्वान, चिंतक, पूर्व सांसद (राज्य सभा)
** उत्तरगिरि, 67, बल्लूपुर, देहरादून

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्ततः फासिस्ट सेनाओं की करारी हार हुई। इसी तरह बन्दे मातरम् भी एक भारी जलती ज्वाला और प्रचण्ड ताण्डव ही था जिसने ब्रिटिश साम्राज्य की नींव तक झकझोर डाली, उस साम्राज्य की जिसमें सूर्य कभी अस्त ही नहीं होता था। साम्राज्यवाद के विरोध को समर्पित होने पर भी प्रोफेसर रघुवीर भारत और अन्य एशियाई देशों की कला, इतिहास, दर्शन, साहित्य और अन्य क्षेत्रों के विविध पक्षों को समझाने में लगे योरोपीय विद्वानों के गहन ज्ञान और उनकी समर्पित निष्ठा के प्रशंसक थे। अपने युग के भारत की बौद्धिक नियति और राजनैतिक उथल-पुथल तथा अराजकता को भलीभाँति जानने के लिए वे ब्रितानी सिंह की माँद लन्दन में ही जाकर वहाँ का जीवन अच्छी तरह से देखना चाहते थे। उन्होंने अपने देश और योरोपीय देशों की भाषाओं के समान स्रोत के अभिज्ञान के लिए लन्दन विश्वविद्यालय के प्राच्य अध्ययन संस्थान (स्कूल ऑफ ओरियण्टल स्टडीज़) में जाकर ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का अध्ययन किया ताकि वे भाषा के इस समान स्रोत में छिपे किसी रचनात्मक सूत्र की खोज कर सकें। उन्होंने पश्चिम के धार्मिक मनस् की भाषा ग्रीक (यवनानी), लिथुआनियन और संस्कृत से इनकी आश्चर्यजनक निकटता; पुरानी चर्च स्लोवनी, जिसमें संस्कृत की विभक्तियाँ जीवन्त बनी हुई थी, आदि आदि का अध्ययन किया। संस्कृत की नितान्त नई व्यवस्था की झलक उन्होंने इसमें पाई। उनके लिए यह समय से दूर पड़ गई वास्तविकता का अन्तर्दर्शन था। उन्हें जापानी-भाषा में मिलते चीनी भावचित्रों से गहरा प्यार हो गया और चेम्बरलेन के साथ रह कर उन्होंने जापानी का अध्ययन किया। पी-एच. डी. के उनके निदेशक प्रो. आर. एल. टर्नर थे। प्रो. टर्नर मेरे पिताश्री की रुचियों की विशिष्टता देख अभिभूत हो उठे। विभिन्न सभ्यताओं का श्वास-प्रश्वास जो भाषाओं में प्रतिबिम्बित था, और अनन्त में चल रहे मानवी प्रयास और मानवी जीवन में प्रवाहित हो रही अनन्तता, यही प्रो. रघुवीर का असाधारण अन्तर्देश था। उन्होंने अथर्ववेद के शब्दों में उसे इस प्रकार अभिव्यक्त किया। "निस्सीम महासागर और मैं।" प्रो. टर्नर उस आयोग के सदस्य थे जो ब्रिटिश साम्राज्य की सबसे अधिक लुभावनी राजसेवा, इम्पीरियल सिविल सर्विस, के महाप्रभुओं का चयन किया करता था। उन्होंने यह सम्मानित सेवा मेरे पिताजी को देने का प्रस्ताव किया ताकि अपनी आश्चर्यजनक मेधा और अनथक समर्पण से वे भारत को सम्पन्न बनाएँ। अन्य कोई भारतीय उनकी जगह होता तो प्रस्ताव को तत्काल अपनी मुट्ठी में कर लेता परन्तु प्रो. रघुवीर क्रान्ति के, वन्दे मातरम् के पुत्र थे उन्होंने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "मैं साम्राज्य की सेवा करना नहीं, अपने देश की सेवा करना चाहता हूँ।" प्रो. टर्नर ने उनमें एक महान भारतीय के दर्शन किए और अपने अन्तिम दिनों तक भारत के प्रति अडिग निष्ठा बनाए रखने और अमूर्त की जगह वास्तविकताएँ प्रतिस्थापित करने के सतत प्रयास में उन्हें प्रोत्साहित करते रहे। प्रो. टर्नर से मिले इस प्रस्ताव के उपरान्त लन्दन में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने कमरे की नीरवता और एकान्त में उन्होंने अपनी कल्पना में भविष्य के भारत का वह सपना देखा जो ऊर्जा, क्रियाशीलता और रूपान्तरण कर डालने में सजीवता से लगा हुआ था। समय के मूर्त्तिमन्त मौन ने उनके कल्पनाजनित आदर्श रूपों को प्रतिभासित करके रख दिया। आयरदेश का राष्ट्रवाद उसके महानतम कवि यीट्स की वाणी में प्रतिबिंबित था। कवि के शब्दों ने उन्हें एक नई खोज ही हाथों में थमा दी, "राष्ट्रों, संस्कृतियों और विचाराधाओं के भी दैत्य हुआ करते हैं जो मानवों को अतिप्राकृत या दैवी ऊर्जा प्रदान कर उनके जीवन और भाग्यों को गतिमान बना डालते हैं।" मेरे पिताजी ने अपने से प्रश्न किया "क्या किसी एशियाई जन ने योरोप पर कभी शासन किया है?" और उनकी आँखों के सामने हूणों के मंगोल कबीलों का साम्राज्य आ खड़ा हुआ जिन्होंने 370 से 455 तक योरोप पर शासन किया था। उन्होंने पशुपालक अलानियों को रौंद डाला था जो वोल्गा और डॉन के मध्यवर्ती पड़ते मैदानों पर अपना अधिकार जमाए हुए थे। आस्ट्रोगौथों का साम्राज्य पददलित कर दिया था जिनके वृद्ध गौथ सम्राट एर्मानारिक ने आत्महत्या कर ली थी, विजी गौथों को पराजित कर डान्यूब तक पहुँच गए थे। उन्होंने योरोप भर में अभूतपूर्व आतंक फैला दिया था। एटिला को 443 में 4000 पौंड स्वर्ण खिराज में मिला जिसे बाद में 2100 पौंड और बढ़ाकर वार्षिक बना दिया गया। संपत्ति के आगमन ने उनका चरित्र परिवर्तित कर दिया और उसी से उनका पतन हुआ। छठी शताब्दी के मध्य तक वे अधिकार में बने रहे। पुनः मेरे पिता प्रो. रघुवीर ने 'सुनहरे गिरोह' का अपनी कल्पना में दर्शन किया जिसने सम्पूर्ण रूस पर (जिसमें उक्रेन और बेलोरशिया शामिल थे) तीन शताब्दियों (1223-1502) तक राज्य किया था। यह अवधि भारत पर ब्रिटिश शासन बना रहने से भी कहीं ज्यादा लम्बी थी। चक्रवर्ती छिगिस खाँ के पौत्र ने मंगोल साम्राज्य की पश्चिमी सीमाएँ यूराल से कार्येथियोनों तक बढ़ा दी थीं जिसमें रूस के योरोपीय भाग का अधिकांश क्षेत्र आ जाता है। और इस तरह 'सुनहरे गिरोह' का साम्राज्य बनकर खड़ा हुआ। मस्कोवी रूस इस पीछे खिसकते जाते मंगोल ज्वार के कारण 16वीं शती में जाकर कहीं उदित हो पाया।

प्रो. रघुवीर को मंगोलों के साम्राज्य में एक नया मानसिक महाद्वीप मिला। वे उनके सम्प्रदायों, उनकी संस्कृति, भाषा और साहित्य, उनकी शताब्दियों तथा उनके छिन्न-भिन्न हुए संसार, और उनका सारतत्त्व जो मंगोल थे और फिर से भी हो सकते थे, जानने को व्यग्र हो उठे। वे मंगोल जीवन के हृदय का अन्तर्दर्शन करना चाहते थे उनके वाणों की पावन अन्तर्वस्तु, बर्फीली हवाओं की हहराहट, उनकी गर्जना, चौकड़ियाँ भरते उनके घोड़ों, उस नील नभ को, जिसकी छाया तले अनन्त सौन्दर्य की छाया लगी थी, उनकी दैवी रैंगरी जानना चाहते थे। 1928 में लूजक एण्ड कम्पनी से वे मंगोल का जर्मन व्याकरण खरीद लाए और उसका अध्ययन आरम्भ कर दिया। यह नितान्त नई शब्दावली थी जो अल्ताई भाषा परिवार से सम्बन्धित थी। *अल्तन*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अर्थ होता है *स्वर्ण* और मेरे पिता ने खोज की उस मंगोलिया की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक धरोहर, स्वर्णमयी प्रकाश अर्थात् *अल्तनगेरेल* या स्वर्णप्रभास सूत्र अथवा वज्रच्छोदन की। उन्होंने शेम्फेल गुंशी लिखित बौद्ध धर्म का इतिहास पढ़ा जिसका जर्मन में अनुवाद 'ग्रेशिख्टे डेस बुद्धिस्मस इन डेर मंगोलेन' शीर्षक से ग्योर्ग हुठ ने 1896 में किया था। पंचतन्त्र और बेताल पंचविंशति के साथ-साथ भोज, विक्रमादित्य और कृष्ण की कथाओं के तीन ग्रन्थ एक पावन रूप में सम्पन्न थे जो समय के ताने-बाने से निकल ऊपर उभर रही थी। प्रो. रघुवीर के लिए भारतीय और मंगोल धर्म में परस्पर भाई-बहन (या बन्धु) ही थे। मंगोलों का बर्बर भयानक लोक प्रचलित रूप उनके मानस में पूरी तरह से बदल गया था। विगत तेरह शताब्दियों में, उनकी साहित्यिक क्रियाशीलता की विशालता से परिवर्तित होकर मंगोल व्यक्तित्व उनके विचारों में नए पल्लवों और शाखाओं से भर उठा था। आगे आनेवाले वर्षों में मंगोल इतिहास और, संस्कृति सम्बन्धी उनके विचारों को जानकर पं. जवाहरलाल नेहरू के मंगोल सम्बन्धी विचारों पर गहरा प्रभाव पड़ा जिन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ में मंगोलियों को प्रवेश दिये जाने के लिए पुरज़ोर आग्रह वहाँ किया।

हेरोडोटस का 'इतिहास' बताता है कि *स्कुथ* (अंग्रेजी में स्कूथियन या सिथियन) में स्कू-शक और *उथ* बहुवचन वाची प्रत्यय है। बहुवचन वाची उन्हें स्पष्टतः मंगोल बता देता है। यह *उथ* प्रत्यय शास्त्रीय मंगोल में उद् (एनेडकेग-बिचिग-उद्, मंगोल कान-जुद् की भारतीय पुस्तक) है। हेरोडोटस 485-425 ई. पू. में वर्तमान था। उसने स्कूथियन राज्य का उल्लेख किया है, जिसमें उस समय के योरोप के दक्षिणपूर्वी भाग सम्मिलित थे। हेरोडोटस का विश्वास है कि स्कूथियन एशियाई मूल के थे। थुकिडाइडेस 2.95 (लगभग 462-393 ई. पू.) उन्हें, यदि वे किसी समान उद्देश्य के लिए एकजुट हो जाएँ, अप्रतिरोध्य मानता है। स्कूथियन धनुर्धर एथेंस में पुलिस के रूप में भरती किये जाते थे। इस तरह योरोप में शासक वर्ग के रूप में मंगोलों की उपस्थिति पाँचवीं शदी ईसापूर्व तक मिल जाती है।

प्रथम शताब्दि ई. पू. के शक शासकों की मुद्राएँ मथुरा (भारत) में मिली हैं। एक मुद्रा पर कागान हगामाश नाम दिया हुआ है। हगा मंगोल शब्द काग़ा है जिसका अर्थ "चौतरफा आक्रमण करना या घेरा डालना" होता है। और *माशी का उपयोग* '*प्र, नि*, अति' उपसर्गों का अनुवाद करने को किया गया है। इस प्रकार *हगामाश* संस्कृत *प्रवीर* के समतुल्य है जो महाभारत में पुरु के पुत्र का नाम है। मंगोल शब्द *कागा* का यह प्राचीनतम तिथ्यांकित उल्लेख है। अतः भारत ने मंगोल इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण शब्द को सुरक्षित रखा है।

1936 में जापान सरकार ने दो विद्यार्थी प्रो. रघुवीर जी से संस्कृत का अध्ययन करने के लिए भेजे। इनमें से एक अपने साथ मंगोलिया में संस्कृत मन्त्रों को लिखने और उच्चरित करने के लिए व्यवहृत 1662 ई. का प्राचीन काष्ठचित्र लाया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका शीर्षक था—*ए गेसिग किंगेद गेइगुलूगर्च ऊसुग उओल ओरूसिबा* अर्थात् इसमें संस्कृत के स्वर ओर व्यंजनाक्षर दिए हुए हैं। मंगोल विद्वान गोम्बोजब की भूमिका में संस्कृत ध्वनिशास्त्र का ब्योरा दिया हुआ है। मंगोल लोग योरोपियनों से शताब्दियों पूर्व पाणिनि की परम्पराओं का अध्ययन कर रहे थे। प्रो. रघुवीर को इस बात का गर्व था कि भारत में मंगोल का प्रथम काष्ठचित्र (जायलोग्राफ) उन्हीं के पास है और उन्होंने उसका अध्ययन किया है। उन्होंने यह बात 1937 में महात्मा गाँधी के वर्धा आश्रम में हुई भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की एक बैठक में पं. जवाहरलाल नेहरू को बताई थी। नेहरूजी को यह भी बताया गया कि चोस-क्यि-होड-जेर का लिखा *जीरुकेन-उ-तोल्ता* प्राचीनतम मंगोल व्याकरण है जिसे पाणिली से प्रेरित हो युआन् सम्राट खेसान कुलुघ के राज्यकाल में 1308-11 में लिखा गया। मंगोलों ने संस्कृत व्याकरण प्रणाली का अध्ययन योरोपियनों से पाँच शताब्दी पूर्व ही कर लिया था। पं. नेहरू यह जानकर चकित हो गए कि मंगोल विद्वानों ने योरोपियनों से शताब्दियों पहले पाणिनि का अध्ययन किया था। वे कुछ क्षण सोचते रहे, फिर बोले, "इतिहास का अपना अध्ययन हमें सामाजिक, आध्यात्मिक और साहित्यिक विकास के बृहत्तर सन्दर्भों में करना होगा।" प्रो. रघुवीर ने नेहरूजी को मंगोलों का एक नया रूप प्रदान किया था। मंगोल महान विजेता तो थे ही परन्तु वे संस्कारों और विद्वत्ता की उन ऊँचाइयों तक भी पहुँच चुके थे जो उनके समय से कहीं बढ़चढ़ कर आगे थी। जब संयुक्त राष्ट्र संघ की दसवीं महासभा के सामने मंगोलिया को प्रवेश देने का प्रश्न आया तो उसमें भारत के स्थायी प्रतिनिधि कृष्ण मेनन ने कहा, "मंगोलिया की स्थापना न तो कल हुई और न आज ही बल्कि यह अनेक शताब्दियों से स्वतन्त्र राष्ट्र बना, चला आ रहा है। इसलिए अन्य देशों की तरह मंगोल जनवादी गणराज्य को भी संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने का पूरा-पूरा अधिकार है।"

प्रधानमंत्री तेनदेनबल ने प्रो. रघुवीर को राजा भोज की मंगोल कथाएँ भेंट की थीं जिन्हें मंगोल *अर्जी बुर्जी कान* कहते हैं। बत्तीस काष्ठ पुतलियों द्वारा कही गई कहानियों की तीन पुस्तकों में से एक यह भी है, जिन्हें राजा भोज, विक्रमादित्य और कृष्ण के इर्द-गिर्द बुनकर रचा गया है। प्रो. रघुवीर ने इसे भारत गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को दिखाया। वे *अर्जी बुर्जी कान* शब्द सुनकर ही हर्षित हो उठे। मंगोलों ने उच्चारण का आन्तरिक सौन्दर्य उसमें भर दिया था जो कहानियों को उनसे एकरूप बना रहा था। शब्दों का काव्य एकात्मता की गहराइयों और उनकी काव्यगत अपूर्णताओं में छिपा रहता है जो उनका अपनापन ही बन जाता है। उन्होंने प्रो. रघुवीर से आग्रह किया कि वे इन कहानियों को अवश्य अनूदित करें। प्रो. रघुवीर ने उनका मंगोल पाठ, देवनागरी में लिप्यन्तरित किया, शब्द प्रति शब्द करके उनका अर्थ दिया और कहानियों का धारा प्रवाह रूपान्तर भी प्रस्तुत किया। राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद ने कहा कि राजा भोज की ये कथाएँ मंगोलिया के साथ हमारे सम्बन्धों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गहराई देती हैं। प्रो. रघुवीर द्वारा शक्ति के गलियारों में सर्जित किया मंगोलों का शक्तिशाली सांस्कृतिक रूप भारत और मंगोल देश के आध्यात्मिक भाईचारे की अन्तर्निहित व्यवस्था युगों पुराने स्मृतिगत अपनत्व और शताब्दियों के वस्त्रों में लिपटी एक सरसराहट ही थी। कुब्लई खाँ पर लिखित कोलरिज की एक कविता में कथित है—

उसने उपभोग किया था मधुकणों का
और साथ में स्वर्ग का दूध पिया था।

प्रो. रिनछेन 1957 के दिसम्बर मास में प्रो. रघुवीर के निमंत्रण पर चार सप्ताहों के लिए भारत आए। उन्होंने मंगोलों पर किए जा रहे भयंकर अत्याचारों, युगों पुरानी संस्कृति के महासंहार, अपनी राष्ट्रलिपि की जगह सिरिल्लिक लिपि थोपी जाने, हजारों भिक्षुओं के गोलियों से भून दिए जाने, लगभग आठ हजार मठों को भूमिसात ध्वस्त कर दिए जाने की दारुण कथाएँ उन्हें बताईं। प्रो. रघुवीर ने नेहरूजी से उनके साक्षात्कार की व्यवस्था की। प्रो. रिनछेन की सौम्य प्रारूपिक मंगोल आकृति ने नेहरूजी को मोह लिया। प्रो. रिनछेन ने उन्हें कला और साहित्य के विनाश, बौद्धिकों और संस्कृति-पुरुषों की हत्याओं, चीन और सोवियत संघर्ष आदि आदि का पीड़ाजनक वृत्तान्त सुनाया। रिनछेन अँग्रेजी में बता रहे थे पर बीच-बीच में आवेश में फ्रेंच पर आ जाते और जब वे विचारधारा में जार (Czar) बने लोगों के अमानवी अत्याचारों की बातें बताने लगे तो वे जर्मन पर आ गए। प्रो. रघुवीर उनकी फ्रेंच और जर्मन वार्ताओं को साथ-साथ समझाते जा रहे थे। रिनछेन और रघुवीर की बहुभाषा प्रतिभा ने नेहरूजी पर गहरा प्रभाव डाला और दो महाशक्तियों के बीच में स्थानवत् फँसे मंगोलों की राजनैतिक भूमिका को तीक्ष्णता प्रदान की। प्रो. रघुवीर अपने हाथों में जाली में लपेटा मेघदूत का मंगोल अनुवाद लिए हुए थे। पं. नेहरू को पूरे समय उत्सुकता रही कि इसमें क्या बँधा हुआ है। एक घण्टे तक चली वार्ता के उपरान्त जब वह समाप्त होने को आई तो प्रो. रघुवीर ने उसके लम्बे पत्रक उन्हें दिखाए और नेहरूजी को बताया कि कालिदास के मेघदूत का अनुवाद मंगोलजन योरोपियनों से काफी पहले अपनी भाषा में कर चुके थे। नेहरू आश्चर्य चकित हुए खड़े थे। रिनछेन ने उसमें जोड़ा "मेघदूत हमारा आर्ष गीतकाव्य हमारे साहित्य की मुक्तामणि है।" मंगोल निरन्तर नेहरू के मानस में एक नया रूप और एक नया अर्थ बनाते जा रहे थे, ऐसे जन की, जिन्होंने विश्व व्यवस्था में सर्वाधिक उत्कृष्टता से भागीदारी की थी। उनका इतिहास चक्रवर्त्ती छिंगिस खाँ के विश्व के राज्यों को जीतने के अतिरिक्त मूल्यों के दिव्य प्रकाश में भी विद्यमान था। पर्याप्त चिन्तन और सोच-विचार के बाद नेहरूजी ने कहा, "मंगोलिया से हमारे विशेष सम्बन्ध हैं।" कालिदास के मंगोल अनुवाद ने उनमें आश्चर्य और मंगोलों के प्रति एक नए आदर के तार झंकृत कर दिए थे। और इन विस्तृत क्षेत्रों को और पक्का बना दिया था। इसी आन्तरिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिदृश्य में संयुक्त राष्ट्र की पंद्रहवीं महासभा के अधिवेशन में मंगोलिया को प्रवेश दिलाने के लिए नेहरूजी ने आवेशपूर्वक यह अनुरोध किया, "यदि संयुक्त राष्ट्र संघ में इतने अधिक राष्ट्र लिए जा चुके हैं तो मंगोलियों को उससे बाहर क्यों रखा जाना चाहिए? उसने क्या अपराध किया है? चार्टर में बताई उसने कौन-सी गलती की है? मंगोलिया के लोग शान्तिप्रेमी भलेमानुष डटकर प्रगति के लिए मेहनत कर रहे लोग हैं और सिद्धान्तों की दृष्टि से यह बिल्कुल गलत लगता है कि उन्हें इस महान संगठन में आने से वंचित रखा जाए।"

प्रो. रघुवीर ने मंगोल कान-जुर के 108 ग्रन्थ प्रकाशित करने का स्वप्न सँजोया था जो विगत शताब्दियों में भारत और मंगोलियों के मध्य संस्कृतियों के पारस्परिक प्रवाह के प्रतीक थे जिनमें 1161 संस्कृत ग्रन्थों के मंगोल रूपान्तर सम्मिलित थे, जिनमें से अधिकांश ग्रन्थ भारत में विनष्ट हो चुके हैं। दुर्भाग्य से 1963 में हुई कार दुर्घटना में उनका जीवन समय पूर्व ही समाप्त हो गया और एक दशक उपरान्त 1975 में निरन्तर धैर्यपूर्वक लगे रहने के उपरान्त इस विराट ग्रन्थ समूह (1,00,000 पृष्ठ), मंगोल कान-जुर, को प्रकाश में लाने का उनका स्वप्न साकार करने का कार्य आरम्भ कर पाया हूँ ताकि विद्वत् जगत को मंगोलिया की ऐतिहासिक धरोहर का अनुपम अवदान उपलब्ध हो सके।

मंगोल कान-जुर का विकास होना युआन वंश से आरम्भ हुआ जब युआन सम्राट खैसान कुलुघ के शासनकाल (1508-11) में चोस-क्यि-होड-जेर ने बौद्ध सूत्रों का मंगोल भाषा में अनुवाद कराना आरम्भ किया। त्युमेड के अल्तन खाँ के शासन काल (1507-1582?) में कान-जुर का अधिकांश अनूदित किया गया।

1628-29 में लिंगडन खाँ (1606-1634) ने 113 ग्रन्थों में समाविष्ट स्वर्ण और रजत (मसि) में लिखा कमल सूत्र कान-जुर (बदम-अल्तन-गंजूर) लिखा जाना आरंभ कराया। सम्राट काङ्शी के आदेशों पर मंगोल कान-जुर का लाल संस्करण, 1767-20, में काष्ठचित्रित किया गया। यह महान मंगोल जनों की साहित्यिक सम्पदा का प्रतिनिधि और उसके साथ-साथ शताब्दियों में फैली उनकी महाकाव्यमयी विजयों सहित विस्तृत आध्यात्मिकता के प्रति प्रो. रघुवीर के समादर का भी स्मारक है।

मंगोल कहते हैं कि आत्मा की जल मिलने वाली जगहों की ओर जाने की प्रवृत्ति होती है। प्रो. रघुवीर मंगोलिया के निस्सीम वनों, उनमें अनिवार्यतः जगह-जगह मिलती छोटी-छोटी झीलों और वहाँ की घास भूमियों के विस्तृत नीरव एकान्त से भी कम अभिभूत नहीं थे। ये तीनों घटक—विस्तार, वन और जल—मंगोल भू-दृश्य के कल्पना लोक हैं। मंगोलिया के प्रेम में पड़कर यह भूमि धीरे-धीरे वर्धमानशा ही बन जाती है—एक सौम्य कठिनाई से दिखती अनुभूति। इसका सौन्दर्य ऐसा नहीं होता जो आँखों और अन्य इन्द्रियों को एकदम अभिभूत कर डाले। आत्मा पर इसका सूक्ष्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आक्रमण धीरे-धीरे होता है जो सभी सच्ची सुन्दरताओं की विशेषता हुआ करती हैं। इससे हृदय और आत्मा प्रज्वलित हो उठते हैं। विछोह होने पर उसकी स्मृतियाँ और अनुभव एक कोमल और स्थायी पीड़ा से अनुरंजित बने रहते हैं।

प्रो. रघुवीर ने मंगोलों की बहुदिशागामी प्रतिभा को बताया जिन्होंने अपने चार ऐतिहासिक आविष्कारों से नई दुनिया के विकास में सहायता पहुँचाई। उन्होंने हमें बारूद दिया जिसने युद्धकला को आधुनिक बनाया और उनकी विजयों ने पूर्व और पश्चिम को खोलकर रख दिया जिससे उपनिवेशवाद पनपा और अब हम एक विश्ववाद (Globalism) की ओर बढ़ रहे हैं। मंगोलों द्वारा आविष्कृत कागज मुद्रा ने अर्थ व्यवस्था को कौड़ी, ताँबे, रजत और स्वर्ण मुद्राओं से मुक्ति दिलाई और उनसे भी अधिक सुविधाजनक मुद्रा कार्यक्रम अपनाने का मार्ग प्रशस्त किया। मंगोलों ने ही योरोप को 16वीं शताब्दी में भाप दी। इटली के प्रत्येक बड़े नगर में हजारों मंगोल दास काम करते थे जो पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य में अपने शिखर पर पहुंचे। जिनोआ के व्यापारी इन दासों को कृष्ण सागर के बन्दरगाहों में थोक दास व्यापारियों से प्राप्त किया करते थे *(देल त्रैफिको ए देल्ले कादिजिओने देग्लि शिआवी इन वेनेजिया नेल तेम्पि दि मेज्जो, ले. लाजारी, 1962 : 1 : 470)*। ये दास गरम हवा की धौंकनियाँ अपने प्रार्थना चक्र घुमाने के लिए प्रयोग किया करते थे। इस तरह कारण्डव्यूह की प्राचीन बौद्ध प्रार्थना ने जहाजों के भाप से चलते पेंचदार प्राणोदकों को प्रशस्त किया। पक्षियों की आकृति वाली भाप छोड़ती धौंकनियाँ 1579 में तिथ्यांकित की जा सकती हैं। (जी.बी. ईसाची, *इन्वेंशनी,* पार्मा, 1579)। मंगोलों ने पूर्व और पश्चिम को खोलकर, कागज मुद्रा, बारूद और भाप देकर मानवता को लाभ पहुँचाया।

मंगोलिया जादूभरी मनोकल्पनाओं का देश है; यह अन्तरिक्ष और मौन, घास क्षेत्र और मनस, ठिठुराती ठण्ड और थरथराता तर्कशास्त्र, बौद्धदर्शन की गहराइयों और प्रतिमाओं के श्वसन, टिमटिमाती भूमि की प्रसृत आत्मा के सूक्ष्म आक्रमण का देश है। युवा कवियों का नया सौन्दर्यशास्त्र, भविष्य पर केन्द्रित राष्ट्रीय सांस्कृतिक परम्परा के गीत गुनगुनाता है। उदाहरण लें त्से बाऊडदोर्व का जहाँ मंत्र ध्वनि का अलंकरण बन गए हैं–

गेर में समय का तीव्र कोलाहल
आग की गन्ध से उठ रहा
सिंह कर रहा चन्द्रिका में हमारे दाय की रक्षा।
पिता के सपने पाँव के नीचे दबे हैं
माता की उँगलियाँ फेर रहीं प्रार्थना माला
बुद्ध बसे हैं, हमारे मनों में
उनके शान्त स्पष्ट नेत्र हैं भारी-भारी,
और मन्त्र उड़ रहे ध्वनि के अलंकरण बने हुए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वातन्त्र्य की अभीप्सा और सृजन*

यशदेव शल्य**

किसी देश या जाति में सृजनात्मकता का आविर्भाव क्यों और कैसे होता है, इसका कारण कोई आज तक नहीं जान पाया। कम से कम यह कारण स्वतन्त्रता की अभीप्सा नहीं होता, यह निस्संदिग्ध रूप से कहा जा सकता है। हमारे सुदूर अतीत में आर्य जाति में वेदों के रचनाकाल से आरम्भ होकर महात्मा बुद्ध के काल तक, बल्कि कहें सम्राट् अशोक के काल तक, एक अद्भुत सृजनात्मकता दिखाई देती है जो आज तक इस देश के बहुसंख्य समाज की सांस्कृतिक प्रतिष्ठा बनी हुई है। यदि रामायण-महाभारत को पीछे के काल की रचनाएँ मानें तो यह काल-खण्ड और आगे तक जाता है। यह दो हज़ार वर्ष से भी अधिक का दीर्घकाल है। एक सृजनात्मकता का कोई सम्बन्ध स्वातन्त्र्य की अभीप्सा से नहीं कहा जा सकता। यही बात उन दूसरी महान सभ्यताओं के लिए भी कही जा सकती है जो विभिन्न समाजों में उदित हुईं और कम या अधिक अवधि तक उन समाजों में बनी रहीं। इनके विपरीत दूसरे बहुत से समाज हैं जो सृजनात्मकता से विहीन रहे और आज तक उसी आदिम अवस्था में पड़े हैं। इधर रोम के पतन के बाद यूरोप में 17वीं शताब्दी के बाद सृजनात्मकता का जो विस्तार हुआ, रूस में 19वीं से 20वीं शताब्दी के आरम्भिक कुछ वर्षों तक जो महान उपन्यासकारों और वैचारिक आन्दोलनों का आविर्भाव हुआ उसका भी कारण स्वातन्त्र्य की अभीप्सा को नहीं कहा जा सकता। हमारे ही देश में मुस्लिम राज्य-स्थापना के साथ एक अद्भुत सर्जनात्मक युग का भक्ति-धारा और भक्ति-काव्य के रूप में आविर्भाव हुआ था किन्तु उस काल में यहाँ के समाज और धर्म पर हुए भयानकतम विध्वंसक प्रहारों ने भी कोई स्वातन्त्र्य की अभीप्सा इस देश में उद्दीप्त नहीं की। इसका कारण यह कहा जा सकता है कि इन आक्रमणों और अत्याचारों से हमारे में कोई सांस्कृतिक या धार्मिक या राजनैतिक आत्मबोध उत्पन्न नहीं हुआ। अंग्रेजी राज्य-स्थापना के बाद भी भारत में सर्वप्रथम राजकीय पराजय और पराधीनता से उबरने की अभीप्सा के बजाय एक सांस्कृतिक नवजागरण ही दिखाई

---

* भारत भवन, भोपाल में इस विषय पर आयोजित गोष्ठी (14.4.2008) में प्रस्तुत किया गया लेख।

** दार्शनिक, चिन्तक एवं सम्पादक, उन्मीलन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देता है और यहाँ का प्रबुद्ध वर्ग अंग्रेजी राज्य को वरदान के समान देखता दिखाई देता है। इस प्रकार इस काल में भी हमारे देश में कोई स्वातन्त्र्य की अभीप्सा दिखाई नहीं देती। दूसरी ओर विजेता आंग्ल देश ने इस देश को विजित तो किया, किन्तु वह तथा यूरोप के अन्य देश भी इसकी अतीत सांस्कृतिक समृद्धि से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे और यहाँ के दार्शनिक, धार्मिक तथा साहित्यिक ग्रंथों का अंग्रेजी; फ्रेंच और जर्मन भाषाओं में अनुवाद होना आरम्भ हुआ। संस्कृत भाषा को यूरोपीय भाषाओं की जननी के रूप में पहचाना गया और इसका तथा यूरोपीय भाषाओं का भाषावैज्ञानिक अध्ययन आरम्भ हुआ। इसी प्रकार भारतीय जनमानस भी यूरोप के विज्ञान से बहुत चमत्कृत हुआ और फिर अंग्रेजी भाषा के अध्ययन से वह वहाँ के साहित्य और दर्शन के सम्पर्क में आया और उसकी उत्कृष्टता से चमत्कृत हुआ। स्वयं यूरोप में भी यह युग सैन्य शक्ति के अद्भुत विस्फार के साथ-साथ राजनैतिक नवजागरण का, वैज्ञानिक विचारों और आविष्कारों का तथा दार्शनिक विचारों, साहित्यिक नवसंवेदनाओं और संगीत तथा अन्य कलाओं में नई सृजनशीलताओं का था। इस प्रकार इंग्लैण्ड से और शेष यूरोप से भारत का साम्मुख्य मुसलमानों से हुए साम्मुख्य से सर्वथा भिन्न प्रकार का था। मुस्लिम आक्रान्ताओं के लिए भारतीय केवल पराजित विधर्मी थे, जो केवल वध और लूटपाट के विषय ही हो सकते थे और भारतीयों के लिए वे विजयी दस्यु और निकृष्ट विधर्मी। इन्होंने जबकि यहाँ के मन्दिरों और मूर्त्तियों का ध्वंस किया था, यूरोपीयों ने इन्हें उत्कृष्ट कला-कृतियों के रूप में देखा, अजन्ता और एलोरा जैसे कितने ही स्थल तो खोज कर हमें भी अपनी कला के प्रति गौरव का बोध इन्होंने ही दिया। अवश्य इनके धार्मिक नेता हिन्दू धर्म को अनादर की दृष्टि से ही देखते थे और हिन्दुओं को ईसाई बनाने का प्रयत्न करते थे, किन्तु ऐसा वे बलात् नहीं करते थे बल्कि समझा-बुझाकर और लुभा-फुसलाकर ही करते थे, और हिन्दू विद्वानों द्वारा ईसाई धर्म के खण्डन का वे युक्ति से ही प्रतिकार करते थे, हत्या द्वारा नहीं। मुस्लिम देशों में तो आज भी किसी के द्वारा मुस्लिम धर्म की आलोचना मृत्यु-दण्ड से दण्डनीय है। इसके विपरीत जब जर्मन विचारक हम्बोल्ट ने **श्रीमद्भगवद् गीता** का जर्मन भाषा में अनुवाद किया तो उसने उसे विश्व-साहित्य का महानतम दार्शनिक काव्य कहा और जर्मनी के तत्कालीन महानतम दार्शनिक हेगल ने उसकी विस्तृत (लगभग एक सौ पृष्ठ की) भूमिका लिखी। अवश्य वह भूमिका खण्डनात्मक ही थी, क्योंकि हेगल सामान्य रूप से ही भारतीय धर्म और दर्शन आलोचक था, किन्तु तब भी उसकी इतनी विस्तृत आलोचना में उसके महत्त्व का स्वीकार भी निहित है। इंग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनी के दार्शनिकों और कवियों द्वारा उपनिषदों की लगभग पूजाभाव से प्रशंसा स्वयं हमारी आँखें खोलनेवाली थी और स्वामी विवेकानन्द को तो प्रायः उन्होंने ही हमें उपलब्ध कराया था, जब अमरीका की सर्वधर्म सभा में दिए गए उनके व्याख्यान की वहाँ के प्रमुख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाचार-पत्रों ने सर्वोत्कृष्ट व्याख्यान कहकर प्रशंसा की थी। इस व्याख्यान में उन्होंने प्राचीन भारतीय जीवन-दृष्टि की उत्कृष्टता ही बखानी थी। इसी प्रकार यूरोप के उत्कृष्टतम जर्मन कवि और चिन्तक गोएथे ने कालिदास के अभिज्ञान शाकुंतलम् की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। सच पूछा जाए तो हम जो अपने अतीत को महान मानते थे उसकी महत्ता का ज्ञान हमें यूरोप ने ही दिया, भले ही इसमें कहीं-कहीं उनके अपने पूर्वाग्रह भी जुड़े रहते थे। उनके ये पूर्वाग्रह भी हमारे लिए हितकर ही थे, क्योंकि वे हमें उनका प्रतिकार करने के लिए प्रेरित करते थे और इस प्रकार अपनी खोज और समालोचना को प्रेरित करते थे। श्री अरविन्द की **दि सीक्रेट ऑफ दि वेदाज़्** और **फाउण्डेशन्स् ऑफ इण्डियन कल्चर** तथा कुमार स्वामी के अनेक ग्रन्थ इसी प्रकार लिखे गए। इस उदीयमान और उदार यूरोप से हमारे सम्पर्क ने स्वभावतः हमें अभिभूत किया, किन्तु इसने हममें केवल अभिभव और आत्महीनता का भाव ही जाग्रत नहीं किया बल्कि अपने अतीत के बल पर आत्मगौरव का भाव भी दिया। किन्तु अपने वर्तमान के प्रति इसका प्रभाव हममें मिश्रित ही मिलता है। साहित्य और कलाओं के क्षेत्र में इसने सृजनात्मकता को और राजनीति के क्षेत्र में अपनी खोई प्रतिष्ठा पुनः पाने को प्रेरित किया, और सबसे बढ़कर, किसी भी जाति के लिए गौरवास्पद अनेक नेता दिए। किन्तु विचार के क्षेत्र में स्वामी विवेकानन्द और स्वामी दयानन्द, श्री अरविन्द और डॉ. भगवानदास एवं लोकमान्य तिलक, और सबसे बढ़कर महात्मा गाँधी के बावजूद हमने पूरी तरह यूरोप को आत्मसमर्पण कर दिया। इसका कारण हमारी शिक्षण-संस्थाएँ बनीं।

जबकि धर्म, राजनीति, साहित्य और कलाओं के क्षेत्र में इस सम्पर्क ने सृजनात्मकता को प्रेरित किया था और इन क्षेत्रों में पश्चिम के प्रभाव को हमने अपनी भूमि पर खड़े होकर ही ग्रहण किया था, जिस प्रकार पश्चिम के विचारकों और साहित्यिकों ने उपनिषदों और बुद्ध के प्रभाव को अपनी धरती पर खड़े होकर सृजनात्मक रूप से ग्रहण किया था, विचार के क्षेत्र में हममें यह सृजनात्मकता दिखाई नहीं देती। सम्भवतः इसका कारण भाषा बनी, और सम्भवतः यह भी कि विचारक वर्ग विश्वविद्यालयों के माध्यम से आया। विश्वविद्यालयों में विचार पश्चिम का ही मुख्यतः पढ़ाया जाता था, और जो भारत का भी पढ़ाया जाता था वह अँग्रेजी भाषा के माध्यम से और अँग्रेजों के द्वारा ही प्रस्तुत होता था। किन्तु सम्भवतः इसे एकमात्र कारण नहीं कहा जा सकता। हमारे देश में अँग्रेजों के आने से पहले भी कई शताब्दियों से कोई नया विचार नहीं हो रहा था, पिछले विचार का पिष्टपेषण ही हो रहा था। इसी से संस्कृत पाठशालाओं के पण्डित वर्ग में कोई वैचारिक हलचल दिखाई नहीं देती। इस नई परिस्थिति में भी जो नया विचार राजा राममोहन राय और स्वामी विवेकानन्द और श्री अरविन्द में दिखाई देता है, वह यूरोप की प्रतिक्रिया में ही। यही बात लोकमान्य तिलक के सम्बन्ध में कही जा सकती है। इन तीनों की विचार की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा अंग्रेज़ी ही थी। इसी क्रम में महात्मा गाँधी आते हैं, जो यूरोप में शिक्षित होने पर भी मूलगामी रूप से पारम्परिक किन्तु उतने ही मूलगामी रूप से आधुनिक थे। यद्यपि वे विचारक नहीं होकर कर्म-चेता ही थे, किन्तु उनकी दृष्टि अद्भुत रूप से मूलगामी और भारतीय परम्परारूढ़ होते हुए भी परम्परा के फल्गु को छोड़कर सारग्राही और आधुनिक थी। आधुनिक इसलिए क्योंकि वह नये युग की विद्रूपता के उपचार के रूप में उपजी थी। वह दृष्टि उसी प्रकार भारतीय समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र की आधार हो सकती थी जिस प्रकार प्राचीन भारत में उपनिषद् और गीता, तथा बुद्ध और महावीर की दृष्टियाँ शास्त्रों की आधार बनी थीं। किन्तु वह नहीं बनी, जो दर्शाता है कि इस काल के भारत में विचार-ऊर्जा का अभाव था। विचार के क्षेत्र में नये अवतारों ने यूरोप को ही अपना नेता माना और अपने को केवल उसके व्याख्याकारों की भूमिका में ही रखा, जिसकी भूमि भी स्वभावतः पश्चिम के व्याख्याकारों की भूमि से नीचे के स्तर की ही हो सकती थी। इनमें जो प्राचीन भारतीय दर्शन की ओर भी गए, उसके भी अधिकांशतः पश्चिम का चश्मा पहनकर ही व्याख्याकार बने, किन्तु वहाँ भी मात्र व्याख्याकार ही। अवश्य संस्कृत और हिन्दी के अध्यापक पश्चिम के प्रभाव से अछूते थे, किन्तु वे भी केवल व्याख्याकार ही रहे और अधिकांशतः घटिया ही। दर्शन के इन अध्यापकों ने या तो पाश्चात्य आदर्शवादी दार्शनिकों—कांट, हेगल और ब्रैडले आदि—पर व्याख्यात्मक लेखन किया या कांट, हेगल के साथ वेदान्त को लेकर तुलनात्मक लेखन किया। यह परिस्थिति स्वतन्त्रता के बाद बदल गई। अब हमारे ये अध्यापक अधिकांशतः आजीविका में अपनी योग्यताएँ बढ़ाने के लिए इंग्लैंड और अमरीका की ओर दौड़े और दो-एक अपवाद स्वरूप जर्मनी की ओर, और तब उन्हीं की भाषा बोलने में अपना गौरव देखने लगे। विचार के अन्य क्षेत्रों—राजनीति, अर्थ, समाज और मनोविज्ञान—इनमें तो हमने आरम्भ से ही मान लिया था कि इनमें विचार का अधिकार केवल पश्चिम के विचारकों को ही है। इस आत्महीनता को किसी भी अर्थ में सृजन कहना और इसमें कोई स्वतन्त्रता की अभीप्सा भी खोजना उपहासास्पद ही कहा जा सकता है। परिणामस्वरूप हमने राज्य स्तरीय स्वतन्त्रता तो 1947 में पाई किन्तु इसमें हमने, गाँधीजी के शब्दों में, गोरे साहिबों के स्थान पर भूरे साहिबों को ही अपना शासक बना लिया, और जहाँ तक उस स्वतन्त्रता का सम्बन्ध है जो शासकीय स्वतन्त्रता से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है—आत्मा की स्वतन्त्रता—उसे तो हमने स्वतन्त्रता के बाद और पूरी तरह खो दिया। मैंने 1972 के लगभग अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के वार्षिक अधिवेशन में कहा था कि इधर जो 'समकालीन भारतीय दर्शन' नाम से अँग्रेज़ी में तीन संकलन-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उन्हें भारतीय दर्शन-ग्रन्थ कहने का कोई औचित्य नहीं है। वे भारतीय नागरिकों द्वारा अवश्य लिखे गए हैं किन्तु उनमें 'भारत का तत्त्व' कहाँ है? इस पर तुर्रा यह कि उनकी भाषा भी भारतीय नहीं थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस दार्शनिक परिस्थिति का निरूपण मैं ऊपर कर चुका हूँ, किन्तु इससे उबार का रूप क्या होना चाहिए इसके लिए मैं भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन-परम्पराओं के मूर्धन्य विद्वान प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र जी पाण्डे के द्वारा प्रस्तुत आधुनिक भारतीय दार्शनिक परिस्थिति के संक्षिप्त विवरण का सहारा लूँगा। उनके अनुसार "(पश्चिमी आदर्शवादी दार्शनिकों के) प्रत्ययों और युक्तियों को पारम्परिक (भारतीय दार्शनिक) युक्तियों से समन्वित कर अनेक भारतीय दार्शनिकों ने रचनाएँ की हैं। इनमें के. सी. भट्टाचार्य, अनुकूल चन्द्र मुखर्जी, गोपीनाथ भट्टाचार्य आदि के नाम उल्लेखीय हैं। कुछ भारतीयों ने इस युग में पश्चिमी दार्शनिक प्रस्थानों और पद्धतियों पर लिखकर ख्याति अर्जित की है। इनमें हीरालाल हलधर, रासबिहारी दास, जे. एन. मोहन्ती आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कुछ भारतीय दार्शनिकों ने पश्चिमी दर्शन से आरम्भ कर स्वतन्त्र दर्शन की रचना की है, जैसे यशदेव शल्य। कुछ दर्शन को अन्य ज्ञानविधाओं के सन्दर्भ में विवेचित कर रहे हैं–जैसे देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय।"[1] इस निरूपण में एक संशोधन की आवश्यकता है। जो देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय आदि कर रहे हैं–अन्य ज्ञान-विधाओं के संदर्भ में दार्शनिक विवेचन–वह पूर्णतया पाश्चात्य दार्शनिकों के अनुसरण में ही है उसमें उनकी अपनी कोई दृष्टि नहीं है। जहाँ तक यशदेव शल्य का सम्बन्ध है, इस रचनाकार ने किस प्रकार पाश्चात्य दर्शन के अनुसरण में दार्शनिक लेखन आरम्भ किया, इसका विवरण हमने अन्यत्र दिया है।[2] उसके अनन्तर किस प्रकार उसने स्वतन्त्र दर्शन-रचना आरम्भ की उसका विवरण देना प्रस्तुत प्रसंग में स्थाने होगा। 1970 के लगभग इस लेखक ने उपनिषद्, शंकर के ब्रह्मसूत्र भाष्य, ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका तथा वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि और प्रो. गोविन्दचन्द्र जी पाण्डे कृत अपोहसिद्धि का अनुवाद और व्याख्या पढ़ी।

पाश्चात्य दर्शन में भी अनुभववाद और अर्थक्रियावाद (प्रेग्मेटिज्म) के आगे कांट और उसके अनुयायी अन्र्स्ट कासीरर को पढ़ा और पाया कि भारतीय दर्शन की दृष्टि पाश्चात्य दर्शन से कहीं अधिक गहरी है किन्तु उसका प्रतिपादन उसकी अपनी दृष्टि के मर्म के अनुकूल नहीं है। इसमें उसने श्री अरविन्द को भी अयुक्त पाया और तब उस दृष्टि के मर्म के योग्य पदावली का, जैसा उसने समझा, विकास करने का प्रयत्न किया। पाश्चात्य दर्शन-परम्परा से मुक्त अपनी इस नवीन दृष्टि से इसने जो पहला निबन्ध-संग्रह **चिद्विमर्श** के नाम से प्रकाशित किया उसे 'वैदान्तिक अनुभव का नवोन्मेष' कहा। वैदान्तिक अनुभव के इस उन्मेष में यह नवता कैसी थी इसकी व्याख्या में इसने पुस्तक-परिचय में लिखा–"इसमें वेदान्त-सिद्धान्त का विवेचन या उस सिद्धान्त का नवीन विधि से प्रतिपादन नहीं है, बल्कि उस अनुभव को बुद्ध्या समझने का प्रयत्न है जिसका औपनिषद ऋषियों ने प्रतिभया और सन्त कवियों ने अनुभूत्या साक्षात्कार किया था।" दर्शन के इस लेखक को एक बार भारत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भवन ने 'भारतीय भाषा चिन्तन' पर व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित किया था। इसी विषय पर व्याख्यान देने के लिए दो और विद्वान भी आमन्त्रित थे। उनके विपरीत इसने अपना व्याख्यान इन शब्दों के साथ आरम्भ किया—"भारतीय से अर्थ प्राचीन भारतीय लिया जाता है और आधुनिक से अर्थ लिया जाता है जो आज के पाश्चात्य चिन्तक प्रतिपादित कर रहे हैं। आज के भारतीय की इति कर्त्तव्यता केवल इन दो के विचारों को प्रस्तुत करना ही मानी जाती है। किन्तु मैं ऐसा नहीं मानता। मैं यह मानता हूँ कि मैं आज का भारतीय हूँ और मुझे अपना विचार करने का अधिकार है। स्वभावतः मेरे पीछे भारतीय अतीत है जिसे समेटते हुए मैं भारतीय हूँ, किन्तु अपना विचार करते हुए मैं अपने अतीत से स्वतन्त्र भी हूँ। सो मैं यहाँ भाषा विषयक अपने विचार ही प्रस्तुत करूँगा।" इस प्रकार पाण्डेजी ने इस लेखक द्वारा जिस स्वतन्त्र दर्शन-रचना की बात की है उसका यह अर्थ है। यह रचना उसी अर्थ में स्वतन्त्र है जिस अर्थ में रवीन्द्र, बंकिम, शरत्चन्द्र, प्रेमचन्द और छायावादी कवियों-उपन्यासकारों की रचनाएँ स्वतन्त्र हैं। ये कवि और उपन्यासकार पश्चिम से परिचित थे किन्तु ये अपने अनुभव की भूमि पर खड़े थे और इनकी अपनी दृष्टि थी। ये रचनाएँ किसी भी अर्थ में अतीतोन्मुखी नहीं थीं और न किसी भी अर्थ में पश्चिमोन्मुख थीं, वे ऐसी नवीन थीं जो हजारों वर्ष पुरानी संस्कृति की नई जीवन्तता में प्रतिष्ठित थीं। दर्शन में इधर इसी प्रकार की रचनात्मकता दर्शन में दूसरे मार्ग से नए आए डॉ. मुकुन्द लाठ प्रदर्शित कर रहे हैं। किन्तु क्योंकि ये दोनों हिन्दी में लिख रहे हैं, जो विचार की भाषा होने योग्य नहीं मानी जाती, इसलिए इनकी ओर किसी का ध्यान नहीं है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ये पिछले 22 वर्ष से 'मानसिक हिन्द स्वराज की स्थापना' के उद्देश्य से एक दार्शनिक पत्रिका भी चला रहे हैं और इस दिशा में निष्ठापूर्वक संलग्न हैं, जबकि इसी बोध से प्रेरित हो पिछली शताब्दी के तीसरे दशक के आरम्भ में के. सी. भट्टाचार्य ने लिखा था कि विचार के लिए अपनी भाषा अपनाए बिना मानसिक स्वराज्य पाना सम्भव नहीं है। किन्तु तब भी श्री भट्टाचार्य अँग्रेज़ी में ही लिखते रहे। तब स्वाभाविक ही था कि वे वैचारिक स्वराज में प्रतिष्ठित नहीं हो पाए। यह ध्यातव्य है कि 'स्वराज्य' शब्द उन्होंने महात्मा गाँधी के 1905 में लिखी भारतीय स्वतन्त्रता के घोषणा-पत्र सरीखी लघु पुस्तिका **हिन्द स्वराज्य** से लिया था, जिसमें उन्होंने अँग्रेज़ी भाषा से मुक्ति को अनिवार्य बताया था और उन्होंने अपनी इस घोषणा का निष्ठा से पालन किया था। यदि के. सी. भट्टाचार्य ने भी अपनी इस घोषणा में निष्ठा दिखाई होती तो निश्चय ही उसका कुछ स्वास्थ्यकर प्रभाव पड़ा होता। किन्तु उन्होंने यह निष्ठा नहीं दिखाई। उनकी यह बात तत्कालीन भारतीय मानसिकता की द्योतक थी। स्वतन्त्रता से पूर्व यद्यपि हिन्दी और उसके साथ अन्य भारतीय भाषाओं को अपनाने का आदर्श बना रहा और गांधी जी की प्रेरणा से दक्षिण के विभिन्न प्रान्तों में राष्ट्रभाषा प्रचार समितियाँ स्थापित हुईं, तब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी ये भाषाएँ वैचारिक लेखन की भाषाओं के रूप में नहीं अपनायी गईं। इसी से जब मैं 1952 में दर्शन के अध्ययन-लेखन की ओर अग्रसर हुआ तो मैंने पाया कि हिन्दी में एक भी पत्रिका नहीं है जिसमें इस विषय के लेख प्रकाशित हो सकें। एक 'समाज' नामक पत्रिका डॉ. सम्पूर्णानन्दजी के सम्पादन में उससे पहले आरम्भ हुई थी किन्तु वह दो-तीन अंकों के प्रकाशन के बाद ही बन्द हो गई। इस पर मैंने एक लेख लिखा कि हिन्दी को यदि भारत जैसे राष्ट्र की राष्ट्रभाषा होना है तो उसे विभिन्न शास्त्रों और विज्ञानों की भाषा भी होना होगा और तब हिन्दी में दार्शनिक पत्रिका के प्रकाशन का संकल्प किया और इसके लिए अनेक हिन्दी संस्थाओं, प्रकाशकों और नेताओं तथा दर्शन के अध्यापकों से सम्पर्क किया। तब सम्पूर्णानन्द जी ने मुझे चेताया कि मैं ऐसा जोखिम नहीं उठाऊँ क्योंकि वे 'समाज' पत्रिका आरम्भ कर अपने दाँत तुड़ा चुके हैं। किन्तु मैंने तो छलाँग लगा दी और न केवल दार्शनिक त्रैमासिक पत्रिका ही 1954 से 1982 तक चलाने में सफल रहा बल्कि अखिल भारतीय दर्शन परिषद् नामक संस्था स्थापित करने में भी सफल रहा, जो संस्था आज भी चल रही है और फलफूल रही है। 1985 से मैंने एक दूसरी दार्शनिक पत्रिका **उन्मीलन** नाम से आरम्भ की जो आज भी चल रही है और इसका लक्ष्य 'मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक' निर्धारित किया। किन्तु खेद की बात है कि यह सब प्रयत्न जयशंकर प्रसाद के शब्दों में कहें तो 'हारी होड़' ही सिद्ध हो रहा है। दर्शन में आज भी अँग्रेजी के माध्यम से मरियल लेखन ही हो रहा है, सब शास्त्रों और विज्ञानों की संस्थाओं की भाषाएँ अँग्रेज़ी ही है, विश्वविद्यालय में बाध्य होकर भारतीय भाषाएँ वैकल्पिक माध्यम के रूप में स्वीकार की गई हैं किन्तु उनके कार्य की भाषा आज भी अँग्रेजी ही है, और यह अँग्रेज़ी अब उससे कहीं अधिक बढ़ रही है जितनी अँग्रेज़ी-शासन काल में थी। आज प्राथमिक विद्यालयों में भी अँग्रेज़ी पढ़ाई जा रही है जबकि अँग्रेज़ी शासन में पाँचवीं कक्षा से आरम्भ होती थी, हिन्दी माध्यम स्कूल निर्धन वर्ग के बच्चों के लिए ही रह गए हैं, और अपढ़ दादियाँ-नानियाँ आज बच्चों को सेब के बजाय 'ऐप्पल' और केले के बजाय 'बनाना' खिलाती हैं। हिन्दी के कम से कम कुछ अख़बार हिन्दी के बजाय हिंगलिश का प्रयोग कर रहे हैं। फिर कैसी स्वातन्त्र्य की अभीप्सा और कैसी सृजनात्मकता? जो देश अपनी भाषा तक छोड़ने को तैयार है उसमें स्व की बात ही कहाँ रह जाती है जिस स्व का कोई तन्त्र हो? इधर इसके साथ आर्थिक कारण और जुड़ गए हैं—बाहरी कम्पनियों के काल सेण्टरों में नौकरी के लिए हमें अँग्रेज़ी चाहिए, कम्पनियों की मैनेजरी के लिए अँग्रेज़ी चाहिए। यह अद्भुत तर्क है। इसने अब हमारे लिए उस धर्म को भी व्यापार बना दिया जिसमें पीछे हमने कुछ सृजनात्मकता दिखाई थी। स्वाध्याय आन्दोलन और गायत्री परिवार आन्दोलन के रूप में यह सृजनात्मकता धर्म के क्षेत्र में प्रकट हुई थी। इसी प्रकार रामकृष्ण परमहंस और रमण महर्षि से लेकर निसर्गदत्त जी और मंगतरामजी आदि तक अनेक अद्भुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्तों का आविर्भाव इस देश की आध्यात्मिक ऊर्जा की अजस्रता के रूप में प्रकट हुआ था, किन्तु अब उसमें भी योग योगा और राम तथा कृष्ण रामा तथा कृष्णा के रूप में ही स्वीकृत हो रहे हैं। इधर इस देश के महाशक्ति के रूप में उभरने की बात हो रही है, किन्तु इस महत्ता की परिभाषा अर्थ और सैन्य बल ही हैं, कोई दृष्टि नहीं। जिस देश की संस्कृति उन महाकाव्यों पर टिकी है जिन्होंने मानव की शक्ति स्वर्ण-लंकापति और शक्तिशाली असुर सेनापति रावण में नहीं वनचारी राम में देखी थी और जिसने कर्म का बल निष्कामता में देखा था, आज भी जिसने विश्व का महानतम राजनीतिज्ञ एक सत्य-अहिंसा और त्याग की बात करने वाले महात्मा गाँधी के रूप में उत्पन्न किया था, वही देश आज दृष्टि-विवेक-हीन अर्थ और सैन्यबल में अपनी शक्ति खोज रहा है। इसी से हमारी राजनीति आज भ्रष्टाचारी, अवसरवादी, आत्मसम्मानविहीन, दृष्टि-हीन चाटुकारों का रंगमंच बन गई है और समाचार-पत्रों और वैद्युत समाचार-माध्यमों के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण क्रिकेटर तथा नट-नटियाँ बन गए हैं। अभी पीछे एक खिलाड़ी ने दूसरे खिलाड़ी के थप्पड़ मार दिया तो यह कम से कम एक समाचार पत्र के लिए संसार की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना बनी और वैद्युत माध्यमों के लिए तीन दिन तक लगभग एकमात्र चर्चा का विषय रही। ऐसे में यदि किसी दार्शनिक या साहित्यिक या कलाकार को समाचार माध्यमों में कभी स्थान मिलता ही है तो मानना चाहिए कि उसका कुछ अदार्शनिक असाहित्यिक कारण ही हो सकता है। ऐसे में यदि कोई अच्छा विचारक, अच्छा सृजनात्मक प्रतिभा-सम्पन्न दार्शनिक, साहित्यिक या कलाकार हो भी तो वह दिखाई ही कैसे देगा? यदि कोई दृष्टि-सम्पन्न राजनीतिज्ञ हो तो उसे उभरने ही कौन देगा? आज हम स्वमन्त्र हैं, किन्तु बिना किसी स्व के, ऐसे में सृजन की बात उपहासास्पद लगती है। आज अंग्रेजी के ही नहीं, हिन्दी के भी, और दार्शनिक या समाजशास्त्री ही नहीं, साहित्यिक भी, किसी भी लेखक का लेख देख लीजिए, उसमें यूरोपीय विचारकों के उद्धरण आप्तवाक्यों के समान आप को उद्धृत मिलेंगे। यहाँ तक कि उपन्यासों और नाटकों के पात्रों तक के उल्लेख में हिन्दी उपन्यासों-नाटकों के पात्रों के नामों के बजाय आपको अँग्रेज़ी उपन्यासों-नाटकों के नाम ही मिलेंगे। तो यह है हमारा स्वातन्त्र्य और सृजनशीलता।

सन्दर्भ

1. *समसामयिक भारतीय संस्कृति*, पृ. 99, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007
2. यशदेव शल्य—*तत्त्वचिन्तन* में 'सृजन और परिवेश अथवा सत्य की खोज' लेख। राका प्रकाशन, इलाहाबाद, 2006

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोसी, जल-प्रलय और बिहार की त्रासदी

ब्रज बिहारी कुमार

आखिर कोसी ने बीरपुर बाँध से 12 किलोमीटर ऊपर नेपाल के कुसहा में अपना तटबंध-तोड़ ही दिया। तटबंध के टूटने से आये जल प्लावन से जान-मान की भयंकर क्षति पहुँची है। इससे 1600 गाँव तथा लगभग तीस लाख लोग प्रभावित हुए हैं। सवा लाख हेक्टेयर जमीन के डूबने से 150 करोड़ की फसल नष्ट हुई है; लगभग नव लाख मवेशी प्रभावित हुए हैं; लगभग तीन लाख मकानों के नष्ट होने से बीस लाख लोग गृह-विहीन हुए हैं और दसों हजार डूब मरे हैं। इस बाढ़ ने इतना समय भी नहीं दिया कि लोग खूँटे से बँधे मवेशियों को खोल सकें; भाग कर अपनी जान बचा सकें। तटबंध टूटने के स्थान के सीध में पड़ने वाले गाँवों – ठटहा, मटियारी, विष्णुपुर, बिनापुर, भवानीपुर, बलुआ बाजार का अस्तित्व ही नष्ट हो गया है।

इस बाढ़ ने पिछले कई दशकों से हुए विकास कार्यों - सड़कों, विद्यालयों, आदि – को धो पोंछकर समाप्त कर दिया। ऊपजाऊ जमीन बालू से पट गयी, मवेशी मर गये। जो बचे हैं, वे चारे की कमी से मरेंगे। मधेपुरा जिला के अधिकांश भाग तथा सुपौल, सहर्सा, अररिया, पूर्णिया एवं कटिहार के कई प्रखण्डों की अर्थव्यवस्था चौपट हो गयी है।

इस बाढ़ ने समाज की अच्छाइयों एवं बुराइयों को साथ साथ उजागर किया है। बाढ़-पीडितों की सहायता के लिए लोग तन मन धन से सामने आये, सरकारी तंत्र के सचेष्ट होने के पहले ही। लेकिन बाढ़ से बचाने के नाम पर औरतों से छेड़छाड़ तथा गहने छीने जाने की घटनाएँ भी हुईं, एक मवेशी बचाने के बदले एक माँगे जाते रहे। बच्चों की तस्करी की खबर भी आयी है। इस बाढ़ से उपजी मानवीय त्रासदी झटके देती है मन को दुख से सराबोर करती है। एक माँ तथा उसकी पीठ पर उसकी साड़ी से बँधे उसके दो बच्चों की लाशें, साथ ही पीठ पर बँधे उनके स्कूल के बस्ते; एक दूसरे से जकड़े पति-पत्नी की लाशें, बाढ़ के पानी के साथ बहती सैकड़ों मनुष्यों, मवेशियों की लाशें। किसी नहर पर 15 दिनों तक अपने दो बच्चों के साथ भूख-प्यास, धूप एवं वर्षा से प्रताड़ित वासु देवी केले के स्तम्भों की नाव बनाकर घर लौटना चाहती है, उसकी पाँच एवं एक वर्ष की दोनों बच्चियाँ फिसल कर पानी में गिरती हैं और बह जाती हैं। जिरवा गाँव का श्रमिक दिनेश साह रात के समय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अचानक जगकर पाता है कि घर में पानी भरा है और उसके पाँचों बच्चे -- चौदह, बारह एवं दो वर्ष की बच्चियाँ तथा नौ तथा पाँच वर्ष के बच्चे – जल में तैर रहे हैं, तभी तेज धार में घर का छप्पर ऊपर से गिरता है; त्रस्त एवं किंकर्त्तव्य-विमूढ़ दिनेश उन बच्चों, अपनी पत्नी, माता-पिता, दो बहनों (जिनमें एक के गर्भ में बच्चा था) तथा बहनों के परिवार को छोड़ तैर कर बाहर आ जाता है। सहर्सा के रिलिफ कैम्प में वह लगातार अपनी सूनी आखों से किसी परिचित का चेहरा खोज रहा है जो उसे उन बिछड़े हुओं की जानकारी दे सके। सुनीता देवी के दो बच्चे बाढ़ में डूब मरे थे। दो दिनों तक भयंकर प्रसव पीड़ा झेलती वह महिला पति को अकेला छोड़कर अपने गर्भस्थ बच्चे के साथ चल बसी। उसका पति उसे लेकर एक एक अस्पताल एक एक क्लिनिक की परिक्रमा करता रहा; प्रसवग्रस्त माँ तड़पती रही, बच्चे का हाथ बाहर निकला हुआ था, किसी डॉक्टर को अन्त तक उसपर दया नहीं आयी। सैकड़ों परिवार हैं जिनका कोई न कोई मरा है, अनाथ बच्चे वेसहारा वृद्ध एवं औरतें; त्रासदी भोगने के लिए अकेला बचा परिवार का सदस्य। पिछले दिनों कोसी क्षेत्र में यह त्रासदी बार बार दुहरायी गयी, सैकड़ों बार। प्रश्न है कि इस मानवीय त्रासदी के लिए क्या कोसी को जिम्मेदार ठहराया जा सकता है?

ध्यातव्य है कि 1984 में कोसी का तटबंध सात लाख क्युसेक पानी के दबाव से भी नहीं टूटा था, वह इस बार मात्र एक लाख 77 हजार का दबाब नहीं झेल पाया। वस्तुतः पिछले पन्द्रह वर्षों से तटबंध के रखरखाव में ढील दी जाती रही थी। फिर हुआ वही जिसकी चेतावनी कोसी के अवकाश प्राप्त मुख्य अभियंता बिन्देश्वरी सिंह ने आज से ठीक दस वर्ष पहले 29.9.1998 की एक टिप्पणी में बिहार सरकार के सिंचाई विभाग को दिया था। उनके अनुसार तटबंध के ऊपरी भाग को (बराज के ऊपर भी) पूर्व या पश्चिम तरफ पाँच से दस वर्ष के अन्दर टूटना ही था। उस समय तटबंध के भीतर बालू का स्तर बाहर के गाँवों से औसतन तीन मीटर ऊपर हो गया था। जैसा कि उन्होंने लिखा था कि बाँध के भीतर का तीन मीटर पानी तटबंध टूटने पर कुल छ मीटर की ऊँचाई से चलेगा, जिससे अगल बगल के जिलों के हजारों लोगों तथा पशुओं की जानें जायेंगी, एक मंजिला मकान पूरी तरह डूब जायेंगे; भयंकर तबाही होगी। उनकी टिप्पणी में बाँध टूटने पर नदी की धारा बदल जाने की संभावना भी व्यक्त की गयी थी।

2004 में जब नदी की धारा पूरी तरह से तटबंध से टकराने लगी, तटबंध के लिए खतरा नजर आने लगा तो फिर बाँध की मरम्मत की बात उठी। उपग्रह से प्राप्त चित्रों से प्राप्त जानकारी की मरम्मत के प्रस्ताव के साथ ही अनदेखी की गयी, जिसमें केन्द्र से आनेवाली विशेषज्ञ कमिटी की भी ऋणात्मक भूमिका रही। फिर नदी के पेटे से बालू गाद निकालने की 2007 की योजना भी अस्वीकृत की गयी। अन्ततः दिल्ली तथा पटना के सचिवालयों में फाइलें इधर उधर होती रहीं; दिल्ली एवं पटना के बीच

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्र-व्यवहार होता रहा और जैसा कि समाचार पत्रों में बिहार के जल संसाधन मंत्री के वक्तब्य से जानकारी आयी बाँध के रखरखाव के लिए केन्द्र से अत्यल्प राशि दी गयी। जहाँ तटबंध टूटा वहाँ पेड एवं झाड़ियाँ लगी थी; इससे पता चलता है कि वर्षों से तटबंध के रखरखाव का काम नहीं हुआ था।

कोसी कई अर्थों में विश्व की किसी भी नदी से अलग तरह की नदी है। पूर्वी नेपाल के काठमाण्डु के पूर्व के क्षेत्र में अवस्थित इसका ऊपरी जल ग्रहण क्षेत्र विश्व की दो सबसे ऊँची चोटियों - एवरेस्ट एवं कंचनजंघा - के मध्य अवस्थित है जो विश्व की किसी भी नदी से अधिक ऊँचाई पर स्थित जलग्रहण क्षेत्र है। चतरा तक, जहाँ यह नदी पहाड़ों से उतरती है, के कुल जलग्रहण क्षेत्र 23000 वर्गमील का लगभग 10% क्षेत्र - 22,00 वर्ग मील हिम-रेखा के ऊपर का क्षेत्र है। कोसी सात नदियों/धाराओं के मिलने से बनी है; इसलिए इसे बराह क्षेत्र के पहले सप्त कोसी नाम से जाना जाता है। मुख्य नदी सुन/स्वर्ण कोसी से मिलने वाली छ अन्य नदियों — भोटिया/इन्द्रावती कोसी, ताम्बा/ताम्ब्र कोसी, लिखी कोसी, दूध कोसी, अरुण कोसी एवं तामुर कोसी - में से अन्तिम दो त्रिवेणी नामक स्थान पर सुन कोसी से मिलती हैं। अरुण कोसी, जिसे तिब्बत में फिंग्चु कहते हैं, हिमालय में बहुत गहरी घाटी काटते हुए तिब्बत से आती है। सात धाराओं के मिलकर बनने से इसे सप्त कोसी कहा जाता है। उत्तरी बिहार में भी इस नदी की सहायक नदियाँ मिलती हैं, जिनमें मुख्य बागमती है, यहाँ इस बात का उल्लेख जरुरी है कि पूर्वी नेपाल के लिम्बुआन तथा सिक्किम की भाषा लिम्बु/किरान्ती में कोसी शब्द नदी का पर्याय है।

कोसी का जल प्रवाह औसतम 406 लाख एकड़-फीट का रहा है जिसका 80% मानसून के पाँच महीनों में प्रवाहित होता है। वर्षा एवं बर्फ पिघलने से सबसे अधिक औसतन दो से ढाई लाख क्यूसेक पानी जुलाई-अगस्त के महीने में प्रवाहित होता है। रिकार्ड बहाव 24 अगस्त 1954 का 8.55 क्युसेक का रहा है।

बाल्मिकीय रामायण में कोशी को एक शान्त नदी के रूप में याद किया गया है। किन्तु नदी का स्वभाव वैसा बना नहीं रहा। यह नदी चीन की ह्वांगहो की तरह "बिहार का शोक" बनकर उभरी। भयंकर कटाव तथा बाढ़ अगल बगल की हरी-भरी जमीन को बालू भरकर अनुर्वर बनाना इसका स्वभाव बन गया। कोसी 95000 एकड़ फीट गाद — कंकड-पत्थर, बालू, मिट्टी — पहाड़ों से ढोकर लाती है, जो 150 वर्गमील के क्षेत्रफल की जमीन को एक फीट ऊँचा कर सकती है। कोशी के कटाव एवं धारा-परिवर्तन का यह सबसे बड़ा कारण है। ध्यातव्य है कि कोसी विश्व की किसी भी नदी से पाँच गुणा अधिक गाद ले आती है। इसके कटाव की यह स्थिति रही है कि यह नदी मात्र 100 तर्षों में 110 कि.मी. पश्चिम घिसक गयी। कभी यह नदी फारबिसगंज, पूर्णिया कटिहार तथा मनिहारी के बगल से बहती थी; आज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पण्डौल के नजदीक से। इसके कटाव का रिकार्ड एक वर्ष में 20 कि.मी. का रहा है। एक और बात। इसके 100 वर्ष के सारे कटाव के दौरान नेपाल में बेल्का हिल के सँकरे निकास (ठमसां ीपसस दवेम) तथा गंगा में मिलने के स्थान, कुरसेला में कोई बदलाव नहीं आया। केवल इन दो स्थानों के बीच नदी गोल घुमावदार कटान करती हुई पश्चिम की तरफ बढ़ती गयी।

कोसी के विद्रोही तेवर के कई कारण हैं। नदी का जलग्रहण क्षेत्र नये कच्चे पर्वतों का है जो भू-वैज्ञानिक कारणों से अत्यधिक रोड़े-पत्थर, कंकड़, बालू, गाद पैदा करता है। नदी की ढलान किसी भी नदी से अधिक है। अत्यन्त सँकरी घाटी से गुजरने से नदी, अगल-बगल जमा नहीं कर पाती। मैदानी क्षेत्र में उतरने के पहले बाराह क्षेत्र में तो यह नदी तीन स्थनों पर सीधे खड़ी दिखयी देती है। चतरा के बाद पर्वत से निकलने के बाद भी नदी की ढलान लगभग पाँच फीट प्रति किलोमीटर है जो हनुमान नगर तक आते आते 3.2 फीट रह जाती है। इसके बाद ढलान कम होते होते आधा फीट प्रति किलोमीटर रह जाती हैं। तेज ढलान तथा तीव्र गति कारण नदी ककड़-पत्थर बालू, गााद ढोती चलती है। चतरा से लगभग 32 कि.मी. तक यह पत्थर, कंकड़ आदि तथा बेल्का पहाड़ी के बाद बालू जमा करने लगती है। इस के दो प्रभाव पड़ते हैंः

(1) नदी का पेटा सदा बाहर की तूलना में ऊँचा होता है, जिससे बाढ़ का पानी बहुत बड़े क्षेत्र में फैल जाता है। बाढ़ के समय नदी चलते फिरते समुद्र का रूप ले लेती है।

(2) पहाड़ से निकलते ही नदी डेल्टा का रूप दिखाती हुई कई धाराओं में बँटने की प्रवत्ति रखती है। बिहार में कोसी की 130 कि.मी. यात्रा में इसके दुष्प्रभाव की कहानी बार बार दुहरायी जाती रही हैं।

कोसी को बाँधने की बात 1891 से ही चलती रही। बाढ़ का हवाई सर्वे 1945 में अंग्रेज वायस राय लार्ड वावेल ने तथा 1951 में पण्डित नेहरू ने किया था। इसके बाद बाँध की बात चली; 1964 में बाँध बनकर तैयार हुआ। क्षेत्र में खुशहाली भी आयी। लेकिन वर्तमान

त्रासदी ने सब कुछ धो पोंछ कर एक समान कर दिया।

अत्यधिक जल प्रवाह तथा रखरखाव की कमी के चलते कोसी का तटबंध पहले भी सात बार टूटा है। अन्तिम बार लालू प्रसाद यादव के मुख्य मंत्रित्व के दौरान 18 जुलाई 1991 को तटबंध नेपाल क्षेत्र में ही टूटा था। इस बार माओवादियों की युवा शाखा ने अन्तिम दौर के मरम्मत के काम में बाधा पहुँचाया था तो 1991 में नेपाल एवं बिहार के बलुवा बाजार के ठीकेदारों के सम्मिलित अवरोध ने। नेपाल से अपेक्षित सहायता दोनों बार नहीं मिली। इससे अपने पड़ोसी देशों के साथ हमारे संबंधों की कमजोरी एक बार फिर सामने आयी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोसी के गाद जमा करने की समस्या शुरू से रही है, लेकिन शुरू में तटबंध के मध्य नदी के पेटे की गाद नदी के तलहटी से हटायी जाती रही, जो बाद में जलस्तर से की जाने लगी। समस्या की जड़ में इस बात के अतिरिक्त पिछले 15 वर्षों की रखरखाव एवं मरम्मत की उपेक्षा भी कारक बनी। इन सबके बावजूद कमसे कम इस बार तटबंध को टूटने से बचाने की संभावना तो थी ही। 5 अगस्त को कुसहा तटबंध पर नदी का दबाव बढ़ा। मुख्य अभियंता ने बिहार के काठमाण्डु स्थित कोसी प्रोजेक्ट सम्पर्क पदाधिकारी को उसी दिन बीरपूर से इसकी सूचना दे दिया। पदाधिकारी अनुपस्थित थे, फोन बिल न जमा करने से कट चुका था। 9 से 16 अगस्त के बीच उन्होंने बिहार के बाढ़ नियंत्रण से जुड़े ग्यारह वरिष्ठ पदाधिकारियों को खतरे के प्रति आगाह किया। लेकिन हुआ क्या? वहाँ बालू की बोरिया तक नहीं थी; पाँच लाख वर्ग फीट पत्थर भण्डार में बिना उपयोग के पड़ा रहा। तटबंध की मरम्मत 20 अप्रिल तक हो जानी थी वह अन्तिम समय तक नहीं हुआ। 18 अगस्त को तटबंध टूट गया। इसकी सूचना केन्द्र को 19 अगस्त को, भी जबकि नदी लगातार टुटन का विस्तार कर रही थी, नहीं दी गयी। मुख्यमंत्री नीतीश कुमार तक को इसकी सूचना बाँध टूटने के एक दिन बाद दी गयी। स्थिति ऐसी थी कि बिहार के सिंचाई विभाग की बुलेटिन बाँध के सुरक्षित होने का समाचार बाँध टूटने के एक दिन पहले तक प्रसारित करती रही। बाँध दिन के दो पहर टूटा था, लोगों को आधी रात या उसके बाद भी इसका पता न था। यदि बिहार की सड़ी गली उत्तरदायित्वविहीन संवेदनहीन नौकरशाही ने बाँध टूटने की सूचना समय पर दी होती तो लाखों लोग अपने पशुओं के साथ, खाने पीने का कुछ सामान लेकर अगल बगल के ऊँचे सुरक्षित स्थानों पर चले गये होते; तब इस दुखद त्रासदी का प्रभाव काफी कम होता। नौकरशाही की कमियाँ लोगों को राहत पहुँचाने, विशेषतः गावों में, के दौरान खुलकर सामने आयी। प्रश्न उठता है कि नौकरशाही को इस स्तर तक नीचे लाने के लिए बिहार की राजनीति तथा इसके वर्तमान एवं पूर्व मुख्यमंत्री कितने उत्तरदायी हैं? उत्तरदायित्व-हीनता के लिए कोसी क्षेत्र के किसी जिलाधिकारी का स्थानान्तरण कर दिया गया। क्या स्थानान्तरण दण्ड है? यदि नहीं तो ऐसे अपराधी किस्म की उत्तरदायित्वहीनता के लिए बर्खास्तगी तथा धारा 302 के अन्तर्गत मुकदमा चलाने का प्रावधान अब तक क्यों नहीं किया गया? कोशी के बाढ़ की त्रासदी का एक दुखद पक्ष यह भी है कि इससे जुड़े केन्द्रीय मंत्री बिहार के हैं और राज्य के मंत्री सबसे अधिक प्रभाविक मधेपुरा जिले के। ठीकेदार राज्य के सिंचाई मंत्री के निकट संबंधी बताए जाते हैं।

कोसी की इस त्रासदी के लिए कोसी जिम्मेदार नहीं है। यह मनुष्य निर्मित्त त्रासदी है जिसके लिए हमारी निर्लज्ज राजनीति, संवेदनहीन उत्तरदायित्वहीन नौकरशाही, राजनीतिकों नौकरशाहों- ठीकेदारों का अपराधी गढजोड़ एवं भ्रष्ट व्यवस्था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही उत्तरदायी नहीं है, बल्कि विकास की गलत अवधारणा भी। कोसी आदि नदियों की प्राकृतिक जल निकासी की दिशा दक्षिण-पूर्व की तरफ है जबकि उत्तर भारत के प्रमुख रेल पथ तथा सड़के पूर्व-पश्चिम की तरफ चलती हैं, जिनके निर्माण में जल-निकासी के प्रावधान की कमी से जल-जमाव होता रहा है। कोसी क्षेत्र में नदी पुरानी धार पर आए या न आये, जल जमाव की समस्या से खेती तो चौपट हो कर ही रहेगी। कोसी की नहरों में भी रखरखाव की कमी से मिट्टी बालू भरा हुआ है; अतः जल निकासी में नहरें बाधक ही बनेगी। पहले नदियाँ अपने दोनों ओर मिट्टी फैलाकर जमीन को ऊपजाऊ बनाती थीं, उनकी भीतरी सतह की गहराई बनी रहती थी; बाढ़ कम समय के लिए तथा कम आती थी। अब वैसा नहीं होता। अब तटबंध के भीतर गाद/मिट्टी/बालू जमा होने से नदी की सतह बाहर से ऊँची हो जाती है; बाँध टूटते ही हैं, भयंकर बर्बादी होती है। आवश्यक है कि हम अपनी बाढ़ नियंत्रण की नीति को बदलें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोसी : परिचय एवं संदर्भ

देवेन्द्र कुमार देवेश*

कोसी नदी

बिहार की नदियों के गहन अध्येता पंडित हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' ने अपनी पुस्तक में लिखा है—"बिहार प्रदेश के उत्तरी सीमांचल को छूते ही कोसी अपनी प्रवाह-वेणी को बिखरा देती है और काली घटाओं जैसी अपनी अनेक धाराओं से सहरसा और पूर्णिया ज़िले में फैल जाती है। दरभंगा ज़िले के पूर्वी भाग से पूर्णिया ज़िले तक की 75 मील की भूमि में एक इंच भी ऐसी भूमि नहीं है, जहाँ कभी कोसी नदी की धारा न बही हो। इस 75 मील के चौड़े क्षेत्र में 'कोसी' अनेक बार पश्चिम से पूर्व की ओर गई और अनेक बार पूर्व से पश्चिम की ओर आई है। कोसी नदी पूरब में पूर्णिया, दिनाजपुर और मालदह ज़िलों को पार करती 'बोगरा' ज़िले में ब्रह्मपुत्र की धारा तक दौड़ लगा चुकी है और पश्चिम में कमला नदी की धारा तक आ चुकी है। इस प्रकार इसका आना-जाना हज़ारों वर्षों से जारी है।"[1]

वस्तुतः कोसी भारत में सबसे ज़्यादा पानी लानेवाली नदी है। दुनिया के सर्वाधिक ऊँचे पर्वतों से निकलने वाली कोसी लोक में ही नहीं, पुराणों में भी अपनी विध्वंसक प्रवृत्ति के लिए ख्यात है—इसे बिहार/बंगाल का शोक भी कहा गया है। कोसी नदी की धाराएँ मध्य-पूर्व हिमालय के विशाल हिमनदों से प्रायः 7000 मीटर की ऊँचाई से अपनी यात्रा शुरू करती हैं। पश्चिम से पूर्व की ओर 248 किलोमीटर तक विस्तृत सप्तकौशिकी के नाम से अभिहित कोसी की सात धाराएँ—इंद्रावती, सुन कोसी, तामा कोसी, लिक्खु (लिक्षु) कोसी, दूध कोसी, अरुण कोसी और तामर कोसी—नेपाल के धनकुट्टा ज़िले में स्थित चतरा से प्रायः दस किलोमीटर की दूरी पर त्रिवेणी नामक स्थान पर संगम करती हैं। इनमें सबसे लंबी धारा अरुण कोसी है, जो तिब्बती पठार के मध्य हिम सरोवर से निकलती है तथा तिब्बती पठार में 'फूङ छू' के नाम से लगभग 231 कि.मी. और नेपाल की भूमि में लगभग 123 कि.मी. की दूरी तय कर संगम तक पहुँचती है। लिक्खू कोसी सबसे छोटी धारा है, जो मात्र

* उपसंपादक, साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन, 35, फीरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली 110001, मोबाइल : 9868456153

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

48 कि.मी. लंबी है और सोलूखुंबू ज़िले के एक ग्लेशियर से निकलती है। अरुण कोसी माउंट एवरेस्ट तथा तामर कोसी कंचनजंघा पर्वतमाला से पानी लाती है। पहली पाँचों धाराएँ गौरीशंकर शिखर तथा मकालू पर्वतमाला से होकर आती हैं और इनका सम्मिलित प्रवाह सुन कोसी कहलाता है, जिसके साथ अरुण और तामर कोसी का भी संगम हो जाने पर संगमित प्रवाह सप्तकोसी, महाकोसी अथवा कोसी कहलाता है। कोसी का कुल जलग्रहण क्षेत्र 74,030 वर्ग कि.मी. है, जिसमें इसकी दो मुख्य सहायक नदियों—कमला (जलग्रहण क्षेत्र : 7232 वर्ग कि.मी.) तथा बागमती (जलग्रहण क्षेत्र : 14,384 वर्ग कि.मी.) के जलग्रहण क्षेत्र शामिल नहीं हैं।

त्रिवेणी संगम से नेपाल में प्रायः 50 कि.मी. की दूरी तय कर भारत-नेपाल सीमा पर अवस्थित हनुमान नगर (कोसी का पश्चिमी किनारा) और भीमनगर (कोसी का पूर्वी किनारा) गाँवों के पास से महाकोसी भारत में प्रवेश करती है। इसकी विध्वंसक परिवर्तनशीलता को नियंत्रित करने के लिए 1965 ई. में भीमनगर में बराज़ बनाया गया है, जिसके 56 फाटकों से महाकोसी के पानी को दो तटबंधों के बीच छोड़ा जाता है। भीमनगर के बाद कोसी निर्मली से उत्तर पिपराही के पास तिलयुगा से संगम कर आगे बढ़ती है और घोघरडीहा रेलवे स्टेशन के पास तरडीहा नामक स्थान पर भूतही बलान और बलान की सम्मिलित धाराएँ कोसी में आ मिलती हैं। दोनों तटबंध समाप्त होते ही पश्चिम से कमला-जीवछ नदी तथा पूरब से धेमुरा की धारा से कोसी का संगम होता है। यहाँ से कोसी पूरब की ओर बढ़ती है तथा रास्ते में घघरी के प्रवाह को अपनी चपेट में लेते हुए मानसी-सहरसा रेलवे लाइन को पार कर कुरसेला के पास गंगा नदी में मिल जाती है। भीमनगर से कुरसेला तक का कोसी का यह प्रवाह-मार्ग प्रायः 200 कि.मी. का है। (कोसी की धाराओं और वर्तमान प्रवाह-मार्ग से संबंधित सूचनाएँ दिनेश कुमार मिश्र की पुस्तक *कोसी नदी की कहानी* तथा ओमप्रकाश भारती की पुस्तक *नदियाँ गाती हैं* में वर्णित विवरण के आधार पर दी गई हैं।)

मार्ग-परिवर्तनशीला होने के कारण विभिन्न कालखंडों में कोसी के प्रवाह-मार्ग भिन्न-भिन्न रहे हैं। इन प्रवाह-मार्गों के अवशेष आज भी कोसी की विभिन्न छाड़न धाराओं के रूप में मौजूद हैं। दिनेश कुमार मिश्र ने अपनी पुस्तक *कोसी नदी की कहानी : दुइ पाटन के बीच में* (2006 ई.) में पूरब से पश्चिम इन पंद्रह धाराओं की पहचान निम्नांकित नामों से की है—परमान या पनार धारा, भेंसना कोसी, कजरी/कारी या काली कोसी, दुलारदेई या सौरा कोसी, कमला कोसी, लिबरी कोसी, धमदाहा कोसी, हिरन कोसी, धौस कोसी, लोरम कोसी, धंसान कोसी, तिलावे कोसी, धेमुरा धार, सोहराइन कोसी तथा तिलयुगा।

कोसी का वर्तमान प्रवाह-मार्ग तटबंध के भीतर प्रारंभ में बैती (पश्चिमी) और धेमुरा (पूर्वी धारा) की धाराओं का है। जो इसकी 1954 ई. की स्थिति है। इसके पहले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1922 ई. में कोसी का प्रवाह-मार्ग परवाने धारा थी, जिसके कारण सहरसा-सुपौल का क्षेत्र कोसी के पश्चिम में था। 1892 ई. में कोसी का प्रवाह-मार्ग इसकी सुरसर धारा थी, जिसके कारण मधेपुरा का भी एक बड़ा हिस्सा कोसी के पश्चिम था। 1840 ई. में कोसी का प्रवाह-मार्ग इसकी हइया धारा थी, जिसके कारण मधेपुरा का संपूर्ण क्षेत्र इसके पश्चिम में था। 1807 ई. में लच्छा धार, 1770 में लिबरी धार, 1737 में काली कोसी और 1704 ई. में सउरा धार इसका प्रवाह-मार्ग रहीं, जिसके कारण पूर्णिया और कटिहार का भी एक बड़ा हिस्सा कोसी के पश्चिम में रहा। इसी तरह कोसी के गंगा में संगमन का क्षेत्र भी भागलपुर के सामने गंगा के बाएँ किनारे स्थित शिवकुंड (खरीक रेलवे स्टेशन के पास) से लेकर मनिहारी (कटिहार) तक लगभग 70 मील विस्तृत है।

मिथक एवं किंवदंती

मिथकों में कोसी को पुण्यवती सुरसरिता कहा गया है और इसके जन्म की अनेक कथाएँ मिलती हैं। *रामायण* के अनुसार कोसी (कौशिकी) ऋषि विश्वामित्र की बहन सत्यवती है, जो अपने पति ऋचीक ऋषि के निधन के पश्चात् उनका अनुगमन करते हुए सशरीर स्वर्ग में गई और 'कौशिकी' नामक नदी के रूप में परिणत हो गई। कोसी के पितृवंश के संदर्भ में मिथक अलग-अलग कहानियाँ कहते हैं और लोक किंवदंतियों में भी कोसी को लेकर अनेक धारणाएँ प्रचलित हैं।

कोसी के हिमालय-पुत्री तथा देवन ऋषि की कन्या होने की धारणाएँ प्रचलित हैं। एक मान्यता के अनुसार कोसी कुँवारी है और इसीलिए इतनी उच्छृंखल है, जिसे नियंत्रित करने के लिए सिंदूर से उसे डराने की परंपरा रही है। इस कुँवारी कोसी से शादी करने के लिए उत्कंठित रैया रणपाल और रन्नू सरदार जैसे वीर बहादुर चरित्र भी लोकसाहित्य में मौजूद हैं। लेकिन दूसरी तरफ़ इसे शादीशुदा मानने के लोकविश्वास भी हैं। एक लोककथा के अनुसार यह ऋचीक ऋषि की पत्नी है और इसके तीन पुत्र भी हुए। बड़े पुत्र सुनव को ऋचीक ने यज्ञ में मानव बलि के लिए राजा सल्फ को दान कर दिया। शोकाकुल कौशिकी के नेत्रों से आँसुओं की धारा बह चली और यही नदी-रूप में परिणत हुई। लोक में इसके रन्नू सरदार, झिमला मल्लाह और सिंहेश्वरी महादेव की ब्याहता होने के उल्लेख भी मिलते हैं।

एक मान्यता के अनुसार कोसी की सातों धाराएँ सगी बहनें हैं। भोट प्रदेश (नेपाल) में प्रचलित कथा के अनुसार दूध कोसी ही मुख्य कोसी है, जिसका विवाह (संगम) अरुण कोसी से होता है।

पुराण-शास्त्रीय संदर्भ

पुराणशास्त्रों में कोसी का उल्लेख 'कौशिकी' के रूप में मिलता है। इस नदी के भौगोलिक वर्णन तो मिलते ही हैं, इसका मानवीकरण भी किया गया है। *वाल्मीकीय*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामायण (1, 34, 7-11), *महाभारत* (आदिपर्व, 71, 30) *मार्कण्डेय पुराण* और *विष्णु पुराण* (4, 6, 12-16) में कोसी (कौशिकी) के जन्म की विचित्र कथाएँ मिलती हैं। वे कथाएँ विश्वसनीय हैं या नहीं, यह अलग बात है; लेकिन इनमें कोसी की चर्चा का सीधा अर्थ यह निकलता है कि इन कृतियों के रचना-काल के समय कोसी अस्तित्ववान थी, पुण्यवती मानी जाती थी और सबसे बढ़कर यह कि इसके तटों पर लोगों का निवास था, राज्य भी बसे हुए थे।

कौशिकी तट पर विश्वामित्र[2] तथा विभांडक और उनके पुत्र शृष्यशृंग[3] के आश्रम थे। कौशिकी तथा कौशिकी-क्षेत्र में निम्नांकित तीर्थ थे—कुशिकाश्रम, कौशिकी, चंपकारण्य, ज्येष्टिल, कन्यासंवेद्य, निश्चीरा-संगम, वसिष्ठाश्रम, देवकूट शिखर, कौशिकह्द, वीराश्रम, अग्निधारा, पितामहसर, कुमारधारा, गौरीशंखर-शिखर, स्तनकुंड, ताम्रारुण, नंदिनी कूप, कालिकासंगम, उर्वशीतीर्थ, कुंभकर्णाश्रम तथा कोकामुख।[4] इंद्र के नेतृत्व में ऋषियों एवं राजाओं का एक दल प्रभास तीर्थ से यात्रा आरंभ करके नाना तीर्थों का भ्रमण करते हुए कौशिकी-तीर्थ भी आया था। इस दल में भृगु, वसिष्ठ, गालव, कश्यप, गौतम, विश्वामित्र, जमदग्नि, अष्टक, भारद्वाज, अरुंधती और बालखिल्य ऋषि थे तथा राजाओं में शिव, दलीप, नहुष, अंबरीष, ययाति, धुंधुमार, पुरु आदि सम्मिलित थे।[5] *पद्मपुराण, वराहपुराण, मत्स्यपुराण, ब्रह्मांडपुराण, वायुपुराण, वामनपुराण, वायुपुराण, नारदीयपुराण, हरिवंश पुराण* एवं *विष्णुपुराण* तथा कालिदासकृत *कुमारसंभव* में भी कोसी नदी का नामोल्लेख और इसके विविध प्रसंगों का वर्णन मिलता है। पौण्ड्रराज वासुदेव सहित कौशिकीकच्छ के सभी राजाओं को भीम ने पराजित किया था।[6] पंडित हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' ने अपनी पुस्तक *बिहार की नदियाँ* (1977 ई.) में सांस्कृतिक भूगोल के अध्येताओं के लिए कौशिकी-तीर्थों की आधुनिक पहचान को एक चुनौतीपूर्ण कार्य माना है, तथापि उन्होंने काव्य-पुराणों के वर्णन के आधार पर इन तीर्थों के संभावित स्थल इंगित करने के प्रयत्न किए हैं।

कोकामुख तीर्थ (वराहक्षेत्र) और बद्री क्षेत्र के तीर्थों का विशद वर्णन *वराहपुराण* (अध्याय 140, श्लोक 12-90 तथा अध्याय 141, श्लोक 1-52) में प्राप्त होता है, जिसके अंतर्गत निम्नांकित तीर्थों के नामोल्लेख और स्थिति संकेत किए गए हैं—जलबिन्दु, विष्णुधारा, विष्णुपद, विष्णुसर, सोमतीर्थ, तुंगकूट, अग्निसर, ब्रह्मसर, धेनुवट, धर्मोद्भव, कोटिवट, पापप्रमोचन, यम व्यसनक, मातंगाश्रम, वज्रभव, शुकरुद्र, द्रष्टांकुर, विष्णुतीर्थ, त्रिसोतस, मत्स्यशिला, वराहतीर्थ, ब्रह्मकुंड, अग्निसत्यपद, इंद्रलोक, पंचशिख, वेदधार, द्वादशादित्य कुंड, लोकपाल, स्थल कुंड, सोमसमुद्भव, सोमगिरि, उर्वशी, मानसोद्भेद और सोमाभिषक। कालिदास के काव्य *कुमारसंभव* (सर्ग 6, श्लोक 33) में भी कौशिकी तट को इंद्र, विष्णु, ब्रह्मा और शिव देवताओं के पारस्परिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलन का पूर्व निर्दिष्ट स्थल बताते हुए लिखा गया है कि कौशिकी तट पर साक्षात् भगवान शिव का निवास है।

कोसी अंचल

कोसी अंचल से तात्पर्य कोसी नदी की विभीषिका का साक्षी रहे भू-क्षेत्र से है। मार्ग परिवर्तनशीला कोसी अपनी छाड़न धारा परमान से लेकर तिलयुगा तक हजारों वर्षों से बहती आई है और इन धाराओं के बीच के भू-क्षेत्र का निर्माण और ध्वंस करती रही है। इस दृष्टि से 1964 ई. में संपूर्ण तटबंध निर्माण के बाद निर्धारित कोसी के वर्तमान प्रवाह-मार्ग के पूरब के क्षेत्र को हम कोसी अंचल के नाम से अभिहित कर सकते हैं, जिसकी पूर्वी सीमा महानंदा नदी का प्रवाह-मार्ग है, जबकि दक्षिणी सीमा गंगा नदी का प्रवाह-मार्ग। अंचल की उत्तरी सीमा भारत-नेपाल की सीमा भी है। कोसी अंचल के इस सीमांकन में प्रशासनिक दृष्टि से बिहार के पूर्णिया और सहरसा प्रमंडल के अंतर्गत आनेवाले सात जिले शामिल हैं—कटिहार, पूर्णिया, अररिया, किशनगंज, मधेपुरा, सहरसा और सुपौल।

चूँकि कोसी नदी का प्रवाह-मार्ग परिवर्तनशील रहा है, इसलिए भिन्न-भिन्न समयों में इस अंचल के भू-भाग भिन्न-भिन्न शासकों द्वारा शासित होते रहे हैं, क्योंकि कोसी के प्रवाह-मार्ग ने प्रायः राज्यों की सीमा-रेखा के रूप में कार्य किया है। प्राचीन काल में कोसी नदी का पश्चिमी हिस्सा कभी विदेह तो कभी अंग राज्यों का हिस्सा रहा है तथा वहाँ के शासकों द्वारा शासित हुआ है, जबकि इसका पूर्वी हिस्सा कालक्रम में कभी स्वतंत्र रहा तो कभी बंगाधिपतियों द्वारा शासित हुआ है। किसी-किसी काल में यह अंचल सम्मिलित शासकों द्वारा भी शासित हुआ है।

याज्ञवल्क्य प्रणीत *शतपथ ब्राह्मण* (शुक्ल यजुर्वेद, अध्याय 1) की एक कथा के अनुसार आर्यों के एक दल ने विदेध माथव के नेतृत्व में अपने कुल पुरोहित गोतम रहूगण के साथ सरस्वती नदी के तट से पूर्व दिशा की ओर प्रस्थान किया। वे लोग वैश्वानर अग्नि को सम्मुख रखकर उसके पीछे चलते हुए पूरब की ओर बढ़े। अग्नि सामने पड़नेवाले वनों को जलाते और स्रोत-नदियों को सुखाते हुए आगे बढ़ती गई, किन्तु हिमालय की ओर से आनेवाली अत्यंत बर्फीली नदी 'सदानीरा' तक आकर रुक गई, उसे सुखा नहीं सकी। मथवा के यह पूछने पर कि अब हम कहाँ जाएँ, अग्नि ने कहा— "तस्या नद्याः प्राग्देशः सर्वोपि इदानीं ब्राह्मणवासः.....यतो वैश्वानराग्निनानास्वादितम् तस्तत्स्थानमपवित्रम (1-4/1-15) अर्थात् नदी के पूर्व देशों में सब जगह ब्राह्मण वास करने लगे हैं.....लेकिन वैश्वानर अग्नि द्वारा अनास्वादित वे स्थान अपवित्र हैं। प्रतिष्ठित पुरातत्त्वज्ञ राखालदास बनर्जी और महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने सदानीरा की पहचान कौशिकी के रूप में की है। (*इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली*, मार्च 1945)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार आर्यों ने कौशिकी (कोसी) के पश्चिमी तट पर पहुँचकर उत्तरी बिहार में तत्कालीन आर्यावर्त की पूर्वी सीमा निर्धारित कर दी और अपने राज्य को 'स्वदेश' की संज्ञा दी। कोसी के पूरब घने जंगल थे, भूमि उर्वर थी, लेकिन वहाँ आर्येतर जातियों का निवास था, इसलिए बढ़ती जनसंख्या के कारण वासयोग्य और कृषियोग्य भूमि के अभाव के बावजूद आर्यजन कोसी को पार करने के लिए तैयार नहीं थे, लेकिन पेट की भूख ने उन्हें 'स्वदेश' का परित्याग कर बंधु-बांधवों समेत बाल-बच्चों को कंधे पर उठा कोसी लाँघने को विवश कर ही दिया; और इस प्रकार आर्यजन वास के लिए प्रतिबंधित सीमा का अतिक्रमण कर पूर्वी क्षेत्र में कारतोया नदी तक फैल गए। *हरिवंशपुराण* के रचयिता ने इसका बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है—

स्वदेशोभ्यः परिभ्रष्टा निःसारा सहबंधुभिः।
नरा सर्वे भवष्यिन्ति तदाकालपरिक्षयात॥
ततः स्कन्धै समादाय कुमारान विद्रुताभयात।
कौशिकीं प्रतरिष्यन्ति नरा क्षुद्भयपीड़िताः॥

वेदपुराणशास्त्रों से प्राप्त राजनीतिक इतिहासवृत्त के अनुसार विवश्वान मनु के ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु ने कोशल राज्य की स्थापना की थी, जिनके दो पुत्रों निमि और नाभनेदिष्ट ने बाद में क्रमशः मिथिला और वैशाली राज्य स्थापित किए। पार्जिटर द्वारा तैयार प्राचीन भारतीय राजवंशावली के अनुसार मनु की पुत्री इला से पुरूरवा, नहुष, ययाति, अणु, पुरु आदि सुप्रसिद्ध सम्राटों की चंद्रवंशावली ने प्राचीन भारत में शासन किया। इसी चंद्रवंश में राजा अणु के पुत्र तितिक्षु ने आणव राज्य की स्थापना की थी, जिसे पुराणों में प्राच्य राज्य की संज्ञा दी गई है।

आणव राजवंशावली का सर्वाधिक प्रतापी राजा बली हुआ। बली का कोई औरस पुत्र नहीं था। राजा बली की स्वीकृति से रानी सुदेषणा ने नियोग द्वारा अंधे महर्षि दीर्घतमा से पाँच क्षेत्रज पुत्र पैदा किए, जो क्रमशः अंग, बंग, पुंड्र, सूक्ष्म या सुह्म और कलिंग के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्होंने कालक्रम में अपने नामों पर पाँच राज्यों की स्थापना कर प्राच्य राज्य का विस्तार उत्तरी बंगाल और ओड़िशा तक फैला दिया। इतिहासकारों और पुरातत्त्वज्ञों ने अंग की वर्तमान पहचान पुराने भागलपुर प्रमंडल (जिसमें वर्तमान पूर्णिया एवं सहरसा प्रमंडल शामिल थे), पुंड्र की पहचान महानंदा नदी से कारतोया नदी के बीच के भूक्षेत्र, बंग की पहचान पुराने ढाका प्रमंडल, सूक्ष्म की पहचान वर्तमान पश्चिम बंगाल स्थित मुर्शिदाबाद-वीरभूमि के जिलों (राढ़ अंचल) तथा कलिंग की पहचान वर्तमान ओड़िशा के पूर्वोत्तर भूक्षेत्र के रूप में की है।

रामायण-काल में भी कोसी अंचल अंग राज्य के अधीन ही था, जिसके राजा लोमपाद थे। राजा दशरथ ने पुत्रेष्टि यज्ञ के लिए कौशिकी तट निवासी विभांडक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गौतम मुनि के पुत्र ऋष्यश्रृंग की उपलब्धता के लिए अंगराज लोमपाद की ही सहायता ली थी। महाभारत-काल में कोसी अंचल अंग से स्वतंत्र कौशिकीकच्छ राज्य के रूप में वर्णित है, जिसके पश्चिम में मिथिला और पूरब में पुंड्र की अवस्थिति थी। युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के बाद पूर्वी राज्यों के दिग्विजय-अभियान के क्रम में भीम ने क्रमशः मिथिला और उसके उत्तर के सात किरात राज्यों, गंगा के दक्षिण स्थित मगध, अंग, मोदागिरि और झारखंड के पर्वतीय राज्यों, गंगा के उत्तर स्थित कौशिकीकच्छ के राजा महायश (महौजा) तथा उसके पूरब स्थित पुंड्रवर्द्धन के बलशाली राजा वासुदेव को पराजित कर बंग देश की ओर प्रस्थान किया था। पार्जिटर ने पूर्णिया जिला के कोसी नदी से महानंदा नदी के बीच के भूभाग को कौशिकीकच्छ माना है, लेकिन गौड़बंगाल के कुछ इतिहासकार इसके अंतर्गत मधेपुरा-सहरसा जिलों के पूर्वी भाग, सोनबरसा राज तथा महानंदा-गंगा संगम के सारे पश्चिमी भूक्षेत्र को शामिल मानते हैं। इस प्रकार महानंदा नदी के पश्चिम स्थित मालदह जिले का सारा क्षेत्र इसके अंतर्गत था, जो कि 1835 ई. में मालदह जिला-निर्माण के पूर्व तक पूर्णिया का ही हिस्सा था। भूगोलविद् नंदलाल दे ने भी अपनी पुस्तक *ज्योग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ एंशिएंट एंड मेडिवल इंडिया* में लिखा है कि वर्तमान पूर्णिया जिला ही प्राचीन कौशिकीकच्छ है, जिसमें त्रिवेणी-संगम तथा वराह क्षेत्र तक के पर्वतीय भूभाग भी सम्मिलित थे।(पृ. 161)

कालांतर में पुंड्रवर्द्धन के राजाओं ने अपनी सीमा का विस्तार करके कौशिकीकच्छ पर भी अपना आधिपत्य कायम कर लिया। तभी तो *ऐतरेय ब्राह्मण* (रचनाकाल : ई. पू. 1000-1500) में पुंड्रजनों को विश्वामित्र की संतान कहा गया है। पुंड्रवर्द्धन राज्य की उक्त अवस्थिति की पुष्टि बौद्ध स्रोतों तथा मौर्यकालीन (महास्थानगढ़, बोगरा से प्राप्त अभिलेख) एवं गुप्तकालीन (दामोदरपुर से प्राप्त बुधगुप्त एवं देवगुप्त के ताम्रलेख) अभिलेखों से भी होती है।

बुद्ध-काल में गंगा नदी के उत्तर कमला नदी और कोसी नदी के बीच का क्षेत्र अंगुत्तराप के नाम से जाना जाता था,[7] जो अंग महाजनपद का हिस्सा था। गौतम बुद्ध (623-543 ई.पू.) द्वारा इस क्षेत्र की यात्रा के समय अंग शिशुनागवंशी मगधराज बिंबिसार (शासन काल 585-551 ई.पू.) के अधीन था। बुद्ध द्वारा अंगुत्तराप के 'आपण निगम' नामक स्थान पर महीने भर के प्रवास का प्रसंग मिलता है (*मज्झिम निकाय*, 2, 1, 4 तथा *महादग्गो*, 6, 5, 2, 15), जिसके अनुसार वे भद्दिया से गंगा पारकर आपण गए थे और जातिवन में ठहरे थे, जहाँ पोत्तलीय नामक गृहस्थ को दीक्षित किया था और केणियवाह ग्राम के केणिय नामक जटिल ने 1200 बौद्ध-भिक्षुओं को भोजन पर बुलाया था और मैरेय-पान कराया था। केणियवाह, जातिवन, आपण निगम और भद्दिया की आधुनिक पहचान क्रमशः सहरसा ज़िले के कंदाहा, देवनवन, वनगाँव और भित्तिया गाँव के रूप में की गई है।[8]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्ध द्वारा कोसी नदी को पार कर पूर्व देशों की यात्रा का कोई भी साक्ष्य हमें प्राप्त नहीं होता, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि उनके समय में कोसी का प्रवाह-मार्ग इसकी हइया धार अथवा इसके पूर्व की कोई अन्य धारा रही होगी। शिशुनाग राजवंश (642-413 ई.पू.) के बाद क्रमशः नंद राजवंश (413-322 ई.पू.), मौर्य-राजवंश (322-185 ई.पू.), शुंग-राजवंश (185-73 ई.पू.), कण्व-राजवंश (73-28 ई.पू.) और आंध्र-सातवाहन कुल (28-78 ई.पू.) प्रभुत्वशाली हुए, जिनका शासन अंग, मिथिला और पुंड्रवर्द्धन पर भी रहा। इसके बाद का गुप्त साम्राज्य से पूर्व तक का काल विदेशी आक्रमण और स्थानिक शक्तियों के उदय के कारण प्रायः राजनीतिक अस्थिरता का रहा है। भूगोलवेत्ता प्टोलेमी और मेगास्थनीज (भारत यात्रा : 315 ई.पू.) के मतानुसार महानंदा से पश्चिम गंडकी नदी तक के क्षेत्र में मुरुंड, किरात और भारशिव-नाग जनजातियों की उपस्थिति रही है। किसी केन्द्रीय नेतृत्व के अभाव में मिथिला और पुंड्र क्षेत्र में इन जनजातियों के शासन की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। भारशिव-नाग वंश ने 320 ई. तक प्रायः 200 वर्षों तक शासन किया है।[9] यत्किंचित शक-शासन भी इस क्षेत्र में अवश्य रहा होगा, अन्यथा शक संवत को यहाँ मान्यता न मिलती।

गुप्त काल (320-593 ई.) में उत्तरी बिहार दो भुक्तियों (क्षेत्रों) में बँटा हुआ था—तीरभुक्ति (प्रायः संपूर्ण उत्तरी बिहार) तथा पुंड्रवर्द्धन भुक्ति (वर्तमान सहरसा और पूर्णिया प्रमंडलों सहित उत्तरी बंगाल)।[10] *वृहद विष्णुपुराण* (रचना काल : गुप्तोत्तर काल) के मिथिला खंड में तीरभुक्ति शब्द का प्रयोग करते हुए इसकी सीमाओं का निर्देश इस प्रकार किया गया है—पूर्व में कौशिकी, पश्चिम में गंडकी, दक्षिण में गंगा और उत्तर में अरण्य प्रदेश।[11] इस स्पष्ट सीमांकन के रहते हुए भी यह दुःखद है कि मिथिला (तीरभुक्ति) की सीमा को पूर्व में महानंदा नदी तक ले जाने का दुराग्रह पाला जाता है। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि कोसी का प्रवाह-मार्ग बदलते रहने के कारण वर्तमान कोसी अंचल के अनेक हिस्से कभी-न-कभी मिथिला के शासकों द्वारा अवश्य शासित हुए होंगे।

गुप्त साम्राज्य के पतन के वाद पूर्वोत्तर बिहार और असम-बंगाल के इस क्षेत्र में स्थानिक वर्चस्व की असंख्य लड़ाइयाँ लड़ी गईं और यहाँ राजनीतिक अराजकता का माहौल रहा। यहाँ तक कि हर्षवर्द्धन की मृत्यु (647 ई.) के बाद लगभग 75 वर्षों तक का इतिहास प्रायः तिमिराच्छन्न है। एक लंबे समय तक इस क्षेत्र में चले सत्ता-संघर्ष में परवर्ती गुप्तराजवंश, मौखरी राजकुल, पुष्पभूति (वर्द्धन) राजकुल, बंगाल का राजा शशांक, बांग-हुएन्-त्से (तिब्बती आक्रमणकारी), कामरूप-भूप हर्ष, कन्नौज-राज यशोवर्मन, कश्मीरेश्वर ललितादित्य मुक्तापीड़, पाल, प्रतिहार, राष्ट्रकूट, चंदेल, चालुक्य, चेदि (कल्चुरि) आदि भूपति शामिल रहे हैं। पाल राजवंश एक लंबे अंतराल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(750-1197 ई.) तक ज़रूर शासन में बना रहा, लेकिन छीना-झपटी और लूट-खसोट बदस्तूर जारी रहे थे।

अंततः 1097 ई. में कोसी के पश्चिम मिथिला में नान्यदेव द्वारा कर्णाट राजवंश की स्थापना की गई। इस वंश के अंतिम शासक हरिसिंह देव (शासनकाल : 1307-1324 ई.) थे। नान्यदेव के पुत्र गंगदेव (शासनकाल : 1147-1187 ई.) के काल में कोसी का प्रवाह-मार्ग इसकी सउरा धार थी और यह तिरहुत (मिथिला) और बंगाल की सीमा रेखा का काम करती थी।[12] इस समय बंगाल में सेन वंश का शासन था। 1324 ई. में गियासुदीन तुग़लक की मिथिला-विजय के पश्चात् यहाँ क्रमशः दिल्ली, जौनपुर तथा पुनः दिल्ली के अधीन अर्द्ध-स्वतंत्र राजसत्ता ओइनवार राजवंश ने सँभाली, जो 1526 ई. तक राज करता रहा। इस वंश का सर्वाधिक लोकप्रिय राजा शिवसिंह (1413-1416 ई.) था, जिसकी कीर्ति की विरुदावली मैथिली कवि विद्यापति ने गाई है। इस दौरान कोसी के पूर्वी भाग पर बिहार-बंगाल के मुस्लिम शासकों का अधिपात्य रहा, जो दिल्ली के अधीन थे, लेकिन स्वतंत्र होने के लिए लड़ाइयाँ लड़ते रहते थे और यदा-कदा स्वतंत्र भी हो जाया करते थे। 1576 ई. में पूरी तरह बंगाल दमन के पश्चात् ये क्षेत्र मुग़ल सल्तनत के अधीन हो गए और बाद में ईस्ट इंडिया कंपनी को हस्तांतरित हो गए। इसके बाद का कोसी अंचल का इतिहास प्रायः सुस्पष्ट और सुलेखित है।

आधुनिक संदर्भ

कोसी क्षेत्र का पहला प्रामाणिक नक़्शा मेजर जेम्स रेनेल नामक एक अंग्रेज़ सर्वेयर द्वारा पहली बार 1779 ई. (*मेमोयर्स ऑफ़ द मैप ऑफ़ हिन्दुस्तान*, 1788 ई.) में तैयार किया गया था, जिसमें कोसी नदी के तत्कालीन प्रवाह-मार्ग की आधिकारिक जानकारी मिलती है। इसके बाद उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ (1809-10 ई.) में अंग्रेज़ भूगोलवेत्ता फ्रांसीस बुकानन द्वारा तैयार किए गए *एन एकाउंट ऑफ़ द डिस्ट्रिक्ट ऑफ़ पूर्णिया* को याद करना उचित होगा, जिसमें उन्होंने कोसी नदी की पूर्व और तत्कालीन धाराओं के अध्ययन के साथ-साथ कोसी अंचल के जन-जीवन पर एक गहन सर्वेक्षण प्रस्तुत किया था।

इसके पश्चात् रॉबर्ट मांट गुमरी मार्टिन की पुस्तक *द हिस्ट्री, एंटिक्विटीज़, टोपोग्राफ़ी एंड स्टैटिस्टिक्स ऑफ़ ईस्टर्न इंडिया* (1838 ई.) तथा डब्ल्यू.डब्ल्यू. हंटर द्वारा लिखित पुस्तक शृंखला 'स्टैटिस्टिकल अकाउंट्स ऑफ़ बंगाल' के पंद्रहवें खंड (*डिस्ट्रिक्ट ऑफ़ मुंगेर एंड पूर्णिया*, 1877 ई.) में कोसी नदी और इस क्षेत्र के बारे में पर्याप्त विवरण उपलब्ध होते हैं। इस क्रम में *जर्नल ऑफ़ एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल* (दिसंबर, 1895 ई.) में प्रकाशित एफ़.ए. शिलिंगफ़ोर्ड और चार्ल्स इलियट के 'ऑन चेन्जेज़ इन कोर्स ऑफ़ कुसी रिवर एंड द प्रोबैबल डेन्जर्स

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अराइजिंग फ्रॉम देम' शीर्षक लंबे लेख भी उल्लेखनीय हैं। शिलिंगफ़ोर्ड का लेख 1895 ई. में ही बैप्टिस्ट मिशन प्रेस, कोलकाता से *कोसी रिवर* के नाम से पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुआ था।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में *जर्नल ऑफ़ एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल* (सितंबर 1908 ई.) में प्रकाशित एफ़.सी. हर्स्ट का आलेख 'द कोसी रिवर एंड सम लेशंस फ्रॉम इट' कोसी नदी पर एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन है। जे. बिर्नें द्वारा तैयार किए गए *डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर ऑफ़ भागलपुर* (1911 ई.) तथा एल.एस.एस. ओ'मैली द्वारा तैयार किए गए *डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर ऑफ़ पूर्णिया* (1911 ई.) में कोसी नदी और उसके तटवर्ती जीवन के संदर्भ मिलते हैं। 1946 ई. में प्रकाशित हरिनाथ मिश्र की पुस्तक द *कोसी प्रॉब्लेम* भी कोसीजनित समस्याओं को समझने में सहायता करती है।

भारत की स्वतंत्रता के बाद बिहार सरकार द्वारा पी.सी. राय चौधुरी द्वारा तैयार किए गए *पूर्णिया* और *सहरसा* शीर्षक से इन ज़िलों के गज़ेटियर क्रमशः 1963 और 1965 ई. में प्रकाशित किए गए, जिनमें कोसी अंचल का सांगोपांग सर्वेक्षण और अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। *सहरसा* गज़ेटियर में कोसी प्रोजेक्ट के मुख्य अभियंता देवेश मुखर्जी की सहायता से तैयार किया गया 'द कोसी' शीर्षक अध्याय यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जो कोसी नदी की भौगोलिक स्थिति और तज्जनित समस्याओं एवं उनके समाधान के प्रयत्नों पर प्रकाश डालता है।

स्वातंत्र्योत्तर काल में कोसी नदी पर पहली सुविचारित कृति *कोसी* (1953 ई.) नाम से ललितेश्वर मल्लिक द्वारा प्रस्तुत की गई, जिसमें उन्होंने कोसी की भौगोलिक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालते हुए कोसी अंचल के बीहड़ जन-जीवन और समस्याओं को सामने रखा। इसका दूसरा संशोधित संस्करण भी 1961 ई. में प्रकाशित हुआ। निजी तौर पर किए गए कोसी नदी के सर्वेक्षणों में *बिहार की नदियाँ,* प्रथम खंड (1977 ई.) में पंडित हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' द्वारा कोसी और उसकी सहायक नदियों पर किया गया भौगोलिक और सांस्कृतिक सर्वेक्षण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

कोसी प्रोजेक्ट के नाम से 1981 ई. में प्रकाशित निरंजन पंत की पुस्तक सिंचाई और प्रशासनिक दृष्टि से कोसी प्रोजेक्ट का अविकल अध्ययन प्रस्तुत करनेवाली एक महत्त्वपूर्ण कृति है। विजयशंकर पांडेय और परमेश्वर गोयल द्वारा 1992 ई. में प्रस्तुत किए गए *महाकोशी* (एक सांस्कृतिक सर्वेक्षण) का उल्लेख भी समीचीन होगा। विजयशंकर पांडेय के संपादन में 1995 ई. में *कोशी क्षेत्र : आर्थिक सर्वेक्षण* नामक एक अन्य पुस्तक भी प्रकाश में आई। आपदा-प्रबंधन की दृष्टि से विभिन्न नदियों के गहन अध्येता दिनेश कुमार मिश्र की पहली पुस्तक *बंदिनी महानंदा* (1994 ई.) में पूर्णिया अंचल और महानंदा नदी के अध्ययन-क्रम में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकारांतर से कोसी नदी की भयावह स्थितियों का भी आकलन किया गया है।

इक्कीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में कोसी नदी, कोसी गीत और कोसी के तटवर्ती जनजीवन को लेकर एक महत्त्वपूर्ण कार्य ओमप्रकाश भारती ने *नदियाँ गाती हैं* (2002 ई.) के रूप में प्रस्तुत किया है। 2005 ई. में प्रकाशित *कोशी अंचल की अनमोल धरोहरें* नामक पुस्तक में हरिशंकर श्रीवास्तव 'शलभ' ने कोसी अंचल के ऐतिहासिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक संदर्भों को आकलित किया है। इस दिशा में अद्यतन प्रयत्न दिनेश कुमार मिश्र की पुस्तक *कोसी नदी की कहानी : दुइ पाटन के बीच में...*(2006 ई.) के रूप में सामने आया है, जिसे लोक विज्ञान संस्थान, देहरादून द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसमें कोसी नदी और अंचल के भौगोलिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक अध्ययन के साथ-साथ यहाँ की त्रासद स्थितियों के वैज्ञानिक और सुविचारित समाधान की चिन्ता भी है।

साहित्य-संदर्भ

हज़ारों वर्षों से जिस नदी की धाराएँ निरंतर परिवर्तनशील रही हैं, उस नदी की धाराओं के साथ गतिशील जीवन-जगत की अनुभूतियों का अवगाहन साहित्य के माध्यम से किया जाना सचमुच न केवल दिलचस्प वरन् महत्त्वपूर्ण भी है। लेकिन विध्वंसकारी कोसी ने अपने तटवर्ती जीवन-जगत के साथ संभवतः अधिकांश साहित्यिक विरासत को भी प्रायः निगलने का काम ही किया है। कोसी अंचल के निकटवर्ती नालंदा और विक्रमशिला विश्वविद्यालयों के विध्वंस (1197 ई.) के कारण भी इस क्षेत्र की ज्ञान और साहित्य विषयक विरासत नष्ट हुई होगी। इसलिए कोसी अंचल के आरंभिक दाय का ही नहीं, वरन् इसके अस्तित्व मात्र का ऐतिहासिक निर्धारण भी प्रायः कठिन है, तथापि *रामायण, महाभारत* और पुराणों में इसकी और इसके तट पर स्थित 21 तीर्थों की चर्चा इसकी प्राचीनता, महत्ता और इसके जीवंत तटवर्ती जन-जीवन को पुष्ट करती है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि कोसी नदी की विध्वंसक प्रवृत्ति के बावजूद कोसी अंचल ने अपनी लोकधर्मी सांस्कृतिक इयत्ता को सदैव बरक़रार रखा है। जीवट के धनी यहाँ के लोगों ने न केवल कोसी की विकट धाराओं से संघर्ष किया है, उसका अभिशाप और संताप झेला है; वरन् उनके आस-पास जीवन को उसकी भरपूर जीवंतता और खिलंदड़ेपन के साथ जिया भी है। कोसी को संबोधित और उससे भी ज़्यादा कोसी-केन्द्रित गीतों के अलावा यहाँ का प्रचुर लोकसाहित्य इस बात का प्रमाण है। मिथिला, गौड़-बंगाल और अंग जैसे विशाल साम्राज्यों से घिरा तथा कालक्रम में इनका एक हिस्सा होते हुए भी यह अंचल किसी सांस्कृतिक आधिपत्य का शिकार नहीं हुआ तो इसके पीछे निश्चय ही कोसी नदी का अपना उच्छृंखल एकच्छत्र साम्राज्य ही रहा है, जिसने निकटवर्ती साम्राज्यों के आधिपत्य को प्रायः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुर्वह बनाए रखा। यही कारण है कि इस अंचल में एक मिश्रित सांस्कृतिक परिदृश्य नज़र आता है, जिसका आधार निस्संदेह लोक-जीवन और उसकी अस्मिता को बचाए-बनाए रखने में सन्निहित है। दूसरी तरफ़ यह भी उल्लेखनीय है कि प्राचीन काल में पूर्व और मध्य एशिया के यात्रियों और एक समय में नालंदा, विक्रमशिला और ताम्रलिप्त विश्वविद्यालयों के अध्येताओं के लिए कोसी की धाराओं ने मार्गदर्शन का काम किया है।

कोसी अंचल के लोकगीत, लोक-गाथाओं और लोकदेवों पर पर्याप्त अनुसंधान कार्य भी हुए हैं, लेकिन जहाँ तक कोसी-केन्द्रित गीतों की बात है, इन्हें संगृहीत करने का काम पहली बार ब्रजेश्वर मल्लिक ने किया, जिन्होंने 1942 ई. में पैंतालीस गीत संकलित किए, जो *कोसी गीत* के नाम से 1949 ई. में पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। बाद में इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण *कोसी-लोकगीत* के नाम से 1955 ई. में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक से प्रायः तीस गीतों की पुनः प्रस्तुति *कोशी अंचल की अनमोल धरोहरें* (2005 ई.) में हरिशंकर श्रीवास्तव 'शलभ' द्वारा की गई है।

अंग्रेज़ विद्वानों में ई.टी. प्रीडो ने 1943 ई. में उन्नीस कोसी गीतों के अंग्रेज़ी अनुवाद अपनी टिप्पणी के साथ प्रस्तुत किए, जो *मेन इन इंडिया* के मार्च 1943 ई. के अंक में 'मदर कोसी सॉन्स' शीर्षक से प्रकाशित हैं। इसके बाद विभिन्न आलेखों, कृतियों में ब्रजेश्वर मल्लिक और ई.टी. प्रीडो द्वारा संकलित कोसी गीत ही यथासंभव प्रयुक्त और संदर्भित किए जाते रहे। फिर एक लंबे अरसे के बाद 2002 ई. में ओमप्रकाश भारती के *नदियाँ गाती हैं* में कोसी नदी के गीतों का पुनरनुसंधान करते हुए पचास गीत भावानुवाद के साथ प्रस्तुत किए, जिसमें भारती जी ने अपनी भूमिका में प्रकारांतर से कोसी गीतों की पृष्ठभूमि, भाव-संवेदना और रचना-प्रक्रिया का भी विश्लेषण किया है।

कोसी अंचल के विभिन्न भाषाओं के प्रतिष्ठित लेखकों द्वारा भी अपनी रचनाओं में कोसी नदी, अंचल का जन-जीवन, कोसी गीत और लोकसाहित्य के पर्याप्त संदर्भों का उपयोग किया गया है। ऐसे लेखकों में बनफूल, सतीनाथ भादुड़ी, विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय, केदारनाथ बंद्योपाध्याय (बाङ्ला), फणीश्वरनाथ रेणु, मायानंद मिश्र, चंद्रकिशोर जायसवाल, शालिग्राम (हिन्दी), तारिक जमीली (उर्दू), प्रफुल्ल कुमार सिंह 'मौन', साकेतानंद और रमेश (मैथिली) के नाम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अलावा भी ऐसे बहुत से रचनाकार हैं, जिनकी असंख्य रचनाओं में कोसी नदी, जीवन और लोक संदर्भों का संस्पर्श मिलता है। ऐसे ही समय-समय पर विभिन्न अध्येताओं द्वारा कोसी नदी की विभीषिका के प्रति चिन्ता जतानेवाली और उसके समाधान सुझानेवाली रचनाएँ विभिन्न भाषाओं में और देश-विदेश की पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर प्रकाशित होती रही हैं तथा नदी-केन्द्रित अध्ययनोंवाली महत्त्वपूर्ण पुस्तकों में संकलित होती रही हैं। ऐसी छिटपुट गद्य-पद्य रचनाओं का यदि विधिवत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संकलन-संपादन प्रकाशित करने की दिशा में प्रयत्न किए जाएँ तो निश्चय ही नदी-केन्द्रित लोकसांस्कृतिक अध्ययन के लिए विपुल सामग्री अध्येताओं को प्राप्त हो सकती है।

कोसी अंचल का यह भू-क्षेत्र सिद्ध कवि सरहपा, रीति कवि जयगोविन्द महाराज, सूफ़ी कवि शेख़ किफायत, भक्त कवि लक्ष्मीनाथ परमहंस, संत कवि महर्षि मेँहीँ की साहित्यिक-सांस्कृतिक विरासत और परंपरा से समृद्ध रहा है और आधुनिक समय में भी विभिन्न भाषाओं में अंचल के अनेक लेखकों का रचनात्मक अवदान राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय क्षितिज पर रेखांकित हुआ है। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक द्वारा 'कविता कोसी' पुस्तक शृंखला के माध्यम से कोसी केन्द्रित और कोसी अंचल की साहित्यिक विरासत को क्रमबद्ध रूप से आकलित-संकलित करने का विनम्र प्रयत्न 2007 में शुरू किया गया है, जिसके अंतर्गत अब तक तीन खंड प्रकाशित हो चुके हैं। सुधी पाठकों एवं लेखकों से निवेदन है कि वे भी यथासंभव अपने सुझाव-सहयोग से इस आकलन-यात्रा को समृद्ध-संपुष्ट करने का अनुग्रह करें।

सन्दर्भ

1. *बिहार की नदियाँ*, प्रथम खंड (हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय', प्रथम संस्करण : 1977 ई.) पृ. 339
2. *वाल्मीकीय रामायण* (1, 63, 15), *महाभारत* (आदिपर्व, अध्याय 73, श्लोक-16)
3. *महाभारत* (अध्याय 110, 111 तथा 113)
4. *वही* (वन पर्व, अध्याय 84, श्लोक 131-158)
5. *वही* (अनुशासन पर्व, अध्याय 94, श्लोक 5-6)
6. *वही* (सभा पर्व, अध्याय 30, श्लोक 22)
7. *सहरसा* (बिहार डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर्स, पी.सी. राय चौधुरी, 1965 ई.) पृ. 20
8. *बिहार की नदियाँ* (हवलदार त्रिपाठी सहृदय, प्र. सं. 1977 ई.) पृ. 396-98
9. *सहरसा* (बिहार डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर्स, पी.सी. राय चौधुरी, 1965 ई.) पृ. 20-24
10. *वही* (बिहार डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर्स, पी.सी. राय चौधुरी, 1965 ई.) पृ. 21
11. *वृहद विष्णु पुराण* (मिथिला माहात्म्य, द्वितीय सर्ग, श्लोक 5-8)
12. *सहरसा* (बिहार डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर्स, पी.सी. राय चौधुरी, 1965 ई.) पृ. 31

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध सिक्किमी संघर्ष

ए. सी. सिन्हा*

भारत से अंग्रेजी उपनिवेशवाद के पलायन के उपरान्त भी सिक्किम, भूटान और नेपाल के हिमालयी रजवाड़े अपने सामन्ती प्रशासन को बचाने में सक्षम हुए। यहाँ की जनता अत्यन्त ही प्रताड़ित जिन्दगी जी रही थी। नागरिक जीवन का अभाव था; शिक्षा, दवा-दारू की व्यवस्था, सड़कें, समाचार-पत्र का नामोनिशान नहीं था। सत्ता सामन्त फिजूलखर्च और ऐयाशी की जिन्दगी जी रहे थे, तो आम जनता अभाव, अशिक्षा बीमारी, और अत्यन्त ही क्रूर बेगार व्यवस्था से कुचली जा रही थी। सामन्तशाही अत्यन्त ही दमनकारी थी; जनता में भय और आतंक छाया हुआ था। यहाँ तक कि प्रशासन के विरुद्ध आवाज उठाने वाले को जीवित अवस्था में कच्चे चमड़े के थैले में बन्द कर उफनाती नदियों में बहा देना आम बात थी।

इन तीनों रजवाड़ों में सिक्किम सबसे छोटा, विकसित और अंग्रेजों का विशेष कृपापात्र था। यहाँ पर आवागमन के साधन, शिक्षा की व्यवस्था और दवादारू की आपूर्त्ति की व्यवस्था 20वीं सदी के आरम्भ में ही कर ली गई थी। इसके दक्षिण में भूतपूर्व सिक्किमी भू-भाग दार्जिलिंग, अवस्थित है, जिसे अंग्रेजों ने एक हिल स्टेशन के रूप में 19वीं सदी के मध्य में ही विकसित कर लिया था। सिक्किम और दार्जिलिंग भारत-तिब्बत व्यापार मार्ग पर अवस्थित हैं। इस कारण इनके साधनों का पहले विकास किया गया। स्वाभाविक है कि ऐसी स्थिति में जन जागरण का सूत्रपात भी सर्वप्रथम सिक्किम में ही हुआ। यह जनचेतना प्रायः सामन्तवाद के विरुद्ध प्रकट हुई। परन्तु इस विरोध को साम्राज्यवाद के विरोध का ही एक रूप समझना उचित होगा; क्योंकि उपनिवेशी सरकार के समर्थन के बिना इन रजवाड़ों का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता।

* प्रोफेसर ए. सी सिन्हा, पूर्व आचार्य समाजशास्त्र विभाग, पूर्व संकायाध्यक्ष, पूर्वोत्तर पार्वत्य विश्वविद्यालय, शिलांग, 793022। सम्पर्क : डी7/7331, बसन्त कुंज, नयी दिल्ली, 110070

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिक्किम की ऐतिहासिक और प्रजातीय पृष्ठभूमि

आज का सिक्किम ऐतिहासिक सिक्किम का एक छोटा स्वरूप है। कहते हैं कि करीब 400 वर्ष पहले किरातवंशीय लेप्चा, लिम्बू और मगर समुदाय की जनजातियाँ हिमालयी गुफाओं और कंदराओं में रहती थीं और कन्द-मूल खाती थीं। केन्द्रीय राज्य व्यवस्था का अभाव था; ये जनजातियाँ अपने मुखियाओं के अधीन अपने गाँवों में निवास करती थीं। लेप्चा लोग अपनी भूमि को कन्दराओं का देश (माल्यांग) कहते थे। माल्यांग के पड़ोसी भोट देश (तिब्बती) के लोग इसे 'चावल का प्रदेश' (डेनजाँग) के नाम से जानते थे। तिब्बती समुदाय भगवान बुद्ध की भूमि भारतवर्ष को पुण्य भूमि मानता है और विभिन्न बौद्ध धर्मस्थलों का तीर्थाटन करता है। अपने भारत भूमि के तीर्थाटन के क्रम में तीन तिब्बती भिक्षु सिक्किम से गुजरते हुए इसे धर्मदेश बनाने के लिए प्रेरित हुए। कुछ विचार-विमर्श के पश्चात इन्होंने खुद धर्माध्यक्ष बनने के स्थान पर किसी प्रभावशाली भोटिया गृहस्थ को राजा बनाने का निश्चय किया। इसी ऊहापोह की स्थिति में भिक्षुओं की भेंट फुंटसो नामक भोटिया कृषक से हुई जो एक जोड़ी याक जोत कर हल चला रहा था। फुंटसो ने ताजे दूध से भिक्षुओं का स्वागत किया, जिसे आगंतुकों ने शुभ संकेत माना। कुछ विमर्श के बाद भिक्षुओं ने फुंटसो का धर्मराजा के रूप में अभिषेक किया। और तो और भिक्षु नामग्याल ने धर्म राजा (चोग्याल) फुण्टसो को अपने नाम की पदवी दे डाली। फलस्वरूप सिक्किम का राज परिवार कालान्तर में 'नामग्याल' कहलाया, महाराजा फुंटसो नामग्याल ने प्रमुख भोटिया सभासदों (Kalons) और लेप्चा मुखियायों को क्षेत्रीय प्रशासक (Dzongpens) नियुक्त किया। दोनों समुदायों के वे एक-एक दर्जन परिवार बौद्ध बन गए, आपस में शादियाँ रचाईं; और सिक्किम के बहुचर्चित सत्ता-सामन्त 'काजी'[1] कहलाए। किंवदन्ती है कि एक भोटिया काजी की नवब्याहता लिम्बु कन्या का सद्य निर्मित सुसज्जित आवास में स्वागत किया गया, तो वह अपनी मातृभाषा लिम्बू में चहक उठी, सुखीम (नया घर)। विभिन्न उच्चारणों से भटकते हुए सिक्किम शब्द की ऐसी ही व्युत्पत्ति हुई।

कहते हैं कि आरम्भ में सिक्किम की सीमा उत्तर में चुम्बी घाटी (तिब्बत), पूरब में पारो घाटी, दक्षिण में नक्सलवाड़ी और तितालिया तक और पश्चिम में लिम्बुआन

1. भोटदेश (तिब्बत) के निवासी व्यापार, चरवाही या तीर्थाटन के लिए जब हिमालय पार करते हैं तो स्थानीय समुदाय उन्हें भोटिया नाम से पुकारते हैं। यह एक वर्णनात्मक शब्द है जैसे पहाड़ से 'पहाड़िया', उड़ीसा से 'उड़िया'। भोटियाओं में काजी सामन्त होते हैं। तिब्बती और भोटिया भाषा के विद्वान शरत्चन्द्र दास के मुताबिक जब भोटिया सभासद पुर्णिया या दिनाजपुर के स्थानीय मुसलमान सूबेदारों से मिलने आते थे तो तराई (मोरंग) के लोग इन्हें 'काजी साहब' कह कर पुकारते थे। कालान्तर में सामान्य भोटियाओं से अलग पहचान के लिए सिक्किमी सामन्त 'काजी' के नाम से जाने गए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(नेपाल) तक फैली हुई थी। परन्तु 18वीं सदी का उत्तरार्द्ध नामग्याल राजाओं के लिए कष्टकारक सिद्ध हुआ। पश्चिम में गोरखा नरेश पृथ्वी नारायण शाह (1728-1775) और उनके उतराधिकारियों के हमले होते रहे, तो पूरब से भूटान का देवराजा पूर्वी सिक्किम पर धावा बोलता रहा। इस प्रकार तीस्ता नदी के पूरब का क्षेत्र (आज का कालिमपोंग) भूटान ने हथिया लिया तो तीस्ता और मेची नदियों के बीच की भूमि (दार्जिलिंग) नेपाल ने दखल कर ली। स्वाभाविक है इन स्थानों पर कुछ नेपाली बस भी गए। गुरखा जेनरल जौहर सिंह थापा के नाम पर 'जोरथांग' स्थान बसाया गया। खूँखार गोरखा जेनरल काजी दामोदर पाण्डेय ने 1789 की मकर संक्रान्ति के दिन तीस्ता और रंगीत नदियों के संगम पर अपनी रक्त रंजित तलवार को धोकर युद्ध की समाप्ति की घोषणा की। यही स्थिति अगले 25 सालों तक बनी रही। आंग्ल-नेपाल युद्ध के उपरान्त सुगौली की संधि के अनुच्छेद 2 (5) के अनुसार मेची नदी के पूरब का क्षेत्र अंग्रेजों के हाथ आया। अपने भविष्य के स्वार्थों को ध्यान में रखकर अंग्रेजों ने 'सिक्किमपति' राजा से 10 फरवरी 1817 को तितालिया की सन्धि की, जिसके अनुसार नेपाल से प्राप्त भूतपूर्व सिक्किमी क्षेत्र उसको सुपुर्द कर दिये गए। यह अन्य बात है कि आनेवाले चार दशकों में यह सारा क्षेत्र अंग्रेजों ने हथिया लिया। सिन्चुला की सन्धि के बाद कालिमपोंग मिलाकर दार्जिलिंग जनपद की स्थापना की गई। सिक्किम से दार्जिलिंग लेकर ऐसे विकास किया गया ताकि तिब्बत से होनेवाले व्यापार में अंग्रेजों को अबाध सुविधा होती रहे।

1880 का दशक सिक्किमी राज परिवार के लिए कष्टकारक सिद्ध हुआ। महाराजा थुटुब सपत्नीक कालिमपोंग, कुर्शेआँग और दार्जिलिंग में नजरबन्द कर लिए गए। राज्य का प्रशासन रेजिडेंट जॉन क्लाउड ह्वाइट (1854-1918) को सुपुर्द किया गया। अपने 20 वर्षों के एकछत्र प्रशासन में ह्वाइट ने सिक्किम की काया पलट कर दी। सिक्किम की अर्थव्यवस्था और राजस्व की वृद्धि के लिए सिक्किम की पहाड़ी जंगली और बंजरभूमि को नेपालियों को आबंटित कर दिया। अर्थव्यवस्था को मुद्रा पर आधारित कर वस्तु-विनिमय (Barter System) को बन्द किया। सड़कें, स्कूल, अस्पताल बनवाए; फलों, शाक-सब्जियों की खेती, दस्तीकारी का आरम्भ किया। राज्य की खेती योग्य जमीन का सर्वे कर नियत राजस्व पर ठीकेदारों (lessees) को आवण्टित कर दी। इन ठीकेदारों को पुलिस, न्यायाधिकारी और कारागार रखने का अधिकार दिया गगा। आम जनता से वसूल की जानेवाली दण्ड की रकम राज्य और ठीकेदारों में बँट जाती थी। ऊपर से कई प्रकार के बेगार की प्रणाली थी। 1940 आते-आते यह व्यवस्था अत्यन्त ही क्रूर और आततायी बन गई कि जनता में त्राहि-त्राहि मच गई। परन्तु महाराजा टाशी नामग्याल धार्मिक आख्यानों का चित्रण करते रहे और उनकी प्रजा 'कुर्वा' 'बैठी' 'भग्रलंगी' और 'कानोभारी' नामक बेगार करती हुई दम तोड़ती रही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनचेतना का उदय और सामन्त विरोधी लहर

द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त यह साफ होने लगा था कि भारत में अँग्रेजी राज्य का अन्त शीघ्र होगा। परन्तु हिमालयी रजवाड़ों को अपना विशेष प्रभाव क्षेत्र मानने वाले अँग्रेज प्रशासक अपनी तिकड़मों से वाज नहीं आए। जनचेतना के उभार को रोकने के लिए गांत्तोक स्थित पलिटिकल ऑफिसर ए. जे. हॉपकिन्सन ने सिक्किम और भूटान के महाराजाओं को सलाह दी कि वे अंग्रेजी राज द्वारा भेजी गई 'केबिनेट मिशन' के सामने अपना पक्ष रखने के लिए अपना दल भेजें। महाराजकुमार की अध्यक्षता में सिक्किम का तीन सदस्यी प्रतिनिधि मण्डल दिल्ली गया और शीघ्र ही वापस आ गया। सिक्किम दरबार के माँगपत्र के प्रति उत्तर में हॉपकिन्सन से 29वीं मई 1946 को एक 'नोट'[2] जारी किया। उसके मुताबिक भारतीय संघ राज्य को सलाह दी गई कि सिक्किम को भारत में मिलाने के स्थान पर उसे अधिक अधिकार देकर एक आश्रित राज्य बनाना अधिक श्रेयस्कर होगा। क्योंकि सिक्किम का भविष्य सवैधानिक आधार पर नहीं, बल्कि हिमालय की सुरक्षा से जुड़ा हुआ है और क्षेत्रीय सुरक्षा का प्रश्न तिब्बत, चीन और रूस में घटित होनेवाली घटनाओं से प्रभावित होगा। है न यह साम्राज्यवादी 'महान खेल' (Imperial great game)? लगता है दिल्ली की जनतान्त्रिक सरकार द्वारा जनभावना के स्थान पर 'टिप्पणी' में दी गई सलाह को प्रमुखता दी गई। फलस्वरूप जनतन्त्र के मूल्य पर राजतन्त्र को प्रमुखता दी गई।

---

2. "In practice, it may well prove difficult to secure a tidy solution of the future of Nepal, Sikkim and Bhutan and even the eastern marches of Kashmir. This will largely depend on the future policy and fate of China and hence of Tibet. The government of the (Indian) Union must be prepared for complications of North-east Frontier and evolve a policy to meet them. This may well have to be that of maintaining all the principalities in virtual independence of India, but as buffer, as far as possible, (as) client states. There may be greater advantages in according Sikkim a more independent status than seeking to absorb Bhutan as well as Sikkim in the Indian Union...The government will be advised to avoid entering into fresh commitments with any one of these frontier states or seeking to redefining their status. Their importance is strategic in direct relation to Tibet and China and indirectly to Russia. Such adjustment of relations with the Union carefully be affected by those political and strategic considerations ...account of which, it is hoped, the treaty will take rather than the political niceties, which do not help defence policy." Indian Office Library Record/MSS/EUR/F-157/Secret, 4357 File No. 1, Letter No. D/4334, CA/46, and May 29, 1946 from the deptt to the PO in Sikkim.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिक्किम की राजधानी, गांत्तोक में टाशी शेरींग, सोनम शेटींग, काजाँग तेंजींग आदि ने सिक्किम प्रजा की भलाई के लिए प्रजा सुधारक समाज की स्थापना कर रखी थी। इन लोगों ने तात्कालिक प्रचलित बेकार व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठायी। फलस्वरूप काजियों के गुरगों ने सोनम शेरींग की जमकर पिटाई कर दी। परन्तु प्रशासन उनकी रक्षा नहीं कर सका। उसी तरह दक्षिणी सिक्किमी स्थान तीमीतारक में गोबरधन प्रधान, धन बहादुर तिवारी, हरिशंकर परसाई और काशीराज प्रधान ने प्रजा सम्मेलन बना रखा था। प्रायः उन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित पश्चिमी सिक्किम के चोखुंग स्थान पर काजी ल्हेन्डुप दोरजी खानशरपा ने प्रजा मण्डल बना रखा था। परन्तु इन तीनों संगठनों में सम्पर्क और सहयोग का अभाव था। इस कमी को पूरा करने के लिए गांतोक स्थित प्रजा सुधारक समाज ने पहल की और दिसम्बर 7, 1947 को गांत्तोक के पोलो मैदान में एक आम सभा करने का निश्चय किया। इस सभा के आयोजकों ने उपरोक्त अन्य दो संगठनों को भी इस आयोजन में भाग लेने का न्योता दिया। उस दिन सिक्किम की त्रस्त जनता ने पहले-पहल अपने नेताओं को उनकी समस्याओं पर खुले मंच से बोलते सुना। अज्ञात आशंकाओं के विपरीत जनता में अपार उत्साह था। परन्तु अनुभवहीन नेताओं के भाषण उबाऊ और अनाकर्षक रहे। ऐसी स्थिति में एक घटना घटी। आयोजकों ने टाशी शेरींग द्वारा लिखित 'सिक्किम सम्बन्धी कुछ सत्य' (A Few Facts about Sikkim) नामक पुस्तिका के नेपाली अनुवाद को पढ़ने के लिए 24 वर्षीय चन्द्रदास राई को मंच पर बुलाया। चन्द्रदास दार्जिलिंग में आयोजित राजनैतिक सभाओं में अपने विद्यार्थी जीवन के समय जाया करते थे। ऐसा भी कहा जाता है कि चन्द्रदास काँग्रेस के समाजवादी खेमे के नेताओं से प्रभावित थे।

स्वाभाविक है कि चन्द्रदास ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में थे। टाशी शेरींग की पुस्तिका के नेपाली अनुवाद की प्रतियाँ जनसभा में वितरित की गईं। पुस्तिका के प्रकरण के साथ-साथ चन्द्रदास ने जनता की भाषा में, जनता के रोज-रोज की परेशानियों की कहानी निर्भय होकर मजाकिया लहजे में बयान कर डाला। चन्द्रदास के एक-एक वाक्य पर तालियाँ बजतीं और ठहाके लगते। सिक्किम के सर्वशक्तिमान प्रभुत्ता सम्पन्न सामन्तों का इस प्रकार मखौल अनहोनी बात थी। जनसभा समाप्त होते-होते चन्द्रदास सिक्किम के पहले सार्वजनिक नेता और वक्ता के रूप में उभरे। कृतज्ञ जनता प्यार से चन्द्रदास को सिक्किम का नेहरू पुकारने लगी। सभा की समाप्ति पर उसी शाम तीनों संगठनों की एक बैठक में एक नये राजनैतिक दल, सिक्किम राज्य काँग्रेस की स्थापना की गई। बुजुर्ग भोटिया नेता टाशी शेरींग अध्यक्ष चुने गए और सर्वसम्मति से तीन-सूत्री मांग स्वीकार की गई। इन मांगों को लेकर राज्य कांग्रेस का पाँच सदस्यीय प्रतिनिधि मंडल दिसम्बर 9, 1947 को महाराजा से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिला। राज्य कांग्रेस की तीन-सूत्री माँगें ये थीं : (i) जमींदारी का उन्मूलन (ii) जनतांत्रिक और जिम्मेवार सरकार बनाने के पहले अन्तरिम सरकार का गठन, और (iii) सिक्किम का भारतीय गणराज्य में विलय।

इन चन्द दिनों में ही सिक्किम का राजनैतिक वातावरण काफी बदल चुका था। महाराजा ने काँग्रेस के प्रतिनिधियों को जमींदारों के अधिकारों पर लगाम शीघ्र ही लगाने की बात बतायी और शीघ्र ही जमींदारी उन्मूलन का वादा किया। अन्तरिम सरकार बनाने की बात भी मान ली गई। दोनों पक्षों की सहमति से भारत में विलय के प्रश्न को स्थगित कर दिया गया क्योंकि इस सम्बन्ध में भारत सरकार और महाराजा के बीच वार्तालाप चल रहा था। यहाँ दो बातों को ध्यान रखना जरूरी है : पहला, बिना नियम-विधान बनाए सरकार में शामिल होने की जल्दीबाजी और दूसरा, निकटवर्ती दार्जिलिंग में गोरखाराज्य की माँग। पहली बात तो ऐसी सिद्ध हुई कि नियम के अभाव में मन्त्रिमण्डल गतिरोध का शिकार बना। दूसरी बात, गोरखाराज्य का प्रश्न इतना पेचीदा हो गया है कि जाने-अनजाने वह आज भी सिक्किम के लिए सरदर्द बना हुआ है।

परन्तु तत्कालीन सिक्किम में प्रतिक्रियावाद के प्रतीक, महाराजकुमार पाल्देन थोडुंप नामग्याल ने काँग्रेस के क्रियाकलापों को चुनौती देने के लिए भोटिया भिक्षुओं, काजी जमींदारों और दरबारी पिट्ठुओं की मदद से 30 अप्रैल, 1948 को सिक्किम राष्ट्रीय पार्टी का संगठन कराया। इस नयी पार्टी का एकमात्र उद्देश्य काँग्रेस के हर पहलू का विरोध करना था। स्वाभाविक था कि राज्य काँग्रेस की माँगों के विरुद्ध प्रस्ताव पास किए गए और उनसे भारत सरकार को अवगत भी करा दिया गया। काँग्रेस अध्यक्ष टोशी शेरींग ने सिक्किम राष्ट्रीय पार्टी को, काँग्रेस का विपर्यय (Antithesis of Congress) बताया। ऐसी स्थिति में अन्तरिम सरकार तो बनी नहीं और जन-आक्रोश बढ़ता गया। काँग्रेस ने नयी स्थिति की समीक्षा की और पिछले एक साल के हालात पर भारत सरकार से विचार करने के लिए टाशी शेरींग और चन्द्रदास राई ने प्रधानमन्त्री नेहरू से दिल्ली में मुलाकात की। अपनी माँगों के समर्थन में फरवरी, 1949 में काँग्रेस ने 'लगान-बन्दी' का अभियान चलाया। शीघ्र ही चन्द्रदास और अन्य नेता गिरफ्तार कर लिए गए और टाशी शेरींग की गिरफ्तारी का सम्मन जारी किया गया। इन दमनकारी कदमों से जनाक्रोश और भड़क उठा और हजारों की संख्या में गरीब जनता गांत्तोक में इकट्ठा होने लगी। इन प्रयासों से सिक्किम प्रशासन चरमरा उठा और काँग्रेस के बन्दी रिहा कर दिए गए। परन्तु गतिरोध बना ही रहा। ऐसी स्थिति में काँग्रेस ने पहली मई, 1949 से महाराजा के विरुद्ध प्रदर्शन करना आरम्भ किया। 'जमींदारों का नाश हो।' 'प्रजातन्त्र-जिन्दाबाद।' 'जनता का राज्य कायम हो।' आदि नारों के साथ हजारों सत्याग्रहियों ने राज दरबार का घेराव किया। महाराजा ने भागकर भारत भवन (भारत सरकार का गांत्तोक स्थित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्यालय) में शरण ली। पलायन करते महाराज कुमार को सत्याग्रहियों ने पैदल भागने पर मजबूर किया। कोई रास्ता न देख महाराजा टाशी नामग्याल ने काँग्रेस अध्यक्ष टाशी शेरींग (मुख्यमंत्री) के नेतृत्व में पाँच सदस्यीय सरकार को 9 मई, 1949 को शपथ दिलायी।

काँग्रेस अध्यक्ष के अतिरिक्त काँग्रेस के उपाध्यक्ष दीमिक सिंह लेपचा और महामन्त्री चन्द्रदास राई काँग्रेस की तरफ से और दोरजी दोदल और रेशमी प्रसाद आंले ने दरबार के प्रतिनिधि के रूप में मन्त्री पद की शपथ ली। दरबार की चहेती, सिक्किम राष्ट्रीय पार्टी, का कहीं जिक्र भी नहीं था। परन्तु दरबार साम, दाम, दण्ड और भेद की नीति के अनुरूप काँग्रेस को प्रभाहीन करने में व्यस्त था। ऊपर से काँग्रेस के नेताओं में अनुभव, दूरदर्शिता और अनवरत जनसंघर्ष करने के अभाव था, तब तक भारत सरकार की नीति भी साफ नहीं हो पाई थी। मन्त्रिपरिषद् के शपथ लेने के साथ ही काँग्रेस के छुटभैये नेता इतरा कर प्रशासन में दखल देने लगे। मन्त्रिपरिषद् में दरबारी और काँग्रेसी के बीच प्रत्येक विषय में रस्साकशी के चलते, प्रशासन ठप था। ऐसी स्थिति में राज्य काँग्रेस के कुछ अनुभवहीन छुटभैया नेता गांतोक की सड़कों पर नशे की हालत में गाली-गलौज और मारपीट पर उतर आयें। ऐसी स्थिति में इस सीमावर्त्ती राज्य में नागरिक आन्तरिक सुरक्षा को खतरे में देख भारत संघ के प्रतिनिधि, हरिश्वर दयाल ने 6 जून, 1949 को पाँचों मन्त्रियों को अपने दफ्तर में तलब किया। कहते हैं कि बिना किसी भूमिका के श्री दयाल ने सूचना दी कि वे भारत सरकार के नाम पर मन्त्रिमण्डल को बरखस्त करते हैं और खुद हुकूमत सम्भालने की जिम्मेवारी लेते हैं। हतप्रभ मंत्रीगण भारत भवन से बाहर आए।

सामन्तवाद का नया स्वरूप और प्रजातन्त्र की दूसरी लड़ाई

प्रथम जनप्रिय मन्त्रिपरिषद के भंग किए जाने के बाद सिक्किम का प्रशासन फिर एक बार पुराने अंग्रेज परस्त आई. सी. एस. अफसरों के हाथ आ लगा। जॉन लाल और नारी खुर्शेद रुस्तमजी क्रमशः दीवान बनाए गए। भूमि स्वामित्व सम्बन्धी कुछ सुधार भी किए गए। सामन्तशाही के स्थान पर अफसरशाही को लाकर प्रशासन को नया रूप दिया गया। सिक्किम राज्य काँग्रेस हतप्रभ और दिशाहीन बन गई और दरबार का प्रश्रय पा सिक्किम राष्ट्रीय पार्टी अपना प्रभाव बढ़ाने में व्यस्त थी। सीमापार तिब्बत में चीन की गतिविधियों से प्रभावित भारत सरकार लगता है कि हॉपकिन्सन के उपरोक्त 'नोट' को अमल करने में लग गई। फलस्वरूप भारतीय नौकरशाही की देख-रेख में सिक्किम में जनतन्त्र का नया नाटक शुरू हुआ। फिर क्या था? 1919 की बदनाम दोहरी (Dyarchy) प्रशासन व्यवस्था सिक्किम में लागू की गई। इसके मुताबिक महाराजा की क्षत्रछाया में जनप्रतिनिधियों से परे अफसरशाही स्वतन्त्र रूप में काम करती रही। साथ ही साथ एक सीमित और कुटिल जनतान्त्रिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार पर 1953 में राज्यपरिषद् और कार्यकारी परिषद् (State Council & Executive Council) की व्यवस्था भी की गई। इस नई पहल के मुताबिक प्रजातीय और धार्मिक आधार पर (On the ground of rece and religion) सिक्किमी जनता को दो भागों में बाँटकर बिखरे हुए साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व (Fragmented communal representation) की कल्पना की गई। तुर्रा यह कि राज्य परिषद् के एक-तिहाई सदस्यों को महाराजा नामजद करते रहे। वास्तव में यो हुआ कि करीब 70 प्रतिशत नेपाली मूल के मुख्यतः हिन्दुओं को 50 प्रतिशत स्थानों पर और 25 प्रतिशत बौद्ध धर्मावलम्बी लेपचा-भोटियाओं को 50 प्रतिशत राज्यपरिषद् के स्थानों पर चुनने की मान्यता दी गई। कालान्तर में इस फार्मूलों को प्रशासन, आर्थिक और शैक्षणिक क्षेत्रों में भी प्रश्रय दिया गया। सिक्किम दरबार की चहेती राष्ट्रीय पार्टी को छोड़ सभी राजनैतिक दलों ने इस घृणित साम्प्रदायिक 'पैरीटी' पद्धति (Parity System) का विरोध किया। ऊपर से तुर्रा यह कि सिक्किम का प्रशासन सामान्य सहमति (general concensus) पर कार्यकारी परिषद् चलाती थी, जिसमें मतैक्य के नाम पर महाराजा चाटुकार पार्षदों को कार्यकारी परिषद् में चुनते रहे।

दरबार की हरदम कोशिश रही कि राज्य काँग्रेस की बहुजातीय छवि खत्म हो जाय और वह नेपाली हिन्दुओं की पार्टी बन जाए, ताकि दरबार उन्हें आसानी से विदेशी नेपाली हिन्दुओं की पार्टी के रूप में बदनाम कर सके। दूसरी तरफ खुले रूप से प्रजातीय आधार पर लेपचा-भोटियों की राष्ट्रीय पार्टी को कुछ नेपाली मूल के दरबारियों की मदद से सचमुच के राष्ट्रीय दल के रूप में दरबार में पेश करता रहा। आश्चर्य है कि इस हास्यास्पद खेल में भारत सरकार, उसके सिक्किम में भेजे गए नौकरशाह और यहाँ तक कि जनतान्त्रिक दल भी चुपचाप तमाशा देखते रहे। लेकिन इस दरबारी नाटक के स्वरूप को बिगाड़ने का काम किया एक भूतपूर्व बौद्ध भिक्षु लेप्चा काजी ल्हेनडुप दोर्जी ने। काजी साहब ने सिक्किम राज्य काँग्रेस के उप सभापति के रूप में अपना राजनैतिक जीवन आरम्भ किया। जनतान्त्रिक मूल्यों से भटकती राज्य काँग्रेस को छोड़कर 1960 में सिक्किम राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना की। फिर भी अगले दो दशक तक सिक्किमी राजनैतिक क्षितिज पर छाए रहे। सम्पूर्ण सिक्किम में फैले एक मात्र राज्य परिषद् का स्थान—जेनेरल सिक्किम—पर काजी का अधिकार बना रहा। काजी साहब की महाराजकुमार और कालान्तर में महाराजा पाल्देन थोडुंप नामग्याल से अन्त-अन्त तक टक्कर रही।

ऐसी दयनीय स्थिति में करीब दो दशक में सिक्किम राज्य काँग्रेस अपनी बहुजातीय छवि खो चुकी थी और नेवार पार्टी के रूप में बदनाम हो गई थी। दूसरी तरफ सिक्किम राष्ट्रीय पार्टी अनवरत अपना प्रभुत्व बढ़ाती गई। काँग्रेस का ह्रास और राष्ट्रीय पार्टी का विकास दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू पेश करते हैं। इस बीच में काजी साहब की राष्ट्रीय काँग्रेस एक नई चुनौती के रूप में दरबारी मुसाहिबों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामने आ खड़ी होती है। राष्ट्रीय काँग्रेस ने राज्यपरिषद् के तीन चुनावों में भाग लिया और चुनाव परिणाम दरबारी अपेक्षाओं के विपरीत काँग्रेस के पक्ष में रहा ही नहीं। राष्ट्रीय काँग्रेस के प्रत्याशी नेपाली, लेप्चा, भोटिया, मठों और अनुसूचित जातियों के स्थानों से चुने जाते रहे। निम्नांकित तालिका राज्य परिषद के 20 सालों का चुनाव परिणाम दलों के अनुसार दर्शाती है।

सिक्किम राज्य परिषद् के चुनावी परिणाम : 1953-1973

दल विशेष	*1953*	*1958*	*1967*	*1970*	*1973*	*कुल*
1. सिक्किम राज्य काँग्रेस	6	8	2	4	2	22
2. सिक्किम राष्ट्रीय पार्टी	6	6	5	7	9	33
3. सिक्किम राष्ट्रीय काँग्रेस	-	-	8	5	5	18
4. निर्दलीय	-	-	3	2	2	07
कुल निर्वाचित स्थान	**12**	**14**	**18**	**18**	**18**	**80**

अन्तिम नामग्याल नरेश पाल्देन थोंडुप सिक्किम को संरक्षित स्थिति के स्थान पर एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में देखने लगे थे। वे उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में तिब्बत की बौद्ध सांस्कृतिक परम्परा को सिक्किमी जामा पहनाने में व्यस्त रहने लगे थे। चीनी स्थापत्य कला पर आधारित इमारतें, तिब्बती नमूने के गलीचे, पोशाक, कलाकृतियाँ आदि सिक्किमी के रूप में पेश किए जाने लगे। इस प्रकरण में सिक्किम की बहुसंख्यक नेपाली मूल की जनता का कोई स्थान नहीं बनता था। फलस्वरूप इस खोखली विरासत की कलई खुल जाती है। परन्तु अपनी धुन के पक्के नामग्याल नरेश अधिकांश जनता की भावनाओं की अनदेखी कर अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समर्थन जुटाने में संलग्न थे। दूसरी तरफ सिक्किम की जागरूक होती जनता प्रजातीय समानता के रूप में स्थापित सीमित जनतन्त्र को पूर्णतः जनतान्त्रिक बनाना चाहती थी। परन्तु नामग्याल प्रशासन अपने चाटुकार प्रशासकों के पक्षपातपूर्ण रवैये से आँखमिचौली करता रहा। राज्य परिषद के अन्तिम चुनाव (1973) में एक ऐसी ही धाँधली पकड़े जाने पर विरोध में उठी आवाज के निरादर पर जनता के असन्तोष का बाँध टूट पड़ा और उसके परिणाम दूरगामी सिद्ध हुए।

सिक्किम का विलय या साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष का विलम्बित अन्त?

1973 के राज्य परिषद की चुनाव सम्बन्धी अनियमितताओं के निराकरण के बदले उदंडता भरा उत्तर जनाक्रोश में बदल गया। राजनैतिक असन्तोष की दबी हुई ज्वाला भड़क उठी और पश्चिमी और दक्षिणी जिलों से दरबार का प्रशासन समाप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर जनता राज स्थापित हो गया। थाना, कचहरी, जेल और अन्य दफ्तर जनता ने हथिया लिया। पूर्वी जिले के रंगपो, शिंगताज, रानीपुल और गांत्तोक में जनता का अनवरत प्रदर्शन जारी रहा। सिक्किम के भीतरी भागों से आम जनता गांत्तोक का घेराव करने आ पहुँची। ऐसी विकट स्थिति में भी कुछ चाटुकार दरबारी महाराजा का 50वाँ जन्मदिन मनाने के लिए आमादा थे। उसी क्षण महाराजा की पुलिस प्रदर्शनकारियों पर गोलियाँ बरसा रही थी। स्थिति काबू से बाहर जाते देख महाराजा और राजनैतिक दलों ने भारत सरकार से सिक्किम का प्रशासन सँभालने का आग्रह किया। भारत सरकार की पहल पर शीघ्र ही केन्द्रीय सुरक्षा बल की टुकड़ियाँ अशान्त क्षेत्रों में भेजी गईं।

एक वरिष्ठ प्रशासक बी.एस. दास को मुख्य प्रशासनिक अधिकारी (Chief Executive Officer) बनाकर प्रशासन सँभालने के लिए भेजा गया। भारत सरकार ने शीघ्र ही प्रशासनिक और पुलिस अधिकारियों की टुकड़ी भेजी ताकि दूर-दराज के क्षेत्रों में शीघ्र ही सामान्य स्थिति बहाल की जा सके। राजनैतिक दलों और महाराजा के बीच काफी मान-मनौवल के बाद 8 मई 1973 को महाराजा, भारत सरकार के प्रतिनिधि और तीन मान्य दलों के पाँच-पाँच पदाधिकारियों ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किए। फलस्वरूप जनवरी, 1973 में संपन्न राज्य परिषद का चुनाव रद्द कर दिया गया। अगले साल 32 सदस्यीय राज्य विधान परिषद का चुनाव किया गया, जिसमें एक को छोड़ सभी स्थानों पर काजी ल्हेनडुप दोरजी के सदस्य चुने गए। काजी के नेतृत्व में मन्त्रिपरिषद् ने शपथ ली। स्वाभाविक था कि ये सब गतिविधियाँ महाराजा को नहीं जँच रही थीं और उन्होंने सिक्किम के अलग अस्तित्व के विषय में अपनी मुहिम जारी रखी। महाराजा की गतिविधियों से तंग आकर मन्त्रिपरिषद् ने सिक्किम को भारतीय संघ के साथ जोड़ने की सम्भावना पर विचार करने का आग्रह किया। इस प्रश्न पर दरबार और राजनैतिक दलों में मतभेद खुलकर सामने आया।

उपरोक्त मतभेद को हल करने के लिए और सिक्किम के भविष्य को लेकर मुख्यमन्त्री ने तत्काल जनमत संग्रह (referendum) की माँग की। फलस्वरूप 14 अप्रैल, 1975 को जनमत संग्रह कराया गया। जनता को यथास्थिति बनाए रखने या भारत के साथ निकट सम्बन्ध स्थापित करने में एक को चुनना था। लाल और सफेद दो बक्से महाराजा या काजी के प्रतीक रूप में रखे गए। लोग महाराजा की कारगुजारियों से तंग आ चुके थे और सामान्यतः जनता काजी के पक्ष में थी। इस प्रकार एक तरह से जनमत संग्रह का परिणाम पहले से ही सर्वविदित था। 97 प्रतिशत लोगों ने महाराजा के विरुद्ध और काजी के पक्ष में मत डाले। परन्तु यहाँ तक कि काजी के अन्ध भक्त भी इस स्थिति से अनभिज्ञ थे कि महाराजा की पराजय का अर्थ सिक्किम का भारत में विलय है। जनमत संग्रह के परिणाम के सन्दर्भ में मुख्यमन्त्री काजी ने भारत सरकार से आवश्यक कदम उठाने का आग्रह किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तदनुसार भारतीय, संसद ने 38वाँ संविधान संशोधन बिल पारित किए, जिसके अनुसार राज्यपाल, निर्वाचित विधान सभा समर्थित मन्त्रिपरिषद एवं हाईकोर्ट से सज्जित भारतीय संघ के 22वें राज्य के रूप में सिक्किम का उदय हुआ।

सिक्किम के प्रश्न पर सुनन्दा दत्तारे, बी. एस. दास, नारी खुर्शेद रुस्तम जी, ए. सी. सिन्हा आदि विद्वानों ने लिखा है। कई भारतीय पत्रकारों ने इस घटना का नाम सिक्किम का भारत में विलय दिया। दूसरी तरफ दत्तारे ऐसे पत्रकारों ने इस घटना को भारत की सोची-समझी अधिग्रहण या अतिक्रमण की नीति की परिणति बताया। अपने पत्राचारों के आधार पर अन्तिम चोग्याल के अभिन्न मित्र नारी रुस्तम जी ने, इस समस्या की मार्मिक विवेचना की और सिक्किम और पी. टी. नामग्याल की तुलना एक युनानी दुखान्त कहानी (A Greek Tragedy) से की। बी. एस. दास ऐसे विद्वान है, जिन्होंने अन्तिम चोग्याल के अन्तिम दो वर्षों में उन्हें नजदीक से देखा और परखा था। दास ने पाया कि जीवन के अन्तिम क्षणों में भूतपूर्व महाराजा राजनैतिक के बजाय एक जिद्दी और तर्कहीन अभिनेता जैसा बन गये थे। परन्तु इन सभी विवेचनाओं से परे पीछे जुड़ती अंग्रेजी साम्राज्यवाद था, जिसने अपने सिक्किमी प्रतिनिधि के उपरोक्त 'नोट' के रूप में भारत सरकार की नीति को बन्धक बना रखा था। यही कारण था कि अन्त तक चोग्याल पाल्देन, नामम्याल को भरोसा था कि उनकी सारी कारगुजारियों को नजर अन्दाज कर भारत सरकार किसी भी स्थिति में उन्हें अकेला नहीं छोड़ेगी और वे बेलगाम भारत विरोध पर बढ़ते चले गए। परन्तु वे भूल गये कि 1975, 1949 नहीं था। और भारत का प्रधानमन्त्री उदार आदर्शवादी जवाहरलाल नेहरू नहीं, बल्कि उन्हीं की बेटी परन्तु वस्तुपरक यथार्थवादी (objective realist) इन्दिरा गाँधी थी जो कि भारतीय संघ के प्रति पूर्ण समर्पित थीं। इस प्रकार सिक्किम के भारतीयकरण को हॉपकिन्सन के नोट के सन्दर्भ में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष का अन्त मानना अधिक श्रेयस्कर होगा।

सन्दर्भ

1. Basnet LB : 1974, *Sikkim : A short Political History,* S. Chand & Co. Pvt. Ltd. Delhi.
2. Das, B.S. 1983: *Sikkim Saga,* Vikas Publishing House, New Delhi.
3. Dutta Ray, Sunanda K : 1984, *Smash and Grab : Annexation of Sikkim,* Vikas Publishing House, New Delhi.
4. Rustomji Nari K. : 1987, *Sikkim : A Himalayan Tragedy* Allied Publishers Pvt. Ltd., Bombay.
5. Sinha, A C : 1975, *Politics of Sikkim,* Thompson Press, Faridabad.
6. Sinha, A C : 2008, *Sikkim · Feudal and Democratic,* Indus Publishing Company, New Delhi.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैश्वीकृत समाज में अश्लीलत्व की नई अवधारणाएँ, नव आचार संहिता

पुष्पपाल सिंह*

प्रत्येक समाज और देशकाल में समय-समय पर सांस्कृतिक मूल्यों-मान्यताओं में परिवर्तन घटित होते हैं, यह संस्कृति का विकासशील स्वरूप तो है ही, अपने समय के साथ चलने का सार्थक उपक्रम भी है। किन्तु पिछले 10-15 वर्षों में सांस्कृतिक संक्रमण की यह प्रक्रिया जितनी विस्मयकारी है, उससे भी अधिक हमें विचलित और आन्दोलित करनेवाली भी है। वैश्वीकरण की जो आँधी इतनी तेजी से हमारी पारम्परिकता को लील कर, हमसे हमारी जमीन पैरों के नीचे से खींच कर एक वैश्विक ग्राम का सदस्य जिस रूप में बना रही है, वह चिंता का विषय है। यह वैश्वीकरण पूरे विश्व-सांस्कृतिक समुदाय से उसका श्रेष्ठ आयत्त करना नहीं है। अपितु हर दृष्टि से केवल अमेरिकीकरण है। खजुराहो, जगन्नाथ पुरी, अजंता आदि के देश में आज श्लीलता और अश्लीलता की नई परिभाषाएँ गढ़ी जा रही हैं। काम, कामुकता, उत्तेजक ('सैक्स', 'सैक्सी', 'हॉट') अपना नया पाठ और नई अवधारणाएँ बना रहे हैं। आज से 15-20 वर्ष पूर्व जब किसी युवती को 'सैक्सी' (कामुक) 'उत्तेजक' (हॉट) या 'दहकती हुई' (सीजलिंग) कह दिया जाता था तो वह कुछ उसके लिए गौरवपूर्ण नहीं था, उसे एक 'खराब लड़की' ही माना जाता था या ये शब्द प्रायः वेश्या-वर्ग या उससे मिलते-जुलते वर्ग के लिए ही संदर्भित थे। मैं हिन्दी-अंग्रेजी के 5-6 प्रतिष्ठित कोश उठा कर देखता हूं तो उनमें कहीं भी वे अर्थ या अर्थ-छवियाँ इन शब्दों की नहीं मिलतीं जिस स्पृहणीय अर्थ में आज उनका प्रयोग हो रहा है और जिसके लिए वह प्रयोग हो रहा है, वह उस अभिव्यक्ति को पा कर गद्‌गद हो रही है/रहा है। पहले गाली जैसे शब्द अब कितने गौरववान हो उठे हैं, इसे इन प्रयोगों में भी भली-भाँति देखा जा सकता है, जैसे सैक्सी कार, सैक्सी घर, सैक्सी शेयर बाजार, सैक्सी मौसम, आदि, आदि। भाषा विज्ञान का सामान्य-सा विद्यार्थी भी जानता है कि शब्दों का अर्थ-परिवर्तन समय के साथ होता है किन्तु यह इस रूप में होगा, कभी सोचा भी नहीं गया होगा।

* भूतपूर्व आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, हिन्दी; पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भू-मण्डलीय गाँव-संस्कृति—वैश्विक ग्राम संस्कृति—से अमेरिका आयातित हमने अनेक महाप्रस्ताव ग्रहण किए हैं जिनमें विविध स्तरीय सौन्दर्य प्रतियोगिताएँ—अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिताएँ, राष्ट्रीय प्रतियोगिताएँ, नगर प्रतियोगिताएँ, कॉलेज और विश्वविद्यालयों में आयोजित प्रतियोगिताएँ, यहाँ तक कि अब महँगी फीस लेने वाले अंग्रेजी नामधारी अन्तर्राष्ट्रीय शिशु विद्यालयों (इण्टरनेशनल स्कूल ...अनेक स्कूलों के नाम के साथ लगा हुआ शोभाधर्मी विशेषण) में छोटी-छोटी कक्षाओं में 'कैट् वाक्' कराया जा रहा है— हमारे यहाँ तो अभी 'कैटवाक्' का अनुवाद भी उपलब्ध नहीं है, हो भी नहीं सकता— हमारे सांस्कृतिक कार्यक्रमों में तो इसके लिए कोई स्थान ही नहीं था। लगता है कि ये सौन्दर्य प्रतियोगिताएँ और विभिन्न स्थानों पर होने वाले 'फैशन वीक' अब हमारे समाज की आवश्यकताएँ ही बन गए हैं। प्रति वर्ष दिल्ली, मुम्बई, कोलकाता, आदि महानगरों में आए दिन 'फैशन सप्ताहों' ('फैशन वीक') का आयोजन होता ही रहता है। देश-विदेश के नामी डिजाइनर अपने महँगे-महँगे लिबासों-परिधानों का प्रदर्शन सुन्दर, अति सुन्दर मॉडलों (रूपसियों) द्वारा कराते हैं। ऐसे ही एक फैशन सप्ताह में किसी समाचार-चैनल के व्यक्ति ने किसी दर्शक से पूछा कि आपको यहाँ प्रदर्शित पोशाकें कैसी लगीं तो उन्होंने कहा 'बहुत अच्छी लगीं, किन्तु जब दूसरा प्रश्न दागा गया कि क्या आप इन वस्त्रों को अपने घर-परिवार में पहनना पसन्द करेंगे। तो उनका उत्तर नकारात्मक था। यह कैसी विरोधाभासी अवधारणा है कि परिधान-पोशाक हमें अच्छी तो लग रही है किन्तु इसे हम घर-परिवार में पहन नहीं सकेंगी। यह बात लगभग 5-6 बरस पुरानी है। आज यह दिक्कत नहीं रह गई है, आज ऐसी वेश-भूषाएँ सामान्यता में आ गई हैं। आज से कुछ साल पहले जब 'ऑस्कर एवार्ड्स' पर विभिन्न महिला प्रतिभागियों की 'लो कट' या 'अर्धवक्ष' पोशाकों को देखना, भारतीय दर्शक के लिए बड़ी विस्मयकारी स्थिति थी, किन्तु अब हमारी अभिनेत्रियों ने इतनी तेजी से इन सबका अनुकरण किया कि वह हमारे लिए 'सामान्य' (नॉरमल) हो उठा। इस सबको तो पचा लेने की तासीर समाज अपने अन्दर पैदा कर चुका है कदाचित्! पचा वह यह नहीं पाया कि मंच पर प्रदर्शन कैटवाक् करते हुए उपरिवस्त्र, टॉप का पल्लू पूरी तरह सरक कर मॉडल का वक्ष पूरी तरह नंगा हो जाए। यह घटना कुछ हजार दर्शकों के बीच ही घटित हुई किन्तु इलैक्ट्रॉनिक मीडिया के विभिन्न समाचार चैनलों ने इस घटना का 'दुर्घटना' के रूप में करोड़ों-करोड़ों दर्शकों तक बार-बार अपने समाचार-बुलेटिनों में 'सहर्ष' पहुँचाया और इस रूप में दिखाया कि सन् 2006 ई. में हुई ऐसी ही दुर्घटना का चाक्षुष पुनःस्मरण कराया। वैसे कितने ही फिल्म निर्देशकों और परिधान विशेषज्ञों ने इसे दुर्घटना न मान कर केवल यह कहा कि 'ऐसा हो जाता है।' 'यह सामान्य बात है', 'यह वार्ड रोब' का मिस मैनेजमेण्ट है। फैशन वीक की यह दुर्घटना सामाजिक, नैतिक और कानूनी दृष्टि से अनेक प्रश्नों को जन्म देती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाचार-चैनलों ने इस दुर्घटना को दिखाते हुए बार-बार कहा कि यह भारतीय दण्ड संहिता की धारा 292 का उल्लंघन है जिसमें सामाजिक आयोजनों में अशालीनता दिखाने के लिए दण्ड का प्रावधान है। अश्लीलता के अन्तर्गत स्त्री को अशालीन ढंग से प्रस्तुत करने को दण्डनीय अपराध माना गया है। इन्हीं समाचारों में यह भी बताया गया कि सन् 2006 में हुई ऐसी ही दुर्घटना पर महाराष्ट्र के उच्च न्यायालय ने आयोजकों को हिदायतें दीं कि प्रदर्शन के दौरान ऐसी घटना होने पर प्रकाश व्यवस्था मंद कर दी जानी चाहिए और प्रतियोगी, मॉडल्स को उपरि-परिधान के नीचे अन्तर्वस्त्र (इनर-सूट) पहनना आवश्यक कर देना चाहिए। आयोजक तो न्यायालय के इस आदेश की पालना नहीं कर पाए, पर समाचार चैनल इस आदेश को कौन-सा सम्मान दे पाये जो बारम्बार भरपूर प्रकाश व्यवस्था में इस दृश्य को चटखारे ले ले़ कर दिखाते रहे। लाइट धीमी ('डिम') करने के आदेश को उन्होंने भी पूरी तरह नकार दिया। कुछ समाचार चैनलों ने अवश्य वक्ष-स्थल पर अवरोधक रूप में हल्की पट्टी-सी दिखा दी किन्तु एक चैनल ने उसे 'पूरे सच' के रूप में वक्ष-स्थल को पूरी तरह निर्वस्त्र दिखाया। क्या ये सभी समाचार चैनल भारतीय दण्ड संहिता की धारा 292 के अन्तर्गत दण्डनीय अपराध की श्रेणी में नहीं आते? यहाँ प्रश्न यह भी उठता है कि क्या इस प्रकार की घटनाओं को केवल सूच्य, वाचिक, रूप में ही नहीं दिखाया जा सकता? ऐसे समाचारों में समाचार प्रस्तोता केवल समाचार पढ़कर ही सुना सकता है, उसके लिए चाक्षुण प्रमाणों—फुटेज को दिखाने की कोई महती आवश्यकता दिखाई नहीं देती। दृश्य माध्यम के इलेक्ट्रोनिक मीडिया में यदि यह सब आवश्यक ही हो तो उसे ग्राफिक्स के माध्यम से भी दिखाया जा सकता है जिस प्रकार दो ट्रेनों की भिड़ंत या आतंकवादी हमलों के बम-विस्फोटों को ग्राफिक्स के द्वारा दिखाया जाता है। अपने वर्तमान रूप में तो समाचार चैनलों की यह प्रस्तुति दण्डनीय अपराध की श्रेणी में आती है। पर क्या किसी प्रशासनिक विभाग या बौद्धिकों द्वारा इस अश्लीलता-प्रदर्शन के विरोध का एक भी स्वर उठा?? यदि हम इस प्रकार के अश्लील तत्व को धीरे-धीरे पचाते रहे तो इनमें अश्लीलता लगनी बन्द ही हो जाएगी।

नैतिकता की दृष्टि से यह सवाल तेजी से उभरता है कि सांस्कृतिक दृष्टि से हम जिस संक्रमणकालीन समय में जी रहे हैं उसमें अश्लीलत्व की परिभाषाएँ और मानदण्ड भी बदलने होंगे। हॉलीवुड क़ी नग्न-अर्द्धनग्न संस्कृति को जिस तेजी से बॉलीवुड और उसके बाद फिर टी. वी. का छोटा परदा अपनाता जा रहा है, उसको धीरे-धीरे सामाजिक स्वीकृति मिलती जा रही है। प्रश्न उठता है कि पूरे विश्व में केवल कुचाग्र ढकने की जो परम्परा श्लील मानी जा रही है, क्या उसे भारत को भी तद्वत् स्वीकार कर लेना है/कर लेना चाहिए? यह प्रश्न तब और भी अधिक आतंकित करने लगता है जब हर शुक्रवार को रिलीज होने वाली फिल्मों में नई-नई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बालाओं (अभिनेत्रियों) द्वारा अधिक से अधिक नंगई परोसने की होड़ लगी हो। 'आइटम सांग' नामक गीत-नृत्य में कामुक मुद्राओं को हद दर्जे तक अश्लील बना देने के लिए एक हड़कम्प मचा है। वक्ष-स्थल से परिधान का खिसकना तो हमें नागवार लग रहा है किंतु उससे भी अधिक कामुक भंगिमाओं, आदि को हम धीरे-धीरे ग्रहण करते जा रहे हैं या पूरी तरह ग्रहण कर चुके हैं। वक्षोज के पूर्ण उघाड़ को तो हमनें दण्डनीय कोटि का अश्लीलत्व मान लिया किन्तु क्या किसी नवोदित सिने-तारिका का सामने से पूरी तरह खुला ऐसा वस्त्र अश्लील नहीं है जिसमें केवल कुचाग्र ही ढँके हुए हों और उस परिधान में वह हजारों-हजारों की उपस्थिति में मंच से बिना किसी झिझक के पुरस्कार प्राप्त कर रही हैं? यह वेशभूषा अनेक-अनेक हॉलीवुड बालाओं की तन-उघाड़ वेशभूषाओं को मात दे रही है।

अनेक टी. वी. कार्यक्रमों की प्रस्तोताओं, आइटम डांस-बालाओं, अनेक प्रतियोगियों की जंघा उघाड़ और ऊपर से न्यूनातिन्यून वस्त्रों में मंच पर उपस्थिति क्या अश्लीलता की कोटि में नहीं आता है? अनेक विज्ञापनों में जिस रूप में उत्पाद को बेचने के लिए कामुक मुद्राएँ अपनाई जाती हैं क्या वह आवश्यकता से अधिक अश्लीलत्व नहीं है? कई साबुनों, लिपिस्टिकों या मिसेज इण्डिया तलाशने के उत्तेजक (हॉट) विज्ञापनों में क्या अश्लीलत्व नहीं है? अश्लीलता की कसौटी केवल स्त्री को केन्द्रित कर दिए गए नए विज्ञापनों तक ही सीमित नहीं है, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के सेनेटरी, नेपकिन के जुगुप्सापूर्ण, कुत्सित धड़ल्ले से दिखाए जा रहे विज्ञापन क्या अश्लीलत्व की कोटि में आने लायक नहीं हैं? इसी प्रकार क्या बाथरूम में पेशाब करते दिखाए जानेवाले लड़के का विज्ञापन अशोभनीय नहीं है अथवा हाल-फिलहाल की एक सफल फिल्म का गाना गाते हुए लड़के का तौलिया खोल कर पीठ करके खड़े हो जाना जुगुप्सापूर्ण नहीं है? ये सब स्थितियाँ बौद्धिक वर्ग से एक प्रतिरोधी स्वर की अपेक्षा करती हैं। इसी प्रकार कितने ही द्वयर्थक शब्दों वाले गीत, यथा 'पड़ोसी के चूल्हे से आग लै लई', 'जाड़े में पड़ोसी का लिहाफ लै लई' आदि, या 'स्लोली-स्लोली किस मी', 'चुम्मा दे दे' गीतों में अश्लीलता क्यों नहीं मानी जाती? यह अश्लीलता और भी चिन्ताकुल स्थितियाँ पैदा करती है, जब छोटे-छोटे बच्चे इन गीतों पर तथाकथित नृत्य-मुद्राओं में फूहड़ ढंग से नचाए जाते हैं। इन सब स्थितियों को देखते हुए क्या यह आवश्यकता नहीं आ पड़ी है कि छोटे परदे के समाचार-प्रसारण, नृत्य आयोजनों, विज्ञापन-प्रदर्शन, आदि के लिए अलग से एक सेंसर बोर्ड जैसी संस्था स्थापित की जाए। यों फिल्मों के लिए भी सेंसर बोर्ड है किन्तु वह भी कितना कम नियन्त्रण रख पा रहा है, यह एक सर्वज्ञात तथ्य है। सरकार किस प्रकार इस ओर अपनी भूमिका का निर्वहन कर सकती है, इस सन्दर्भ में चीन में कुछ साल पहले उठाए गए एक पग की स्मृति बार-बार आ रही है। कुछ समय पहले वहाँ विश्वप्रसिद्ध पॉप गायिका ब्रिटनी स्पियर्स को प्रदर्शन के लिए आना था। चीन की सरकार ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिबन्ध लगा दिया था कि वहाँ प्रदर्शन के समय ब्रिटनी स्पियर्स वह वेशभूषा, परिधान धारण नहीं करेगी जो प्रायः वह ऐसे प्रदर्शनों में करती है। यह तो ज्ञात नहीं कि चीन में ब्रिटनी स्पियर्स का प्रदर्शन हुआ या नहीं किन्तु दाद देनी होगी चीन की सरकार के उस निर्णय की जिसमें उसने अपनी सांस्कृतिक दृष्टि से समझौता नहीं किया। इस घटना से एक सन्देश और निकल कर आता है कि चीन और भारत जैसे महादेश जो अपनी समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा के धनी हैं, ही इस प्रकार के निर्णय लेकर अपनी सांस्कृतिक अस्मिता की रक्षा कर सकते हैं। राष्ट्रीय स्तर पर इस प्रकार की एक सोच विकसित करने की महती और तात्कालिक आवश्यकता है।

इस सन्दर्भ में कला जगत और साहित्य जगत की चर्चा भी आवश्यक है। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के नाम पर यहाँ भी काम और यौन की खुली चर्चा की वकालत की जाती रही है, वह चाहे मकबूल फ़िदा हुसेन द्वारा हिन्दू देवी-देवताओं के चित्रण के संदर्भ में हो, रामशरण जोशी द्वारा अपने आत्म स्वीकारों के खुले यौन और केवल यौन-चित्रण में हो, या फिर कहानी की एक विशेष धारा में केवल देह-विमर्श में हो। बात वहीं आ कर टिकती है कि कला और साहित्य में श्लील-अश्लील की क्या नव धारणाएँ हैं। कभी-कभी तो लगने लगा कि साहित्य में मल्लिका शेरावतों का आगमन हो रहा है। घर-परिवार के घेरे में स्त्री के यौन-उत्पीड़न बलात्कार आदि के खुले-खुले साहसिक ('बोल्ड') वर्णन, रति के विभिन्न आसनों में यौन-सुख का चित्रण, मुख मैथुन आदि का चित्रण और वह भी विशेषतः—महिला कथाकारों द्वारा इस बात को सूचित करते हैं कि हमारी अश्लीलत्व की सीमाएँ और धारणाएँ निश्चित रूप से बदली हैं। इसे कुछ लेखिकाओं ने यौनिक स्वतन्त्रता का नाम भी दिया। यहाँ प्रश्न यही खड़ा होता है कि फिर पीली पन्नी में लिपटे फुटपथिया साहित्य और साहित्य या कहें श्रेष्ठ साहित्य में अन्तर ही क्या रहा? स्त्रीवादी स्वातन्त्र्य कामना में क्या काम-चित्रण का कोई आदर्श मानक नहीं हो सकता? स्त्री-पुरुष का मिलन-क्षण यदि साहित्य में इतने उदात्त रूप में नहीं आता है कि उसमें एक दिव्यता की अनुभूति हो सके तो वह फिर एक सामान्य यौन-चित्रण है, साहित्य की उदात्त दिव्य-भूमि से अलग! यदि आपको आत्मकथा में यही बताना है कि आप डॉ. साहब के सोफ़े पर बिलकुल नंगी रति-श्रम-क्लान्त रूप में लेटी हुई थीं तो इससे पाठक का क्या सरोकार है, उसे तो आप अनेक सुन्दर शब्दों, बिम्बों और काव्यात्मकता में पूर्ण स्मरणीय चित्र बना सकती थीं, यही साहित्य का प्रेय है। किसी पंचतारा होटल के रेस्तराँ विशेष में चीनी लड़कियों के मुख-मैथुन से नायिका को जीवन का जो परमानन्द आया है, क्या वह साहित्य का विषय है? वरिष्ठ पीढ़ी के मनोहर श्याम जोशी और कृष्ण बलदेव वैद के परवर्ती उपन्यासों में जो रति-सुख वर्णन है, उसका क्या कोई औचित्य या कथा में संगति बनती है? कथा-साहित्य की कुछ कृतियों—उपन्यास और कहानी दोनों में यह वर्णन दिव्यता के तन्मयी भाव से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्रित हुआ है, 'उर्वशी' ('दिनकर') जैसी काव्य-कृतियाँ भी इसके श्रेष्ठ उदाहरण के रूप में परिगणित कराई जा सकती हैं। ठीक-ठीक अश्लीलत्व तो नहीं किन्तु इससे लगभग मिलती-जुलती स्थिति यह बनी कि काव्य के विषय, आलम्बन, भी ऐसे बन गए कि सिनेमा की नायिकाओं पर भी वरिष्ठ कवियों ने कविताएँ लिखीं। बुढ़ौती प्राप्त हिन्दी के एक प्रतिष्ठित प्रगतिशील आलोचक ने 'नाच' फिल्म की नायिका पर कविता लिखी जिसमें उसकी देहयष्टि के अद्भुत सौन्दर्य की गद्गद प्रशंसा लिखी गई। एक अन्य कवयित्री ने मल्लिका शेरावत के 'साहस' की प्रशंसा में कविता लिखी। ये कविताएँ किसी न किसी रूप में नंगई को समर्पित अभिनेत्रियों का महिमा-मण्डन ही हैं। यदि साहित्य में यही प्रवृत्ति विकास को प्राप्त होती है तो वह दिन दूर नहीं जब बिपाशा बसु, शर्लिन चोपड़ा, आदि, आदि पर कविताएँ लिखी जाएँगी। शर्लिन चोपड़ा की तो गर्वोक्ति है, "मेरे शरीर में ऐसा कुछ पाप है ही नहीं जिसे मैं छिपाऊँ'। साहित्य को इस नए 'सौन्दर्यबोध' से बचना होगा।

इस पर भी विचार मन्थन और सर्वे हुए कि 'सैक्सी'-कामुक क्या है, या कामुकता के मापदण्ड क्या हैं। अनेक पुरुषों से सर्वेक्षण में जब पूछा गया कि उन्हें स्त्री-देह में क्या सर्वाधिक आकर्षक लगता है तो किसी ने टाँगों, किसी ने जंघाओं, किसी ने मुख-सौन्दर्य तो किसी ने वक्ष-स्थल और देह के अन्य उभारों-कटावों को सौन्दर्य का घटक बताया। इसका अर्थ यह हुआ कि कामुकतापूर्ण, दाहक ('हॉट') सौन्दर्य की कोई सार्वजनीन परिभाषा नहीं बताई जा सकती। जिस प्रकार सौन्दर्य के लिए कहा गया कि 'सुन्दरता द्रष्टा की आँखों में है' ('ब्यूटी लाइज इन द आइज ऑफ बीहोल्डर') उसी प्रकार कामुकता-अश्लीलता के लिए कहा गया कि 'अश्लीलता द्रष्टा की आँखों में है। उसके दृष्टि-परिप्रेक्ष्य में है।' किन्तु श्लीलता-अश्लीलता का प्रश्न केवल व्यक्तिनिष्ठ नहीं है, उसका सामाजिक परिप्रेक्ष्य भी है। तत्कालीन सामाजिक- सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में ही युग विशेष में श्लीलता और अश्लीलता को परिभाषित किया जा सकता है—यह कोई समान-बाह्य, व्यक्तिनिष्ठ अवधारणा नहीं है। सामाजिक दृष्टि और मूल्यों को मान-सम्मान हमें देना ही होगा। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य और कला जगत के सम्प्रभु नियमों की बात करके हम श्लीलता और अश्लीलता की मनचाही धारणाएँ नहीं बना सकते। पश्चिम या अमेरिका की नकल में हम जिस नंगई को बढ़ावा देते चले जा रहे हैं, वैश्वीकृत समाज में अपनी पिछड़ी स्थिति न पा लेने की होड़ में हम किस रूप में मीडिया द्वारा अश्लीलत्व का पोषण कर रहे हैं, वह वहाँ भी नहीं है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण टी.वी. पर चल रहे बच्चों के अनेक 'रीयल्टी शोज' (इसका अनुवाद भी हमारे यहाँ उपलब्ध नहीं है) में बच्चों को जिस विकृति के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है, वह सहज सुपाच्य नहीं है। बच्चों के एक ऐसे ही कार्यक्रम को अमेरिका से आए एक भारतीय सज्जन (एन.आर.आई.) देख रहे थे, उन्होंने देखा कि छोटे-छोटे बच्चे कामुक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नृत्य-गायन करते हुए एक-दूसरे की बाँहों में झूल-झूल जा रहे थे, लड़की के वक्ष पर पतली-सी पट्टी का कोई वस्त्र बँधा हुआ था तो उनकी सहज प्रतिक्रिया थी कि यहाँ तो हद ही हो गई। अमेरिका में यदि ऐसा हो तो सबसे पहले तो रीयल्टी शोज के प्रबन्धकों को दण्डित किया जाएगा। और फिर माँ-बाप को जेल जाना पड़ेगा कि वे शिशुओं को इस प्रकार का भरण-पोषण क्यों दे रहे हैं। बच्चों पर 'बीड़ी जलाइलै' या सुनिधि चौहान आदि के कई कामुक गीत बहुत-बहुत भारी लगते हैं। 'नया मुल्ला जोर से अल्लाह-अल्लाह ही पुकारे' की तर्ज पर कहीं हम ज्यादा ही तो वैश्वीकृत समाज में घुसते नहीं चले जा रहे हैं? समय रहते ही हमें अपने लिए, अपने देश और समाज के लिए अश्लील-श्लील की अवधारणाएँ पूरी तरह स्पष्ट कर लेनी चाहिए। शब्द की साधना करने वाले इस ओर पहल कर सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास और साहित्य : स्मृति और स्वप्न

रमेश दवे*

इतिहास क्या है–स्मृति या जातीय स्मृति? साहित्य स्वप्न है या स्वप्न की सार्थक सृष्टि? क्या इतिहास प्रमाण है और साहित्य एक प्रकार का सांस्कृतिक विधान? क्या इतिहास सत्य की भाषा है और साहित्य सत्य के सौन्दर्य की रचना? क्या इतिहास मनुष्यगत है और साहित्य मनुष्य से मनुष्येतर? क्या इतिहास का पाठ इतिहास में ही निहित होता है और साहित्य का पाठ पाठेतर या पाठ से विलग होकर भी किया जा सकता है? क्या इतिहास एक भौतिक घटना है, और साहित्य भौतिक का भाव-सृष्टि में रूपान्तरण? यदि इसी प्रकार के प्रश्नात्मक जुमले रचते चले जाएँ तो इतिहास और साहित्य के अन्तर-सम्बन्ध और अन्तर-द्वन्द्व, 'संयुक्त और पृथक' को लेकर दोनों ही प्रकार के पाठ रचे जा सकते हैं और इन प्रश्नों पर एक अच्छी बहस पैदा की जा सकती है।

पाठ भी अन्ततः क्या है? ईगलटन तो मार्क्सवादी अवधारणा के अनुरूप पाठ को विचारधारा की अभिव्यक्ति मानता है, या पाठ को एक ऐसी वस्तु की तरह प्रस्तुत करता है जिसके जरिए विचारधारा में प्रवेश किया जा सकता है। यह मार्क्स की तो दृष्टि नहीं थी लेकिन ट्राटस्की ने पाठ को विचारधारा का प्रवेशद्वार अवश्य माना है। प्रतिबद्ध पाठ के लिए यह धारणा उपयुक्त हो सकती है किन्तु साहित्य एक सर्वव्यापी सृष्टि है जिसे यदि हर प्रकार के प्रतिबन्ध और प्रतिबद्धता में देखा गया तो साहित्य इतिहास-वस्तु की तरह एक सामाजिक उपकरण या राजनीतिक घोषणापत्र तो हो जाएगा लेकिन वह संवेदन और सौन्दर्य की स्वप्नमयी सृष्टि नहीं बन सकेगा।

इतिहास भी मनुष्य ही रचता है और साहित्य भी मनुष्य ही। साहित्य का इतिहास लिखा जा! सकता है और इतिहास को भी कल्पनाशीलता से जोड़कर साहित्य में उतारा जा सकता है। साहित्यिक रूपान्तरण के ज़रिए इतिहास और साहित्य दोनों स्मृति भी हो सकते हैं और स्वप्न भी। स्मृति का एक स्पेस होता है, इसलिए इतिहास

* रमेश दवे, से.नि. प्रोफेसर एवं पूर्व यूनिसेफ प्राध्यापक सलाहकार, अध्यक्ष, म.प्र. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, भोपाल, 'समावर्तन'–प्रधान संपादक, पता : एसएच-19, ब्लॉक-8, सहयाद्रि परिसर, भदभदा रोड, भोपाल–462003, (म.प्र.)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपना स्पेस भी बनाता है। जिन्हें हम घटनाएँ, तिथियाँ और विकासक्रम कहते हैं, मोटे तौर पर उन्हें काल-संज्ञा या समय में देखा जाता है लेकिन दरअसल यह काल-संज्ञा या समय साहित्य में स्वयं से अतिक्रमण कर जाते हैं। इसलिए साहित्य समय और स्पेस दोनों से ऊपर है।

स्मृति के अनेक परिप्रेक्ष्य हैं। वह ऐतिहासिक भी है, प्रागऐतिहासिक भी, भौतिक भी और स्वप्नमयी भी। स्मृति और स्वप्न दोनों ही तो मनुष्य ने अपने ही अन्दर रचे और खोजे हैं। दोनों के मनोविज्ञान हैं, दोनों के दर्शन हैं और दोनों के जीवनगत सत्य, सौन्दर्य और संवेदन हैं। मनुष्य अपना इतिहास आखिर रचता क्यों है? यदि हम वृक्ष का इतिहास लिखें तो वह वृक्ष की प्राकृतिक स्थितियों का इतिहास होगा, पृथ्वी का इतिहास लिखें तो वह ब्रह्माण्ड से लेकर पृथ्वी तक की खगोलीय या भूवैज्ञानिक गाथा होगी, जल का इतिहास लिखें तो वह पानी की प्राकृतिक और मनुष्यनिर्मित स्थितियों का इतिहास होगा। हम यह नहीं कह सकते कि पानी इस तिथि को पैदा हुआ, इस तिथि को नदी, नाले, जल, समुद्र में बदला और इस तिथि को मनुष्य ने उसे अपने जीवन से जोड़ा। इसलिए इनका इतिहास एक प्रकार से स्थिति-निरूपण है। मनुष्य का इतिहास एक प्रकार का सृष्टि-क्रम है। उसके मनुष्य बनने से लेकर उसके अद्यतन होने तक की प्रक्रिया ऐतिहासिक है यहाँ तक कि प्राणिशास्त्रीय होकर भी विकासक्रम की एक निरन्तर चलती प्रक्रिया। मनुष्य ने अपने लिए समय रचा, स्पेस रचा और जन्म से मृत्यु तक का एक क्रम भी पहचाना। इसलिए इतिहास एक प्रकार से क्रम की स्थापना है और इस क्रम को खंडित करके या उलांघ कर जाना साहित्य का काम है। इसलिए साहित्य एक ब्रह्माण्डीय स्वप्न है, जबकि इतिहास एक भौतिक उपस्थिति।

इतिहास भारतीय अवधारणा में पश्चिमी अवधारणा से बिल्कुल ही पृथक है। महाभारत एक प्रकार से इतिहास है लेकिन वह आधुनिक इतिहास के किसी भी रूप या रूपक का प्रतिबिम्ब नहीं। इसीलिए इतिहास भारतीय चिन्तन-प्रणाली में एक प्रकार का रूपक है जो अध्यात्म, दर्शन और मनुष्य के जीवन-गत कर्म से जुड़ा एक प्रकार का साहित्य ही है। यहाँ हम प्राचीन या अर्वाचीन या आधुनिक का भेद नहीं करते क्योंकि रूपक का कोई क्रम या तिथिक्रम नहीं होता। इसलिए यह आवश्यक है कि इतिहास की वर्तमान दृष्टि को भारतीय इतिहास-प्रत्यय पर नहीं थोपा जाए। भारत में इतिहास सत्य का सौन्दर्य है, सौन्दर्य का सत्य है, वह स्मृति भी है, स्वप्न भी; वह जीवनगत भी है और जीवन-मुक्त भी, वह मनुष्यगत है और मनुष्येतर भी। इसीलिए इतिहास हमारे बौद्धिक ज्ञान के बजाय आध्यात्मिक चिन्तन और दर्शन की सृष्टि है, साहित्य भी है और इन सबसे युक्त स्मृति भी।

इतिहासकारों ने इतिहास को अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है, यहाँ तक कि इतिहास-विज्ञान के रूप में हिस्ट्रियाग्राफी जैसे विषय की स्थापना भी की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इसके विपरीत साहित्यकारों का इतिहास-चिन्तन न केवल इतिहास-विरोधी है बल्कि इतिहास और इतिहासकार उनके लिए साहित्य की व्यंग्यवस्तु भी हैं। यहाँ कुछेक साहित्यकारों के इतिहास-विचार प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा।

'लाइफ ऑफ जॉनसन' के जीवनी लेखक और वॉचडॉग के नाम से प्रसिद्ध बॉसवेल ने जॉनसन का इतिहास सम्बन्धी मत इस प्रकार व्यक्त किया है–"एक इतिहासकार के लिए बहुत बड़ी योग्यताओं की जरूरत नहीं होती और उच्च स्तर की कल्पना की तो उसे बिल्कुल ही आवश्यकता नहीं है।" इसका तात्पर्य यही भी है कि इतिहासकार तो मात्र तथ्यों का एक सामान्य लेखक है और ये तथ्य उसे सरलता से या कुछ हद तक खोज करने पर मिल जाते हैं। इसलिए इतिहास को वह अपनी वैचारिक मौलिकता और साहित्यिक कल्पनाशीलता से लिखने के बजाय दस्तावेजों, घटनाओं और स्थितियों के तथ्यों के आधार पर लिख देता है जो मात्र एक भौतिक कसरत है।

ई.एम. फार्स्टर जैसे उपन्यासकार का यह वाक्य 'एविन्जर हारवेस्ट' को पढ़ने के दौरान (अपनी डायरी में लिख देने के कारण) इतिहास को लेकर याद आ गया। फार्स्टर तो इतिहास-लेखकों को एक प्रकार की चुनौती देते हुए कहते हैं–"इतिहासकारों को कुछ हद तक यह विचार करना चाहिए कि जो लोग इतिहासकार नहीं हैं वे कैसा व्यवहार करते हैं और कैसे जीते हैं। यदि ऐसा नहीं किया गया तो इतिहासकार केवल मृतकों के बीच मंडराने वाला व्यक्ति बनकर रह जाएगा।" इतिहास अतीत की याद न होकर, वर्तमान का जीवन भी है। वह नायकों, योद्धाओं और नेताओं के कारनामों की कथा न होकर, इतिहास-वंचित लोगों के जीवन के तरीकों का भी लेखा-जोखा है। इसलिए इतिहास को अपने अतीत-मोह से मुक्त होकर या अतीत में रहकर भी खोजना होगा मनुष्य के जीवन की उस गति को, जिसने मनुष्य को आदिम से आधुनिक तक बनने का संघर्ष सिखाया है।

डॉ. कृष्ण बलदेव वैद ने अपना शोध अमरीकी उपन्यासकार हेनरी जेम्स के कथा-साहित्य, खासकर उपन्यासों को लेकर किया है। वैदजी पर काम करते हुए जब हेनरी जेम्स की पुस्तक 'लाइफ ऑफ नाथानियल हॉथार्न' पढ़ी तो इतिहास के एक विद्यार्थी के नाते इस वाक्य से टकराहट हुई "थोड़ा-सा भी साहित्य रचने के लिए ढेर सारे इतिहास की ज़रूरत होती है।" इतिहास साहित्य नहीं है लेकिन अंग्रेजी में वाल्टर स्काट और हिन्दी में वृन्दावन लाल वर्मा ने जिस प्रकार इतिहास को साहित्य में रचा, उसे पढ़कर लगता है कि इतिहास को साहित्य में उतारने के लिए कितनी बड़ी चुनौती एक साहित्यकार के सामने होती है। कथा के कथ्य को तथ्य बनाया नहीं जा सकता और कथ्य को केवल तथ्यों की भीड़ से रचा नहीं जा सकता। इसलिए जेम्स जॉयस तो मानता था कि "इतिहास एक प्रकार का दुःस्वप्न है जिससे जागने या भागने की कोशिश एक लेखक करता रहता है।" इतिहास को जब हम स्मृति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहते हैं तो अतीत में आते हैं लेकिन वही इतिहास जब साहित्य में उतरता है तो अतीत और वर्तमान दोनों से मुक्त अपनी जगह साहित्य के रूप में ही रचता है। इतिहास का साहित्य बनना इसीलिए समयमुक्त या काल और तिथिक्रम से मुक्त होना भी है। इस बात को डब्ल्यू.एच. ऑडेन ने एक लेखक के आन्तरिक द्वन्द्व को पहचानते हुए कहा था "मनुष्य इतिहास-निर्माता प्राणी है जो न तो अपने अतीत को दोहरा सकता है, न उसे पीछे छोड़ सकता है।"

मार्क्स और हीगेल में तो इतिहास को लेकर एक प्रकार की नोंक-झोंक ही हुई थी। मार्क्स तो मनुष्य के ऐतिहासिक विकास के सिद्धान्त को मानता ही है। मार्क्स, फ्रायड, काफ़्का आदि अपने-अपने इतिहासबोध में एक-दूसरे से अलग हो सकते हैं लेकिन डॉरविन के इतिहास और विकास के सिद्धान्त को तो न मार्क्स अपने भौतिक द्वन्द्ववाद से खारिज करता है, न फ्रायड इड या इगो और लिबिडो से और न काफ़्का अपनी यन्त्रणाओं के संसार से। मार्क्स तो हीगेल के विचार पर टिप्पणी करते हुए कहता है "हीगेल कहता है कि विश्व इतिहास की समस्त महान घटनाएँ और व्यक्तित्व किसी न किसी प्रकार से पुनः प्रगट होते हैं लेकिन हीगेल या कहना भूल गया कि ऐसी घटनाओं और व्यक्तित्वों का पहली बार प्रगट होना एक त्रासदी या ट्रेजेडी है, और दूसरी बार पुनः प्रगट होना एक प्रकार का मजाक।" इसलिए शायद टॉल्सटाय भी यह मानता था कि "इतिहासकार तो एक प्रकार से बहरा आदमी है जो ऐसे सवालों का जवाब देता रहता है, जो सवाल कोई उससे पूछता ही नहीं।" इस मज़ाक को वाल्तेयर ने उस समय के युद्धोन्मादी योरप को पहचानते हुए सुनाया था और कहा था कि "इतिहास एक ऐसा नाटकीय प्रदर्शन है जो अपराधों और दुर्भाग्यों से भरा हुआ है।"

अब प्रश्न यह है कि यदि यही सब कुछ हमारी स्मृति की सुरक्षा के नाम पर इतिहास है तो इतिहास का साहित्य में अवतरण एक प्रकार से साहित्य की स्वायत्त कल्पनाशीलता के लिए भी खतरा है। साहित्य जीवन को जीवन की तरह ही नहीं लिखता, वह तो जीवन का एक कलात्मक विकल्प रचता है। विकल्प का स्वप्न देखना ही एक साहित्यकार का रचनाकर्म है और इस स्वप्न को शब्दों में बदलना उसकी कल्पनाशीलता का प्रमाण है। कहते हैं कि फ्रांस की राज्यक्रान्ति, नेपोलियन और शेक्सपीयर पर विश्व में सर्वाधिक पुस्तकें लिखी गईं। इतिहास की महान घटना फ्रांस की राज्यक्रान्ति और महान व्यक्तित्व नेपोलियन—आज न तो हमारे जीवन-विषय हैं और न कला विषय,—यहाँ तक सौन्दर्य और संवेदन विषय भी नहीं रहे, जबकि शेक्सपीयर का होना एक महान घटना है और शेक्सपीयर एक कवि-नाटककार के रूप में सार्वकालिक या कालजयी व्यक्तित्व भी है। इसी तरह सोवियत रूस की वोल्शेविक क्रान्ति केवल इतिहास का एक मृत विषय बनकर रह गई, लेकिन दुनिया में जब तक मनुष्य का अस्तित्व है, मार्क्स सहमति-असहमति के साथ हमारे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवेदन-तन्त्र में हमेशा उपस्थित रहेगा। स्वप्न जब साहित्य और विचार बनता है तो वह मृत्यु से मुक्त हो जाता है और वह अपने अतीत, वर्तमान, भविष्य तीनों में मौजूद होने के कारण इतिहास-समय का अतिक्रमण कर जाता है।

जहाँ तक साहित्य का प्रश्न है, वह स्वप्नदर्शी बनाता है, कल्पना की रागभूमि से लेकर ब्रह्माण्ड तक की यात्रा करवाता है। यदि एक साहित्यकार स्वप्न देखना बन्द कर दे तो उसका सृजन अपने आप बन्द हो जाएगा। वह स्वप्न में मनुष्य भी देखता है और जो कुछ मनुष्येतर है, वह भी देखता है। वह तर्कबद्ध, तत्व-निर्दिष्ट और तथ्य-परक कुछ नहीं देखता। वह तो एक प्रकार की ऐसी मूर्च्छा में जीता है, जिसमें उसे अपने अस्तित्व का विलय महसूस होता है। मूर्च्छा टूटते ही जब वह ठोस धरातल पर आता है तो सारे स्वप्न ग़ायब हो जाते हैं; वह अपनी कल्पनाशीलता गँवा बैठता है। स्वप्न से वह अपने शब्द या अपनी भाषा ही नहीं लेता बल्कि जो जो रंग, बिम्ब, रूप, अरूप, लय, विलय, उसे दिखाई देते हैं, वे सब उसके सृजन में अवतरण करने लगते हैं। प्रकृति हो या मनुष्य, सभी उसके लिए सृष्टि की कलात्मक रचनाएँ हैं, चाहे वे फिर साकार हों या निराकार। यही कारण है कि एक सर्जक अपने साहित्य में जब शब्द से चित्र बनाता है तो पाठक को उसमें चित्र दिखाई देते हैं; जब वह शब्दों की ध्वनि सुनता है तो उसे लगता है शब्द मुखर हैं तो वह उनका संगीत है और मौन हैं तो संगीत का चरम-सौन्दर्य। ऐसे स्वप्न अगर साहित्यकार के पास नहीं आते हैं तो वह स्वयं कुछ स्वप्न रचता है, जो जाग्रत स्वप्न होते हैं। प्रसाद के पास छांदोग्य उपनिषद, शतपथ ब्राह्मण, मनु-स्मृति आदि से जो भी स्वप्न आए हों यदि उन स्वप्नों को प्रसाद अपने जाग्रत स्वप्न नहीं बनाते तो श्रद्धा और इड़ा का जन्म न होता, श्रद्धा, कामायनी नहीं बनती। इसी तरह मुक्तिबोध की 'ब्रह्मराक्षस', अज्ञेय की 'असाध्य वीणा', नरेश मेहता की 'संशय की एक रात', धर्मवीर भारती का 'अंधायुग' या 'कनुप्रिया कुँवरनारायण' का 'आत्मजयी' आदि अनेक कल्पनाशील कृतियाँ हिन्दी साहित्य की क्लासिक कृतियाँ न कहलातीं। एक कवि या सर्जक मनु को रचे या होरी को, मनु वायवी, काल्पनिक, पौराणिक लग कर भी एक चरित्र लगते हैं मनुष्य का ही, और होरी कितना भी बड़ा यथार्थ हो लेकिन होरी में दारिद्र्य की वेदना और मजबूरी का जो संवेदनशील चरित्र रचा गया है, उससे एक सर्जक की चेतना का वह सौन्दर्य प्रकट होता है, जो मनुष्य को मनुष्य के साथ-साथ ग़रीबी, लाचारी और प्राणान्तक मर्म की पीड़ा की भाव-संज्ञा में बदल देता है। ये भाव-संज्ञाएँ चाहे प्रसाद रचें या प्रेमचन्द, वे अपने अलग-अलग संवेदन के साथ हैं तो भी एक सर्जक के कलात्मक स्वप्न और सौन्दर्य की ही कृतियाँ हैं।

स्वप्न को भी अनेक कवि, सर्जकों ने अलग-अलग ढंग से देखा है और अपने विचार रखे हैं। टेनीसन कहता है—"स्वप्न भी सत्य ही हैं जब तक वे हमारे पास हैं और क्या उस समय हम सचमुच स्वप्न में रहने और जीने नहीं लगते?" डब्ल्यू.बी.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

येट्स जैसा हमारे समय का सर्वाधिक प्रतिभाशाली कवि स्वप्न को कविता की तरह ही देखता है जब वह कहता है : "मैंने तुम्हारे पाँव-तले अपने स्वप्न बिछा दिए हैं, अब तुम बहुत ही कोमल-कोमल पग धरो क्योंकि याद रखो, तुम मेरे स्वप्नों पर चल रहे हो"। साहित्य स्वप्न भले ही रचे, लेकिन वह कोई नर्क नहीं रचता। वह तो नर्क को भी अपने में उलझा कर सौन्दर्य बना देता है जिसे अंग्रेजी में 'लिम्बो' कहा गया जैसा दांते ने किया भी। लिम्बो की चर्चा करते हुए मैथ्यू ऑरनोल्ड कहा करता था—"लिम्बो ऐसी स्थिति है जिसमें व्यक्ति दो-दो दुनियाओं में भटकता रहता है—एक है मृत दुनिया और दूसरी इतनी अशक्त कि वह कुछ पैदा ही नहीं कर सकती"। साहित्य ऐसी दुनिया का न तो स्वप्न देखता है, न इतना अशक्त है कि कुछ रच न सके। एज़रा पाउण्ड तो साहित्य को इतनी बड़ी ताक़त मानता था कि अक्सर कहा करता था कि "साहित्य ऐसा समाचार है जो समाचार को भी उसी की जगह पर ठहरा देता है।" इसीलिए यह माना गया है कि साहित्य की श्रेष्ठतम पुस्तकों को पढ़ना एक प्रकार से अपने पूर्वजों से बतियाना है; पूर्वजों से बतियाना अर्थात् स्वप्न देखना और उस स्वप्न को रचना बना देना।

साहित्य अपने सभी स्वप्न भाषा में देखता है। भाषा के तीन रूप होते हैं—एक है भाषिक, दूसरा सांस्कृतिक और तीसरा सामाजिक। भाषिक पक्ष भाषा की संरचना और व्याकरण से जुड़ा है, सांस्कृतिक पक्ष के अन्तर्गत साहित्य, चिन्तन, दर्शन, अध्यात्म और कलाएँ आ जाती हैं; सामाजिक पक्ष के अनेक कोने हैं जिसमें राजनीतिक कोना सर्वाधिक शक्तिशाली कोना माना जाता है। समाज साहित्य की भाषा अपने दैनंदिन जीवन में न बोलता है, न लिखता है। समाज का अपना भाषा-विधान होता है जिसे वह कहावतों, लोकोक्तियों, मुहावरों, दन्तकथाओं आदि से आजमाता रहता है जो अधिकतर वाचिक होता है। जब भाषा का सांस्कृतिक पक्ष आता है तो साहित्य उसका सर्वाधिक बौद्धिक चिन्तनमूलक और सर्जनात्मक पक्ष होता है। इसलिए जन-भाषा, लोकभाषा और साहित्यिक-भाषा एक-दूसरे से मेल नहीं खातीं। जन-भाषा और लोकभाषा में साहित्य रचा जा सकता है लेकिन ऐसा साहित्य लोक-साहित्य ही कहलाता है। जब हम हिन्दी-साहित्य कहते हैं तो जन-भाषा का वाचिक रूप साहित्य में प्रयोग के रूप में भले ही अपना लें, लेकिन हम रचते हैं उस भाषा की संरचना और मानक रूप में ही। फणीश्वरनाथ रेणु, कृष्णा सोबती, कृष्ण बलदेव वैद, विनोद कुमार शुक्ल, मनोहर श्याम जोशी आदि कथाकार भाषागत विचलन करते हैं, संरचनाएँ खण्डित करते हैं, व्याकरण की जकड़न ढीली करते हैं लेकिन इस सबके बावजूद जो भाषा वे सृजन में उतारते हैं वह होती है मानक भाषा का ही रूप। जायसी, कबीर, तुलसी, सूर, मीरा किसी ने हिन्दी में काव्य-रचनाएँ नहीं कीं। यहाँ तक कि पूरा भक्ति-साहित्य और सूफी साहित्य भी मानक हिन्दी में नहीं है। फिर भी उन्होंने लोकभाषा की सर्जनात्मकता हो इस तरह प्रमाणित किया कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनकी लोकभाषा ही काव्य-भाषा बन कर सर्वव्यापी हो गई, यहाँ तक कि हिन्दी की मानकता और उसके साहित्य का अतिक्रमण कर काव्य के श्रेष्ठत्व और सांस्कृतिक सौन्दर्य का लोक-प्रमाण बन गई। अमरीकी उपन्यासकार इसाक सिंगर ने यिडिश में जब अपने उपन्यास लिखे तो उन्होंने अंग्रेजी के मानक वर्चस्व को खण्डित किया, ऐसा ही कुछ हद तक सेम्युअल बेकिट ने भी किया। जब हम अंग्रेजी साहित्य में जेम्स जॉयस और वर्जीनिया वुल्फ का नाम लेते हैं तो उन्होंने जिस स्ट्रीम ऑफ कांशसनेस या चेतना-धारा का सृजन किया वह भाषा का शिल्प बना और चूँकि वह शिल्प रचना पर आज़माया गया था, इसलिए वह साहित्य बना। इसका एक अर्थ यह है कि साहित्य की भाषा सिर्फ भाषा नहीं होती, बल्कि साहित्य में आकर वह शिल्प हो जाती है। स्वप्न भी जब सृजन में उतरता है तो शिल्प बनकर ही उतरता है। यथार्थ का यथार्थ तो यह है कि वह कितना भी बड़बोला, रेटरिक, द्वन्द्वात्मक, प्रगतिशील हो, लेकिन उसे यथार्थ में भी कला की तरह तो प्रगट होना ही होता है। घीसू-माधव का यथार्थ कितना भी बड़ा यथार्थ हो लेकिन उस यथार्थ में संवेदना और मर्म को पिरो देने की कला तो प्रेमचन्द की है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि यथार्थ निहायत कलाविहीन होता है।

यथार्थवाद पर जब साहित्यकार बहस करते हैं तो उनके पास एक ही पैमाना होता है और वह है द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के ज़रिए साहित्य के आदर्श को नकारना और यथार्थ को तरह-तरह की प्रतिबद्धता का नाम देना। आदर्श भले ही एक स्वप्न हो, लेकिन वह आदर्श का यथार्थ और यथार्थ का आदर्श हो सकता है। राम एक आदर्श चरित्र है लेकिन उनका एक यथार्थ ऐसा मनुष्य है जो आदर्श से बाहर के लोक का निवासी भी है। इसलिए सीता को बनवास देना राम के आदर्श के बजाय लोक-मर्यादा के नाम पर उनकी मानवीय कमज़ोरी या प्रतिरोध के अभाव का यथार्थ है। कृष्ण एक सम्पूर्ण भौतिकवादी यथार्थ ही आजमाते हैं—बचपन से लेकर महाभारत तक, लेकिन फिर भी उनमें एक योगीश्वर की कल्पना की जाती है जो आदर्श है अर्थात् कृष्ण का यथार्थ ही उनका आदर्श भी है क्योंकि यथार्थ में उनकी लोकलीला है और आदर्श में उनकी गीता। वाल्मीकि का यथार्थ राम, तुलसी का आदर्श है। व्यास के महाभारत का कृष्ण आदर्श और यथार्थ का संयुक्त संस्करण है। राम राजवंश की सामंती संस्कृति के यथार्थ में जन्म लेने के बावजूद अन्तिम सामंत बन कर राजतन्त्र के संचालक हैं। साहित्यकार ऐसे ही स्वप्न बुनता है या चुनता है, तभी किसी राम, कृष्ण, मनु, श्रद्धा, इड़ा आदि की रचना होती है। एक मनुष्य-चरित्र को साहित्य के जरिए कला में रूपान्तरित कर देना ही तो स्वप्न को यथार्थ में और यथार्थ को स्वप्न में बदल देने की करामात है।

यदि ये सब बहस इतिहास के साथ जोड़ कर देखी जाए तो राम और कृष्ण इतिहास न होकर भी इतिहास हैं क्योंकि वे हमारी स्मृति के हर कोने में उपस्थित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। राम या कृष्ण को पौराणिक या मिथकीय मानने के बावजूद उनकी मानवीय उपस्थिति प्रमाण है इस बात का कि हमारा यदि कोई स्मृति में स्थान पाने वाले पूर्वज हैं तो वे राम हैं, कृष्ण हैं या ऐसे तमाम चरित्र हैं जो मनुष्य के बीच मनुष्य जैसे भी हैं और अपनी-अपनी शक्तियों एवं प्रभाव में, मनुष्येतर यानी देव-प्रतिमाएँ भी। साहित्य स्वप्न की ऐसी ही प्रतिमाएँ रचता है और जब प्रतिमाएँ प्राणवान हो जाती हैं तो हमारे जीवन का हिस्सा हो जाती हैं। इसलिए यदि इतिहास हमारी स्मृति का हिस्सा है तो साहित्य हमारे स्वप्न की धरोहर या हमारे स्वप्न की सार्थक परिणति। शायद यही वजह है कि कन्फ़्यूशस कहता था कि सपने देखना बन्द कर दोगे तो आँखें निरर्थक हो जाएँगी।

साहित्य कितना भी विश्वव्यापी या लोकप्रिय क्यों न हो जाए, वह जन्म तो लेता है अपने ही सांस्कृतिक, सामाजिक और प्राकृतिक परिवेश में। इस सांस्कृतिक-सामाजिक परिवेश को बार्थ ने Ecriture (एक्रिच्यूर) कहा है। अनेक महान रचनाएँ ऐसी हैं जो अपने अंचल में, परिवेश में, यहाँ तक कि छोटे-से गाँवों में जन्मीं लेकिन उनका फलक, सौन्दर्य, संवेदन और कलात्मक रचाव इतना उत्कृष्ट था कि वे विश्व-व्यापी हो गईं। शेक्सपियर जिस स्टेफर्ड-पार-एवन में रहा, वह ब्रिटेन का छोटा गाँव या कस्बा है, वर्ड्सवर्थ जिस लैक जिले में रहा, वह भी एक मनोरम पहाड़ी स्थल है, तुलसीदास उत्तरप्रदेश के बाँदा जिले के राजापुर गाँव में जन्मे, प्रेमचन्द भी ग्रामीण परिवेश से उपजे थे और रेणु ने तो परिवेश की आंचलिकता को अमर ही कर दिया। इसलिए कलावादी यदि उत्कृष्टता का कोई शहरी रूपक रचे तो परिवेश उसे तोड़ देता है और यथार्थवादी यदि यह कहें कि यही जीवन-यथार्थ का श्रेष्ठतम है तो उस श्रेष्ठतम को भी यथार्थ की संवेदना और शिल्प खण्डित कर देता है। इसलिए साहित्य में भले ही इतिहास उतारा जाए, संस्कृति-बोध उत्पन्न किया जाए या सामाजिक सरोकार रचे जाएँ मगर साहित्य को सर्वप्रथम साहित्य होना चाहिए—संवेदन और सौन्दर्य दोनों स्तर पर, तभी जाकर सृजन की अमूर्त सृष्टि भी और यथार्थ की मर्मदृष्टि भी साहित्य बनेंगी वरना यथार्थ के नाम पर समाज, गरीब, अमीर, द्वन्द्व आदि की शब्दावली से चीखने के कारण वह रचना मंच-प्रिय भले ही हो जाए लेकिन साहित्य-पाठकों और यहाँ तक कि लोकजीवन में भी स्वीकार नहीं होगी। साहित्य के तीन प्रकार से लोकप्रिय होने की बात तुलनात्मक अध्ययन से पता चलती है। एक है सौभाग्य (लक), दूसरा सम्प्रेषण या क़म्युनिकेशन और तीसरा है स्वीकृति या एक्सेप्टंस।

"सौभाग्य' से कोई कृति या सर्जक विश्व-विख्यात हो जाए ऐसे उदाहरण साहित्य ही नहीं विज्ञान तक में मिलते हैं। अगर सोल्ज़ेनित्सिन को देशनिकाला नहीं दिया जाता तो *इनर सर्कल, केन्सर वार्ड* जैसी रचनाएँ शायद नोबेल पुरस्कार का पात्र सोल्ज़ेनित्सिन को बना देने के बावजूद विश्व भर में महान लेखक की कतार में खड़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं करतीं। क्योंकि सोल्ज़ेनित्सिन टॉल्सटॉय, चेखोव, दॉस्तयेवस्की या गोर्की की तरह तो हैं नहीं। वैज्ञानिक और विज्ञान लेखक सखारोव, कवि-कथाकार बोरिस पेस्तरनॉक भी तत्कालीन सोवियत रूस के प्रतिबन्धों में रहकर अपनी रचना को ऐसा सौभाग्य दिला सके। पाब्लो नेरूदा को तो नोबेल पुरस्कार शान्ति का मिला मगर सौभाग्य से वे साहित्य में जितने मशहूर हुए उतने शान्तिकर्मी के रूप में नहीं। 'संचार' या सम्प्रेषण का जहाँ तक प्रश्न है, प्रौद्योगिकी, विज्ञापनवाद और वैश्विक बाजारवाद के जमाने में एक साहित्यिक कृति भी फिल्मों की तरह प्रमोशन चाहती है। विक्रम सेठ का *सूटेबल ब्वॉय* संचार शक्ति का ही प्रमाण है। सलमान रश्दी, झुम्पा लाहिड़ी, अनिता और किरण देसाई, अरुंधती रॉय और ऐसे अनेक सर्जक-लेखक हैं जिन्हें संचार और विज्ञापन ने महत्त्वपूर्ण लेखक बना दिया वरना उनकी कृतियाँ महत्त्वपूर्ण होकर भी किसी भारतीय प्रकाशक के सामने प्रकाशन के लिए मिमियाती रहतीं और छप भी जातीं तो पाठकों के बजाय ग्रन्थालयों और दफ्तरों की थोक खरीदी में जाकर कैद हो जातीं। 'स्वीकृति' यह तीसरा बड़ा मुद्दा है। यदि कृति एक बार लोक स्वीकृति हासिल कर ले तो उसे फिर किसी विज्ञापन, सौभाग्य या प्रमोशन की जरूरत नहीं होती। तुलसी का रामचरितमानस, प्रेमचंद के उपन्यास और कहानी संग्रह, दीपक चोपड़ा की चिन्तनशील और अध्यात्म-उन्मुख किताबें, धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता' जैसी कृतियाँ, (जो भारती जी की अन्य कृतियों के मुकाबले कमजोर हैं) एक बार लोक स्वीकृति और पाठक-स्वीकृति हासिल कर लेती हैं तो वह स्वीकृति लेखक की स्थापना है, उसके स्वप्न की सार्थकता और यदि वह अपना भविष्य रचती है, तो अतीत की स्मृति के रूप में कालजयी भी हो सकती है।

इस सारे विमर्श का तात्पर्य यह है कि इतिहास हमारी चेतना है, हमारे पूर्वज-समय की स्मृति है और साहित्य के लिए वह कच्चा माल भी है, अगर इतिहास का साहित्य में कल्पनाशील ढंग से उपयोग किया गया तो। वरना वह साहित्य में भी एक प्रकार का इतिहास लेखन ही होगा। इतिहास को साहित्य में स्मृति या जातीय-स्मृति का सौन्दर्य, संवेदन और शिल्प बनकर उतरना होगा। स्मृति को भी स्वप्न या कल्पना बनाना होगा। श्रेष्ठतम कृति का जन्म तो तभी होता है जब एक सर्जक कवि, कथाकार, नाटककार या अन्य किसी भी विधा का लेखक कामायनी की तरह स्वप्न देखे, गोदान की तरह स्वप्न देखे, रागदरबारी की तरह स्वप्न देखे या अन्धेरे में क़िसी ब्रह्मराक्षस का आवाहन करे। इतिहास मात्र वस्तु न बने बल्कि वह बिम्ब बने, रूपक बने, साहित्य का सौन्दर्य और संवेदन बने। ऐसा इतिहास साहित्य होगा जिसका निर्माण स्मृति की ज़मीन पर भी होगा और स्वप्न के ब्रह्माण्ड में भी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रवीन्द्रनाथ ठाकुर और हिन्दी साहित्य में छायावादी आन्दोलन

विमला उपाध्याय*

हिन्दी साहित्य में सन् 1918 ई. से 1943 ई. के काल को छायावाद युग के नाम से जाना जाता है। 1918 ई. के आसपास द्विवेदीयुगीन नीरस उपदेशात्मक, इतिवृत्तात्मक और स्थूल आदर्शवादी काव्यधारा के बीच से प्रमुखतः रीतिकालीन काव्य-प्रवृत्तियों के विरुद्ध विद्रोह के रूप में जो काव्यधारा विकसित हुई, वही छायावाद है। यह नई काव्यधारा अंग्रेजी के रोमांटिसिज्म तथा बंगला के कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की काव्यधारा के ढंग की है और उससे प्रभावित भी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'पुराने ईसाई सन्तों के छायाभास तथा यूरोपीय काव्य क्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद (Symbolism) के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगाल में ऐसी कविताएँ छायावाद कही जाने लगी थीं। अतः हिन्दी में भी इस तरह की कविताओं का नाम 'छायावाद' चल पड़ा। छायावाद नाम के प्रचलन का जो भी कारण हो, परन्तु इसमें दो मत नहीं कि सन् 1920 ई. के आसपास ही इस नवीन काव्यधारा का छायावाद नाम प्रचलित हो गया था। उस समय छायावाद शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के मिस्टिसिज्म के अर्थ में होता था। 1917 ई. के मई मास की 'सरस्वती' में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'सुकवि किंकर' उपनाम से एक लेख लिखा था जिसमें उन्होंने रवि बाबू की कविता को मिस्टिक या रहस्यवादी माना था। उन्होंने हिन्दी में प्रचलित छायावाद पर टिप्पणी करते हुए लिखा था—"छायावाद से लोगों का क्या मतलब है, कुछ समझ में नहीं आता। शायद उनका मतलब हो कि किसी कविता के भावों की छाया कहीं अन्यत्र जाकर पड़े, तो उसे छायावादी कविता कहना चाहिए।" (साहित्य कोश, भाग एक, पृष्ठ 324) स्पष्टतः महावीर प्रसाद द्विवेदी छायावाद को बंगला की रहस्यवादी कविताओं का अनुकरण या छायानुवाद मानते थे।

छायावाद को वे दो अर्थों में ग्रहण करते थे—एक तो रहस्यवाद के सीमित अर्थ में और दूसरे प्रतीकवाद या चित्र भाषावाद की अभिव्यंजना प्रणाली या काव्यशैली के

---

* प्रो. विमला उपाध्याय*, डी.लिट्., वृन्दावन, मनोरम नगर, एल.सी. रोड, धनबाद—826001 (झारखण्ड)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यापक अर्थ में। वस्तुतः छायावाद मध्यवर्गीय चेतना के विद्रोह का दूसरा नाम है। इस विशिष्ट काल की परिस्थितियों और विचारधाराओं ने विविध रूप में जीवन और काव्य को प्रभावित किया था। पूँजीवाद का विकास और व्यक्तिवाद का जन्म, स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों का उदय, प्रथम महायुद्ध का प्रभाव, राजनीति के क्षेत्र में 'महात्मा गाँधी' का आन्दोलन और सम्पूर्ण समाज में स्वातन्त्र्य प्रेम का जागरण, नई पीढ़ी पर पश्चिमी सभ्यता का रंग चढ़ना तथा अंग्रेजी रोमांटिक कवियों से प्रभावित होना, कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति श्रद्धा, बंगाल में ब्रह्म समाज का आन्दोलन और राजा राममोहन राय के विचार, स्वामी दयानन्द सरस्वती का कर्मकांडी वैष्णव धर्म के विरुद्ध आन्दोलन, इन विभिन्न सांस्कृतिक परिस्थितियों ने मिलजुलकर छायावाद को जन्म दिया। छायावादी आन्दोलन के प्रमुख घटक तथा छायावाद की प्रमुख प्रवृत्तियों के आलोक में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की काव्य प्रवृत्तियों का अध्ययन इस निबन्ध का अभीष्ट है। अध्ययन-विवेचन के क्रम में तुलनीय हिन्दी छायावादी कवियों के साक्ष्यों पर भी किंचित प्रकाश डालना वांछनीय है।

स्वच्छन्दतावाद :

स्वच्छन्दतावाद के मूल तत्त्व हैं—प्रकृति, देश-प्रेम, वन-वैभव और एकांत प्रणय और इनमें सर्वोपरि है वैयक्तिक स्तर पर विद्रोह का भाव। बालकाल से ही उनमें प्रकृति के प्रति अनन्य प्रेम है। वे नौकरों के अनुशासन में रहना पसन्द नहीं करते। उनका मन आकाश में हुमड़ते-घुमड़ते मेघों को देखकर मोर की तरह नाचने लगता। सन्ध्या होती हुई दीख पड़ती, आँखें सड़क की मोड़ पर लग जातीं। पानी पड़ जाए, तो मास्टर साहब आ न सकें, छुट्टी मिल जाएगी। मेघ घिर गया। बिजली कौंधने लगी। बूँदें बरसने लगीं। हे भगवान्! थमे नहीं; और जोर पकड़ ले। वर्षा बढ़ चली। चलो जरा साँस लेने की फुर्सत मिली। इस प्रकार प्रकृति के प्रति गहरा लगाव उनमें जीवन के प्रारम्भ से परिलक्षित होता है। इसी का विकास आगे चलकर दिखाई देता है।

उनकी कविता को हम प्रकृति प्रेम से मानववाद तक की यात्रा कह सकते हैं। उनकी प्रकृति सम्बन्धी कविता में उस रोमांच की धड़कन है, जो उन्होंने विभिन्न भावास्थाओं में अनुभव किया है। परन्तु उनमें प्रकृति के अद्भुत और सुन्दर पक्ष से जाग्रत भावना का मात्र भावशाली चित्रण ही नहीं है, वे पीछे छिपी किसी सत्ता का प्रश्न उठाती हैं।

आजि ए प्रभाते रविर कर
के मने पॉशिलॅ प्राणेर पर
के मने पॉशिलॅ गुहार आँधारे
प्रभात पाररवीर गान।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ना जानि के नरे एतदिन परे
जागिया उठिल प्राण
ओरे उथिल उठेछे वारि
ओरे प्राणेर वासना प्राणेर आवेग
रूखिया राखिते नारि।

—प्रभात संगीत : निर्झरिइस्वप्नभंग

आज इस प्रभातकाल में सूर्य की किरणें हृदय के अन्तस्तल तक पहुँच जाने में किस प्रकार समर्थ हुई हैं? पता नहीं ऐसी कौन-सी बात है, जिसके कारण इतने दिनों के बाद मेरे प्राण जाग उठे। जल उच्छ्वासमय हो उठा है। हृदय की वासना, हृदय के आवेग को रोक सकने में मैं समर्थ नहीं हो पाता हूँ।

सुमित्रानन्दन पंत की कविता 'प्रथम रश्मि' में प्रकृति एवं विराट सत्ता के प्रति इसी जिज्ञासा एवं सहज उत्सुकता के दर्शन होते हैं।

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि कैसे तूने पहचाना,
कहाँ कहाँ हे बाल विहंगिनि पाया तूने यह गाना।
कूक उठी सहसा तरुवासिनी गा तू स्वागत का गाना,
किसने तुझको अन्तर्यामिनी बतलाया उसका आना।

'मानसी' संग्रह की प्रथम कविता से ही कवि की मर्मवाणी व्यक्त होने लगती है। विश्व जीवन के तरंगाघातों को वाणी रूप प्रदान करते हुए कवि कहता है कि इस वरकांत हृदय में जगत की तरंगों का आघात निमेष-निमेष पर बज रहा है। वही हृदय में ध्वनित हो रहा है। मुहूर्त मात्र के लिए विराम नहीं है। इसलिए समस्त रात्रि और दिन निद्राहीन ही रहना होता है। यह चिर जीवन वही है। इसकी और कोई उपयोगिता नहीं है। हम केवल असीम की सीमा का निर्माण करते-करते इसे अतिवाहित करते हैं। उसी को आशा, भाषा और प्रेम प्रदान करते हुए हम केवल एक मानसी प्रतिमा का निर्माण करते रहते हैं।

निभृत ए चित्त माझे निमेषे निमेषे बाजे
जगतेर तरंग आघात
ध्वनित हृदय ताइ मुहूर्त विराग नाइ
निद्राहीन सारा दिन रात।
ए चिर जीवन ताई आर किछू काज नाइ
रचि शुधू असीमेर सीमा
आशा दिए भाषा दिए ताहे भाल. वासा दिए
गेड़ तुलि भान-सी-प्रतिमा

—मानसी : उपहार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुमित्रानन्दन पंत का आकुल हृदय फूट-फूट पड़ना चाहता है। अब यह मर्मकथा गोपन नहीं रह सकती। बढ़ती विरह-व्यथा अभिव्यक्ति बिना रह नहीं सकती। इसलिए विवश होकर हृदय से गान फूट पड़ते हैं।

गोपन रह न सकेगी, अब यह मर्म कथा
प्राणों की बढ़ती विरह व्यथा
विवश फूटते गान प्राणों से
बाँध दिए क्यों प्राण-प्राणों से।

—'आधुनिक कवि पंत' के प्रथम पृष्ठ से

रवि बाबू भी इसी अनुभूति से वशीभूत होकर कहते हैं कि आज हमारा हृदय सम्पूर्ण वृत्तियों का द्वार उन्मुक्त कर किस प्रकार खुल गया। लगता है आज सारा विश्व उसमें समा गया है—

हृदय आज मोर केमने गेल खुलि,
जगत असि सेथा करिछे कोलाकुलि।

प्रकृति के साथ परमसत्ता के तादात्म्य का भाव 'आकाशतले उठलो फूटे' एवं 'आज वसंत जागृत दुआरे' कविताओं में देखा जा सकता है।

आज वसंत के द्वार खुल गए हैं।
तेरे उदास, बुझे जीवन का कोई उपहास न करे—
इसलिए तू अपने हृदय की कलियों को खुलने दे,
अपने पराये का भेद भूल जा,
इस संगीत स्वर से गूँजते आकाश में अपनी सुवास की लहरें उठने दे!
आज वन के पत्ते-पत्ते से तीव्र वेदना व्यक्त हो रही है।
व्याकुल वसुंधरा क्षितिज पर किसी की राह में सजल पलकें बिछाए बैठी है।

—गीतांजलि : अनुवादक (सत्यकाम विद्यालंकार)

कुहूध्वनि, 'वधू', अपेक्षा, एकाल ओसेकाल ('मानसी' कविता संग्रह) की कविताओं में कवि के साथ प्रकृति की एकांत आत्मीयता का जो परिचय मिलता है, वही आगे चलकर अधिक व्यापक और समृद्ध हो गया है। 'मानसी' की रचनाओं को तीन कोटियों में रखा जा सकता है—निसर्ग-सम्बन्धी, प्रेम-सम्बन्धी तथा देश-सम्बन्धी। मनुष्य, पृथ्वी, मानव-जीवन, सौन्दर्य इत्यादि से सम्बन्धित सभी रचनाएँ 'निसर्ग' की सुन्दर उदाहरण हैं। 'दुरंत आशा', 'देशेर उन्नति', 'बंगवीर', 'गुरु गोविन्द' तथा 'धर्मप्रचार' आदि कविताएँ देश-प्रेम की भावनाओं से ओतप्रोत हैं। समाज एवं जाति में व्याप्त मिथ्याडम्बर, कायरता, मानसिक दैन्य, भिक्षा की प्रवृत्ति, मूढ़ निश्चेष्टता इत्यादि के प्रति कवि का विद्रोह इन रचनाओं में व्यक्त हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनैतिक एवं सामाजिक दृष्टि से उस समय की स्थिति आन्दोलनों से भरी हुई थी। देवेन्द्र नाथ ठाकुर ने ब्राह्मधर्म का प्रचार शुरू कर दिया था। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के कारण स्त्री-शिक्षा एवं विधवा-विवाह आन्दोलन का रूप ले चुका था। नील की खेती को लेकर हंगामा शुरू हो गया था और 'हिन्दू पेट्रिएट' के सम्पादक हरीश मुखर्जी अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध प्रतिवाद का स्वर मुखरित करने लगे थे। इसी समय माइकेल मधुसूदन दत्त तथा दीनबन्धु मित्र ने साहित्य को तत्कालीन समाज की पृष्ठभूमि में नई आँखों से देखा और उसे रूप दिया।

राष्ट्रीय नाट्यशाला की स्थापना हुई और व्यंग्यात्मक तथा सामाजिक नाटकों के द्वारा भारतीय मानसिकता में एक आलोड़न फैलने लगा। 'तत्वबोधिनी पत्रिका' ने भारत के प्राचीन ऐश्वर्य तथा आध्यात्मिकता को फिर से उभारा। शिक्षा के मामले में स्वावलम्बी होने, मिशनरियों के षड्यन्त्र का पर्दाफाश करने, स्वधर्म तथा स्वधर्मी की रक्षा, सुरापान की रोकथाम, शारीरिक शक्ति की वृद्धि, राजा-प्रजा के सही सम्बन्धों के निर्णय तथा समाज संस्कार के लिए 'सोम प्रकाश', 'संवाद प्रभाकर' तथा 'तत्वबोधिनी पत्रिका' आदि के प्रकाशन द्वारा एक नई चेतना एवं जागरण का उन्मेष हुआ। बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय ने अपने उपन्यासों द्वारा राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डाला। उनसे पहले राजा राममोहन राय ने विभिन्न धर्मों के भेद को मिटाने का प्रयास किया तो स्वामी विवेकानन्द ने शूद्रों के मनुष्यत्व को वेदान्त के ब्रह्म के साथ जोड़कर भेदभाव को मिटाने की दिशा में सक्रिय भूमिका निभाई। कृषक ग्राम संगठन की ओर भी उस समय के नेताओं का ध्यान गया। रवीन्द्रनाथ का साहित्य नवजागरण की प्रवृत्तियों एवं परिणामों से प्रभावित हुआ। जिस प्रकार छायावादी कवि कल्पना के नील गगन से उतरकर देखो 'भू को, जीव प्रसू को, हरित मर्मरित कुंजित भू को' (पंत) का गान करने लगे उसी प्रकार रवि बाबू ने भी मनुष्य को पहचानना प्रारम्भ किया। उसे वर्चस्व मिले, परतन्त्रता की बेड़ी कटे, रक्त शोषण का अन्त हो—इसकी ओर उनका ध्यान गया। उन्होंने अपनी रचनावली के सूचनांश में कहा है—

"मेरे जीवन में उस समय सुख-दुःख के स्वर से युक्त मनुष्य की जीवनधारा का विचित्र कलरव शुरू हो गया था। मनुष्य का परिचय बहुत नजदीक से मेरे मन को छू रहा था। उनके लिए मैंने सोचना शुरू किया, काम करने लगा था, संकल्प करने लगा था। उस संकल्प के सूत्र आज भी मेरे जीवन से विच्छिन्न नहीं हुए हैं—आज भी मेरा हृदय मानव हृदय के साथ मिलने के लिए रोता रहता है।"

समाज के सुख-दुःख का चित्र सर्वप्रथम 'चित्रा' में स्पष्ट रूप से अंकित हुआ था। 'एक बार फिराओ भोरे' कविता में समाज में लगी हुई आग के साथ-साथ कवि उस शंखध्वनि का भी उल्लेख करता है, जो लोगों को जगाने के लिए है। अनाथिनी माँ को अन्धकार के जर्जर बन्धन से मुक्त कराने के लिए है। चल रहा है रक्त का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोषण, झुका हुआ है सिर गुलामों का और अंकित है उसके म्लान मुख पर शताब्दियों की वेदना की कहानी।

आगु न लेगेछे कोथा, कार शंख उठि याछे बाजि
जागाते जगत् जने? कोथा हते ध्वनि छे कंछने
शून्यतल? कोन अंधकारा माझे जर्जर बंधने
अनाथिनी मांगिछे सहाय? स्फीत काय अपमान
अक्षमेर वक्ष हते रक्त शुषि करिते छे पान
लक्ष मुख दियो : वेदनारे करिते छे परिहास स्वार्थेद्धि
अविचार; संकुचित भीत क्रीतदास लकाइछे छद्मवेशे।
ओइ ये दांड़ार नतशिर मूक सबे-मलान मुखे लेखा
शुधुशत शताब्दीर वेदनार करुण काहिनी।

उनका कहना था कि भाई-भाई के मिलन के द्वारा ही प्रलय की झंझा मिटेगी। साम्प्रदायिकता का विरोध हिन्दू-मुस्लिम भाई-भाई बनकर करेंगे। बज्र की आग में सब विरोधिनी शक्तियाँ जलकर राख हो जाएँगी। 'सुप्रभात' कविता में इसकी अभिव्यक्ति हुई है—

भालोइ हयेछे झंझार बाये
प्रलयेर जटा पड़े छे छड़ाये
भालोई हये छे प्रभात एसेछे मेघेर सिंह वाहने।
मिलनयरे अग्निज्वालाबे बज्रशिखार बाहने॥

डॉ. शम्भूनाथ सिंह स्वीकार करते हैं—"1928-30 के आसपास विश्वव्यापी मंदी भारत में फैली। बेकारी, स्वतन्त्रता आन्दोलन की असफलता और यूरोपीय पूँजीवाद की तानाशाही में परिणति देखकर भारतीय मध्यवर्ग का व्यक्ति स्वातन्त्र्य का भ्रम भी टूटने लगा। फलतः छायावादी कवि की विद्रोही भावना भी स्वप्न के शीशमहल से निकलकर यथार्थ जीवन की समस्याओं का सामना करने लगी। इस प्रक्रिया में छायावादी काव्य दो धाराओं में विभक्त हो गया—पहली धारा सामाजिकता की थी और दूसरी धारा घोर वैयक्तिकता की।" (हिन्दी साहित्य कोश भाग-1, पृष्ठ 326) उपर्युक्त उदाहरणों से रविबाबू की कविताओं में दोनों धाराओं का समावेश दिखाई पड़ता है। वे युग के इतिहास-निर्माण के लिए रुद्र का आह्वान करते हैं, वे ही तपस्वी हैं, मृत्युंजय हैं, पथ प्रदर्शक हैं, पाप-खण्डन के लिए अस्त्र-शस्त्र हैं। वे ही कविता के अन्तरंग हैं—

यारा एसे छे इतिहासेर महायुगे
आलो निये अस्त्र निये, महावाणी निये।
तारा वीर तारा तपस्वी, तारा मृत्युंजय,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तारा आमार अन्तरंग आमार स्ववर्ण, आमार स्वगोत्र,
तारेर नित्य शुचिताय आमि शुचि।

हिन्दी में भी ऐसी कविता है—

मृत्युंजय इस घट में अपना काल कूट भर दे तू आज।
ओ प्रलयंकर विश्व भयंकर रुद्र रूप धर ले तू आज॥

—सियारामशरण गुप्त

रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ :

विस्मित ज्ञाता में ज्ञेय के प्रति सहज जिज्ञासा रहस्यवाद का प्रस्थान बिन्दु है और आत्मा और परमात्मा की परस्पर प्रणयानुभूति उसका केन्द्र बिंदु। प्रकृति, जीवन, जगत, ब्रह्म, अलौकिक सत्ता के प्रति उत्सुकता और सहज जिज्ञासा भी रहस्यवाद की ही प्रवृत्तियाँ हैं। यहाँ मिलन और विरह भावना के स्तर पर चलता है। भावों का मिलन, भावों का विरह। मिलन के उपादान के लिए भी किसी प्रकार की तैयारी की अपेक्षा नहीं है। कबीर की तरह मिलन का समाँ बँध जाता है—

नैनों की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारि कै, पिय को लिया रिझाय॥

—कबीर वचनावली : सं. हरिऔध

मिलन-विरह की आलंबन-उद्दीपन प्रकृति ही रहती है। इसलिए कि प्रकृति उसकी सहचरी है, प्रिया है, उससे अभिन्न है—

हाँ सखि! आओ बाँह खोलकर, लगकर गले जुड़ालें प्राण,
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में, हो जाऊँ द्रुत अन्तर्धान।

इतना ही नहीं वासंती पवन का एक हल्का सा झोंका आता है और पता नहीं सुधियों का कौन-सा गवाक्ष खोल प्रियतम का सन्देशा दे जाता है। फलतः महादेवी मिलन की तैयारी करने लगती है—

जाने किस जीवन की सुधि ले, लहराती आती मधु बयार।
रंजित कर दे यह शिथिल चरण, ले नव अशोक का अरुण राग,
मेरे मंडन को आज मधुर ला, रजनी गंधा का पराग।
यूथी की मीलित कलियों से अलि दे मेरी कँवरी सवार।
लहराती आती मधु बयार।

रवि बाबू का आत्मनिवेदन आराध्य के प्रति समर्पित है—'नैवेद्य' काव्यग्रन्थ में। इसमें सौ रचनाएँ संकलित हैं, जिनमें 78 चतुर्दश पदियाँ हैं। आराध्य के प्रति निवेदन, समर्पण होने के कारण ही इसका नाम 'नैवेद्य' हुआ है। इसमें तुलसी की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विनय पत्रिका की भाँति सरलता, निरीहता एवं समर्पण है—

या किछु आनंद आछे दृश्ये गंधे गाने,
तोमार आनंद रबे तार माई खाने।
मोह मोर भक्तिरूपो उठिबे ज्वलिया।
प्रेम आरु भक्ति रूपे रहिबे फलिया।

—नैवेद्य-30

'एकला आमि बाहिर होलेम' कविता में कवि अपने अहं का विसर्जन कर उसके दर्शन के लिए अकेला ही बाहर आया था—

जाने वह कौन कौन है, जो सुनसान अँधेरे में मेरे साथ चलने लगा?
उससे दूर हटने का मैंने बहुत प्रयत्न किया टेढ़े तिरछे रास्ते पर भी चला,
कई बार ऐसा प्रतीत हुआ कि वह नहीं रहा,
किन्तु फिर उसकी पदध्वनि सुनाई देने लगी
वह पृथ्वी पर धूल उड़ाता जाता है, विलक्षण चंचलता है उसमें
मेरे हर शब्द में वह अपना स्वर मिला देता है;
वह मेरी प्रतिच्छाया तो नहीं प्रभु!
वह तो निपट निर्लज्ज है; उसके साथ तेरे द्वार तक आते मुझे लाज आती है।
प्रियतम! तुम से मिलने को मैं अकेला ही बाहर आया था।

—गीतांजलि : अनुवादक—सत्यकाम विद्यालंकार

महादेवी को भी पता नहीं 'नक्षत्रों से कौन, निमन्त्रण देता रहता मौन।'

जिस प्रकार कबीर 'प्रेमगली अति साँकरी तामें दोऊ न समाय' कहकर प्रेम के साथ अहंकार का निषेध करते हैं, उसी प्रकार रवि बाबू प्रियतम से मिलने अकेले ही आए थे। डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी का मानना है—"सारा जगत उसी की भौतिक परिणति होने के कारण सत्य है। कबीर आदि सभी सगुण-निर्गुण वैष्णवों की भक्ति का सही स्वरूप है। नवजागरण के चिन्तन में औपनिषदिक वेदान्त का स्वामी रामकृष्ण की छाया में जो व्यावहारिक व्याख्या की गई, वह इसी का युगानुरूप परिष्कार है और पूर्वांचलीय शाक्त शक्ति के अनुरूप भी। इसीलिए महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कबीर की भक्ति में नवजागरण का स्वर संवाद दिखाई पड़ा—उन्होंने उनसे प्रेरणा ग्रहण की।" (प्रसाद साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि, भाषा, जून 89, पृष्ठ 9)। रवि बाबू की मान्यता है कि आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति ही काव्य है और वही रहस्यवाद की मुख्य धारा है, जो निगम आगम में प्रवाहित होती रही है। छायावाद में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी अभिव्यंजना होने लगी। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता, तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहम् का इदम् से समन्वय करने का सुन्दर प्रयास है। विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का साधन बनकर इसमें सम्मिलित है। छायावाद में भावात्मक रहस्यवाद की मुखरता है, तो रवि बाबू में भावात्मक एवं साधनात्मक दोनों की।

बिम्ब, प्रतीक योजना, कल्पना आदि :

छायावाद मूलतः आत्माभिव्यक्ति का काव्य है। इसमें बिम्ब, प्रतीक, कल्पना आदि का अपूर्व विधान है। प्राकृतिक बिम्ब का एक उदाहरण प्रसाद का है–

"उधर गरजतीं सिन्धु लहरियाँ कुटिल काल के जालों सी,
चली आ रही फेन उगलती, फेन फैलाए प्यालों सी।"

–प्रसाद ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 424

सागर के बिम्ब को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए काल, जाल तथा फन फैलाए व्याल इन दो बिम्बों का सहारा लिया गया है। ऐसा लगता है कि कुटिल काल का जाल सर्वग्रासी रूप में बढ़ता आ रहा है। इसी भयंकरता का बिम्ब रवीन्द्रनाथ ने 'देवतार ग्राम' कविता में प्रस्तुत किया है–"जल शुद्ध जल/देखें देखें चित्त तार हयेछे विकल। मसृण चिक्कण कुटिल निष्ठुर/लोलुप लेलिहाजिह्व सर्पसमक्रूर/फूँसिछे, गर्जिछे नित्य करिछे कामना/भृत्तिकार शिशुदेर, लालायित मुख" (संचयिता, पृष्ठ 353) यहाँ सर्प के क्रोध की अभिव्यक्ति फन के फुंफकारने की भयंकरता के बिम्ब द्वारा समुद्र के जल की भयंकरता को व्यक्त किया गया है। प्रतीक, कल्पना आदि में भी छायावादी कवियों और रवि बाबू में गहरा साम्य है।

जागरण, उन्नयन, उत्थान :

सर्वोपरि है रवि बाबू की प्रकृति, जीव, जगत के साथ तादात्म्य दृष्टि। एक-एक व्यक्ति का 'एक-एक तरणी लक्ष लोकेर निर्भर, खण्ड-खण्ड करितारे तरिये सागर।' (रवीन्द्र रचनावली, भाग-1, पृष्ठ 401) उनका काव्य पलायन का काव्य नहीं है, वैराग्य-साधना का काव्य नहीं है–'वैराग्य साधने मुक्ति से आमारनय/असंख्य बन्धन माँझे महानंदमय लभिबो मुक्तिर स्वाद' (नैवेद्य. 30) उन्होंने बन्धन के मध्य मुक्ति की और मृत्यु के बीच अमरता की साधना की है। कवि को विश्वास है कि उसी ने उसका हृदय प्रेम से भर दिया। इसीलिए प्रभात का आकाश गीतमय है। तारिकाओं की माला गूँथी जाती है। फूलों की शय्या बिछती है और दक्षिण पवन धीरे-धीरे कानों में रहस्य की बातें कहता है–"जदि प्रेम दिले ना प्राणे/केन भोरेर आकाश भरे दिले/एमन गाने गाने/केन तारार माला गाँथा/केन फूलेर शयन पाता/केन दखिन हवा गोपन कथा/जानाय काने-काने।" (*गीतिमाल्य) स्वच्छन्दतावाद, रहस्यवाद, सर्वात्मवाद की इससे सशक्त अभिव्यक्ति क्या होगी। उनका छायावादी युग एवं छायावाद के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्त्रीवाद (Feminism) : साम्प्रतिक बहुआयामी निनाद

पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'*

स्त्रीवाद : बुनियादी चेतना और स्वरूप

स्त्रीवाद और स्त्री-चेतना मध्यकाल से अबतक चली आ रही स्त्री की द्वितीयक स्थिति का प्रतिक्रियात्मक परिणाम है। देरिदा ने अपने विसंरचनावाद में इस द्वितीयकता को हर युग्म-पद में उलटने की बात की है। *डेबोरा एल. मेडसन* ने इस *द्वितीयकता बनाम हेयता* की व्याख्या तीन *बीज-पदों* के द्वारा की है। वे बीज-पद हैं : 1. लिंग (Gender), 2. अव-स्त्रीपरकता (Misogony) और 3. पितृसत्तात्मकता (Patriarchy)। इन बिन्दुओं को स्पष्ट करते हुए *डेबोरा* ने लिखा है : "I discuss some of the *key terms* that recur throughout the discussion, 'gender' as opposed to 'sex', which refers to the socio-cultural characteristics attributed to the different biological sexes, 'misogony', which refers to the systematic practices of *women-hating* and usually describes the *institutionalized subordination of women* and all that is designated 'feminine'. Anti-femenine practices found misgynistic culture include *foot-binding genital mutilation, female slavery, female infanticide, concubinage, forced marriage and child marriage.*"

Patriarchy is another recurrent term refering to *government by men* ('the father'). Father's partiarchy is a cultural (ideological) system that privileges man and all things *masculine,* and political system that places power in the hands of men and this *serves male interests at the expense of women* (Deborah L. Madson, Preface, Feminist Theory and Literary Practices, London : Pluto Press, 2000, page xii).

* डा. पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु', पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष : हिन्दी-विभाग, पूर्व अधिष्ठाता, भाषा-संकाय, पूर्व सदस्य : सीनेट एवं सिंडिकेट, पूर्व प्रधान अन्वेषक : वि.अ. आयोग बृहत् शोध-प्रकल्प I। पता : 58, लाल एवेन्यू, रेयॅन एण्ड सिल्क मिल, अमृतसर-143005 (पंजाब)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पष्ट है कि *डेबोरा* द्वारा निर्दिष्ट 'लिंग' 'यौन' से भिन्न है, उसके विपरीत है। पुरुष की वर्चस्विता इस लिंग-भेद पर आधारित है। *अवस्त्रीपरकता* नारी-घृणा के व्यवस्थित व्यवहार को, नारी के संस्थानीकृत अधीनीकरण को और सभी प्रकार के नारी-विरोधी व्यवहारों को उद्घाटित करने वाली है तथा *पितृसत्तात्मकता* पुरुषों को अधिमानता देने वाली सांस्कृतिक व्यवस्था और पुरुषों के हाथों ताकत सौंपने वाली राजनीतिक व्यवस्था को उजागर करती है, जो स्त्री की कीमत पर पुरुष के हितों की रक्षा करती है। स्त्रीवाद इन सबका विरोध करता है।

हेलेन सिक्सस ने वैसी कृति को स्त्रीवादी 'स्त्री-पाठ' कहा है, जिसमें दमित नारी जाति का शक्तिपूर्ण, अतिक्रामी और आह्लादात्मक प्रत्यागमन निरूपित हो पाता है। *स्त्रीवादी लेखन* (Feminist Writing) स्त्री की जैविक हीनता (Biological) को खारिज करता है। आज पश्चिम में *स्त्रीवाद* का आन्दोलन जोर पर है। वहाँ स्त्री के दृष्टिकोण से साहित्य के लिखे जाने और समझे जाने के विषय में प्रबल आग्रह प्राप्त होता है। *स्त्रीवादी लेखन* किसी भी रूप में नारी को उपसंस्कृति (Sub-Culture) के रूप में देखने का प्रबल विरोध करता है। शोवाल्टर (Showalter) ने जीववैज्ञानिक, भाषिक, मनोविश्लेषणात्मक और सांस्कृतिक जैसे आधारों पर साहित्य में *पुरुष-पाठ* (Male Text) से *स्त्री-पाठ* (Women Text) को अलगाने की वकालत की है, तो *वूल्फ* (Woolf) ने पुरुष के आधिपत्यपरक और कठोरतामूलक निरूपण से स्त्री के अ-रेखीय और सुनम्य निरूपण का पार्थक्य स्पष्ट किया है। 'स्त्रीवाद' (Feminism) किसी भी पाठ में पुरुष आलोचकों से भिन्न नारी आलोचकों द्वारा ग्रहण की जाने वाली साभिप्रायता को रेखांकित करता है। ऐसी साभिप्रायता पुरुष आलोचकों द्वारा कभी ग्रहण नहीं की जा पाती है, यह *स्त्रीवाद* की मान्यता है। इस दृष्टि से *स्त्रीवाद* लेखिकाओं द्वारा लिखे जाने वाले लेखन और आलोचिकाओं द्वारा की जाने वाली आलोचना का पक्षधर है। बावजूद इन सबके *हेलेन सिक्सॉस* का कहना है–

> *"It is impossible to define a feminine*
> *practice of writing, and this is an*
> *impossibility that will remain, for this*
> *practice will never be theorized,*
> *enclosed, encoded—which does not*
> *mean that it does not exist."*

फिर भी साहित्य में 'स्त्रीवाद' और 'स्त्रीवादी लेखन–'आलोचना' तक का अपना महत्त्व है।

पश्चिमी स्त्रीवाद (Feminism) *संस्कृतिपरक अध्ययन* (Cultural Studies) के अन्तर्गत आता है। पर यह मूलतः *उत्तर-आधुनिकता* के आन्दोलन की एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपशाखा है। कहा यह भी जाना चाहिए कि उत्तर-आधुनिकता ने अपने *छत्रपद* (Umbrella Term) के अन्तर्गत आन्दोलनात्मक रूप में इसके विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इस दिशा में पिछले दशक में अमेरिकी, स्त्रीवादी लेखिका *लेमिले पेगलिया* (Lamille Paglia) तथा *केटी रोइफ* (Katie Roiphe) ने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इंग्लैण्ड की *जर्मनी ग्रियर* (Germani Greer) भी इस क्षेत्र की एक महत्त्वपूर्ण लेखिका रही हैं। इन तीनों के द्वारा लिखी गई पुस्तकें क्रमशः *वेम्प्स ऐंड ट्रेम्प्स* (Wamps and Tramps, 1994), '*द मॉर्निंग आफ्टर : सेक्स, फियर ऐंड फेमिनिज्म, 1993* (The Morning After : Sex, Fear and Feminism, 1993) और *स्लिप-शाड सिबिल्स, 1995* (Slip-Shod Sibyls, 1995) महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें आरम्भ की दो महिला लेखिकाएँ दो भिन्न पीढ़ियों से आती हैं और वे दोनों एक-दूसरे की कृतियों को पसन्द करती हैं और वे दोनों एक-दूसरे को साहसी और ललकारने की ताकत से भरपूर मानती हैं, क्योंकि इन दोनों ने वैसे विचारों पर लेखनी चलाई है, जो प्रायः अप्रिय या अलोकप्रिय रहे हैं।

पेगलिया (Paglia) *इच्छा-स्वतन्त्रवादी भटकाव* में जीने वाली अमरीकी महिला हैं, जिन्हें अमरीकी अकादमिक संसार के महाजाल की रानी माना जाता है। एक ऐसी महारानी, जो श्वेत-वर्णी महिलाओं में लिप्त रहती हैं, जो मुक्केबाज हैं और आत्मप्रचारिका भी हैं। *सुश्री पेगलिया* ने जिन मुद्दों को उठाया और उछाला है, वे मुख्य तौर पर पश्चिमी संस्कृति से जुड़े महत्त्वपूर्ण मुद्दे हैं। फिर भी उसके अमेरिकी विचार अधिकाधिक तेजी के साथ यूरोप में आयातित और अर्थायित हुए हैं। *सुश्री पेगलिया* यह अच्छी तरह जानती हैं कि वह कहाँ खड़ी हैं। वह छठे दशक से ही एक महत्त्वपूर्ण *इच्छा-स्वातन्त्र्यवादी* स्त्री रही हैं, जिसने *लिंग-विमर्श* के गिर्द एक *अद्भुत नीत्सियन और लोकप्रिय अराजकतावाद* को विकसित किया है। पर वह सदैव सुसंगत रही हैं और अपने प्रचार की गतिविधियों और अपनी जुझारू योजनाओं की समझ में वह आदि से अन्त तक सुविज्ञ और परिष्कृत दीखती हैं।

वह अपने-आप में एक निर्वैयक्तिक अहंवादी हैं। वह माध्यम भी हैं, सन्देश भी हैं, घटना भी हैं और मिश्रित मीडिया की खबर भी हैं। साथ ही सशक्त छापामार कार्यकर्ता भी हैं, जो जीवन में उत्क्रान्त, कामुक, महापातक, दुर्व्यवहारी और आकस्मिक तौर पर *आक्रमणवादी स्त्रीवाद* पर विश्वास करने वाली हैं। वह पॉप (Pop) कला जैसी धक्के देने वाली साठ से अधिक तकनीकों को व्यवहृत करती हैं और बिना किसी लज्जा और परेशानी के उसे प्रदर्शित भी करती हैं। ऐसा करती हुई वह ऊधमी, मुखर, उच्छृंखल पर उल्लासमयी नजर आती हैं। वह प्रमस्तिष्कीय तकनीकी संसार को, अश्लीलता को एक प्रतिकारक के रूप में प्रस्तुत करती हैं और उसकी सुन्दरता, शक्ति और क्रूरता को परोसती हैं। उसके लिए कहीं भी किसी भी प्रकार की संवेदनशील नारी-प्रतिबद्धता नहीं है। *सुसान सौंटेग* (Susan Sontag) के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ इस बिन्दु पर उसका वैचारिक संघर्ष प्रसिद्ध है। द्वैतवाद और विरोधिता के सिद्धान्त के प्रति *पेगलिया* की प्रतिबद्धता उसे और कठिन बना देती है। वह अनुभूत विरोधिता के दबाव के अन्तर्गत लिखने वाली लेखिका है। *नीत्से* के यहाँ जो विवेक के नियन्त्रण के *अपोलोनियन* और *डायोनिशियन* जैसे दो छोर हैं, उसका वह व्यवहार करती है तथा जो *आह्लादपरक वासना* और उसकी *मुक्ति* है, उस संघर्ष का वह स्वाद लेती है। लुभाने के लिए वह विद्रूपिका शैली, तात्कालिक, आकस्मिक भाषण-शैली और *डायोनिशियन अतिशयोक्ति* अथवा अतिरंजना का सहारा लेती है। कई बार वह *लिंगपूजा* और मूर्तिपूजा बनाम उत्तर-संरचनावाद के प्रति अपना विश्वास घटाती भी नजर आती है। वह एक विदुषी है और इस सन्दर्भ में वह जो दावे करती है वह सच है। वह अपने को अति साधारणीकृत होने नहीं देती है। इसलिए उसके लेखन में भविष्यसूचकता और तर्कसंगतता के बीच कुतूहली और विलक्षण तनाव देखने को मिलता है। उसने लिखा है कि 'एबॉर्शन' या गर्भपात नारी के हाथों में युद्ध देवता *एरिस* के द्वारा *आत्मरक्षा के लिए दी गई दीवार* है। पर वह यह भी स्वीकार करती है और दूसरी प्रचारिकाओं से मतभेद रखती हुई यहाँ तक मानती है कि यह एक प्रकार का *उन्मूलनात्मक अथवा विध्वंसात्मक रूप है।* दोषपूर्ण पत्नियों के विषय में उनकी मान्यता है कि नारियों के चोट लगे चेहरे, उनके भड़कीले प्याले से आहत फोटोग्राफ नारी के लिए 'जोड़े' बनने की जरूरत को टाल देते हैं। उसके अनुसार पुरुषों के साथ कलहों-झगड़ों और मुकाबले में नारी की समान जिम्मेदारी होती है। इसे बिना किसी कानून के प्राप्त किया जा सकता है, बशर्ते नारियाँ अपने-आपकी रक्षा के लिए, अपने अधिकार पर दृढ़ रहने और प्रभाव डालने के लिए तैयार हों। पर वे यह भी याद दिलाना नहीं भूलती हैं कि आर्थिक दृष्टि से अविकसित देशों की नारियों की गम्भीर समस्याओं के प्रति उन्हें सम्बोधित करने की लगातार जरूरत है, क्योंकि वहाँ नारियाँ अब भी चल सम्पत्ति की तरह मानी जाती हैं या कि आर्थिक दृष्टि से बोझ माने जाने के कारण पतियों या परिवारजनों के द्वारा मार डाली जाती हैं। इस सन्दर्भ में मूलभाव और अतिशय बयानी, विवेक और अतिशयोक्ति के बीच उनके यहाँ प्राप्त होने वाला तनाव प्रायः अस्त-व्यस्त और चकराया हुआ लगता है, पर कभी-कभी वह फलप्रद भी नजर आता है। इसके लिए बहुत दूर जाने की जरूरत नहीं है। उनके द्वारा 'स्त्रीवादी' (Feminist) शब्द का व्यवहार कभी तो इसके *मूल्यवान स्वरूप* को दर्शाता है और कभी इसके *निन्द्य अपशब्दात्मक व्यवहार* को सामने लाता है। *सुश्री पेगलिया* का स्त्रीवाद, *इच्छा-स्वातन्त्र्यवादी स्त्रीवाद* है। पर वहीं फ्रांसीसी विचारकों द्वारा भ्रष्ट किया गया वह *प्रमस्तिष्कीय स्त्रीवाद* भी है, जो दमनपरक, स्वाधिकारपरक, औपचारिक शान्त, गम्भीर और *अवपीड़क स्त्रीवाद* है। *सुश्री पेगलिया* की कठिनाई यह है कि वह इस पद का प्रयोग दोनों दृष्टियों से करती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका कहना है कि मैं एक *स्त्रीवादी होने के नाते* स्त्री की संख्या के आडम्बरी ह्रास से घृणा करती हूँ। वह श्वेत मध्यवर्गीय स्त्रीवादी संस्था, स्त्रीवादी शिकायती केन्द्र जहाँ शोभाधर्मिता या पुरुष की टकटकी नज़र के द्वारा परिणामित अत्याचार और उत्पीड़न के मामलों पर विचार किया जाता है और जहाँ अश्लील चित्रण और लेखन को नियन्त्रित किया जाता है—में किया जाने वाला दुर्व्यवहार *पेगलिया* को नारी-द्वेषी मानने के लिए उद्वेलित करती है यद्यपि वह नारी की मिथकीय सर्जनात्मक शक्ति की पूजा करती है और उस पर बल देती है।

1990 के दशक में एक बार *स्त्रीवाद का विरोध* भी लोकप्रिय रूप में देखने को मिलता है। *Evening Standard* पत्रिका के *10 सितम्बर 1992* के अंक में इस प्रकार के कई आलेख प्रकाशित हुए थे। इसमें एक दूरदर्शन व्यक्तित्व के एस. ऐण्ड एम. में समाविष्ट रहने पर विमर्श भी किया गया था। इसी के कारण उसके कैरियर को क्षति पहुँची थी। यहाँ यह बताया गया था कि जिस व्यक्ति ने एस. ऐण्ड एम. का आश्रय ग्रहण किया था उसे दण्डित नहीं होना चाहिए, बल्कि उसकी जगह उस नारी को दण्डित किया जाना चाहिए, जिसने इसकी देखरेख की थी या इसका संचालन किया था। इसी में *No More Sex War : The Failure of Feminism* नामक पुस्तक की फेवेल्डन, *Fayweldone* द्वारा लिखी समीक्षा भी छपी थी। यहाँ नारी के लिए पुरुष को अपमानित करना सांस्कृतिक रूप में अनुमत नहीं था। न्यूयार्क के एक मनोविज्ञानी ने, जिसने जन्म के बाद बच्चे के यौन व्यवहार का अध्ययन किया है, यह पाया है कि बहुतेरे पुरुष अपनी वैसी पत्नियों के प्रति जिसने बच्चे को जन्म देने में अपनी प्रतिभागिता निभाई है, कम आकर्षित होते हैं।

कैटी रोइफी हार्वर्ड और प्रिंस्टन विश्वविद्यालयों के अमेरिकी परिसर में बलात्कार के मुद्दे को संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के बाहर रूपान्तरित करने में कठिनाई का अनुभव करती है। पर वह इस समस्या को एक बृहत्तर सांस्कृतिक वृत्ति के बतौर देखती है। *पेगलिया* की डायोनिशियन अवज्ञा और तिरस्कार की तुलना में रोलफी, धीरे-धीरे महत्त्व को घटाने में विश्वास करती हैं। *पेगलिया* मुद्दों की शृंखला, दोषीकरण, बालिका-दुर्व्यवहार, बलात्कार, अश्लील-लेखन, चित्रांकन पर विचार करती है। यदि उसके तर्कों को सार-संक्षेप में देखना चाहें, तो *स्त्रीवाद एक संकीर्ण अवपीड़क दकियानूसी शक्ति बन चुका है, जो असहनशील, हठधर्मी मताग्रही और कई बार कट्टर, वैधपरक धर्मान्ध रूढ़िवाद का उपदेश देता है और गृहीत मत (डॉग्मा) के अनुपालन पर बल देता है।* वह लिंग-सम्बन्धों में न केवल पुरुषों के प्रति बुरे विश्वास को रेखांकित करती है, बल्कि स्त्री विधेयात्मकता, स्वत्वहीनता, यौन-उत्पीड़नीकरण की अपरिहायता पर बल देती है। अपनी द *मॉर्निंग आफ्टर The Morning After* पुस्तक में वह स्पष्ट करती है कि *स्त्रीवाद* के लिए बलात्कार एक प्राकृतिक तुरुप का पत्ता है अथवा सर्वोत्तम साधन है। उसके तर्क उसके लिए सुपरिचित हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्त्रीवाद के विभिन्न प्रकार

इसोबेल आर्मस्ट्रौंग (Isobel Armstrong) ने *स्त्रीवाद* के वर्गीकरण पर विचार करते हुए विभिन्न *स्त्रीवादों* का उल्लेख किया है। उसने *स्त्रीवाद* के तीन प्राचल उपस्थित किए हैं। ये प्रायः एक-दूसरे को परस्पर व्याप्त करते हैं और अपने सह-अस्तित्व को भी उपस्थित करते हैं। *बार्थ* ने जिसे आधुनिकता की सांस्कृतिक चौहद्दी मानते हुए *प्रोक्ति-भाषा* को फिर से रचने की बात की है, उसे उसने डोक्सा, Doxa पद से अभिहित किया है। उसकी सीमाओं पर सोचने और लिखने की जरूरत है। *स्त्रीवाद* अपने साथ स्त्रीवादी सौन्दर्यशास्त्र की सम्भावनाओं के लेकर भी आया है। यद्यपि स्त्री का लेखन किसी विशिष्ट ऐतिहासिक क्षण में संस्कृति-स्थित विशेष यौनपरकता के साथ उभरता है और प्रायः बिना किसी बदलाव के यह पुरुष के द्वारा प्रभुत्व-प्राप्त संसार को चुनौती देता है, फिर भी उसे स्वीकार करना कठिन लगता है कि मूलभूत तौर पर *स्त्री-विमर्श* सम्भव है। पर स्त्रीवादियों की दूसरी पंक्ति ने *यौन-परकता* के उस काव्यशास्त्र को विकसित किया है, जहाँ सौन्दर्यशास्त्र के प्रिज्म के द्वारा यौनपरकता को देखा गया है और जहाँ सौन्दर्यशास्त्रीय भाषा के संसाधनों का व्यवहार यौनपरकता की छानबीन करने के लिए किया गया है। *जूलिया क्रिस्तिवा* का क्लासिकल निबन्ध *वुमन टाइम्स, 'Women Times'* इस बात के लिए स्मरणीय हो उठता है कि कभी वह *स्त्रीवाद की विरोधिनी दीखती है और कभी स्त्रीवादी आन्दोलन से अपनी प्रतिभागिता करती है।*

आज से लगभग छब्बीस वर्ष पूर्व *जूलिया क्रिस्तिवा* ने *स्त्रीवाद* का वर्गीकरण किया था। उसके विश्लेषण में उभरकर आए परिवर्तन को तब *उत्तर-आधुनिक* भविष्य का आदर्श माना गया था। आज उसने आकार लेना आरम्भ कर दिया है, बौद्धिक ढाँचे भी पुनः नक्श हुए हैं, जिसके मूल में उसी की नकल रही है और प्रभेदों-कोटियों का समुच्चय वाले नए साभिप्रायित स्थल उभर कर सामने आए हैं। अपने 'वुमन टाइम्स' में उसने लिखा है कि बीसवीं सदी में *स्त्रीवादी* विचार के आनुक्रमिक लहरों ने विधायक तौर पर भिन्न वैचारिक और मानसिक अर्थ को अनुप्राणित-संचालित किया है। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद समानता वाला *स्त्रीवाद* का पश्चिमी सिद्धान्त जिसमें अधिकारों और कार्य-स्थल की समानता के लिए बात की गई थी, मताधिकार के लिए चलाए गए *अभियान* का तार्किक परिणाम था। तब इसने राष्ट्रीय और सांस्कृतिक सीमाओं की हदें पार कर डाली थीं। उसी समय उन ज्वलन्त प्रश्नों के बीच मिथकीय और संकेत-वैज्ञानिक रूप में इससे स्त्री-यौनपरकता की विशिष्ट स्थिति को और पुरुष-नारी के यौनगत अन्तर को परिभाषित किया गया था। समानता का यह *स्त्रीवाद* लक्ष्य-निर्दिष्ट एकरेखीय पुरुष-समय के साथ काम करता है, जिसका तार्किक समापन इलेक्ट्रानिक माध्यमों *Electronic Media* के द्वारा अनुभव के नियन्त्रण में देखा जा रहा है। यह दूसरा समय मिथकीय और चक्रिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। *क्रिस्तिवा* ने इसे *स्त्रीवादी समय* या कि *अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशाल समय* (Monumental Time) माना है, जो प्रच्छन्नतः *स्त्री-समय* ही है। ओडियल के बलिदान की जरूरतों के लिए स्त्रियों के समायोजन और वधियाकरण के अनिवार्य अवश्यकरणीय और दोनों समयों के प्रतीकात्मक अनुक्रम को उसके प्रवेश को समायोजित करते हैं। मातृ-अनुबन्ध एक क्षतिग्रस्त आत्मरति स्त्री पर लगाता है। यही *स्त्री-आतंकवाद* में नाट्यकृत हो जाता है। यह रेखीय समय की हिंसा का परिणाम है। दूसरी ओर विशालकाय अनुभव एक स्त्रीपरक अनुभव में वापस लौटता है। उसने यौनपरकता के बुनियादी समझौते की बातचीत की असुविधा का उत्तर देखा और कल्पना-व्यापार के द्वारा प्रतीकात्मक क्रम के अन्तर्गत लिंगगत सम्बन्ध को भी देखा। यहाँ नई लिंगपरक सम्भावनाओं को खोलना प्रभूत तौर पर जटिल था। यह वह सौन्दर्यशास्त्र था, जो विश्लेषण की एकमात्र प्रविधि के बतौर बचाव के लिए उभर रहा था। *क्रिस्तिवा* का वह आलेख अपार और अनन्त है। पर यहाँ विचारणीय विषय *स्त्रीवाद* के उन प्रकारों का है, जो पिछले 26 वर्षों के लेखन को अपने में समाहित करता है। पर *केरोल वाट्स* (Carol Walts) ने *क्रिस्तिवा* के उस आलेख की प्रखर आलोचना भी की। उसका तर्क है कि माँ के शरीर को कालपरकता के बाहर रख देना उसके प्राथमिक अलगाव को संघटित कर देना है। वह क्षण जबकि बच्चे के लिए समय संसार में प्रवेश करता है, फिर भी माँ को इतनी स्वायत्तता प्रदान करना, उसे समयातीत कर देता है। *क्रिस्तिवा* ने सामाजिक रूप में माँ के सम्बन्ध की सम्भावना को रूपान्तरित कर दिया है। यह केवल इतना भर नहीं है कि *क्रिस्तिवा* मातृ-रति ह्रास के लिंग-केन्द्रित प्रतिमान के प्रति काम करती है। माना यह जाता है कि माँ के शरीर से बच्चे का प्राथमिक अलगाव भी लैंगिक है और यहाँ तक कि *क्रिस्तिवा* का सम्भाव्य उद्धारक क्षण भी इसके द्वारा सीमित हो जाता है।

इसलिए *आर्मस्ट्रांग Armstrong* का विचार है कि *क्रिस्तिवा* द्वारा निर्दिष्ट कोटियों को प्राधिकृत रूप में मानने के बजाय उसे *उत्तर-आधुनिक मनोविज्ञान* के रूप में स्वीकार करना ज्यादा उचित होगा, जो बृहत्तर संघटन को स्वीकार करता है।

स्त्रीवाद के प्रकारीकरण में कुछ निषेध भी किए गए हैं। इस प्रकारीकरण में प्रजातिगत आधार ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए जैसे—*काला स्त्रीवाद* या *एशियाई स्त्रीवाद*। इसी तरह राष्ट्र-विशेष का भी आधार नहीं बनाया जाना चाहिए। जैसे—*फ्रांसीसी* और *अमेरिकी स्त्रीवाद*। इसको ध्यान में रखते हुए तीन प्रकार के स्त्रीवाद माने गए हैं—1. *अभिव्यंजनात्मक स्त्रीवाद*, 2. *शिश्नपरक स्त्रीवाद* और 3. *लूडिक* (Ludic) स्त्रीवाद।

अभिव्यंजनात्मक स्त्रीवाद : इस शिविर के स्त्रीवाद में क्रोधोन्माद या पीड़ा या आह्लाद या दानवी अट्टहास की उन्मुक्त अभिव्यंजना होती है। यह स्त्रियों का निजी अनुभव है, जिसका उत्सव मनाया जाता है, जिसके गान गाए जाते हैं अथवा जिसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कामुक तौर पर सम्पुष्ट किया जाता है। यही नहीं, यहाँ आत्म अतिप्रशंसा तक की जाती है और वह गाई भी जाती है। अनिवार्यतावाद प्रायः वह उत्तरदायित्य है, जिसके साथ यहाँ जीवन जिया जाता है, पर इसे दरकिनार कर यहाँ 'स्त्री' शब्द को उचारना एकदम सम्भव नहीं है। बिना कुछ निश्चित न्यूनतम अनिवार्यतावाद के जैसा *रोजी ब्रायदोती* (Rosi Braidotti) ने लिखा है, *अभिव्यंजनात्मक लेखन के लिए स्त्री के लिए मूलभूत निजी अनुभव महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि स्त्री का अनुभव इतनी दृढ़ता से प्रदत्त है कि इसकी निर्मितिपरकता को हम युगपत् रूप में स्वीकार करते हैं।* वास्तव में स्त्रियों का यह अनुभव उन्हें सांस्कृतिक रूप में प्राप्त है और इस अर्थ में *स्त्रीत्व* में ही प्रदत्त है, वह निर्मित नहीं है। इस शिविर की स्त्रियाँ *उग्र और आत्यन्तिक रूप में स्त्रीवादी* हैं। इनमें से अधिक स्त्रियाँ उन सभी विषमताओं और अन्तरों के विरुद्ध हैं और यह मानती हैं कि स्त्री को जो अनुभव युग और विश्व ने दिया है वही अनुभव स्त्रियों को एकीकृत करता है। इसलिए वे जाति और वर्ग के घेरों और ऐसे अवरोधों से परे हो जाती हैं, यद्यपि इसमें उन्हें कुछ कठिनाई होती है। *वस्तुतः एक उद्धारक, सार्वभौमवाद ही वह तत्त्व है, जो उनके क्रोधोन्माद, पीड़ा, आह्लाद और अट्टहास की अन्तःप्रेरणा है।* इस शिविर की *स्त्रीवादी लेखिकाएँ* भविष्योन्मुख होती हैं। वे स्त्री और स्त्री के बीच अन्तर्राष्ट्रीय बन्धन की ओर देखती हैं। वे अपने उस अतीत की ओर भी दृष्टि डालती हैं, जहाँ स्त्री-पाठ की गुप्त परम्परा को उद्घाटित किया जा सके। वे वर्तमान के प्रति केन्द्रित रहती हैं, जहाँ स्त्री-जीवन के अनुभूत अपशब्दों और अनाचारों का पता लगाया जा सके। इनके बीच सक्रिय कार्यकर्ता विज्ञापनकर्ता, अभियानकर्ता, अनाम कार्यकर्ता सदैव विद्यमान हैं, जिनकी सहायता के प्रति वे ऋणी अनुभव करती हैं। यहाँ टूटी हुई प्रताड़ित औरतों के लिए आश्रम हैं और बलात्कार संकट-कालीन केन्द्र भी खोले गए हैं।

हेलेन सिक्सस (Helene Cixous), *ऐलन श्वाल्टर* और *बेल हुक्स* (Bel Hooks) कभी तीनों के एक-साथ होने की प्रत्याशा नहीं रखती हैं। पर चाहे तीनों एक-दूसरे से जितनी भी भिन्न क्यों न प्रतीत होती हों, *ये सभी अभिव्यंजनात्मक स्त्रीवाद के बुनियादी उग्र सिद्धान्त को साझा करती हैं।* यही बात विशेष तौर पर *स्त्री-अनुभव* को परिभाषेय बनाती है और इससे सामान्यता की विचारधारा भी सम्भव होती है। *सिक्सस* के द्वारा *स्त्री-सर्जनात्मकता* की शक्तियों का तीव्र *उत्सवीकरण* वह आवश्यकता है, जहाँ स्त्रियाँ सफेद दूध की स्याही में लिखती हैं, ऋतु-चक्र की लाल स्याही में लिखती हैं, अपने शरीरों को लिखती हैं। स्त्री-शरीर पर गुस्ताख़ी और बदतमीजी से जो उत्कीर्ण किया जाता है, उनके जीवन और पाठों में जो विद्रोह के साथ लिख दिया जाता है, ये ही वे सब तथ्य हैं, जो उन्हें *सर्वोत्तम अभिव्यंजनात्मक स्त्रीवादी* बना देते हैं। विरोधात्मक युग्म के प्रति उनका क्रोधोन्माद, जैववाद से सैद्धान्तिक रूप में उन्हें छुटकारा देता है और द्वियौनपरकता की सम्भाव्यता से भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्त कर देता है। यह उन्हें उस नीतिपरक युक्तियों के उद्देश्य की विशेष सुविधा से रोकता भी नहीं है। अतिप्रशंसात्मक अट्टहास का यह एकमार्गीय आन्दोलन स्त्री के बहिर्गमन की व्यवस्था है।

ऐलन श्वाल्टर अमेरिका में *अभिव्यंजनात्मक स्त्रीवाद* की विदुषी हैं। सिक्सस के विपरीत यह *बेटली* की अतिक्रमणकारी व्यवस्था से उसके काव्यशास्त्र को व्युत्पन्न नहीं करती हैं। उसके सिद्धान्त और आलोचना—दोनों में अमेरिकी वाक्‌विदग्धता और दृढ़ता के दर्शन होते हैं। वह सदैव इस ताकत से लिखती हैं, जो स्त्री-शक्ति के विषय में उसकी समझ को मूर्त रूप देती है। नयी शताब्दी में किए गए नारी-लेखन को *श्वाल्टर* ने प्रायः अकेले ही पुनः प्रत्ययात्मकता प्रदान की है। *उसने स्त्रीवादी प्रयोग के लिए उन्नीसवीं शताब्दी को प्रयोगशाला के रूप में रेखांकित किया है।* साथ ही स्त्रीवादी आलोचना *Gyno Criticism* की महत्त्वपूर्ण अवधारणा और उसके अनुप्रयोग को प्रवर्तित किया है। उसने जो पाठ लिखे हैं और जो पाठ उसके विषय में लिखे गए हैं, उनके आधार पर कहा जा सकता है कि उसने स्त्री के अनुभव के विषय में निर्बन्ध और निरन्तर छानबीन की है, जिसके कारण वह *अभिव्यंजनात्मक स्त्रीवादी* सिद्ध होती है। उसने स्त्री के उत्पादन को सांस्कृतिक पाठ के बतौर ऐतिहासीकृत करने के लिए हमेशा आवाज़ बुलन्द की है। साथ ही जिस रूप में स्त्री अपनी संस्कृति के द्वारा संघटित, बिम्बित और नियन्त्रित रूप में अनुक्रिया व्यक्त करती है; उसकी समझ को वह सिद्धान्तीकृत करते हुए बचा लेती है। उसके लिए वहाँ सामान्यता है, क्योंकि स्त्री का अनुभव किन्हीं स्थितियों में किन्हीं विशेष समय में किसी विशेष रूप में संघटित होता है। स्त्रियाँ अपने ऊपर आरोपित नियन्त्रणों की प्रतिक्रिया में परम्पराओं और तन्त्रजालों को स्वतः अपनी ओर से बनाए रखती हैं। स्त्री के इस अवधारणाकरण के बावजूद, जहाँ उसे एक मर्ज या बीमारी के रूप में लिया जाता है, उसकी कृति में स्त्री और उसकी बीमारी का यह अस्वीकार एक प्रधान अन्तर्वस्तु बनकर उभरा है। उन्माद/*हिस्टीरिया* पर किया गया उसका काम *हिस्टीरिक* के रूप में स्त्री की पहचान का विरोध-प्रतिरोध करता है और स्त्री में *हिस्टीरिया* के शक्तिपात को अस्वीकार करता है।

बेल हुक्स (Bel Hooks) वह लेखिका है, जिसने *1980 के आरम्भिक दशक में श्वेत स्त्रीवादी प्रोक्ति* में प्रजाति को समाविष्ट किया है। उसने अपनी पुस्तक *Am not I a Woman : Black Woman and Feminism* में अपने आत्म-परितोष क़ा विस्फोट किया है। यह भी मूलतः *अभिव्यंजनात्मक शिविर* की स्त्री-चिन्तिका हैं। *श्वेत स्त्रीवाद* के सन्दर्भ में उसमें आत्मरतिपरक अवसरवाद और ध्वजवाही वैयक्तिकतावाद के प्रति विरोध पाया जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय होगा कि *स्त्रीवाद* में जो समतापरक स्त्रीवाद है वह केवल विशेषाधिकार-प्राप्त श्वेत स्त्रियों की बात करता है। *बेल हुक्स* मध्यवर्गीय अनुभव को दमन और उत्पीड़न के रूप में सम्वेदनाकृत या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावनाकृत करती तर्क देती है और श्वेत गृहिणियों की आत्मकरुणा को यौन-रणनीति के सिद्धान्त में बदल देती है, जो स्वयं दूसरी नारियों को शोषित करती और बहिष्कृत करती हैं। मुख्यतः *काली नारियों* को, जिससे वे अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकें। एकता के नाम पर यह उसका मनोभाव है। उसका यह विश्वास है कि स्त्रियों को एक साथ एकजुट होना चाहिए और वे ऐसा तभी कर सकती हैं जब वे अपनी विवेकात्मक मनीषा को स्थगित न करें। यहाँ यह उल्लेखनीय होगा कि *बेल हुक्स* के द्वारा *वर्ग* और *जाति* का किया गया विश्लेषण सुनिश्चित तौर पर *मार्क्सवादी* है। उसके यहाँ सर्जनात्मक क्रोध है। उसकी स्थिति की प्रत्याशा इस बात से की जा सकती है कि वह स्त्री के विभिन्न वर्गों के बीच नहीं उलटे जाने वाले विचारधारागत विभाजन के बारे में निराशावादी हो जाती है। उसने अपनी पुस्तक *Feminist Theory* में अपनी स्थिति स्पष्ट की है। वह स्त्री के द्वारा स्त्री के प्रति घृणा करने की बपौती का विरोध करती है और तर्क देती है कि जहाँ स्त्रियों के बीच विचारधारागत असहमति हो वहाँ भी उन्हें एक साथ होना चाहिए, जिससे कि परस्पर सम्प्रेषण की स्थिति बन सके। उसके अनुसार स्त्रियों को निषेधात्मक असहमति पर काबू पाने के लिए नीतिपूर्ण युक्तियों को विकसित करने की जरूरत है। स्त्रियों को प्रतिकूलताओं के बीच काम करने के उस अनुभव की जरूरत है, जिससे वह सही समझ और एकता तक पहुँच सके। वह लिखती है—*यदि उस यौनपरक समाजीकरण से हम अपने-आपको मुक्त करते हैं, तो वह हमें संघर्ष और सामना की अपेक्षा करने को कहता है,* क्योंकि वैसा न करने पर हम उत्पीड़ित किए जाएँगे और नष्ट कर दिए जाएँगे। वह यौनात्मक चयन के परे का वर्गीकरण करती है—स्त्रीवादी कार्यकर्ताओं को यह याद करने की जरूरत है कि राजनीतिक तौर पर हम जो चयन करते हैं वह उनके जननात्मक यौनपरक सम्पर्क से निर्धारित नहीं होते, जिन्हें हम इस हेतु चुनते हैं। वह दोहराती है कि *स्त्रीवाद का उद्देश्य उसकी सामूहिक पहचान है, जो यौनपरकता के इर्द-गिर्द के संरेखण के द्वारा नष्ट हो जाती है।* उसके अनुसार हमारे समाज में स्त्रियों के ऐसे जनाधारित वर्ग से, जो विषमलिंगी-यौनपरक हैं, कभी कोई अपील नहीं करेगा। यह वह ऐसा सोचती हैं, तो वह कुछ ग़लत करती हुई देखी जाती हैं अथवा तुच्छ समझी जाती या तिरस्कृत होती हैं। बिना किसी मिथ्या एकता के पारस्परिक क्रिया से उत्पन्न पूर्ण एकात्मकता या पारस्परिक निर्भरता ही उसका प्रादर्श है।

अभिव्यंजक स्त्रीवाद ने सामान्य स्त्री के व्यावहारिक जीवन को बदलने की दिशा में सम्भवतः बहुत-कुछ किया है। पर इसके साथ-साथ किसी और तरह के स्त्रीवादी विचार की अपेक्षा उसने सामान्य स्त्रियों को दूर भी किया है। इसके लिए विचारात्मक आन्दोलनों का क्रिया-निर्दिष्ट रूप कभी-कभी यौनपरक समाज की कुप्रथा के विरुद्ध उग्र और जोरदार मुहिम चलाता है। अश्लील लेखन और चित्रण सम्प्रति इसका बड़ा कारण है। यदि उग्रता के प्रति इसकी घृणा कट्टरता और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मताग्रहता से भरती प्रतीत होती है और यदि *आन्द्रिआ ड्वोर्किन* (Andrea Dworkin) और *कैथेराइन मैक्किन्नोन* (Catharien Mackinnon) जैसी स्त्रियाँ उग्रवादी दीखती हैं, तो कम-से-कम उनके पास अश्लील लेखन और चित्रण की प्रकृति ने, जो इस वर्ग की परिभाषा के गिर्द नाट्यीकृत है, एक कठोर वाद-विवाद को तैयार किया है। वस्तुतः *अभिव्यंजक स्त्रीवाद* बौद्धिक कृति को तैयार करता है। स्त्री जीवन के इस सार्थक काव्यशास्त्र ने जिसे सम्पादित-निष्पादित किया है उस सांस्कृतिक सिंचाई पर कोई भी संशय या सन्देह नहीं कर सकता है। विकास की दूसरी तरंग के किसी भी *स्त्रीवाद* की अपेक्षा इसकी स्पष्टता सामने रही है। *तात्त्विकतावाद* के साथ इसके नृत्य का बराबर उल्लेख किया गया है और सर्वाधिक दोहराव के साथ इसकी की जाने वाली आलोचना भी यही है। फिर भी यहाँ दूसरी समस्याएँ हैं। यहाँ वरिष्ठ *स्त्रीपरक* प्रभाव के Joaissance के साथ इसे बहुधा उत्तरदायी ठहराया जाता है, जो पुरुषत्व को पिशाचीकृत करता है, पर यह समयौनपरक सार्थक *स्त्रीवाद* की सत्य स्थिति नहीं है। इस प्रभाव की प्रकृति बड़े अनुपात में अब तक अन्वेषित है और बहुधा निरूपण के परे प्रतीत होती है। इस प्रकार विवेकहीन संवेगों के साथ स्त्रीत्व को साहचर्यित करना ऐतिहासिक दृष्टि से स्त्री को ही श्रेय देना है। इस स्थापना की बड़ी परियोजना प्रभावी जीवन की आगे होने वाली पड़ताल है, उसकी पड़ताल, जिसके निरूपण की प्रकृति और रूप सभ्य नागरिक समाज में आकार ले सकते हैं। निश्चय ही इसका सरोकार शक्ति और अनुभूति के दबाव—दोनों के साथ है, जिससे कि सार्थक *स्त्रीवाद* जीवित और चित्रित अनुभव को मिटाने के प्रति अभिमुख होता है।

लैंगिक (Phallic) *स्त्रीवाद* अब से कुछ वर्ष पहले तक *स्त्रीवादी सिद्धान्त* का एक प्रधान और प्रभावी प्रकार रहा है। 1990 के दशक के आरम्भ तक यह स्त्रीवादी चिन्तन में केन्द्रीय प्रजनक वाद-विवाद को उत्पन्न करने वाला बना रहा है। पर स्मरण रहे कि यह सदैव सार्थक *स्त्रीवाद* और *बेतुका* (Ludic, हास्यास्पद) *स्त्रीवाद* के साथ अस्तित्वमय बना रहा है। इसने ज्ञान के नए क्षेत्र इस रूप में खोले हैं, जिसने इसे *स्त्रीपरक आन्दोलन* का सैद्धान्तिक उग्र पक्ष बना दिया है। *स्त्रीवाद* का यह प्रकार इसलिए *लैंगिक* कहलाता है, क्योंकि इसका रचनाशास्त्र बीसवीं शताब्दी के दो प्रख्यात और प्रधान विमर्श से व्युत्पन्न होता है। यह वह नया ज्ञान है, जो *मार्क्स* और *फ्रायड* की कृतियों से तैयार और विकसित होता है। बाद में *लेकाँ* (Leken) के विमर्श से भी। *लैंगिक स्त्रीवाद* चिन्तन के इन रूपों की परम्परा पर काम करता है, उस पर सवाल खड़े करता है, फिर से उसे रूप देता है और उन पर टिप्पणियाँ करता है, जिससे एक नए *लैंगिक सिद्धान्त* की स्थापना हो सके। *स्त्रीवादी चिन्तिकाएँ*, यद्यपि एक-दूसरे की परस्पर प्रतिपक्षी हैं, पर बौद्धिक रूप में वे उसी *लैंगिक स्त्रीवाद* की कोटि से सम्बन्ध रखती हैं। अतः ऐसा नहीं है कि *लैंगिक स्त्रीवाद* में दो भिन्न परम्पराएँ मिल गई हैं। यद्यपि वे कई बार ऐसा प्रतीत करवाती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, फिर भी वे सैद्धान्तिक और विचारधारात्मक जमीन तैयार करती हैं, जिससे स्त्री की दार्शनिक योजनाएँ संरचित होती हैं और जो अपने चिन्तन के आरम्भिक दौर में *मार्क्स* और *फ्रायड* के विमर्श को स्वीकार करती हैं, *मार्क्सवाद* और *फ्रायडवाद*—दोनों के भिन्न निर्धारणवाद के विरुद्ध झूलती हुई। यही नहीं, *विचारधारा* और *मनोविश्लेषण-धारा* के विरुद्ध सांस्कृतिक निर्माण की विभिन्न समझों के बीच झूलती हुई और संकेतविज्ञान को इन विमर्शों को निर्वचनात्मक उपकरणों के बतौर लाती हुई ये स्त्री-चिन्तिकाएँ प्रायः ऐसे विश्लेषण को व्याख्यायित करती हैं, जिसने गहराई में कल्पित चिन्तन को चुनौती दी है। यहाँ इस लेखन में स्वतः कविता का बल आ गया है। यह चिन्तन इतना नया है कि यह एक कविता की विचित्रता और सुन्दरता के साथ झिलमिलाता है। अंशतः इसलिए क्योंकि यह तथ्य के प्रति जागरूक है कि यह बीसवीं शती के प्रख्यात सांस्कृतिक मृतकों की विचार-सम्पदा पर विचार कर रहा है। यदि *मार्क्सवादी स्त्रीवाद* का प्रस्थापक निर्धारिक-वर्ग की मनोव्यथा है, तो *ओडियल* के त्याग-बलिदान की तीव्र कथा *मनोविश्लेषणवादी स्त्रीवाद* के केन्द्र में है। जितनी बार इसका पुनर्वाचन होता है, इसे दोहराया जाता है, इसे फिर से वर्णित किया जाता है, इसे एक व्याकरणात्मक आकस्मिक ताकत मिलती है, जैसे कि भाषा और चित्रण के द्वारा अनुभव की मध्यस्थता की जाती है। स्त्री की प्रताड़ना उत्पीड़नों की आर्थिक संरचना वह अभाव है, जो यौनपरक भिन्नता को संघटित करता है। यहाँ स्त्री का चितिपरक जीवन और प्रतीकात्मक क्रम में उसकी प्रविष्टि—लैंगिक चिन्तन की असमाप्य प्रगीतात्मक अन्तर्वस्तुएँ हैं। इन्हें इसलिए प्रगीत कहा जाता है, क्योंकि अभिज्ञान की विशेष प्रकृति इस सिद्धान्त में अपने दाँव पर है कि कैसे यहाँ अस्मिता के सामाजिक स्तरों पर और गहरे चितिपरक स्तरों पर 'मैं' उत्पन्न होता है।

जूलिया क्रिस्तिवा, जूलियट मिशल और जैक्यू लाइन रोज़—ये सब मनोविश्लेषणात्मक परम्परा के रचनात्मक आलोचक हैं। *जूलियट मिशल* ने अपने पहले की क्लासिक कृति *साइको एनालाइसिस एण्ड फेमिनिज्म Psycho Analysis and Feminism, 1974* को *जैक्यू लाइन रोज* के साथ *लेकाँ* के निबन्धों का प्राक्कथन लिखते हुए उसे और विस्तारित किया है। इस तरह *स्त्रीवाद* के एक नए पहलू का यह केन्द्रीय पाठ बन गया है। यहाँ *फ्रायडियन विश्लेषण पर* दिए जाने वाले बल को *लेकाँ* के द्वारा अन्तरित किया गया है। *जैववाद* से भाषा और उसके निरूपण के प्रति तथा शिश्न-ईर्ष्या के पदों में स्त्री-यौनपरकता के अभिधार्थी वाचन से लैंगिक द्विध्रुवता में अभाव की उस लैंगिक संरचना में अंतरित किया गया है, जहाँ यह कहा जाता है कि स्त्रियाँ अस्तित्व नहीं रखती हैं। अभाव के स्थल पर स्त्री को रखना, पुरुष के आत्म-विस्तारण के स्थल पर जो मौजपरक दूसग है, वहाँ अभाव की भविता के द्वारा शिश्न को संकेतित किया जाना—इन नई अवधारणाओं ने लैंगिक बनावट की उत्पत्ति की समझ का वादा किया है। साथ ही यौन-विभेदकता के द्वारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघटित चिर असममित शक्ति-सम्बन्धों की व्याख्या के भी दावे किए हैं। निस्सन्देह यह व्यवस्थापरक प्रतीकात्मक अनुक्रम का यथातथ्य परिशुद्ध सैद्धान्तीकरण था, जिसने कृतसंकल्प रूप में लिंग-सम्बन्धों को संघटित किया। *लेकाँ* के प्रतिमान ने *स्त्रीवादी विचारकों* को आकर्षित किया है। यह प्रतिमान अब तक आकर्षित कर रहा है। *स्त्री-यौनपरकता* की प्रतीयमानता निषेधात्मक समझ की स्वीकृति के द्वारा किंकर्तव्यविमूढ़ के लिए शिश्नवादी *आलोचकों* के उत्तर सामने रखती है, जैसा *मिशल* ने किया। *फ्रायडियान* और *लेकांनियन* विचार पितृसत्तापरक समाज के लिए कोई सिफारिश सामने नहीं रखते हैं, बल्कि इसका विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। इसलिए इस प्रकार का *स्त्रीवाद अब तक सघन रूप में स्त्रीवाद की सर्जनात्मक विधा है। स्त्रीवाद और मनोविश्लेषण* के बीच *टेरेसा ब्रेनन* द्वारा सम्पादित निबन्धों का यह संकलन (1989) अन्दर या बाहर रहने की सम्भावना के बारे में नया विमर्श लेकर उपस्थित हुआ। इससे *लेकांनियन स्त्रीवाद* प्रचार और प्रसार में आया। *मैरी जैकाबस* (Mary Jacabus) का पहला निबन्ध 'First things' (1995) जैसे जटिल और सूक्ष्म कृति में संकलित हुआ। *फ्रायड* की स्मृति-विषयक दृश्य स्मृतियाँ और स्त्रीवादी विरह–दोनों ही प्रतीकात्मक अनुक्रम से अपने ध्यान को संस्कृति और मनोविश्लेषण में कल्पनात्मक प्रकार्य के प्रति अन्तरित करने का उद्देश्य घोषित करते हैं। *फ्रायड* और दो अन्य व्यक्तित्वों के साथ एक सुकुमार तर्क में वह सुझाती है कि ओडियल समय पीछे की तिथि से *प्री-ओडियल समय* और कर्म को सृजित करता है और दृश्य स्मृति के बतौर यौनपरकता में स्त्री के पतन के लिए परिदृश्य-स्मृति के बतौर कर्म करता है। फिर भी माँ के शरीर के प्रति बिना बीच-बचाव के प्राक्तन सम्बन्ध के मिथक की छानबीन Rich के द्वारा इतनी मार्मिकता और मर्मस्पर्शिता से की गई है, जिसे वह *अतर्कसंगत* मानती हैं। इसकी जगह वह *जेनगेलोक* के द्वारा *लैंगिक अभाव* को विरह के बतौर पुनः सैद्धान्तीकृत करने की ओर झुकती है, जहाँ सशक्त सांस्कृतिक अज्ञात पर विचार करना सम्भव हो सके, क्योंकि यही विरह और स्त्री को जोड़ती है। यहाँ हानि के लिए पश्चात्ताप बार-बार आवर्तित होता है। इस लैंगिक अभाव के प्रति, जिसको सुधारा नहीं जा सकता, प्रयोज्य कभी अभावपूर्ति के लिए लौट नहीं सकता। यहाँ प्रयोज्य को आत्मनिर्वासन या अकेलापन स्मृति-लोक में आता है, जो *लैंगिक अभाव* को भूलने की कोशिश करता है।

लैंगिक समीक्षा पदार्थवादी/भौतिक चिन्तन को समाविष्ट करती है, पर समीक्षा का यह शिविर अपने तिरोभाव में है। फिर भी इसके पुनरुज्जीवित होने के संकेत प्राप्त होते हैं, क्योंकि सोवियत संघ में साम्यवाद के भंग होने से इस अपरिपक्व अनुमान को नेतृत्व मिला है कि पदार्थवादी परियोजना अप्रासंगिक है, यद्यपि *मार्क्सवादी स्त्रीवाद* और इसकी दार्शनिक परियोजना का विश्लेषण वास्तव में अधिक महत्त्व रखता है। *गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक* ऐसे *पदार्थवादी विसंरचनात्मक स्त्रीवाद*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की व्याख्याता रही हैं, जो जटिल तौर पर सिद्धान्तीकृत *स्त्रीवाद* है। *स्पिवाक संकेतविज्ञान* के द्वारा प्रदत्त पाठात्मक *सूझों* को प्रस्तुत-प्रभावित करती हैं और वह भी इस रूप में, जो स्त्रीवाद की दूसरी लेखिकाओं—इंग्लैण्ड की *मिशल बैर्ट*, फ्रांस की *क्रिस्टिने डेलफी*—से उसे अलगाती है। उसने अपने *मनोविश्लेषणपरक लैंगिक समकालिका जूलिया क्रिस्तिवा की आलोचना* बड़े तीखेपन के साथ की है। यद्यपि वे मनोविश्लेषक के विरुद्ध नहीं हैं, पर ऐसा उसने चीन के आदर्शपरक वाचन के लिए किया है। साथ ही स्त्रीपरक अस्तित्व के सिद्धान्त के बतौर मातृ-काया और मातृत्व की वापसी के लिए भी किया है। *स्पिवाक* को सबसे भिन्न रूप में अलगाया जाता है, क्योंकि उसकी कृतियों में *लिंग* और *जाति* का पदार्थवादी विश्लेषण साथ-साथ चलता है। यहाँ उत्तर-संरचनावादी संसार में पूंजीवाद की ज्ञान-मीमांसात्मक हिंसा की वह समीक्षा भी करती है। *इन अदर वर्ल्ड्स* 'In Other Worlds' (1987) जैसी कृति में वह अपनी कृति की सर्वाधिक प्रभावात्मकता को एकत्र कर देती है। वह एक प्रकार की *अज्ञेयवादी समीक्षिका* है, जो सवाल खड़े करने की *विसंरचनात्मक प्रविधि* के द्वारा आगे बढ़ती है। वह बुनियादी अवधारणाओं पर पुनर्विचार करने के लिए—जैसे *मूल्य का श्रम-सिद्धान्त*—प्रायः प्रयास करती हैं, जिसे वह समकालीन प्रोक्ति से बाहर लिखा गया मानती हैं। ऐसा वह मूल्य के अर्थ-शास्त्रीय और पाठात्मक सिद्धान्तों का प्रत्याख्यान करती हुई करती हैं। उसका यह निरूपण कि वैश्विक पूंजीवाद की उत्तर-आधुनिक अर्थशास्त्रीय प्रोक्ति में श्रम-अपदार्थीकरण, अमूर्तन और प्रयोगमूल्य तीसरे संसार की स्त्रियों के स्वार्थ-साधनात्मक उपयोग पर निर्भर है, अपनी तथ्य परकता में अत्यन्त जटिल है। यहाँ वह स्वार्थसाधन के लिए स्त्री के उपयोग की नग्न यथार्थता को स्पष्ट तौर पर रेखांकित करती है। व्यवहार-मूल्य का भावनाकरण करने अथवा श्रम या मुद्रा का पाठ्यीकरण करने को वह अस्वीकार करती है। वह इन अतिशयताओं के साथ मार्ग पर पैर रखती है, जहाँ *लेहमान* बन्धु संगणक को धन्यवाद देते हैं, पन्द्रह मिनट के काम के लिए बीस लाख डॉलर अर्जित करते हैं। यह सारा अर्थशास्त्रीय पाठ जो है, वह नहीं होगा, अगर यह दूसरे पाठ पर किसी चर्म-फलक की तरह लिखा नहीं जा सका कि श्रीलंका में एक स्त्री को एक टी-शर्ट खरीदने के लिए दो हजार दो-सौ सतासी मिनटों तक काम करना होता है। उत्तर-आधुनिक और पूर्व-आधुनिक युग साथ-साथ उत्कीर्ण हुए हैं। *लैंगिक मार्क्सवाद* की निरन्तर चल रही भावनाओं को वह कला-निपुणता, Vertuosity के रूप में निरूपित करती हैं। इन परम्पराओं की सप्राणता का संकेत उत्तर-आधुनिक स्त्रीवादी अर्थशास्त्र के विकास में रुचि रखने वाली रेगेनिया गागेनी, *Regenia Gagnieu* की *आइडिलो ऑफ मार्केट प्लेस*, 'Idyllo of the Market place' में देखा जा सकता है।

प्रश्न है कि क्या उनकी समस्याएँ मार्क्सवाद और मनोविश्लेषण के महावृत्तान्तों—लैंगिक स्त्रीवादी स्वीकृति—के साथ जुड़ी हैं? इन सिद्धान्तों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनिवार्यतावादी कृत-संकल्पित पहलू शक्ति की कुछ अपरिहार्य रचनाओं के विश्लेषण का आदेश देते हैं। प्रतीक का अनुक्रम प्रश्न पूछे जाने वाले विषय जो कि पदार्थवादी स्थितियों के अर्थशास्त्रीय दबावों के द्वारा संघटित किए जाते हैं तथा शक्ति के मिथक के साथ काम करते हैं। विश्लेषण से स्वीकृति की दिशा में या वर्णन से स्वीकृति की दिशा में और शक्ति के रूपों की संरचनात्मक आवश्यकता इन सबके गिर्द विचार किया जाता है और उन प्रतिमानों का पूर्व-वर्णन किया जाता है। इस प्रकार *क्रिस्तिवा* प्रतीकात्मक अनुक्रम में ग्रीक भाग्यवाद के साथ स्त्री-प्रविष्टि की कठोर आवश्यकता पर बल देती हैं और *स्पिवाक* उपनिवेशवादी उत्पीड़न के *मार्क्सवादी प्राचल* के द्वारा अपनी प्रोक्ति को इतना व्यवस्थित होने के लिए—वह एक *आलंकारिक प्रश्न* भी पूछ बैठती हैं—कि *क्या अधीनस्थ या मातहत बोल सकता है?* और स्वयं इसका प्रत्याशित उत्तर देती हैं—*नहीं।* सामान्य रूप में कहा जाता है कि *लैंगिक स्त्रीवाद* ने जो-कुछ किया है वह आधुनिक ज्ञान को उत्तर-आधुनिककृत करना रहा है, उनके निर्धारणवाद और शक्ति-सम्बन्धों तथा प्रपीड़नों की आबद्धता को खोलना रहा है। विशेषतः *मनोविश्लेषण* और *पदार्थवाद*—दोनों का एक संकेतवैज्ञानिक मोड़ देते हुए उनके तत्त्वमीमांसा-शास्त्र में।

जब निर्धारकीय व्यवस्था में दरार उपस्थित होती है, टूटन-फूटन सामने आती है तब एक सीमित अभिकरण या साधन उभरता है। भले ही वह चितिपरक या सामाजिक अवक्षेप वाली ज्ञान-मीमांसापरक संकटावस्था हो या भाषा की संकटावस्था हो, जिसमें संकेत या जिसे यह निर्दिष्ट करते हैं, दोनों ही वियोजन में हों, जहाँ विषय को ऐसी जगह मुहैया की जाती हो, जो संकेत और अनुभव के बेमेलपन के द्वारा अभिदर्शित-प्रतिपादित विरोधों को जाने-समझे। पर साधन सीमित हैं और वह विचारधारात्मक अन्धता से मुक्ति में ही हो सकता है। *लैंगिक स्त्रीवाद* के मनोविश्लेषणात्मक और मार्क्सवादी—दोनों प्राचलों में राजनीतिक प्रवृत्ति नष्ट होने की है, खो जाने की या बन्द कर देने की और निषेधीकरण की है, जो स्वतः राजनीतिक शक्ति के पूरेपन से ही प्रचालित है और लैंगिक मुद्दे भी शक्ति को मिथक के द्वारा निगल लिए जाते हैं अथवा लुप्त-समाप्त हो जाते हैं।

बेतुका अथवा हास्यास्पद स्त्रीवाद संकेत और उसके निर्देश्य पदार्थ के वियोजन के द्वारा सृजित-साभिप्रायित स्थल को दखल करते हैं। *लैंगिक स्त्रीवाद* की अधिमानताओं को उलटने के द्वारा उपक्रमण या पहले शक्ति को जब्त कर लेते हैं। अतिक्रमणपरक पुनः साभिप्रायीकरण, जो नेतृत्वपरक शक्ति को विसंरचित करता है, नातेदारी का इसका वह प्रतिमान है, जो दूसरे घुमावदार मार्ग की अपेक्षा वास्तव में इस संसार और प्रयोज्य के बीच नातेदारी को *लैंगिक स्त्रीवाद* की तुलना में बहुत ही भिन्न रूपों में *वितरित-वर्गीकृत* करता है। साथ ही यह भिन्न रूप में शक्ति को प्रकट करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा और शरीर अनिवार्य लिंग-निर्माण के इतिहास के दो बहुत जरूरी पद हैं, न कि संसार और आत्मा की।

पिछले कुछ वर्षों में यह *हास्यपरक बेतुका स्त्रीवाद* स्त्रीवादी सरोकारों को बड़ी शीघ्रता के साथ अपने अधिकार में रखने लगा है, जैसा कि यह शब्द व्यंजित करता है। यह क्रीड़ापरक है, पर चीजों को सवाल के कठघरे में खड़ा करने की जगह यह उन्हें क्रीड़ा के पास ले जाता है और मुक्त संकेतन-साभिप्रायन का नर्तन बन जाता है। विशेषतः यह क्रीड़ा के विरोधाभास को जो नियन्त्रित करता है/समझता है/आकृष्ट करता है। नियमबद्धता से प्राप्त स्वीकार, विचलन करने लगता है, सम्भाव्य मुक्त क्रीड़ा करने लगता है। इस प्रकार *हास्यपरक अथवा बेतुका स्त्रीवाद* नेतृत्वपरक कानून की *अवपीड़क प्रकृति विशेषतः विषम या विजातीय यौनपरकता की अवपीड़क प्रकृति* तथा *अतिक्रमण की सम्भावना* फलतः परिवर्तन की सम्भावना—दोनों को एक-साथ और एक समय में स्वीकार कर लेता है। ये दोनों परस्पर एक-दूसरे को संघटित करते हैं। यह उस लैंगिक अनुमान को, जो आर्थिक या ओडिपल को संरचित करता है, परित्यक्त कर देता है/खण्डित कर डालता है। यह अनुमान शक्ति-सम्बन्धों की असमता तथा यौनपरक अन्तर की आकस्मिक व्याख्याओं को मुहैया कर सकता है, बजाय इसके कि यह प्रोक्ति के प्रभाव के रूप में उभरे। शक्ति प्रायः असम्बद्ध और असंगत क्षेत्र को परिचारित करती है, लेकिन विसंगत क्षेत्र विघटित हो सकता है। *जूडिथ बटलर* (Judith Butler) के फूकोवादी विचार अब इस *हास्यपरक स्त्रीवाद* के क्षेत्र पर अपना अधिकार बनाए रखते हैं, जो लेस्बियन सिद्धान्त का एक सर्वाधिक उत्पादक क्षेत्र है। यहाँ यह स्मरण कर लेना महत्त्वपूर्ण है कि ऐसे कितने भिन्न-भिन्न सिद्धान्तविद् हैं, जो यौनपरकता के प्रतिमानों का व्यवहार करते हैं और जो संरचना की दृष्टि से इस हास्यपरक आन्दोलन में एक-जैसे हैं। जिन विचारों में यह साझा रखते हैं उसके मूल में यह समझ विद्यमान है कि प्रोक्ति और शरीर दोनों ही अस्थिर और अस्थायी हैं। दोनों समान रूप में रूपान्तरण में समर्थ हैं। यही कारण है कि *डोना हारवे* (Donna Harway) ने *शरीर और संसार, शरीर और मस्तिष्क के द्वैतवाद को अस्वीकृत कर दिया है। यह हास्यपरक प्राचल की ही मान्यता है।* वास्तव में द्वैतवाद *उत्तर-आधुनिक Cyborg संस्कृति के लेखे-जोखे में विसंरचित होता रहता है,* जो शरीर में *प्रौद्योगिकी के हमले को अनुमत करता रहता है,* न केवल पूर्वागम् के रूप में, बल्कि चेतना के तत्त्व के रूप में भी। प्रौद्योगिकी के प्रति लिंग के अधीनस्थ के वैयक्तिक त्रिविध प्रस्तुतीकरण के वैशिष्ट्य के साक्ष्य के बतौर।

यही कारण है कि *लूसी इरीगेरे* फ्रायड और लेकाँ के द्वारा प्रभावी रूप में बल दिए जाने वाले *ओडिपल* (Oedipal) के अनुबन्ध-पत्र या सम्विदा के लिए विकल्प या स्थानापन्न के बतौर स्त्री प्रतीकात्मक पद्धति को परिवर्तित करने का प्रयास करती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। *लूसी इरीगेरे* इस साहस को साझा नहीं करती है, जो लैंगिक नातेदारी में संरचनात्मक विकल्पों पर विचार करती है। यहाँ वह प्रतिमानता *हारावे* (Haravy) के आदर्शवादी विरोध से अलग हो जाती हैं। पर इन दोनों में तीसरी दुनिया की पहचान बने *ट्रिन्ह टी.* (Trinh-T) और *मिन्ह-हा* (Minh-Ha) जैसे सिद्धान्त-विदों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध देखने को मिलता है। तीसरी दुनिया के ये सिद्धान्त-विद् उपनिवेशवादी ज्ञानशास्त्र के क्लासिक प्राचल को फिर से परिभाषित करने की दिशा में सक्रिय दीखते हैं। यहाँ आत्म और अन्य पर अधिक मुक्त बहुविदों की आत्मगतता के विचारों के साथ सक्रियता दीखती है। इसके जरिए उसकी कृति एक तात्त्विक प्रश्न उठाती है। वस्तुतः यह क्या है, जो किसी एक की पहचान करता है और वर्गों या किसी एक विशेष वर्ग के होने के रूप में पहचाना जाता है। इस तरह यह अधिक प्रत्यक्ष-तौर पर राजनीतिक प्रश्नों को लाभ पहुँचाती है और उससे लाभ उठाती भी है। किसी और *लूडिक पाठ में ऐसा सम्भव नहीं हो पाता*। *इरीगेर* पिता के नियम के साथ एक संवाद स्थापित करती है। भले ही वह *मार्क्स* या *फ्रायड* हो, ठीक उसी समय वह इसके दुराग्रह को भी स्वीकार करती है। वह एक नई प्रतीकात्मक व्यवस्था के साथ परिष्कृत मनोविनोद करती है या *स्त्रीवादी Jouissance* की अपनी भाषा होती है। उसने *लूडिथ बटलर* से कहीं भिन्न रूप में इसे कहीं अधिक साहसी और ढीठ के बतौर सोचा, जिसने *स्त्रीवादी चिन्तन* में इसे सिद्धान्तीकृत करते हुए इच्छा-स्वतन्त्रताकामी अवधारणात्मक छलांग लगाई है, आकस्मिक परिवर्तन किया है। उसने *लेस्बियन लैंगिकता* या *लेस्बियन आनन्द* को सैद्धान्तीकृत किया है न कि *स्त्रीवादी आनन्द को*।

स्त्रीवादी सिद्धान्त का इतिहास

- स्त्रीवादी सिद्धान्त का इतिहास एक दृष्टि से 1968 से आरम्भ होता है, जब *मेरी एलमैन* (Mary Ellmann) की थिंकिंग एबाउट वुमेन, Thinking About Women पुस्तक प्रकाशित हुई। एक दूसरी दृष्टि से इसका प्रारम्भ 1949 से माना जा सकता है जब सिमोन द ब्यूई (Simone de Beauvoir) की सेकेण्ड सेक्स The Second Sex छप कर आई।
- *रूथ रोबिन्स* (Rooth Robins) के लिए स्त्रीवादी सिद्धान्त नियम-निर्देशी नहीं है। वह यह नहीं कहती कि क्या कहना, करना, सोचना और पढ़ना चाहिए, बल्कि वह अभिगमों की सम्भावनाओं को व्यक्त करती है कि क्या कहा, किया, सोचा और पढ़ा जा सकता है। अगर कहीं इसमें कोई नियामक सूत्र है, तो वह यह है कि भिन्न-भिन्न तरह से पढ़ने से आह्लाद में राजनीतिकृत (Politicized) होने के सूत्र को कभी नहीं भूलना चाहिए। दूसरे,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्त्री-जीवन के प्रति, उसके यथार्थ के प्रति उसे अपनी प्रतिबद्धता बनाए रखनी चाहिए।

- स्त्रीवादी साहित्य-सिद्धान्त का आरम्भ साहित्य-पाठों में निरूपित स्त्री की प्रतिमा या *बिम्बवादी प्रथम-चरण* स्त्री-बिम्बों को देखने से हुआ। परम्परा से साहित्य-पाठ अपनी व्यापकता में पुरुषों के द्वारा रचित थे और उनमें निरूपित स्त्रियाँ सामान्यतः चले आ रहे घिसे-पिटे तौर पर ही निरूपित होती थीं। वे या तो आदर्श होती थीं; अनाघ्रात युवती, सुन्दर, पैसिव, निर्भर और पोषित होने वाली अथवा दानवी होती थीं : यौनतः उदग्र, परम मुक्त, कुरूप, खतरनाक और वेश्यावत Whorish। इन स्त्री-बिम्बों से दो प्रकार के निष्कर्ष प्राप्त होते थे। पहला यह कि पुरुष लेखकों ने स्त्रियों के विषय में अयथार्थ और बुरा लिखा है। दूसरे यह कि पुरुष लेखकों ने स्वयं इन स्त्री-बिम्बों को, स्त्रीत्व के अपने आदर्शों को उनपर लादने के नजरिए से, उन्हें रचा है और पुनः पुनः प्रस्तुत किया है। 'डौरोथिया' (Dorothea) में अतिथि चिशिले (Chicheley) कहता है—"I like a woman who lays herself out a little more to please us (than Miss Brooke does). These should be a little filigree about a woman—some thing of the coquette...there should be a little devil in a woman...And I like there blond, with a certain gait, and a swan neck. Between ourselves, the mayor's daughter is more to my taste than Miss Brooke" (M. 89)

  इसकी व्याख्या इस तरह की जा सकती है कि एक स्त्री को पुरुष के अहं को oblige करने वाली होना चाहिए, उसके सौन्दर्य-संवेदन को oblige करने वाली होना चाहिए। एक स्त्री को देवदूती (angel) की तरह दीखना चाहिए, पर अन्तर्धारा में इसे कहीं-न-कहीं दुष्ट, शैतान (devil) भी होना चाहिए, जो सौन्दर्य-संवेदन और कामुकता दोनों को अपील कर पाए।

- स्त्रीवादी आलोचना का दूसरा चरण वह है जहाँ स्त्रियाँ पाठ की रचना करती हैं, साथ ही उसकी पाठिका (उपभोक्ता) भी बनती हैं। *एलेन श्वाल्टर* (Elainee Showalter) ने 1979 में इस चरण का आरम्भ किया। उसने 'स्त्री-आलोचना' की बात की, ग्यानोक्रिटिज 'Gynocrities' शब्द का प्रयोग किया, जिसका अर्थ स्त्री के लेखिका होने से है। पर इसका अर्थ यह नहीं लिया जाना चाहिए कि स्त्रीवादी आलोचना का *बिम्बवादी चरण* (Image Criticism) यहाँ समाप्त हो जाता है, क्योंकि स्त्री लेखिकाएँ भी स्त्री के विषय में लिखती हैं। पर यहाँ जो अन्तरण दीख पड़ता है, वह कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यह एक प्रकार का *इतिहासवादी और पदार्थवादी अभिगम* है, जिसमें स्त्री के लिए लेखन के व्यावहारिक मुद्दों पर विचार किया गया है। यहाँ उनकी शिक्षा पर और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशकों के साथ उनकी रॉयल्टी के उचित भुगतान के बावत भी विचार किया गया है।

- *एलेन श्वालटर* ने स्पष्ट किया है कि ऐसी स्त्री लेखिकाएँ भी रही हैं, जिन्होंने सदैव महान् परम्परा को लिया है। *जॉर्ज एलियट* और *वर्जीनिया वूल्फ़* ऐसी ही लेखिकाओं में दो प्रमुख लेखिकाएँ हैं। पर अपनी पुस्तक *ए लिटरेचर ऑफ देयर आन,* A Literature of Their Own में *श्वाल्टर* ने लिखा है कि मिलिसेन्ट ग्रेगन और वर्जीनिया वूल्फ पर विचारते हुए हम साहित्य के नए इतिहास में इस नई पसन्द को दर्ज कर सकते हैं और यह समझ सकते हैं कि क्यों पूर्वग्रह, अपराध, प्रतिबन्ध (Inhibition) के बावजूद स्त्रियों ने लिखना आरम्भ किया। पर इस चरण की आलोचना भी कुछ कारणों से की गई। रचनाकार के रूप में स्त्रियों पर केन्द्रण, बिम्बालोचन (Image Criticism) के चरण की तरह ही पाठीयता को महत्त्वहीन (gloss over) करने के लिए विवश-बाध्य है। यहाँ भय इस बात का भी है कि इस प्रकार की स्त्रीवादी सक्रियता असंख्य स्त्रियों का समावेश अपने भीतर नहीं कर पाई : ऐसी स्त्रियाँ जिन्होंने कभी पढ़ना-लिखना नहीं सीखा। यही नहीं, स्त्री आत्मनिष्ठता का आंशिक इतिहास भी सुविधा-प्राप्त, विशेषाधिकार-प्राप्त रूप में श्वेत स्त्रियों तथा मध्यवर्ग और उच्चवर्ग की स्त्रियों के द्वारा और उन्हीं के लिए लिखित पाठों का इतिहास रहा। अन्ततः यह भी सुझाया गया कि स्त्री-आलोचिकाओं ने अनिवार्यतावाद का भी खतरा (रिस्क) उठाया। *उनकी यह मान्यता रही कि स्त्री-विषयक प्राधिकृत निरूपण केवल लेखिकाओं द्वारा ही सम्भव है, जो स्वयं स्त्री हैं।* यहाँ 'यौन' (Sex) और 'लिंग' (Gender) को एक रूप कर दिया गया, जबकि 'यौन' *प्राणिवैज्ञानिक है और 'लिंग' सांस्कृतिक गुणात्मकता है।*
- 1980 से स्त्रीवादी आलोचना-सिद्धान्त का विधिवत् दूसरा चरण आरम्भ होता है। यही वह समय है जब आंग्ल-भाषी अकादमी ने पहली बार *फ्रांसीसी स्त्रीवादी पाठों* का अंग्रेजी में अनुवाद किया। विशेषतः *हेलेन सिक्सस* (Hiline Cixous), *लूसी इरीगेरे* (Lucy Irigaray) और *जूलिया क्रिस्तिवा* (Julia Krisheva) की कृतियों का अनुवाद किया गया। ये सभी लेखिकाएँ *लेकांनियन मनोविश्लेषण, भाषावैज्ञानिक सिद्धान्तों, भाषा के उत्तर-संरचनावादी चिन्तनों और मानवीय आत्मनिष्ठता से प्रभावित थीं*। ये सब *लेकाँ* के इस विचार से सहमत थीं कि विषय भाषा को नहीं जन्म देता, नहीं बाँचता, बल्कि तथ्य यह है कि *भाषा विषय को बाँचती है* (Language, Infact, Speaks the Subject)। बिना भाषा के तो 'मैं' सर्वनाम का भी उच्चारण नहीं हो सकता और *बिना शब्दों के आत्मअस्तित्व की अवधारणा भी नहीं होती*।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

- इस चरण में *जूलिया क्रिस्तिवा* ने सेमिओटिक Semiotic शब्द को एक नई अर्थवत्ता दी : भाषा का विच्छेद, मौन, (elisions), अध्याहार, लय और ध्वनियाँ। अनुरूपतः Semiotic को *स्त्रीवादिता के स्थान* (space) *के रूप में रेखांकित किया*। जहाँ स्त्री-आलोचिकाओं ने साहित्य और यथार्थ के बीच अनुकरणात्मक सम्बन्ध पर बल दिया था, वहाँ फ्रांसीसी स्त्रीवादियों ने *प्रयोगात्मक लेखन के बारे में सोचने के लिए युक्ति-उपकरण* (tools) मुहैया किए। लेखक या पात्र के *लिंग* (gender) चाहे जो भी निरूपित किए गए हों। इस 'एप्रोच' पर आंग्लभाषी देशों में आरोप और विरोध का माहौल रहा। विशेषतः ब्रिटेन में, जहाँ स्त्रीवादी सिद्धान्त का जोरदार प्रतिरोध किया गया। वे परिवर्तन की नीति के हिमायती नहीं थे।
- *एलेन श्वाल्टर* ने अपने द्वारा किए गए पागलपन के अध्ययन के द्वारा मनोविज्ञान, मनोचिकित्सा और दवा की राजनीति को *अधिकाधिक परम्परित स्त्रीपाठीय प्रतिमानों में वर्णित किया*।

स्त्रीवादी साहित्य-सिद्धान्त

- स्त्रीवादी साहित्य-सिद्धान्त कोई ऐसा एकीकृत साहित्य-सिद्धान्त नहीं है, जिसका कोई एक कॉर्पस (Corpus) हो। यहाँ किसी *स्त्रीवादी मार्क्स* या *स्त्रीवादी फ्रायड* की भी उपस्थिति नहीं है, जो स्त्रीवाद को एक सिद्धान्त या प्रविधि के रूप में परिभाषित कर सके। यह तथ्य यदि एक ओर स्त्रीवाद की शक्ति है, तो दूसरी ओर एक निराशाजनक स्थिति भी है। कहा जा सकता है कि यह इसकी नीति भी है, क्योंकि स्त्रीवाद स्वतः किसी 'प्राधिकृत' (authorised) बयान का निषेधक है।
- स्त्रीवादी साहित्य-सिद्धान्त को वाचन-प्रक्रिया के दौरान *हस्तक्षेप* (intervention) *की जारी शृंखला* के बतौर तथा वाचन-नीति को *उकसाने वाले हस्तक्षेप* के बतौर समझा जा सकता है। वह यह मानकर चलता है कि वाचन का अभ्यास संसार-विषयक हमारे अनुभवों के बीच के अन्तर को दर्शा सकता है।
- इसकी तीन *प्रतिज्ञप्तियाँ* (propositions) हैं—
  1. *शब्द और संसार—दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं।*
  2. *शब्द और संसार परस्पर राजनीतिक तौर पर सम्बन्धित हैं।*
  3. *स्त्रीवादी सिद्धान्त शब्दों की राजनीति और संसार की राजनीति के सन्दर्भ में स्त्री को केन्द्र में, नाभिकेन्द्र में रखता है।*

1. *शब्द और संसार दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं*—इसके अन्तर्गत *स्त्रीवादी साहित्य-सिद्धान्त* की यह मान्यता है कि शब्द और संसार के बीच, पाठ और यथार्थ के बीच सम्बन्ध होता है। इसी से साहित्य जन्म लेता और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पढ़ा जाता है। पर यह सम्बन्ध कभी भी पारदर्शी नहीं होता। इससे यह अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए कि यह है ही नहीं। इसकी यह भी मान्यता है कि साहित्य कोई ऐसा *लोकोत्तर* (transcendent) स्थल नहीं है, जिसमें रोजमर्रे की जिन्दगी की विविधताएँ अनुपस्थित हैं। साहित्य तो यथार्थ का भाग है। यह 'यथार्थ' (Real) को सृजित करता है, भले ही दर्पण विरूपात्मक या खराब हो। यह 'यथार्थ' को सृजित करता है और अपनी कल्पनात्मक दुनिया में हमें विश्वास कराने के लिए ले चलता है। वह यह भी बताता है कि हम इसके प्रति अपने विशिष्ट रूप में व्यवहार कर सकते हैं। यही नहीं, वह 'यथार्थ' *का विकल्प* भी प्रस्तावित करता है। वह हमारे द्वारा लिए जा रहे यथार्थ को समीक्षा के द्वारा प्रस्तुत करता है। साथ ही भविता की विकल्पात्मक प्रविधियों—फैंटेसी, यूटोपिया, डिस्टोपिया, विज्ञान-कथा—आदि के द्वारा भी इसे रूपायित करता है।

- स्त्रीवादी सिद्धान्त यह तर्क देता है कि पाठ (text) हमेशा *किसी विशिष्ट यथार्थ का* उत्पादन होता है और वह अपने *काल, स्थल और उत्पादन-प्रविधि* की पहचान का संवहन करता है। पाठ सदैव अपनी *ऐतिहासिक और भौगोलिक विशिष्टताओं में* समझा जाता है। ये दोनों ही विशिष्टताएँ उस क्षण-विशेष से सम्बन्धित होती हैं जब पाठ पहली बार रचा जाता है। इस प्रकार ये मान्यताएँ स्त्रीवादी साहित्य-सिद्धान्त को कहीं-न-कहीं *मार्क्सवादी-पदार्थवादी* और *ऐतिहासिक अभिगम* से जोड़ देती हैं।
- शब्द और संसार—दोनों के सहसम्बन्धन को स्पष्ट करने के लिए परस्पर जार्ज इलियट, George Eleot के *मिड्ल मार्च,* Middle March और वर्जिनिया वुल्फ Virginia Wolf के *मिसेज डैलो,* Mrs. Dallow कृतियों की तुलना की जाती है। इनमें महिला-वैयक्तिकता/ आत्मनिष्ठता (female subjectivity) का अन्तर उजागर होता है।

बीसवीं शताब्दी की नायिका—Clarisa-alias—Mrs. Dalloway का यह नाम उसके पति के नाम पर आधारित है या पति से जुड़कर उसकी पहचान कराने वाला है। इसके विपरीत Dorothea—Dorothea Brooke स्त्री की अपनी पहचान का नाम है। यह नाम पति पर आधारित नहीं है। वह पति और समाज की आशा-प्रत्याशा को विफलीकृत करता है—I ask you to obey mine : you refuse/You would use your own judgement. There was nothing for her to do in lowick.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2. *शब्द और संसार परस्पर राजनीतिक तौर पर सम्बन्धित हैं*—यहाँ 'राजनीतिक' से मन्तव्य 'शक्ति-क्षमता' (power) से है। इस रूप में यदि *पाठ* या *शब्द* संसार से सम्बन्धित होता है, तो वह संसार को परिवर्तित भी कर सकता है। स्त्रीवादी साहित्य-सिद्धान्त के हर केन्द्र में राजनीतिक प्रकर्तृत्व की प्रबल इच्छा (will) है। यहाँ भी पुनः *मार्क्सवाद* के साहित्य-अभिगम से इसका सम्बन्ध स्पष्ट होता है।
3. *स्त्रीवादी सिद्धान्त शब्दों की राजनीति और संसार की राजनीति के सन्दर्भ में स्त्री को नाभिकेन्द्र में रखता है*—यह तीसरी प्रतिज्ञप्ति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सभी स्त्रीवादी सिद्धान्त स्त्री को नाभिकेन्द्र में रखते हैं। यहाँ नारी विविध क्षेत्रीय हो सकती है। विभिन्न व्यक्तिपरक जीवन, विभिन्न शिविर या दल की हो सकती है, पर प्रमुख impity वही रहेगी। इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि स्त्रियाँ दूसरी संरचनाओं से रूपायित होती हैं। ये संरचनाएँ आर्थिक, मनोवैज्ञानिक हैं, जो स्त्री को दमित करती हैं। वह भी लिंगगत सामाजिक एवं चितिपरक (psychic) असमानता के कारण इन संरचनाओं में *स्त्रीवादी सिद्धान्त* स्त्री के प्रति सामाजिक अन्याय (deprivations) से अपने-आपको जोड़ता है, वह स्त्री की शिक्षा की अधोगति, अल्पगति तथा उसके श्रम की अल्प अदायगी से अपने-आपको जोड़ता है। स्त्री-शरीर के कारण उस पर होने वाले और किए जाने वाले शारीरिक अत्याचार से अपने-आपको जोड़ता है। यही नहीं, स्त्री का जो सांस्कृतिक दमन होता है, जिसमें स्त्री एक सांस्कृतिक पदार्थ के रूप में अवमूल्यित होती है, बजाय इसके कि उसे सही रूप में मूल्य प्रदान किया जाए और वह स्वयं अपने-आपको सांस्कृतिक व्यक्ति के बतौर सही रूप में मूल्यित कर सके—यह प्रतिज्ञप्ति उससे भी जुड़ती है। स्त्री पर एक और दमनचक्र मनोवैज्ञानिक रूप में चलता है। यहाँ स्त्री को पुरुष के बराबर दर्जा नहीं दिया जाता है और उसे पुरुष से निम्न, अवरकोटिक समझा जाता है, क्योंकि उसे पुरुष का शरीर और मस्तिष्क प्राप्त नहीं है। इस *दमनपरक ग्रन्थि का नाम पितृसत्तात्मकता* (patriarchy) है। यह परिवार में *पिता की शासन-व्यवस्था* है। *स्त्रीवादी सिद्धान्त* इस *पितृसत्तात्मकता* को घर-परिवार में, समाज में, राज्य में, धर्म के अधिष्ठानों—गिरजा, मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारों—में, कानून में, शिक्षा में, काम करने की जगहों में—सर्वत्र सक्रिय देखता है। यही नहीं, इससे स्वयं भी बुरी तरह वशीभूत और प्रभावित होता है, क्योंकि सशक्त बाहरी संस्थाओं के प्रभाव से वे इसी मूल्य को प्राप्त कर लेता है। स्त्रीवादी चिन्तन या चेतना ऐसी संरचनागत असमानताओं को उद्घाटित करने, चुनौती देने और उन्हें परिवर्तित करने के लिए संकल्पित है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्त्रीवाद और हिन्दी कथा-लेखन

आज यह *स्त्री-चेतना* कहाँ जा रही है? यह *स्त्रीवाद* के एक प्रकार *शिश्नपरक स्त्रीवाद* में सीमित होकर रह गई है। हिन्दी कथा-साहित्य में *स्त्री-चेतना* से सम्पन्न कथा-लेखिकाओं के स्वच्छन्द और अनैतिक भोग-विषयक यौन-सम्बन्धों की एक झाँकी लें। क्या यही *स्त्री-चेतना* है? इसके कुछ उदाहरण मैं *श्री राजेन्द्र सिंह गहलौत* द्वारा लिखित 'वर्तमान साहित्यिक स्त्री-विमर्श' आलेख (अक्षरा, मई-जून, 2007) से चुनकर दे रहा हूँ :

- "यह पेट पर नोचियो से हमला करता है और हाथ सरकाता हुआ आगे बढ़ता है। सीना ऐसे दबाता है कि किसी ढोर ने चबा डाला हो। मगर ड्राइवर मामूली आदमी नहीं, गेयर बदलने में माहिर, स्पीड बढ़ाने-घटाने का मास्टर। मूँछों में मुस्काता आया। नमस्ते किया और आगे बढ़ गया। कुछ क्षण बाद पलटकर बाँह पकड़ ली मैत्रेयी की। बस में बैठी हुई चार सवारियों से बोला—ये हमारी साली साहिबा है। आधी घरवाली। पास नहीं बैठने देती। कहते हुए सटकर बैठ गया और वही पेट पर चिकोटी भर ली।"

(मैत्रेयी पुष्पा, कस्तूरी कुण्डल बसै, पृष्ठ 125, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली)

मैत्रेयी का ही दूसरा उदाहरण देखें—

- "विष वमन होने लगा जबकि पत्नी अपनी स्त्री-व्यावहारिकता पर इतरा रही थी। खुद डाँड़ चलाकर नाव खेना और पार उतरना उसके लिए यहाँ उपलब्धि के तौर पर आया, क्योंकि डॉक्टर को अपनी कलाएँ दिखा दीं।" (वही, पृष्ठ 250) यह विपरीत रति की कामशास्त्रीय झाँकी है—
  उसने गुस्से के मारे पति को झकझोर डाला..."ए, सीधे लेटो और मेरी ओर मुँह करो। पहले यह बताओ कि, ब्याह क्यों किया? हमने पार लगा दिया तो नखरे पसारने लगे? समझे रहना कि मुझे नखरे-वखरे अच्छे नहीं लगते।" (पृष्ठ 251)

रमणिका गुप्ता का एक आत्मस्वीकार देखें—

- "मुझे एक बड़े नामी वकील साहब से बहुत घनिष्ठता थी...मुझे बहुत चाहते थे—मेरी देख-रेख भी करते थे...
  मैं चाहती थी कि उनसे मुझे एक बच्चा हो...पेट में बच्चा रह गया तो मैं परीक्षा के बाद अपने पति के घर लौट गई थी। मेरे पति को सन्देह हो गया था कि पेट का बच्चा उनका नहीं है...उनकी भाभी जिससे उनका बचपन से सम्बन्ध था और जिसे मेरे पति से एक बच्ची भी पैदा हुई, आकर सन्देह को और पुख्ता कर जाती।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"एक दिन वे आए अपने साथ एक मित्र को लेकर मुझसे उनका सम्पर्क कराया। मुझे लगा वह मुझे पास आन कर रहे हैं।"

(रमणिका गुप्ता, 'हंस' जनवरी 2002 एवं फरवरी 2002 में प्रकाशित आत्मकथ्य, पृष्ठ 35, 36)

"जंगल में जाकर नंगे कभी अधनंगे होकर शिकार की खोज में चल देते। मैं उसे "आदम" कहती वह मुझे "ईव"।

"मेरे साथ रातें भी बिताईं वे मेरी ही रातें थीं। उसने अपनी पत्नी की रातों को कभी बेचैन नहीं होने दिया।"

"उसी ने मुझे रात का सही प्रयोग सिखाया। वैसे युवावस्था में बहुत पहले 'आ' ने मुझे ऐसा ही सुख दिया था। सहवास का सही और सच मतलब इन्हीं दोनों ने सिखाया था।"

('हंस' जनवरी, 2002, पृष्ठ 33 एवं 35 'तुम्हारी और मेरी मुक्ति')

स्त्री-चेतना का प्रश्न है–

"शुद्ध दैहिक व्यापार के लिए क्या प्यार की रसीद कटाना जरूरी है?"

"मैंने जीवन में अनेक पुरुष देखे हैं एक तुम भी सही।"

स्त्री-चेतना-सम्पन्न स्त्री प्रसन्न होती है कि उसने एक पुरुष को भोगा है–"मेरा मन रुई सा हल्का था...मैंने एक पुरुष को, जो मेरा पति नहीं है, भोगा था..."

(कालिंदी सिंह, एक अपनी जगह, 'हंस', जुलाई, 2001, पृष्ठ 32)

एक दूसरा उदाहरण देखें–

"छोड़ो-छोड़ो...क्या करती हो? मेरी बेटी के समान हो।"

"बेटी हूँ, प्रिया भी हूँ, मित्र भी हूँ, प्यार में उम्र का कोई बन्धन नहीं होता।"

"मुझे आप पसन्द हो, पाप-पुण्य छोड़िए हमें अपनी दबी ख्वाहिशों को पूरा करने में कोई अपराध-बोध नहीं होना चाहिए। जवान को चुनो उसके इशारे पर नाचो...गर्भ ठहरने का खतरा अलग मँडराए...यहाँ शान्ति से बिना किसी टेंशन के आनन्द मिलता है, किसी को शक भी नहीं..."

('अपने-अपने कुरुक्षेत्र', हंस, मार्च, 2000, पृष्ठ 26)

नैतिकता को कैसा धक्का देती है यह *स्त्री-चेतना*–

- "देह किसी ब्राह्मण की रसोई नहीं है, जूठी हो जाएगी। इनमें नैतिकता का थर्मामीटर मत लगाइए।"

"नैतिकता का जो पाठ स्त्री को बचपन से पढ़ाया गया है उसकी वजह से मैं जीवनभर पुरुषों के साथ प्रेम नहीं कर पाई, पुरुषों के साथ ढंग से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सो नहीं पाई। हो सकता था कि चार पुरुषों के साथ प्यार करती या सोती तो शायद मैं सेक्स का असली सुख जान पाती।"

(गीताश्री, स्त्री ही स्त्री पर पहरा बैठाती है–'हंस' सितम्बर, 2005, पृष्ठ 72-73)

एक-दो और अभिव्यक्तियाँ देखें–

- "चोली के पीछे क्या है की तर्ज पर बजने लग गया" "धीरे से डारो सैंया धीरे से डारो। नाजुक उमरिया हमारी धीरे से डारो।"

(लवलीन, सुरंग पार की रोशनी–'हंस', अक्टूबर, 1998, पृष्ठ 73)

एक और संवाद को लीजिए–

- "बच्चे एक जैविक आवश्यकता हैं सुनीता"
  "बच्चे नहीं सेक्स..."
  "और सेक्स की कोई कमी नहीं है...
  पर जिस दिन अपनी कोख से बच्चा जनना चाहूँगी कोई बाधा नहीं है। तुम्हारे बुद्धिमान नौजवान तुरन्त सहयोग देने के लिए आतुर हो उठेंगे–"

(लता शर्मा, खुल जा सिम-सिम, 'हंस', जून, 1999, पृष्ठ 25)

कहाँ है *स्त्री-चेतना* का *अर्थ-स्वातन्त्र्य*, कहाँ है *स्वाभिमान* और *स्वावलम्बन*? कहाँ है *अभिव्यंजनापरक स्त्रीवाद* वाली स्त्री-चेतना? इसलिए मुझे लगता है कि *पश्चिमी स्त्री-चेतना से परे* भारतीय स्त्री-चेतना की पड़ताल और पहचान अपेक्षित है। इस पर विशेष रूप में स्त्रियों को ही विचारने की अपेक्षा है।

स्त्रीवाद तथाकथित रूप में एक आदर्शवादी स्थिति है। पर स्त्रीवाद सदैव इस ज्ञानात्मक तथ्य के सम्पर्क में रहता है कि 'यथार्थ' 'आदर्श' नहीं है कि इसे बदलना चाहिए और इसे बदला जा सकता है, यदि हम आवश्यक क्रान्ति को सक्रिय बनाएँ। आज स्त्री-चेतना के लिए इसकी अपेक्षा है। पर आज की स्त्रीवादी चेतना को विधेयात्मक सकारात्मक दिशा देने के लिए हमें उस भारतीय स्त्री-चेतना (इस्लाम और ईसाइयत के आने के पूर्व) की ओर भी उन्मुख होना होगा, जहाँ स्त्री को ही मूल शक्ति माना गया है, जिससे आज बिना भारतीय मूल्यवत्ता से कटे उसे उसका पूरा स्वत्व प्राप्त हो सके, वह पश्चिमी यौनपरक उच्छृंखलता और उसकी उपभोगात्मकता से अपने को बचा सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रस्यचक्षु इतिहासमेतत्

गुंजन अग्रवाल*

इतिहास क्या है? इतिहास-शिक्षण का उद्देश्य क्या है? इतिहास के प्रति दृष्टिकोण क्या होना चाहिए? प्राचीन भारत में इतिहास-लेखन की परम्परा क्या थी? भारतीय इतिहास का पुनर्लेखन क्यों?—ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जो भारतीय समाज में न केवल बुद्धिजीवियों को परेशान कर रहे हैं, बल्कि देश के राजनीतिज्ञ भी इससे भयभीत हैं; और देश का सामान्य व्यक्ति भी कौतूहलपूर्वक इतिहास में चल रही रस्साकशी को देख रहा है।

हमारी मान्यता है कि इतिहास किसी भी राष्ट्र का प्राण है। राष्ट्रात्मा का ज्ञान और राष्ट्र-शरीर का कर्म उसी पर निर्भर है। वह सभ्यता का आधार एवं संस्कृति का प्रधान अंग है। भविष्य के निर्माण में इतिहास का सहयोग अनिवार्य रूप से रहा करता है। इसलिए यदि इतिहास की उपेक्षा की गई तो राष्ट्र का पतन अवश्यंभावी होता है। अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त इतिहासविद् डॉ. हरवंशलाल ओबराय (1925-1983) कहा करते थे कि "इतिहास एक राष्ट्र के उत्थान-पतन की तथ्यपूर्ण गाथा है। 'राष्ट्रस्यचक्षु इतिहासमेतत्' अर्थात् इतिहास राष्ट्र का चक्षु है, जिसके द्वारा राष्ट्र अपने अतीत को पहचानकर वर्तमान में कर्म के लिए प्रेरणा प्राप्त करता है तथा श्रेष्ठतर भविष्यत् के निर्माण के लिए साधना करता है।"[1]

जब तक कोई राष्ट्र अपने इतिहास का चिन्तन करता रहता है, उससे प्रेरणा ग्रहण करता रहता है, तब तक उसकी प्रगति में बाधा नहीं आती। किन्तु ज्योंही कोई राष्ट्र अपने इतिहास को भुला बैठता है, त्योंही वह अपनी राष्ट्रीयता के आधार-स्तम्भ को ही खो देता है। संसार के सभी सभ्य राष्ट्र इस तथ्य को भली भाँति समझते हैं और अपने इतिहास के सहारे प्रगति करते हुए अपने आचरण के द्वारा अपने इतिहास-प्रेम को प्रदर्शित करते हैं।

* प्रधान सम्पादक, 'पटना परिक्रमा' (पटना बिजनेस डायरेक्टरी); पूर्व उपसम्पादक, 'सनातन भारत' (हिन्दी मासिक, पटना); सम्पर्क : साहित्य भारती प्रकाशन, गोपी-कृष्ण पैलेस, भिखना पहाड़ी, पटना-800 004 (बिहार) मो. : 09334518851

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास की भारतीय संकल्पना

इतिहास केवल शब्द-मात्र नहीं है। वह अपने भीतर एक गूढ़ अर्थ धारण किए हुए है। महाभारत युद्ध (3139-3138 ई.पू.) से लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् आचार्य शौनक लिखते हैं :

'इतिहासः पुरावृत्त ऋषिभिः परिकीर्त्यते।'[2]

अर्थात्, इस विषय का इतिहास अथवा पुरावृत्त ऋषियों द्वारा कीर्तित है।

यास्काचार्य अपने निरुक्त ग्रन्थ में 'इतिहास' शब्द पर लिखते हैं :

'इति हैवमासीदिति यः कथ्यते स इतिहासः।'[3]

अर्थात्, यह निश्चय से इस प्रकार हुआ था; यह जो कहा गया है, वह इतिहास है।

इस प्रकार इतिहास शब्द इति + ह + आस से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है–इस प्रकार हुआ था, ठीक ऐसा ही हुआ था। अर्थात् अतीत की घटनाओं की ठीक उसी प्रकार व्याख्या करना जिस प्रकर वे घटित हुई थीं–सच्चा इतिहास-वाचन है। कल्पित, अनुमानित और संदिग्ध बातें इतिहास नहीं हैं। इस रूप में इतिहास सत्यान्वेषण है, सत्यानुसन्धान है। इतिहास के इस अर्थ पर ध्यान देने से ज्ञात होगा कि संसार में भारतवर्ष ही एकमात्र ऐसा देश है, जहाँ के मनीषियों ने इतिहास के अर्थ और मर्म–दोनों को समझा और अनुभव किया था। यही एकमात्र ऐसा देश है, जहाँ इतिहास की एक निश्चित परिभाषा दी गई थी–

'धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।
पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥'[4]

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के उपदेश सहित तथा प्राचीन कथाओं से युक्त ग्रन्थ को ही 'इतिहास' कहा जाता है।

इतिहास की इस परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि इतिहास केवल पूर्वकाल की घटनाओं व तथ्यों का संकलन-मात्र ही नहीं, बल्कि उसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उपदेश भी होना चाहिए। किस राजा ने कब युद्ध किया, कौन जीता, कौन हारा; किसने कौन-सा देश अपने अधिकार में कर लिया, सन्-संवत्-समय; केवल इन्हीं बातों को हमारे पूर्वज 'इतिहास' नहीं कहते थे। जबतक उसमें धर्म और मोक्ष का उपदेश न हो, तब तक पूर्वकथा होने पर भी कोई ग्रन्थ 'इतिहास' नहीं कहलाता था। दुर्योधन, कंसादि राजाओं का प्रजा को पीड़ा पहुँचाने से किस प्रकार नाश हुआ और राजा रघु, राम आदि महात्मा नृपतिगणों ने प्रजापालन में तत्पर होकर कैसी-कैसी सिद्धियाँ प्राप्त कीं; राजा लोग प्रजा को सुरक्षित और सुखी रखने के लिए कैसे-कैसे यत्न करते थे, ये सब विषय इतिहास के अन्तर्गत हैं। आश्रमवासी, ऋषिमुनिगण संसार की ममता छोड़कर भी राजा और प्रजा के कल्याण की कामना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते थे। इसी प्रकार प्रजा के पालन व दुष्टों के दमन में धर्म की वृद्धि और अधर्म से नाश स्पष्ट रूप से दिखाना ही इतिहास का प्रधान उद्देश्य है।

इतिहास में सम्पूर्ण ज्ञातव्य विषय होने चाहिए। किस राजा के समय में प्रजा की क्या अवस्था थी, राज्य में किस प्रकार वाणिज्य-व्यापार होता था; विद्या की चर्चा, प्रजाजन का सुख, राजा का धन व बल, ज्ञान की वृद्धि और उसी के साथ धर्माचरण और कर्तव्य का उपदेश व अकर्तव्य का निषेध एवं मोक्षधर्म की शिक्षा-प्रणाली इत्यादि विषय इतिहास में होने चाहिए।

'साहित्य दर्पण' में ग्रन्थकार ने सूचित किया है कि 'इतिहास पाठ करने का फल यह है कि पढ़नेवाला व्यक्ति राम आदि की भाँति बर्ताव करने का यत्न करे और रावणादि दुष्टों के चरित्र से घृणा करे और यदि चरित्र वैसा दूषित हो तो उसे छोड़ने का यत्न करे।' धर्मसम्राट् स्वामी करपात्री जी महाराज (1909-1982) ने भी लिखा है कि 'बुरी घटनाओं का वर्णन बुरे कामों से बचने और सावधान करने के लिए होता है तथा अच्छी घटनाओं का वर्णन गुण ग्रहण एवं प्रोत्साहन के लिए होता है। इसलिए रामायण के अध्ययन से यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि राम-भरत आदि के समान बर्तना चाहिए, रावणादि की तरह नहीं। महाभारत पढ़कर यह पाठ सीखना चाहिए कि युधिष्ठिर के समान बर्ताव करना चाहिए, दुर्योधन आदि के समान नहीं—'रामादिवद् वर्त्तितव्यं न यथा रावणादिवत्। युधिष्ठिरादिवद् वर्त्तितव्यं दुर्योधनादिवत्॥'[5] कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक इतिहास-पाठ करके त्याग व स्वीकार का ज्ञान न हो, तब तक केवल सन् व संवत् जान लेने से इतिहास पढ़ने का यथार्थ फल नहीं मिलता।

अस्तु! इतिहास की उपर्युक्त परिभाषा और लक्षण के अनुसार अष्टादश महापुराण[6], अष्टादश उपपुराण[7], 36 अन्य पुराण-ग्रन्थ[8], रामायण[9] एवं महाभारत[10] ग्रन्थ इतिहास के अन्तर्गत हैं; और जितने भी नवीन 'तवारीख़' और 'हिस्ट्री' हैं, जिनमें धर्म और मोक्ष के उपाय वर्णित नहीं हैं, वे 'इतिहास' नहीं कहे जा सकते।

आजकल लोग जिसे 'इतिहास' कहते हैं, वह वास्तव में 'इतिकथा' है। इतिकथा है घटनावलियों का क्रमिक समाहार; घटनाओं का क्रमिक पंजीकरण, छिन्न-विच्छिन्न घटनाओं का एक धारावाहिक विवरण। इस पंजीकरण से लोक-शिक्षा हो भी सकती है, नहीं भी हो सकती है। इसका लक्ष्य लोक-शिक्षा नहीं है। भिन्न-भिन्न राजाओं के जन्म और मृत्यु की तिथि कण्ठस्थ करने से किसी का कुछ भी भला नहीं होता, पर सामयिक जीवन की धाराएँ किसी विशेष समय में अथवा जीवन के किसी विशेष पक्ष में समाज किस प्रकार आगे बढ़ा, इसका कुछ ज्ञान 'इतिकथा' से अवश्य हो जाता है। इतिकथा के अध्ययन से पुराकालीन सामाजिक अवस्था के बारे में जाना जा सकता है, वर्तमान से उसकी तुलना की जा सकती है। संस्कृत में इतिकथा के अनेक पर्यायवाची शब्द हैं, जैसे—'पुराकथा', 'इतिवृत्त',

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'पुरावृत्त' इत्यादि। परन्तु अंग्रेजी में इसके लिए केवल एक ही शब्द है हिस्ट्री।

'इतिहास' इतिकथा का सोद्देश्य विकसित रूप है। इतिकथा-लेखन के जिस रूप में शिक्षागत मूल्य सन्निहित हो, उसे ही इतिहास कहते हैं। स्कूल-कॉलेजों के पाठ्यक्रमों में जो 'भारत का इतिहास', 'ब्रिटेन का इतिहास', 'यूरोप का इतिहास' कहकर पढ़ाया जा रहा है, वह वास्तव में इतिकथा है, इतिहास नहीं। इतिकथात्मक सारी रचनाएँ 'इतिहास' नहीं हैं। इतिहासलेखन सोद्देश्य होता है, जबकि इतिकथा प्रामाणिक पंजीकरण-मात्र होती है।

इतिहास एवं पुराण

इतिहास एवं पुराण—दोनों शब्दों से इतिहास का ही बोध होता है। अर्थात् इतिहास एवं पुराण एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। परन्तु प्रायः अपने देश के तथाकथित दिग्गज विद्वान् पुराणों का अर्थ अंग्रेजी के 'माइथोलॉजी' (mythology) के हिन्दी अनुवाद के रूप में स्वीकार करते हैं। 'माइथोलॉजी' शब्द 'मिथ' (myth) से बना है। और 'मिथ' का अर्थ है 'मिथ्या' अर्थात् जिसका कोई अस्तित्व न हो। इस प्रकार समस्त पौराणिक साहित्य को 'माइथोलॉजी' अर्थात् 'मिथ्या' अर्थात् काल्पनिक घोषित कर दिया गया है।

परन्तु हमारी मान्यता है कि हमारे पुराण हमारा इतिहास हैं। यह सत्य है कि वे हमारा काव्य भी हैं। काव्य में कल्पना का समावेश अवश्य होता है, किन्तु हमारा पौराणिक काव्य इतिहासाश्रित है, उसमें काव्यात्मक कल्पना का मिश्रण नहीं हुआ है। पौराणिक साहित्य में स्थान-स्थान पर इतिहास को पुराण से सम्बद्ध किया गया है–

'इतिहासपुरार्णस्तु निश्चयोऽयंकृतः पुरा।'[11]
'इतिहासपुराणानि श्रुत्वा भक्त्या द्विजोत्तमाः।'[12]
'इतिहासपुराणाभ्यां न त्वन्यत् पावनं नृणाम्।'[13]
'इतिहासपुराणानि श्रुत्वा भक्तया विशेषतः।'[14]
'इतिहासपुराणानि पंचमं वेदमीश्वरः।'[15]

केवल पुराणों में ही नहीं, अपितु वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, दर्शन और महाभारत में भी इतिहास को पुराण एवं पुराण को इतिहास ही कहा गया है–

'इतिहासपुराणं च गावश्च नाराशंसीश्चानुष्यचलन्।'[16]
'इतिहासपुराणम्'[17]
'इतिहासपुराणं गाथा नाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते।'[18]
'इतिहासपुराणं पुष्पं।'[19]
'ते वा एतेऽथर्वांगिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपँस्तस्याभिरप्यस्य।'[20]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'चतुर्थ मितिहासपुराणं'[21]
'इतिहासपुराणः पंचमो वेदानां वेदः'[22]
'चतुर्थ मितिहासपुराण पंचम वेदानां वेद'[23]
'इतिहासपुराणार्थं कात्स्नर्येन विदितास्तव।'[24]

इतना ही नहीं, भविष्य महापुराण में तो एक जगह स्पष्ट रूप से अंकित है कि अष्टादश महापुराण इतिहास ही हैं–

'अष्टादश पुराणानि सेतिहासानि भारत।'[25]

कौटिल्य (16वीं शताब्दी ई.पू.) के अनुसार पुराण, रामायण, महाभारत आदि इतिहास; आख्यायिका, उदाहरणमीमांसा आदि मन्वादि धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र–इन्हें 'इतिहास' ही समझना चाहिए–

'पुराणमितिवृत्तमाख्यादिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रंचेतीहासः'[26]

कौटिल्य ने भी इतिहास को पुराणों से सम्बद्ध किया है–

'इतिहासपुराणाभ्यां बोधयेऽर्थशास्त्रवित्।'[27]

कुछ विद्वानों को भ्रम है कि जिस प्रकार बाइबिल, कुरान शरीफ, जेन्दावेस्ता आदि धर्म-ग्रन्थ हैं, उसी प्रकार पुराण भी हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थ हैं। लेकिन यह बात भी सही नहीं, क्योंकि पुराणों में धर्मशास्त्रों को पुराणों से भिन्न बताया गया है–

'अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चैव ते त्रयः।
अर्थशास्त्रं चतुर्थं विद्या ह्ष्टादशैव ताः॥'[28]

अर्थात्, 6 वेदांग[29], 4 वेद, मीमांसा, न्याय, पुराण, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र–ये 18 विद्याएँ हैं।

उपरोक्त प्रमाण से स्पष्ट है कि धर्मशास्त्र और पुराण (इतिहास) अलग-अलग विद्याएँ हैं। इसलिए पुराण धर्मशास्त्र या धर्मग्रन्थ नहीं हैं। गोस्वामी तुलसीदास (1497-1623) ने रामकथा पर आधारित 'श्रीरामचरितमानस' की रचना भारतीय इतिहास को पुनर्जीवित करने के लिए नहीं, बल्कि धर्म को जाग्रत् करने के लिए की, इसलिए श्रीरामचरितमानस एक धार्मिक ग्रन्थ है। परन्तु पुराणों की रचना धर्म के जागरण के लिए नहीं, बल्कि इतिहास के निरूपण हेतु की गई, इसलिए पुराण ऐतिहासिक ग्रन्थ हैं।

पुराण सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित–इन पाँच लक्षणों से युक्त होते हैं, इसलिए भी वे ऐतिहासिक ग्रन्थ हैं–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥'[30]

आज के विद्वान् यह नहीं समझते या समझना नहीं चाहते कि पुराणों का इतिहास देवलोक एवं पृथ्वीलोक का सम्मिलित इतिहास है। प्राचीन सत्ययुग से द्वापर के अन्त तक भारतवासियों का देवलोक से प्रत्यक्ष सम्पर्क था। देवता यहाँ पधारते थे और मनुष्य देवलोक की सशरीर यात्रा करते थे। फलतः पुराणों में देवलोक और पृथ्वीलोक का मिला-जुला वर्णन है। इस भेद को न समझकर और पूरा इतिहास पृथ्वी पर का मानकर ये इतिहासकार देवताओं को भी पृथ्वी का राजा या व्यक्तिविशेष मानने का यत्न करते हैं और घटनाक्रम का समाधान न पाकर पुराणों को 'माइथोलॉजी' ठहराने लगते हैं। आज का मानव, वीर्यहीन, बलहीन, संकल्पहीन हो गया है। वह देवलोक की स्थिति को नहीं समझ पाता। किन्तु हमारे महान् पूर्वज केवल पाँच हज़ार वर्ष पूर्व तक देवलोक के प्रत्यक्ष सम्पर्क में रहे हैं। पुराणों के इतिहास को यह समझकर ही देखने से ठीक तात्पर्य ज्ञात होगा।

इतिहास के सम्बन्ध में पुराणों की दीर्घकालीन तपस्याएँ, दीर्घ जीवन, दीर्घाकृतियाँ, विशाल संख्याएँ भी विद्वानों को उलझन में डालती हैं। दीर्घायु के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं है। मनुष्य उत्तरोत्तर अल्पजीवी होता जा रहा है। समाचार-पत्रों में नौ, दस तथा पाँच वर्ष की लड़कियों के सन्तान होने की बात छप चुकी है। आज भी सवा सौ-डेढ़ सौ वर्ष के व्यक्ति जीवित हैं और तब भी साठ-सत्तर वर्ष की आयु लम्बी मानी जाती है। जब सौ-पचास वर्षों में यह स्थिति है, तब लाखों-करोड़ों वर्ष पूर्व–सत्ययुग, त्रेता और द्वापर में क्या स्थिति रही होगी, इसका श्रद्धापूर्वक अनुमान तो लगाया ही जा सकता है! किन्तु ह्रास होता है, यह देखकर भी कुतर्क करनेवाले को सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। आकृति के सम्बन्ध में भी यही बात है। विज्ञान यह स्पष्ट कहता है कि मनुष्य के आकार में, बल में ह्रास हो रहा है। अमेरिकी जेनेटिक विज्ञानी जॉन ग्लैड ने अपनी पुस्तक 'द फ्यूचर इवॉल्यूशन ऑफ मैन' (The Future Evolution of Man) में लिखा है कि 'आँकड़े गवाह हैं कि मनुष्य की औसत ऊँचाई और आयु घट रही है।' यूरोप में प्राचीन मनुष्यों की जो खोपड़ियाँ मिली हैं, वे आज के मनुष्य की खोपड़ी से लगभग ढाई गुनी बड़ी हैं। मिस्र में मनुष्य के सुरक्षित शव (ममी) मिले हैं। दिल्ली के पास ही एक मानव खोपड़ी मिली थी, जिसके नेत्रों के छिद्रों से आज के मानव का सिर सरलता से निकल सकता था। अतः पुरानी दीर्घाकृतियाँ हमारी समझ में भले न आएँ, किन्तु बुद्धि के बाहर की नहीं हैं। उनकी सत्यता का अनुमान किया जा सकता है।[31]

एक महत्त्वपूर्ण बात और भी है कि क्या हमारे वे महान् पूर्वज, जिन्होंने भारत को जगद्गुरु के पद पर प्रतिष्ठित किया, झूठ लिखते थे? जिन पूर्वजों ने सदा-सर्वदा सत्य का ही पक्ष लिया, सत्य को ही उद्घाटित और प्रतिष्ठित किया, सत्य की रक्षा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए प्राणोत्सर्ग किया, सत्य ही जिनके लिए सबकुछ था, 'सत्यमेवजयति नानृतम्'[32], 'सत्यम् वद'[33] और 'सत्यम् ब्रूयात्'[34] ही जिनका आदर्श वाक्य था, ऐसे महान् पूर्वजों ने बुद्धि-विलास के लिए झूठ लिखा? केवल 'सत्य' की रट लगानेवाले व्यास, वाल्मीकि, भृगु, याज्ञवल्क्य ने झूठ लिखा? नहीं! कदापि नहीं!! यदि पुराण 'माइथोलॉजी' हैं, रामायण और महाभारत काल्पनिक उपन्यास हैं, तो दुनिया की तमाम पुस्तकें माइथोलॉजी अर्थात् काल्पनिक हैं—ऐसा हमारा मत है।

प्राचीन मुसलमान लेखक सम्भव और असम्भव—सभी विषयों को एकत्र करके अपना ग्रन्थ लिखते थे। जिस बादशाह के समय में इतिहासकार विद्यमान होता था, इतिहासकार उस बादशाह की बड़ी प्रशंसा और उसके शत्रुओं की व्यर्थ निन्दा लिखता था। वह यदि ऐसा न लिखता तो उसका बनाया हुआ ग्रन्थ बादशाह की आज्ञा से नष्ट कर दिया जाता। सम्पूर्ण विषय जानकर यथार्थ लिखना मुस्लिम लेखकों को आता ही नहीं था। विशेषकर अन्य मतावलम्बियों के विषय में जानना तो और भी कठिन था एवं उस बात पर उस समय के इतिहासकार ध्यान भी नहीं देते थे। मुसलमान बादशाह या भारतवर्ष पर आक्रमण करनेवाले विजेता हिन्दुओं के मन्दिर तोड़ते और नष्ट कर देते थे; बस इतिहासकारों ने यह लिख दिया कि 'काफिरों का नारकीय स्थान तोड़ दिया।' उन चाटुकार इतिहासकारों ने यह भी जानने की कोशिश नहीं की कि उस मन्दिर में कौन-से देवता की मूर्ति कितनी प्राचीन थी या किस राजा अथवा धनी का बनवाया हुआ मन्दिर था। ऐसी तमाम विसंगतियाँ प्राचीन और मध्यकालीन मुस्लिम लेखकों की पुस्तकों में भरी पड़ी हैं; फिर भी उन्हें 'ऐतिहासिक ग्रन्थ' माना जाता है। ई. जे. रैप्सन, रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर (1837-1925), विन्सेन्ट आर्थर स्मिथ (1843-1920), फ्रेडरिक ईडन पार्जीटर (1852-1927), देवदत्त रामकृष्ण भाण्डारकर (1875-1950), काशी प्रसाद जायसवाल (1881-1937), अनन्त सदाशिव अल्तेकर (1889-1959), हेमचन्द्रराय चौधरी (1892-1957), सीतानाथ प्रधान, रंगाचार्य, जयचन्द्र विद्यालंकार आदि ने अपने ऐतिहासिक ग्रन्थों, समीक्षाओं, शोध-प्रबन्धों और लेखाकों में पौराणिक सामग्री का भरपूर उपयोग किया है।

भारत का पौराणिक इतिहास संवाददाताओं के तार, टेलीप्रिंटर के आधार पर या अटकलों के आधार पर नहीं बना; और न किसी मूर्ति, शिलालेख, स्तम्भों अथवा मुद्राओं के आधार पर ही बना है। रामायण, महाभारतादि आर्ष इतिहास के लेखक वाल्मीकि, व्यास आदि समाधिजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा के अनुसार घटनाओं को पूर्णतया जानकर ही इतिहास लिखने में संलग्न हुए थे। उन्होंने जो भी दिव्य-दृष्टि से देखा, वही लिखा। योग से ऐसा होना असम्भव नहीं; इसलिए अधूरी, भ्रान्तिपूर्ण खोजों के आधार पर पुराणों के किसी नियम को गलत नहीं ठहराया जा सकता, वो भी ऐसी स्थिति में जब उनके वर्णन क्रमशः सत्य सिद्ध होते जा रहे हैं। पुराण दिव्य, अपौरुषेय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और ईश्वरीय ज्ञान हैं। वे ही हिन्दू संस्कृति के प्रेरक, पोषक और भण्डार हैं। उनमें न तो विकृति आई है और न उनकी कोई बात कोरी कल्पना ही है। पुराणों के वर्णन जहाँ रूपक हैं, वहाँ उन्हें स्पष्ट रूप से रूपक बता दिया गया है, जैसे भागवत महापुराण का 'पुरंजनोपाख्यान'। शेष वर्णन अक्षरशः सत्य हैं। वे रूपक नहीं हैं।

पुराणों में अनेक ऋषियों या प्रधान पुरुषों की चरित-सम्बन्धी त्रुटियों के वर्णन हैं। ऐसी त्रुटियों के न करने का कहीं आदेश तो है नहीं; लेकिन सत्य को कहीं छिपाया भी नहीं गया है। इस सम्बन्ध में साधारण दृष्टि और महापुरुषों की दृष्टि में ही अन्तर होता है। महापुरुषों का दृष्टिकोण होता है कि उनकी त्रुटियाँ प्रकट हो जाने से समाज सावधान होगा। लोग समझ लेंगे कि इतनी उच्च्य स्थिति में भी ऐसे विकार आ सकते हैं; वे प्रमाद नहीं करेंगे। पुराणों में महर्षियों ने इसी दृष्टिकोण से त्रुटियों को छिपाया नहीं है यदि राम केवल काल्पनिक आदर्श मात्र होते तो वाल्मीकि उनके चरित्र को रामायण के आदि से अन्त तक निष्कलंक ही रखते, छल से बालि-वध जैसी घटनाओं को कभी न लाते। वाल्मीकि रामायण को पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि कथानक की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में आदि-कवि को कोई सन्देह न था।

पुराणों की कालगणना

पुराणों में घटनाक्रम की कालबद्ध चर्चा परार्ध, कल्प, मन्वन्तर, युग और संवत्सर में की गई है। परार्ध, कल्प, मन्वन्तर, युग और संवत्सर का प्रयोग भारत-भर के हिन्दू और संसारभर में फैले प्रवासी हिन्दू अपने दैनिक जीवन में 'संकल्प पाठ' के अन्तर्गत करते हैं। किसी भी धार्मिक कृत्य को करने से पूर्व हाथ में जल और अक्षत लेकर 'संकल्प पाठ' किया जाता है। सारे भारतवर्ष में आजतक चलनेवाले 'संकल्प पाठ' के मन्त्र समान हैं। 'संकल्प पाठ' में कहा जाता है—*"...श्री ब्रह्मणो द्वितीय परार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे वैवस्वत मन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलि प्रथम चरणे विक्रमाब्द...शालिवाहन शके...जम्बूद्वीपे भारतवर्षे भरतखण्डे आर्यावर्तेकदेशांतर्गते ब्रह्मावर्तेकपुण्यप्रदेशे बुद्धावतारे वर्तमाने यथानाम संवत्सरे अमुकायने महामांगल्यप्रदे मासानाम् उत्तमे अमुकमासे अमुकपक्षे अमुक तिथौ अमुकवासरान्वितायाम् अमुकनक्षत्रे...*"[85] अर्थात् ब्रह्मा के द्वितीय परार्ध के श्वेतवाराह कल्प के वैवस्वत मन्वन्तर के 28वें कलियुग के प्रथम चरण में विक्रम संवत्...और शालिवाहन संवत्...में जम्बूद्वीप के भारतवर्ष के भरतखण्ड के आर्यावर्त के अन्तर्गत ब्रह्मावर्त नामक पुण्यप्रदेश में, जब (अन्तिम बार) भगवान् बुद्ध का अवतार हुआ था; अमुक संवत्सर के अमुक अयन के अमुक मास के अमुक पक्ष में अमुक तिथि को अमुक वार को और अमुक नक्षत्र में...अमुक कार्य हेतु मैं संकल्प कर रहा हूँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही है हमारी परम्परागत कालगणना। पुराण इसी कालगणना के अन्तर्गत तथ्यों का विवरण देते हैं। इस कालगणना के अनुसार ब्रह्माण्ड की कुल आयु 31,10,40,00,00,00,000 वर्षों में से 15,55,21,97,29,49,110 वर्ष और सृष्टि की कुल आयु 4,32,00,00,000 वर्ष में से 1,97,29,49,110 वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। नई वैज्ञानिक खोजों से भी पृथ्वी की आयु लगभग दो अरब वर्ष ज्ञात हुई है। भारतीय वैज्ञानिक सुब्रह्मण्यम चन्द्रशेखर ने भी गणना करके बताया है कि पृथ्वी की आयु लगभग दो अरब वर्ष है। सर जे जींस ने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में 'आश्चर्यजनक सृष्टि' विषय पर अपने व्याख्यान में बताया है कि सृष्टि को प्रारम्भ हुए लगभग दो अरब वर्ष बीते हैं। पौराणिक कालगणना और आधुनिक विज्ञान के आँकड़ों का यह मेल बड़ा ही विलक्षण है।

सृष्टि की कुल आयु (4,32,00,00,000 वर्ष) को एक कल्प कहते हैं। एक कल्प में सूर्य 14 बार आकाशगंगा की परिक्रमा करता है। इसलिए एक कल्प में 14 मन्वन्तर कहे गए हैं। 14 मन्वन्तरों में 1,000 चतुर्युग होते हैं। एक चतुर्युग 43,20,000 वर्षों का होता है : सत्युग 17,28,000 वर्ष + त्रेतायुग 12,96,000 वर्ष + द्वापरयुग 8,64,000 वर्ष + कलियुग 4,32,000 वर्ष। ऋग्वेद की अक्षर संख्या भी 4,32,000 है–

> *'स ऋचो व्यौहत्। द्वादश बृहती सहस्राणि एतावत्यो हर्च्चों या प्रजापतिसृष्टाः।'*[36]

अर्थात्, ऋक्पदों को संचित करके प्रजापति ने व्यूह बनाया। उसमें बारह बृहती सहस्र अक्षर लगे। बृहती छंद = 36 अक्षर। इसलिए 36 × 12 × 100 = 4,32,000 ऋक् अक्षर।

सत्ययुग = 4 कलियुग; त्रेतायुग = 3 कलियुग; द्वापरयुग = 2 कलियुग। इस प्रकार 10 कलियुग का एक चतुर्युग हुआ। इसी को सहस्र गुणित (सहस्रशीर्षा–पुरुषसूक्त) करने से एक कल्प बनता है। यही सृष्टि है। इसी तरह प्रलय भी एक कल्प के बराबर ही होता है। हमारी यह कालगणना तथाकथित इतिहासकारों की कालगणना की तुलना में बहुत अधिक प्राचीन है।

पुराणों के रचयिता और रचनाकाल

> *'स यथार्द्रैधाग्निेभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषद्ः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि विश्वसितानी।'*[37]

अर्थात्, 'जैसे गीले ईंधन में अग्नि लगाने से धुआँ निकलता है, उसी प्रकार ऋग्वेद,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यजुर्वेद, सामवेद, आंगिरस, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, विद्या (धनुर्वेदादि), उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, मन्त्रविवरण तथा अर्थवाद—वे इस महद्भूत (परमात्मा) के ही निःश्वास हैं।'

उपर्युक्त श्लोक में ही श्रुति ने पुराणादि समस्त शास्त्रों को अपौरुषेय, अनादि बतलाया है। यह ईश्वरीय ज्ञान ब्रह्माजी को मिला। उनसे—

'इतिहासपुराणानि पंचमं वेदमीश्वरः।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः॥'[38]

अर्थात्, इतिहास-पुराणरूपी पाँचवें वेद को उन समर्थ, सर्वज्ञ ब्रह्माजी ने अपने सभी मुखों से प्रकट किया।

स्पष्टतः पुराण भी अनादि ईश्वरीय ज्ञान ही हैं। वेदों की ही भाँति पुराणों की भी परम्परा प्राप्त होती है और 4 लाख श्लोकवाला एक ही मूल पुराण अधिकारी-भेद से शाखा-भेद में विस्तृत हुआ, यह भी पुराणों से ज्ञात होता है। महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास (53वीं शताब्दी ई.पू.) ने पुराणों की नवीन रचना नहीं की। उन्होंने सृष्टि के प्रारम्भ से चली आ रही पुराण-परम्परा को व्यवस्थित-भर किया—अष्टादश पुराणों का उसे रूप दिया। आज जो पुराण प्राप्त है, वे पिछले द्वापर के अन्त में महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास द्वारा व्यवस्थित किए पुराण हैं।[39] इस प्रकार प्रत्येक द्वापर से पुराण व्यवस्थित होते आए हैं। स्वयं ब्रह्माजी ने व्यास के रूप में प्रत्येक द्वापर में पुराणों का संग्रह किया है—

'व्यासरूपस्तदा ब्रह्मा संग्रहार्थं युगे युगे।
चतुर्लक्ष प्रमाणेन द्वापरे द्वापरे जगौ॥'[40]

वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर के 28 चतुर्युगों के द्वापर में हुए व्यासों की सूची विष्णु महापुराण[41] में दी हुई है। व्यास-परम्परा ने पुराणों को व्यवस्थित-भर किया है; परन्तु पुराणों का समस्त वर्णन, पूरे उपदेश तथा घटनाएँ अनादि हैं। इस प्रकार पुराणों की वाणी तो व्यासकृत है; किन्तु उनका वर्णन, ज्ञानादि अपौरुषेय है, नित्य है।[42]

वेदों में इतिहास

आज के तथाकथित विद्वान् वेदों को ऐतिहासिक ग्रन्थ के रूप में निरूपित करते हैं। वेदों में से इतिहास ढूँढ़ निकालने का सिद्धान्त भारतीय विद्वानों ने पश्चिम से उधार लिया है। अर्थात् पश्चिम ने वेदों में देवतावाद, इतिहास, आख्यायिका-विकास, भाषा-विज्ञान आदि अध्ययन के विषय हमें प्रदान किए हैं। ऋग्वेद के समय के भारत तथा उसकी धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक स्थिति को लेकर जो हज़ारों ग्रन्थ पिछले सौ वर्षों में लिखे गए हैं, उनके अगुआ पाश्चात्य इतिहासकार ही हैं। उन्हीं की शैली का अन्धानुकरण कर भारत के विद्वान् इतिहास-लेखन के कार्य में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जुटे हुए हैं। जबकि वेद अपौरुषेय हैं, उनमें एक अक्षर भी इतिहास नहीं है। उनका मनुष्यकृत होना सनातन धर्म को स्वीकार्य नहीं है। यास्कराचार्य ने भी स्पष्ट लिखा है—

'ऋषयो मन्त्रद्रष्टाराः। ऋषि दर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः। तद्स्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भवभयामर्षत्।'[43]

अर्थात्, वेदों में प्रयुक्त स्तुति आदि विषयक मन्त्रों के वास्तविक अर्थ का साक्षात्कार करनेवाले क्रो ही 'ऋषि' के नाम से पुकारा जाता है। तपस्या या ध्यान करते हुए जो इन्हें स्वयम्भू नित्यवेद के अर्थ का ज्ञान हुआ, इसलिए वे 'ऋषि' कहलाए और वेदमन्त्रों का रहस्य-सहित अर्थ-दर्शन ही उनका ऋषित्व है।

मनुस्मृति की व्याख्या में कुलार्क भट्ट ने लिखा है—

'ब्रह्माद्या ऋषिपरियन्ता स्मारकाः न कारकाः।'

अर्थात्, ब्रह्मा से लेकर आजतक सभी ऋषि वेद-मन्त्रों को स्मरण रखनेवाले व पढ़ने-पढ़ानेवाले रहे हैं; कोई भी उनका कर्ता, लेखक या रचयिता नहीं है।

इस प्रकार वेद लिखे नहीं गए। उन्हें कण्ठगान कें माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सम्प्रेषित किया जाता था। इसलिए, वेदों को 'श्रुति' भी कहा गया, अर्थात् सुनने-सुनाने का ग्रन्थ। ब्रह्मा की प्रत्येक सृष्टि (कल्प) के प्रत्येक मन्वन्तर के हर चतुर्युग के द्वापर में व्यास-परम्परा द्वारा वेदों को सुरक्षित रखा जाता है। ये व्यास-ऋषि वेदों में धन, जटा, माला, शिखा आदि अनेक पाठों की व्यवस्था करके उन्हें ज्यों-का-त्यों बनाए रखते हैं। इसलिए भारतवासियों के लिए वेद-ज्ञान सनातन, अपौरुषेय, अमर, अनन्त अर्थात् त्रिकालातीत हैं। 'वेद भूतकाल के लिए थे, किसी युग-विशेष के मस्तिष्क की उपज थे और उसी समय के समाज के लिए उनका उपयोग होता था' इत्यादि बांतें पाश्चात्य और उनके पदानुगामी भारतीय विद्वानों के मस्तिष्कों में सबसे पहले आती हैं। भारतवर्ष का जो स्वदेशी जीवन है, उसके रोम-रोम में वेद अब भी विद्यमान है। हमारे समस्त संस्कार, नित्यकर्म अब भी उन्हीं वेद-मन्त्रों से होते हैं, जिन्हें 'पूर्वे पूर्वजनाः', 'पूर्वे ऋषयः' अब से पाँच या दस या बीस हज़ार वर्ष या 1,97,29,49,110 वर्ष पूर्व गाते थे।

कुछ विद्वान् वेदों को बीस या तीस हज़ार वर्ष पुराना कहकर बड़े प्रसन्न होते हैं। परन्तु यह भाव सनातन धर्म के परम्परागत विचार के विरुद्ध है। वेदों को पाँच हज़ार वर्ष पुराना कहें या बीस हज़ार वर्ष, उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। इन दोनों का ही आर्य-अनुश्रुति से विरोध है। हिन्दू भाव तो वेदों को सनातन मानता है।

आज जो यूरोप सोचता है, उसी की छाया भारतीय विद्वान् सर्वत्र ढूँढ़ते हैं। यूरोप के ही ढले हुए शब्दों, यथा—'कम्युनिज़्म', 'सोशलिज़्म', 'डिमॉक्रेसी', 'नेशनलिज़्म' आदि में सब सभ्यताओं के इतिहास को घसीट लाने की कोशिश करते हैं। अपना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन जबतक पश्चिमी परिभाषा में न कहा जाए, तब तक वह युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। पश्चिम के शब्द पाकर मानो वह नए आलोक में खिल उठता है। भारत के तथाकथित विद्वानों ने पश्चिम का पदानुकरण करते हुए भारतीय इतिहास को प्राचीन मध्यकालीन एवं आधुनिक—इन तीन कल्पित काल-विभागों में बाँटकर, भारतीय संस्कृति को प्राचीन काल में ठूँस दिया है। और इस प्रकार 'भारतवर्ष का इतिहास' अभी लिखा ही नहीं गया है। इस नाम से जो पुस्तकें प्रचलित हैं, वे पाश्चात्य विद्वानों के विचारों के नमूने हैं। 'इतिहास' शब्द का जो अर्थ वे लगाते हैं, उसी के अनुसार यहाँ का इतिहास उन्होंने लिखा है।

विगत कई हज़ार वर्षों से रामायण और महाभारत के साथ पुराण भी भारतीय जीवन को अपने विविध आदर्श चरित्रों से अनुप्राणित और प्रभावित करते चले आ रहे हैं। राम, कृष्ण, हरि, शिव आदि नाम आज भी करोड़ों हिन्दुओं के जीवनाधार हैं। दीन-दुःखी जनता के छिन्न-विच्छिन्न स्नायुयों और भग्न हृदयों को बल देकर तथा उसमें आशा-विश्वास का संचार कर पुराणों ने उन्हें उबारने का काम किया है।

और इस तरह इतिहास का भारतीय सामाजिक जीवन में बहुत बड़ा स्थान रहा है। प्राचीन भारत में किसी व्यक्ति की विद्वत्ता का निर्धारण उसके इतिहास-ज्ञान के आधार पर किया जाता था। प्रत्येक राजा के लिए इतिहास का ज्ञान अनिवार्य था। धार्मिक अनुष्ठानों, विवाहों, अश्वमेध-राजसूय-वाजपेय यज्ञों में इतिहास का वाचन अनिवार्य था। राजवंशों का इतिहास लिखने के लिए प्रत्येक हिन्दू राजा के दरबार में विद्वान् नियुक्त होते थे। तीर्थयात्राओं में परिवारों के पण्डे उनकी वंशावलियाँ लिखते थे। गया, जगन्नाथपुरी इत्यादि स्थानों में यह परम्परा आज भी विद्यमान है।

सन्दर्भ

1. जाह्नवी, मार्च 1980, पृ. 137
2. बृहद्देवता, 14.46.5
3. निरुक्त, 2.101
4. विष्णुधर्मोत्तर पुराण, 3.15.1; काव्य मीमांसा, म.टी., 1.2
5. मार्क्सवाद और रामराज्य, पृ. 455
6. ब्रह्म महापुराण, पद्म महापुराण, विष्णु महापुराण, शिव महापुराण, भागवत महापुराण, नारद महापुराण, मार्कंडेय महापुराण, अग्नि महापुराण, भविष्य महापुराण, ब्रह्मवैवर्त महापुराण, लिंग महापुराण, वाराह महापुराण, स्कन्द महापुराण, वामन महापुराण, कूर्म महापुराण, मत्स्य महापुराण, गरुड़ महापुराण, ब्रह्माण्ड महापुराण।
7. सनत्कुमार, नारसिंह, बृहन्नारदीय, शिवधर्मोत्तर, दुर्वासस, कापिल, मानव, उशनस्, वारुण, आदित्य, कालिका, साम्ब, नन्दिकेश्वर, सौर पाराशर, माहेश्वर, वसिष्ठ, भार्गव, शिव रहस्य।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

8. आदि, मुद्गल, कल्कि, देवी, देवीभागवत, बृहद्धर्मोत्तर, परानन्द, पाशुपत, हरिवंश (महाभारत का खिलभाग), अंगिरा, आखेटक, आत्म, एकपाद, एकाम्र, क्रियायोगसार, गणेश, जालंधर, तत्त्वसार, ताप्ती, दत्तात्रेय, धर्म, प्रभास, बृहद्धर्म, बृहन्नन्दीश्वर, बृहन्नरसिंह, मरीचि, रेणुका, लघुनारद, लीलावती, वह्नि, वासुकी, विष्णुधर्म, विष्णुरहस्य, विष्णुधर्मोत्तर, हंस, सरस्वती।
9. 24 हज़ार श्लोकोंवाला वाल्मीकीय रामायण।
10. महर्षि कृष्णद्वैपायन (वेद) व्यास विरचित 1 लक्ष श्लोकोंवाला महाभारत एवं उसके समकालीन महर्षि जैमिनी विरचित 'जैमिनीयाश्वमेधपर्व'। इस विशाल महाभारत का केवल यही एक अध्याय वर्तमान है।
11. नारद महापुराण, उ.अ. 24
12. भविष्य महापुराण, मध्यम पर्व, 1.7.3
13. वही, ब्राह्म पर्व, 216.34
14. वही, 216.43
15. भागवत महापुराण, 3.12.39
16. अथर्ववेद, 15.6.10.11
17. गोपथ ब्राह्मण, 1.1.21
18. शतपथ ब्राह्मण, 11.5.6.8
19. छांदोग्योपनिषद्, 3.4.1
20. वही, 3.4.2
21. वही, 7.1.2; 7.2.1
22. वही, 7.1.4; न्याय दर्शन, 4.1.62
23. छांदोग्योपनिषद्, 7.7.1
24. महाभारत, शान्ति पर्व, 50.36
25. ब्राह्म पर्व, 2.56
26. अर्थशास्त्र, 1.1.5.14
27. वही, 2.5.6.60
28. विष्णु महापुराण, 3.6.28.29; भविष्य महापुराण, ब्राह्म पर्व, अ. 1
29. 'शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषम्'—मुण्डकोपनिषद्
30. भविष्य महापुराण, उत्तर पर्व, 2.11; शिव महापुराण, 7.1.1.41
31. कल्याण, हिन्दू संस्कृति अंक, 1950 ई., पृ. 301-302
32. मुण्डकोपनिषद्, 3.1.6
33. तैत्तिरीयोपनिषद्, 1.11
34. मनुस्मृति, 4.138
35. श्रीदुर्गा सप्तशती, नित्यकर्म पद्धति
36. शतपथ ब्राह्मण, 10.4.2.23

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

37. बृहदारण्यकोपनिषद्, 2.4.10
38. भागवत महापुराण, 3.12.39
39. कल्याण, हिन्दू संस्कृति अंक, पृ. 295
40. पद्म महापुराण, सृष्टि खण्ड, 1.51
41. तृतीय स्कन्ध का तृतीय अध्याय
42. कल्याण, हिन्दू संस्कृति अंक, पृ. 295
43. निरुक्त, 2.11

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीता की खोज[1]

श्रीभगवान सिंह*

'रामकथा' जब से अस्तित्व में आई, उसकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्त्री-चरित्र सीता को खोजने यानी उनकी विविध छवियों को पहचानने का सिलसिला चलता आया हैं। पुरुष-प्रधान-लेखन होने के कारण सीता की छवि आमतौर पर एक सती-साध्वी, पति अनुगामिनी एक गूँगी गुड़िया या पति राम की छाया रूप में उकेरी जाती रही जो पुरुष-वर्चस्व वाली मानसिकता के मेल में थी। सीता के व्यक्तित्व से स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति, सकारात्मक प्रतिरोध, स्वविवेक से निर्णय लेने का साहस जैसे तेजस्वी पक्षों को ओझल करते हुए उन्हें पति की इच्छाओं-निर्देशों पर कदमताल करनेवाली एक कठपुतली सदृश्य बना कर रख दिया गया। यही कारण था कि डॉ. राम मनोहर लोहिया जैसे प्रखर समाजवादी चिन्तक को भी सीता के चरित्र में स्वतन्त्र विचारों एवं विद्रोह की कोई ऊष्मा नहीं दिखाई पड़ी और इस दृष्टि से उन्होंने द्रौपदी के चरित्र को काफी महत्त्व दिया। किन्तु लेखन के क्षेत्र में महिलाओं के आने से 'सीता की इस खोज' में यह एक नया आयाम जुड़ता दिखता है कि उनके चरित्र में अन्तर्निहित स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति, विद्रोह आदि की भंगिमाओं को सामने लाया जाने लगा है। पिछले दिनों मैत्रेयी पुष्पा (जनसत्ता, 18 मई, 2007), अनामिका (वाक्, जनवरी-मार्च 2007) जैसी लेखिकाओं ने अपनी टिप्पणियों में सीता की इन विशिष्टताओं पर प्रकाश डलने का काम किया। लेकिन इस कार्य को बड़े फलक पर अंजाम देने का प्रयास किया है चर्चित लेखिका मृदुला सिन्हा ने 'सीता पुनि बोली' नाम से सीता पर आत्मकथात्मक उपन्यास लिख कर।

वैसे 'आत्मकथा', जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, स्वयं के द्वारा स्वयं के सम्बन्ध 'आत्म-प्रकाशन' की विधा के रूप में मान्य है, किन्तु मृदुला सिन्हा ने रचनाकार के 'पर काया-प्रवेश' के अधिकार का सृजनात्मक उपयोग करते हुए इस कार्य को बहुत खूबसूरती से सम्पन्न किया है। 'राम-कथा' पर लिखे काव्य-ग्रन्थों में राम की बाल

*श्रीभगवान सिंह, हिन्दी विभाग, भागलपुर, विश्वविद्यालय; पता : 164, तिलकामांझी, भागलपुर-812 001

[1]सीता पुनि बोली, मृदुला सिन्हा, विद्या विहार, 1660 कूचा दखनीराय, दरियागंज, नई दिल्ली-110002. संस्करण : प्रथम, 2007; मूल्य : तीन सौ रुपए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लीलाओं से लेकर प्रौढ़ावस्था तक का चित्रण तो मिलता है, लेकिन सीता की बाल लीलाओं का शायद ही किसी में निरूपण हुआ हो। इस दृष्टि से 'सीता पुनि बोली' की पहली नवीनता इस बात में प्रकट होती है कि लेखिका सीता की बाल सुलभ चेष्टाओं, जिज्ञासाओं, बहनों एवं सखियों संग की क्रीड़ाओं की बड़ी ही मनोहारी स्वाभाविक छटाएँ प्रस्तुत करती हैं। मसलन, आरम्भ में ही एक वाकया आता है जब उर्मिला बाल सुलभ ईर्ष्यावश माँ-बाप के प्यार पर अपना हक जताने के लिए सीता से कह बैठती है कि असली बेटी तो वह है, सीता तो धरती से जन्मी है। इसे लेकर सीता के अन्दर जो क्षोभ पैदा होता है उसका बड़ा ही मनोवैज्ञानिक चित्रण इस उपन्यास में हुआ है।

यह उपन्यास 'मिथिलोत्सव, अवधोत्सव, वनोत्सव, लंकोत्सव, राज्योत्सव, आश्रमोत्सव, मातृ-उत्सव' जैसे शीर्षकों से सात सोपानों में अन्तर्ग्रथित है जिनमें मुख्य फोकस सीता के बाल्य-जीवन से धरती में प्रविष्ट कर जाने की घटनाओं पर केन्द्रित है। यहाँ पर सीता के चरित्र, व्यक्तित्व निरूपण की विशिष्टता इस बात में है कि सीता की जगत जननी वाली दैवी प्रभा के आतंक से मुक्त होकर लेखिका पूर्णतः मानवीय धरातल पर उनकी बाल सुलभ क्रीड़ाओं, शारीरिक अवयवों के विकास, मनोभावों का चित्रण करते हुए सहज स्वाभाविक रूप से उनके रजस्वला होने तक का चित्र उकेर देती हैं। किन्तु इन प्रसंगों का समावेश सीता की मात्र यौवनावस्था एवं उससे जुड़े काम-भाव को दर्शाने के लिए नहीं, अपितु नारी-जीवन में मातृत्व की गरिमा को उजागर करने के लिए किया गया है। द्रष्टव्य है यह अंश—"स्त्री के पेट में गर्भाशय होता है, जहाँ बच्चा पलता है। जब तक बच्चा नहीं पलता, रक्त का स्राव होता है। यही प्रकृति का विधान है। नियति द्वारा प्रदत्त इसी दायित्व से स्त्री पुरुष से विशेष होती है। मेरे मन में भी कुछ उत्सव...करने पिता राजा जनक को पुत्री सीता की नहीं है। इस प्रकार अवधपुरी...फूल जैसा चटका। तात्पर्य कि मेरे पेट में भी गर्भाशय है। मैं माँ के गर्भ में नहीं पली तो क्या, मेरे गर्भ में कोई पलेगा।" (पृ. 26)

मातृत्व नियति प्रदत्त दायित्व है जिसके कारण स्त्री का पुरुष से विशेष दर्जा होता है। ऐसी बात एक लेखिका द्वारा कहना इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि आज कतिपय स्त्रीवादियों ने मातृत्व को ही स्त्री-मुक्ति की सबसे बड़ी खलनायिका सिद्ध करने की मुहिम चला रखी है बिना यह सोचे-विचारे कि इसी मातृत्व की बदौलत उन्हें भी वह 'देह' प्राप्त हुई है जिसके सुख की चिन्ता ही उनके मुक्ति-आन्दोलन का सर्वोपरि लक्ष्य बन बैठी है। सीता के जीवन-चरित के माध्यम से लेखिका आज की 'स्त्री बनाम पुरुष' वाली बहस को निरस्त करते हुए स्त्री-पुरुष की प्रकृति प्रदत्त पारस्परिकता एवं समरसता को रेखांकित करती हैं। इस क्रम में वे बेटी, बहन, पत्नी, बहू, भाभी, माँ आदि के विभिन्न रूपों में मानवीय सम्बन्धों से लेकर पशु-पक्षी,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फूल-पौधे, आदि समस्त मनुष्येतर जीवों से सीता की गहरी संशक्ति का चित्र प्रस्तुत कर उन्हें 'जगत-जननी' होने की सार्थकता प्रदान करती हैं।

रामकथा की आवृत्तिमूलक कृति होने के बावजूद इसकी एक अन्य विशिष्टता इस बात में प्रकट होती है कि रामकथा को जहाँ बहुतों ने पुरुष-वर्चस्व स्थापित करने की कथा कहने का 'फैशन' चला रखा है, वहाँ मृदुला सिन्हा इसे नर-नारी-समता स्थापित करने वाली कथा सिद्ध करती हैं। अमूमन रामकथा के आलोचकों का ध्यान अयोध्या पर ही केन्द्रित होकर रह जाता है, किन्तु अन्तर्निहित तथ्य है कि अयोध्या और जनकपुर इस कथा के दो तटबन्ध हैं जिनके बीच स्त्री-पुरुष के समान होने की भावधारा प्रवाहमान है। अयोध्या-नरेश को चार पुत्र हैं, तो मिथिला-नरेश को चार पुत्रियाँ। अयोध्या में राजकुमारों को माता-पिता का जितना लाड़-प्यार सुलभ है, उतना ही लाड़-प्यार मिथिला में चारों राजकुमारियों को सुलभ है। राजा दशरथ को जितनी चिन्ता पुत्र राम की है, उससे तनिक भी कम चिन्ता राजा जनक को पुत्री सीता की नहीं है। इस प्रकार अवधपुरी एवं जनकपुरी को पुत्र-पुत्री, या स्त्री-पुरुष को समान महत्त्व देनेवाले एक सिक्के के दो पहलू के रूप दिखाकर लेखिका ने ओझल तथ्य का अभिज्ञान कराया है।

इस उपन्यास का अन्त भवभूति के 'उत्तर रामचरित' या तुलसी के 'मानस' की तर्ज पर न होकर वाल्मीकि रामायण की तर्ज पर होता है—यानी अन्ततः धरती से निकली सीता धरती में प्रविष्ट कर जाती हैं। इस प्रसंग को छोड़ा जा सकता था जैसा कि तुलसी ने 'मानस' में किया था। फिर भी यह चित्र एक अन्य दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। धरती में सीता के प्रवेश करने के उपरान्त सीता के लिए राम की विकलता, उद्विग्नता आदि को जिस रूप में दर्शाया गया है वह पत्नी-प्रेम की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व का है। आज के स्त्रीवादी राम पर पत्नी को निर्वासित करने का लांछन लगाते हैं, किन्तु वे खुद सत्तर पार की उम्र में देह-सुख खातिर पत्नियों को घर छोड़ने पर विवश कर देते हैं जबकि राम ने अत्यन्त दुखित मन से लोकमत के सम्मान हेतु यह अप्रिय काम किया था। राम किस तरह सीता के वियोग में दहकते रहे, इसका बड़ा ही मार्मिक चित्रण भवभूति ने किया है। 'सीता पुनि बोली' भी उसकी याद ताजा कर देती है।

वैसे इस उपन्यास में पूरी कथा सीता खुद कहती हैं और उनके इस आत्म-वक्तव्य का मुख्य आधार वाल्मीकि रामायण एवं तुलसी के 'मानस' से प्राप्त सामग्रियाँ हैं। इसके अतिरिक्त लोकगीतों का भी काफी उपयोग सीता के चरित्र-विन्यास में किया गया है। कहा जा सकता है कि सीता की यह खोज न सिर्फ लिखित काव्य ग्रन्थों के आधार पर, बल्कि जनश्रुतियों, लोकगीतों को भी आधार बनाकर कही गई है जिससे उसमें दैवी एवं आध्यात्मिक की तुलना में लौकिक जीवन के रंग अधिक मुखर हो उठे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन सारी सामग्रियों के आधार पर 'सीता पुनि बोली' के रूप में मृदुला सिन्हा ने एक ऐसी सीता की खोज की है जिसका व्यक्तित्व स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति, स्वविवेक से निर्णय लेने की क्षमता एवं साहस, व्यापक संवेदना, रागात्मक लगाव, शील एवं शिष्टता आदि का पुंज है। इन सारे गुणों का प्रकाश सीता द्वारा बेटी, पत्नी, बहू, भाभी, माँ के रूपों में पारिवारिक-सामाजिक दायित्वों का सम्यक निर्वाह करने में प्रस्फुटित होते दिखाई पड़ता है। निश्चय ही ऐसी सीता उन समस्त स्त्रीवादियों को रास नहीं आ सकती जिन्होंने बहन, पत्नी, माँ आदि के रूपों में स्त्री के दायित्वों को नकार कर केवल 'देह भोगने' को ही मुक्ति का पर्याय समझ रखा है। निस्सन्देह 'सीता पुनि बोली' यौनवादियों के गढ़ पर लेखिका द्वारा दागा गया एक सशक्त 'मिसाइल' है जिसके लिए वह साधुवाद की हकदार हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठकीय प्रतिक्रिया

यह सर्वविदित है, इसमें सन्देह की सम्भावना भी नहीं कि चन्द्रमा के प्रकाशित होने से वनस्पतियों में रसों का संचार होता है, चराचर सब उससे प्रभावित होते हैं। यदि वह मानव की किन्हीं गतिविधियों का कारक है तो समुद्र के ज्वार-भाटे का भी, जबकि उसका प्रकाश अपना नहीं, वह सूर्य की ऊर्जा को सार्थकताप्रदान करता है। यह सोचते ही बनता है, इस प्रकार की कैसी शक्ति उसे किसी और से प्राप्त होती है?

ऋग्वेद का कथन प्रचारित है, 'वस्त्रेव भद्रा सुकृता'। मैं अपना यह स्तोत्र सुन्दर हाथों से बने हुए वस्त्र की तरह ईश्वर को पहनाता हूँ। विनोबा जी कहते हैं, यह पढ़ कर कबीर झूम उठता है: 'झीनी झीनी बीनी चदरिया।' वैदिक कवि स्तोत्र लिखता नहीं बुनता है ईश्वर के लिए और उससे जो वस्त्र बनता है वह भी ईश्वर को पहनाने के लिए। कैसी दिव्य कल्पना है! आप इसी से अनुमान लगाएं, महान विद्वान संत कवि रामानन्द के शिष्य कबीर जो उससे प्रभावित हुए कोई साधारण व्यक्ति नहीं रहे और न थे। कहने को आप इसके आधार पर उन्हें दलित जुलाहा अनपढ़ कुछ भी कह सकते हैं।

मन में बना दिये गए विद्वानों के द्वारा जन-साधारण के, उनके परिचय को मैं मिटा नहीं रहा हूँ। मैं केवल तथ्यों से परिचित करवा रहा हूँ। चन्द्र की चांदनी में शीतलता होती है और मौन में शांति। चन्द्र की चांदनी तो ठीक है; किन्तु मौन? उस मौन में हास्य है और ऊष्मा भी है जो स्वनामधन्य समीक्षकों को सचेत करती है। आम जनता तो बस, कबीर के बारे में इतना ही जानती है कि देखो! साधरण कुल में पैदा हुआ कठिन परिस्थितियों में जिया व्यक्ति वेद-पुराणों के सार को कितने सरल और सहज शब्दों में व्यक्त कर देता है!

मैंने 'चिन्तन-सृजन' के अंक अप्रैल-जून, 2008 के पुस्तक-सीमक्षा के अंतर्गत डॉ. प्रज्ञाचक्षु की पुस्तक 'न बांटिए कबीर को' की समीक्षा पढ़ी। आम आदमी शायद ही कभी ऐसी पुस्तकों में लिखीं बातों को महत्त्व दे। ये बड़ों की बातें है, बड़ों तक ही सीमित रहेगी। 'न बांटिए कबीर को' पुस्तक की समीक्षा पढ़ कर इतना अवश्य लगता है कि कबीर के नाम पर आरोपित मानव-धर्म हिन्दू समाज का एक और विभाजन कर सकता है। साथ के लिए डॉ अम्बेदकर और माहात्मा फुले जैसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पलायनवादी विद्वानों को लिया गया है। वस्तुतः वे हिन्दू समाज में आयीं न्युनताओं और दुर्बलताओं को दूर न कर सके। उन्होंने सनातन-धर्म के प्रति अपना कोई कर्तव्य नहीं समझा। फिर, उनसे और क्या उमीद की जा सकती है?

–डॉ. केशिकान्त, क्यू-25, पंजाबी विश्वविद्यालय परिसर, पटियाला-147002।

अप्रैल-जून 2008 का 'चिन्तन-सृजन' पाया। अच्छा लगा। क्यों लगा? कारण कई हैं: हिन्दी में जो भी पत्रिकाएँ पाठकों तक पहुँचती हैं, या तो वे बड़े घरानों या बड़े संस्थानों की हैं। उनके पास पुराने, नए और स्वर्गीय लेखक तक इसलिए उपलब्ध हैं कि कुछ विचारधारा से छपते हैं, कुछ विचार-चिन्तन से और कुछ तरह-तरह के सम्पर्कों से। अच्छे लेखक भी उन्हें मिल जाते हैं क्योंकि अच्छे लेखकों के मानस के अनुरूप अच्छी पत्रिकाओं का लगभग अभाव सा है। ऐसे में 'चिन्तन-सृजन' और 'उन्मीलन' ये दो गंभीर ऐसी पत्रिकाएँ हैं जिनसे हिन्दी की एक विचारशील पाठक पीढ़ी संस्कारित होती है और अध्ययन-विमुख या शोध-विमुख वर्तमान हिन्दी परिदृश्य ऐसे प्रयत्नों से परिवर्तित होते हैं। कई बार 'चिन्तन-सृजन' में भारत की मूल्य प्रज्ञा और मेधा के दर्शन उसी प्रकार होते हैं जिस प्रकार 'उन्मीलन' में हमारे तत्व-शास्त्र और हमारी परा-चेतना या आध्यात्मिक और कलात्मक निस्संगता के। 'चिन्तन-सृजन' को जाना चाहिए विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों में ताकि पाठ्यक्रमों की ऊव और जड़ता से बँधे प्राध्यापक चिन्तन और सृजन की नई भूमि का उत्खनन कर सकें।

- रमेश दवे, से.नि. प्रोफेसर एवं पूर्व युनिसेफ प्राध्यापक सलाहकार, एस. एच. 19, ब्लॉक-8, सहयाद्रि परिसर, भदभदा रोड, भोपाल।

'चिन्तन-सृजन' अप्रैल-जून 2008 अंक 4 प्राप्त हुआ। पढ़कर अत्यंत प्रसन्नता हुई। सारे लेख पठनीय व चिंतनीय हैं। आज राष्ट्रीय चिंतन, व अस्मिता खतरे में है। राजनीतिक उठा-पटक, खरीद-फरोख्त व तुष्टीकरण हम देख ही रहे हैं। पत्र-पत्रिकाएं भी अपनी भूमिका नहीं निभा रही। एलेक्ट्रानिक मीडिया तो बस ग्लेमर के चक्कर में फिल्मों, क्रिकेटरों, टी. वी. सीरियलों, व मसखरों के इर्द गिर्द घूम रहा है। युवा पीढ़ी कुछ भी पढने सुनने को तैयार नहीं। ऐसे में आपकी पत्रिका एक आशा की किरण है। –डॉ. **किशोरी लाल व्यास, हैदराबाद।**

आपकी पत्रिका बराबर समय से मिल रही है। सर्वप्रथम आपको स्तरीय प्रकाशन के लिए बधाई। यह पत्रिका अपने नाम के अनुरूप 'चिन्तन-सृजन' को पुरजोर उकसाती है। पारंपरिक आस्था के संग-संग सामयिक राजद्धनीतिक और वैचारिक साजिशों को भी उघाड़ती चलती है। इस संदर्भ में आपका 'सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य' बहुत चिंतनीय मुद्दों को सामने लाता है। प्रो रमेशचन्द्र शाह ने ठीक ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखा है - "कितने लोग जानने और इस जानने का निहितार्थ समझतें हैं कि नेपाली प्रचंड के निर्माण में जे.एन.यू. का योगदान है या मणिपुर में अलगाववाद का आंरभ कम्युनिस्ट हिजम इरावत सिंह ने किया था।" वस्तुतः ये वामधर्मी सही मायने में अधर्मी है — द्रोही किस्म के अधर्मी, चीन-रूस के मानसपुत्र। खाते हैं देश के गाते हैं विदेश के। नक्सलवाद उन्हीं की मानसी सृष्टि है। भगवान उन्हें सुमति प्रदान करें। वे दल से ऊपर उठकर देश के लिए जरा सोचें।शिक्षा की चिंतनीय दशा पर आपने सही जगह उँगली रखी है। वस्तुतः आज की शिक्षा सूचनात्मक है, मूल्यपरक कतई नहीं, जबकि मूल्यपरकता शिक्षा का केन्द्रस्थ बीज है। यह बीज शिक्षा शब्द में ही निहित है। वह आज शिक्षा से गायब है। 'लावदेश में रामायण की कथा राम और भारतीय संस्कृति की व्यापकता की कथा है। श्री शंकर पुणतांबेकर का आलेख 'कला' बहुत ही उल्लेखनीय है। लेखक का यह समापन वाक्य — "पर आज स्थिति यह है कि धर्म गरीबों का तथा विज्ञान अमीरों का बना हुआ है और कला मात्र बुद्धिजीवियों की" हम सब को सोचने के लिए और विडम्बनापूर्ण स्थिति से उबरने के लिए संदेश देता है। एक से एक विचारपूर्ण आलेख वस्तुतः पत्रिका को पठनीय-संग्रहनीय बनाते हैं। आप को पुनश्च साधुवाद।

- आचार्य डॉ. शोभाकान्त झा, संयोजक, छत्तीसगढ़ प्रदेश आचार्यकुल, संतोषी चौक, कुशालपुर, रायपुर (छ. ग.)

सदैव की भाँति आपके सचेतक संपादकीय युक्त; जिसमें आपने शिक्षा से संबंधित भ्रम पार सटीक टिप्पणी की है, चिन्तन-सृजन का अप्रैल-जून 2008 अंक प्राप्त हुआ। लाव देश पर स्व. रघुवीर का रामायण संबद्ध अग्रलेख, ऋग्वेद में वर्णित नदियाँ तथा प्राचीन भारत में ध्वज, अतीव सूचनाप्रद लगे। आधुनिक भारत के परिपेक्ष्य में डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद का लेख वाम-इस्लाम जुगलबंदी उपन्यास में, मात्र अक्षरों तक ही सीमित नहीं है - उनकी मानसिकता देश को विखण्डित करने और उसकी सभ्यता-संस्कृति को नष्ट करने के अथक प्रयास में आज सब को दिखाई पड़ रही है। अक्षर—शरभ और हिंसा का स्वरूप धारण चुके हैं। डॉ. विष्णु दत्त शर्मा के संग्रह "हिन्दी में वैज्ञानिक नाटक" की सुन्दर-प्रभावी समीक्षा पढ़कर हर्ष, इस कारण हुआ कि आपने पत्रिका में विज्ञान साहित्य के विषय में चर्चा का शंखनाद किया है। साधुवाद।

- डॉ. राजीव रंजन उपाध्याय, सम्पादक, विज्ञान कथा; अध्यक्ष, भारतीय विज्ञान कथा लेखक समिति, फैजाबाद (उ. प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ

पुस्तकें

सत्याग्रह की संस्कृति, संपादक : नन्दकिशोर आचार्य, प्रकाशक : वाग्देवी प्रकाशन, विनायक शिखर पॉलिटेक्निक कॉलेज के पास, बीकानेर-334003, प्रथम संस्करण : 2008 ई., पृष्ठ : 144, मूल्य : एक सौ साठ रुपये मात्र।

संगत में संवाद : राजी सेठ से रमेश दवे की बातचीत, प्रकाशक : संवेद फाउंडेशन दिल्ली, बी-3/44, तीसरी मंजिल, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110 089. प्रथम संस्करण : 2008, पृष्ठ : 64, मूल्य : 20/- रुपये।

प्रतिनिधि लघु कथाएं : (लघुकथा संकलन) संपादक : डॉ. तारिक असलम 'तस्लीम', प्रकाशक : लेखनी प्रकाशन, 6/2, हारून नगर कालोनी, फुलवारी शरीफ, पटना, प्रथम संस्करण : 2006 ई., पृष्ठ : 78, मूल्य : 100 रु. सजिल्द, 80 रु. पेपरबैक।

पत्रिकाएँ

विज्ञान-कथा : त्रैमासिक, हिन्दी की प्रथम विज्ञान-कथा पत्रिका, संपादक : राजीव रंजन उपाध्याय, प्रकाशक, सम्पादक एवं मुद्रक : डॉ. राजीव रंजन उपाध्याय, द्वारा भारतीय विज्ञान कथा लेखक समिति, फैजाबाद 224 001 के लिए मुद्रित एवं प्रकाशित, वर्ष : 6 अंक : 24 जून-अगस्त 2008, पृष्ठ : 32, मूल्य : 15 रुपए।

व्यंग्य यात्रा : सार्थक व्यंग्य की रचनात्मक त्रैमासिकी, वर्ष : 3 अंक : 15-16, अप्रैल-सितंबर 2008, संपादक : प्रेम जनमेजय, स्वत्वाधिकारी, मुद्रक एवं प्रकाशक : डॉ. प्रेम प्रकाश, 73, साक्षर अपार्टमेंट्स, ए-3, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063, पृष्ठ : 104, मूल्य : 20 रुपए।

परती पलार : (एक सम्पूर्ण सृजनात्मक एवं शोधपरकं हिन्दी त्रैमासिक), वर्ष : 04, अंक : 03, प्रेमचंद स्मृति कथा विशेषांक, जुलाई-सितम्बर 2008, संपादक : नमिता सिंह; मुद्रक, प्रकाशक, प्रबन्धक एवं सर्वाधिकार—सृजनात्मक साहित्यिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक वाग्वैचित्र्य मंच, आश्रम रोड, वार्ड नं. 8, अररिया-854311 (बिहार), पृष्ठ : 168, मूल्य : 30 रुपए।

सरयू धारा : (सर्जनात्मक साहित्य की अभिनव धारा) प्रेमचंद अंक, अंक 25, 2007, प्रकाशक व प्रधान संपादक : डॉ. शैलेन्द्र कुमार त्रिपाठी, हिन्दी भवन, विश्वभारती शांति निकेतन-731235, पृष्ठ : 210, मूल्य : 40 रुपए।

लोक-मंगल साहित्य, अंक-3, वर्ष-2008, संपादक : डॉ. शोभाकान्त झा, प्रकाशक : सुमित्रा प्रकाशन, संतोषी चौक, कुशालपुर, रायपुर (छत्तीसगढ़)। पृष्ठ : 40, मूल्य : 20 रुपए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

UTTHANA Kannada Monthly, September 2008, Bangalore-560 019, Rs. 6.00. Edited and Published by S.R. Ramaswamy for UTTHANA at Keshava Shilpa, Kempegowda Nagar, Bangalore-560019. Printed by N. Dinesh Hegde at Rashtrotthana Mudranalaya, Kempegowda Nagar, Bangalore-560019.

चिन्तन-सृजन का स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

फार्म 4

नियम 8

1. प्रकाशन स्थान	:	दिल्ली
2. प्रकाशन अवधि	:	त्रैमासिक
3. स्वामी		आस्था भारती, नई दिल्ली
4. मुद्रक	:	डॉ. बी. बी. कुमार सचिव, आस्था भारती
(क्या भारती के निवासी हैं?)	:	हाँ, भारतीय
पता	:	27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट मयूर विहार फेस-1 विस्तार दिल्ली-110096
5. प्रकाशक	:	डॉ. बी. बी. कुमार सचिव, आस्था भारती
(क्या भारती के निवासी हैं?)	:	हाँ, भारतीय
पता	:	27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट मयूर विहार फेस-1 विस्तार दिल्ली-110096
6. सम्पादक	:	डॉ. बी. बी. कुमार सचिव, आस्था भारती
(क्या भारती के निवासी हैं?)	:	हाँ, भारतीय
पता	:	27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट मयूर विहार फेस-1 विस्तार दिल्ली-110096

मैं डॉ. बी. बी. कुमार घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

16.9.2008

(ह.) डॉ. बी. बी. कुमार
प्रकाशक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 6 अंक 2 अक्टूबर-दिसम्बर 2008

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती
रजिस्टर्ड कार्यालय :
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :
12/604 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096
से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।
फोन : 011-22712454
ई.मेल : asthabharati@yahoo.com, asthab@vsnl.net
वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

आन्तरिक सुरक्षा के खतरे

देश में लगातार हो रहे बम-धमाकों के बीच कुछ नयी बातें उभर कर आ रही हैं, जो आश्वस्त नहींकरतीं। मुम्बई में हुए अद्यतन जेहादी धमाकों ने हमारी सुरक्षा तंत्र की पोल खोलकर रख दिया। मात्र दस जेहादी हमारे समस्त सुरक्षा कवच को भेदकर कराची (पाकिस्तान) से देश की आर्थिक राजधानी मुम्बई में आये; अपने को छोटे छोटे दस्तों में बाँटकर ताज तथा ओबेराय ट्राइडेन्ट होटलों एवं नरिमन हाउस को कब्जे में लिया तथा एक ही साथ रेलवे स्टेशनों, एक अस्पताल तथा कई अन्य स्थानों पर स्वचालित अस्त्रों एवं विस्फोटकों के साथ धावा बोल दिया। यह आक्रमण इतना प्रभावी था कि इसका प्रतिकार करते हुए मुम्बई पुलिस के तीन अच्छे अफसर शहीद हुए - जिसमें मुम्बई पुलिस के आंतकवादी दस्ते का मुखिया, हेमन्त करकरे सामिल था। - शहीद हुए। इसके लिए त्वरित कारवाई दस्ते तथा सेना को लगाना पड़ा। कारवाई लगभग साठ घंटे चली, जिसमें 185 लोग मरे तथा 327 घायल हुए। मरनेवालों में बीस विदेशी नागरिक, 9 आतंकवादी जेहादी तथा बीस सुरक्षा-कर्मी सामिल थे।

जेहादी आतंकवाद की शुरूआत जम्मू-कश्मीर से हुई थी। जल्द ही यह सारे देश में फैल गयी। स्थिति यह है कि इस वर्ष नवम्बर 2008 तक देश में 18 शहरो में 48 आतंकवादी वारदातें हुईं। पिछले 13 महीनों में उत्तर प्रदेश के तीन शहरों में न्यायालयों के सामने हुए धमाकों के बाद जयपुर, बंगलौर, अहमदाबाद, सूरत, दिल्ली, गौहाटी, और अब 26 नवम्बर को मुम्बई में जेहादी आतंकवादी बारदातें हुईं। एकतरफ देश के हर भाग में - विदेशों में भी काबुल के भारतीय दूतावास में - आतंकवाद की वारदातें बढ़ती जा रही हैं, दूसरी तरफ हम हर बार इन्हें नहीं बर्दास्त करने की बात, 'जीरो टालरेन्स' की बात करके अपनी अकर्मण्यता तथा नपुंसकता दिखाते जाते हैं। ऐसा क्यों हों रहा है? स्पष्टतः हमारी आन्तरिक कमजोरियाँ हैं।

विदेशों में जब कभी आंतकी बारदातें होती हैं तो सारा देश एकजुट ही जाता है; राजनीतिक दल आंतकवादियों के खिलाफ एक स्वर से बोलते हैं; आंतकी बारदातें उन्हें जोड़ती हैं। भारत में ठीक उल्टा होताहै। उस समय जब हमारे समवेत स्वर की सबसे अधिक आवश्यकता होती है, हमारे राजनीतिक दल, बौद्धिक वर्ग, समाचार माध्यम अलग अलग परस्पर विरोधी सुरों में बाते करना शुरू करते हैं; आतंक का राजनीतिक लाभ लेने की होड़ लग जाती है। इससे देश के शत्रु लाभान्वित होते हैं; आतंकियों का मनोबल बढ़ता है। आंतकवाद इस प्रकार हमें जोड़ता नहीं, बल्कि भीतर से तोड़ता नजर आता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुम्बई में मात्र दस पाकिस्तानी आये थे और उन्होंने उस बड़े नगर को साठ घण्टे तक बंधक बनाकर रखा था। ऐसे में अपनी अन्य कमजोरियों पर नजर डालकर हम स्थिति की भयंकरता का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। ये कमजोरियाँ हैं:

(क) देश के प्रायः हर कोने में बांगलादेशी घुसपैठियों की उपस्थिति; इनकी संख्या दो करोड़ के लगभग है और देश की राजधनी दिल्ली के लाखों घरों में इनका नित्य का प्रवेश है। इस देश की आंतकवादी वारदातों में उनकी संलिप्तता की काफी जानकारी समाचार माध्यमों द्वारा दी जाती रही है।

(ख) हजारों पाकिस्तानी नागरिक वैध दस्तावेजों के सहारे भारत आकर गुम हो जाते है; वापस नहीं जाते।

(ग) सीमाओं का सदोष प्रबंधन;

(घ) थोक-व्होटों की राजनीति; राजनीतिक दूर दृष्टि तथा अपेक्षित इच्छा-शक्ति का अभाव; राजनीतिक दलों/नेताओं की स्वार्थपरता; उनके राष्ट्र-विरोघी कार्यों में संलिप्तता; जैसेः अवैध घुसपैठियों/आतंकवादी संगठनों/ व्यक्तियों को खुली या अपरोक्ष सहायता पहुँचाना;

(ड.) आतंकवाद के प्रति राज्य का नरम व्यवहार;

(च) व्यवस्था की शिथिलता; पिछले मुम्बई काण्ड में आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था की बहुस्तरीय अनदेखी/कार्य शिथिलता के समाचार मिले।

(छ) आतंकवादी जाँच-प्रक्रिया में बाधा पहुँचाना; उसके राजनीतिकरण; जाँच एजेंसियों/पुलिस आदि पर साम्प्रदायिक होने के गलत आरोप।

(ज) देश का साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण कराकर भीतर से कमजोर करने के प्रयत्न; थोक मुसलिम मतों के लिए प्रचार सामग्री मुहैया कराया जाना कि मुसलमानों के साथ न्याय नहीं किया जाता।

(झ) वैचारिक स्तर पर सभी तरह के आतंकवादियों से लड़ने की अक्षमता; बौद्धिकों, समाचार माध्यमों, राजनीतिकों द्वारा भ्रम फैलाना; राष्ट्रीय/सरकारी स्तर पर स्पष्ट नीति का अभाव।

(ञ जेहादी मानसिकता बढ़ाने वाले संगठनों को प्राप्त विदेशी आर्थिक सहायता पर रोक न लगाया जाना।

(ट) उच्चतम राष्ट्रीय स्तर से आतंकवाद/आतंकवादी संगठनों/आतंकवाद को सहायता पहुँचानेवाले देश पाकिस्तान के प्रति गलत बयानी; देश में भ्रम फैलाना।

(ठ) देश की इच्छा-शक्ति को तोड़ने के प्रयास; जैसे एक पत्रकार का विचार कि कश्मीर पाकिस्तान को सौंप देना चाहिए।

(ड) देश में बढ़ती अतिशय दोषदर्शिता (cynicism);

(ढ) अपनी बात मनवाने के लिए हिंसा/तोड़फोड़ आदि का सहारा लेना;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ण) जेहादी आतंकवाद, आदि की प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दू आतंकवाद की शुरूआत (यदि मुम्बई पुलिस के आतंकवाद विरोधी दस्ते की कार्रवाई का कारक राजनीति नहीं है और उसकी जाँच की दिशा सही है।); हिन्दुओं में जेहादी आतंकवाद एवं थोक मतों की राजनीति के प्रति बढ़ता आक्रोश।

(त) सभी तरह के आतंकवादी संगठनों के बीच बढ़ता गठजोड़;

(थ) देश को अस्थिर बनाने के भारत के पड़ोसियों के प्रयत्न; इत्यादि।

स्पष्टतः स्थिति चुप बैठे रहने की नहीं है। सबको मिलकर - विशेषतः सभी राजनीतिक दलों को - नीतिगत पहल करनी चाहिए। साम्प्रदायिक सौहार्द, गणतांत्रिक तौर तरीकों में विश्वास, आतंकवाद का अंत, समाज के आर्थिक रूप से विपन्न लोगों तक विकास के लाभ का पहुँचाया जाना, अवैध घुसपैठियों से मुक्ति जैसी समस्याओं पर तो तुरत पहल की जानी चाहिए। अद्यतन मुम्बई आतंकी काण्ड, के बाद जिस तरह का जन-आक्रोश दिखायी दिया था, यदि उसके कारकों पर नियंतण नहीं किया जा सका तो अराजकता को बल मिलेगा, जो राष्ट्र, गणतंत्र तथा राजनीतिक दलों के लिए शुभ नहीं होगा।

—ब्रज विहारी कुमार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोरोबुदुर : ब्रह्माण्ड ज्ञान का गुप्त या प्रच्छन्न आधार

डॉ. लोकेशचन्द्र*

*अनु. बाबूराम वर्मा***

बोरोबुदुर मेरे हृदय की रमणस्थली है। इण्डोनेशिया की मौखिक परम्परा के अनुसार यह अपने निर्माणकर्ता गुणधर्म के विचारों का प्रतिबिम्ब तथा चिरकाल तक टिका रहने वाला प्रतीक है। अपनी भूमि की गरिमामयी विरासत के भव्य काव्य की महिमा का सिलुहट बना वह मनोरेह पर्वतमाला में स्वप्नलीन यहाँ सोया हुआ है। यहाँ के भू-दृश्य की विशिष्ट बनावट और अलंकृत सुमेरु उसके मानस के स्वर और लय हैं। सजीव और पवित्र रहस्य की अपनी प्रतीकात्मक पुण्यता में उसने अर्थ और सौन्दर्य को एकात्म कर लिया है जिससे इतिहास जन्म धारण करता है। विगत तीन महीनों से मैं उन्हीं के विचारों, ब्रह्माण्ड ज्ञान और सौंदर्य विधान की तहों तक पहुँचने के प्रयास में लगा रहा हूँ। इस अवधि में मेरे अन्दर एक ऐसी भावना उभरकर आगे आई कि अब से 1200 वर्ष पूर्व, यदि मैं उनका शिष्य रहा होता तो पावन सुमेरु सम्बन्धी उनकी विचारधारा, उसके आकल्प और उसकी निर्मिति में भागीदार बना होता तो कितना अच्छा रहा होता। सांस्कृतिक, बल्कि इससे भी कहीं अधिक महत् सौन्दर्य अज्ञेय की अनन्तता में हमारे भीतर घुमड़ता रहता है। प्रत्येक गहराई के नीचे उससे भी अधिक गहरा तल खुलता है। गुणाढ्य एक प्रतिभा थे जिन्होंने दार्शनिक, वास्तुशास्त्रीय और कलात्मक विचारों को अनेक ग्रन्थों में लिखित परम्पराओं से एकत्र करके एक महान सृजन में पुंजीभूत कर दिया।

स्मारकों के आश्चर्य के सौन्दर्य में समाई हुई है दृश्यगत गूढ़ता द्विदिश रचना में संग्रहकारी और समन्वयकारी वह एक साथ दोनों है। वह अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध बहुस्तरीय शिक्षाओं को बौद्ध परम्पराओं की समादृत पद्धति के अनुसार एक ही पद्धति में फलीभूत करने का पथ अनुसरण करता है।

---

* प्रकाण्ड विद्वान, पूर्व सांसद (राज्य सभा),

** उत्तरगिरि, 67 वल्लुपुर, देहरादून

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2. बोरोबुदुर की वैचारिक भूमि की व्याख्या अभी तक तीन अभिधारणाओं में की गई है।

(*i*) *बोरोबुदुर को एक स्तूप* माना गया है। परन्तु यह तो एक सुमेरु है। जिसके उच्चतम स्तर पर एक स्तूप रच दिया गया है।

(*ii*) इसकी रचना प्रणाली की व्याख्या इन त्रिधातुओं को संदर्भ में रखकर की गई है–कामधातु, रूपधातु, और अरूप्यधातु, जिनका वर्णन अभिधर्मकोश में मिलता है। कामधातु में अस्तित्व के छह स्तर मिलते हैं–नरक, पशु, प्रेत, असुर, मनुष्य और देव। रूपधातु की चार भूमियाँ हैं जबकि अरूप्यधातु में अरूपावचर देव रहते हैं। (मात्सुनागा, पृ. 55)। भित्तिचित्रों, सम्पूर्ण पवित्रस्थली वास्तुकर्म और बुद्ध की विशाल 504 मूर्तियों का अभिधर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रच्छन्न आधार में भी ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता कि बोरोबुदुर की अभिकल्पना में त्रिधातु प्रणाली कहीं निहित है।
त्रिधातु ध्यान भूमियाँ हैं जो ललित विस्तर की विदर्शना के चतुर्थ संभार में मिलती हैं। बोरोबुदुर इन चार संभारों का प्रतिनिधि है। (आगे की कण्डिका 4 देखें)।

(*iii*) अभी तक यही मानकर चला गया है कि चित्रमय भित्तिचित्रों के निर्माण में *एक ही ग्रंथ को आधारस्वरूप* लिया गया है। टीकाओं, अनुष्ठान मैनुअलों अथवा उसी वर्ग के अन्य ग्रन्थों से ब्योरों को सम्पूरित किए जाने की संभावना कभी उठाई ही नहीं गई है।

3. बहुस्तरीय रचनाएँ–इयान फोन्तेन कहता है, "उस ग्रन्थ का जिसने बोरोबुदुर के मूर्तिकारों के शिल्प का मार्गदर्शन किया, सही-सही बता पाना संभव नहीं है।" (पृ.73)। फोन्तेन यह प्रश्न उठाता है–"वह क्या कारण था जिसने बोरोबुदुर के भिक्षुओं को इन ग्रन्थों की–गण्डव्यूह और भद्राचारी–और अपने स्मारक का यह सुविस्तृत चित्रण करने के लिए आकर्षित किया। फोन्तेन आगे यह लिखता है–जिस ग्रन्थ का बोरोबुदुर के मूर्तिकारों ने अनुसरण किया उसमें परमार्थ द्वारा अनूदित किए ग्रंथ से काफी भिन्नता बरती गई है।" (पृ. 42) परमार्थ द्वारा अनूदित ग्रंथ लोकप्रज्ञप्ति है। बोरोबुदुर का महाशिल्पी भिन्न-भिन्न ग्रन्थों से अपनी सामग्री का चयन तो करता ही रहा था। वह उनमें नवीनताएँ भी मिलाता रहा था।

पश्चिम की एक केन्द्रित धार्मिक विचारधारा ने एक ही स्रोत से बोरोबुदुर की, अर्थात् त्रिधातुकोश अथवा तीन लोकों की अभिधर्म पद्धति से, व्याख्या किए जाने को प्रभावित किया है। दूसरी ओर बौद्ध धर्म की भिन्न-भिन्न परम्पराओं अथवा ग्रंथों का समन्वय करने का विचार एक आम घटना रहा है। पूर्वतर परम्पराओं को जहाँ अन्तिम परिणति तक पहुँचाने वाली सीढ़ियों के रूप में देखा जाता था, समर्थन किया जाता था। स्थानीय वर्णनाओं से समतास्थापन करने की आवश्यकता भी नई आकृतियाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनाने अथवा चीनी-जापानी बौद्ध धर्म का नौ चतुष्कोणक वज्रधातुमंडल, चीनी विचार सरणि में नौ की प्रमुख भूमिका, वहाँ के राजप्रासाद में नौ महाशाल होने, पावन जगत के नौ विभाग होने के कारण है। पेचिंग को जापान में मन्त्रयान (शिंगोन) के संस्थापक कोबोदायशि (ई. 774-835) "नौ वार्डों या मुहल्लों वाला" कहते हैं। उसने आध्यात्मिक विकास की दस अवस्थाएँ बताई हैं। (कन्फूसियसवाद; ताओवाद, शिन्तो, ब्राह्मणवाद, श्रावक यान, प्रत्येक बुद्ध मार्ग, मध्यमक, योगाचार और अवतंसक जिसका समाहार मन्त्रयान में होता है। धर्मसमुद्र और साथ-साथ विद्यमान धर्म और दर्शनों का यह महान संश्लेषण था। इंदोनीसिया में भी साङ ह्याङ कमहायनिकन (एसएचके-संक्षेप में) महामार्ग = परम मार्ग और महागुह्य में किया गया नया वर्गीकरण है। महामार्ग : छह पारमिता, चार ब्रह्मविहार, दस पारमिता, पाँच देवियाँ। महागुह्य : चार प्रकार के योग, चार भावनाएँ, चार आर्य सत्य, दस पारमिता हैं। (विस्तार के लिए *कल्चरल होराइजन्स ऑफ इंडिया* में एस एच के के मेरे संस्करण का 4. पृ. 295-434 देखें।)

4. चार संभार प्रणाली—बोरोबुदुर की परिकल्पना करनेवाला गुणधर्म पावन सूत्रों को एक साथ झपाटे से लेने वाला विलक्षण चिन्तक था और उसके बिम्बों में रूप और प्रतीकों की महानता मिलती है। गूढ़ और सुन्दर की सुसंगति में मानवी और दैवी के निमज्जन में उन्होंने अपना सारतत्व खोजा। बहुल सूत्रों को *ललित विस्तर* (पृ. 35, 12) के चार संभारों, पुण्य संभार, ज्ञात संभार, शमथ संभार और विदर्शना संभार—के आधार पर समेकित कर एक नई रचना तैयार की। इन चार संभारों का दृश्यरूप नीचे की सारणी में दिखाया गया है—

संभार	स्मारक	भित्तिचित्र	वैरोचन
विदर्शना संभार	आकाश खुला स्तूप	कोई नहीं	वज्रधातु वैरोचन
शमथ संभार	जालीदार स्तूप चतुर्थ दीर्घा द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ दीर्घाएँ	ललित विस्तर भद्रचारी गण्डव्यूह	दुर्गातिपरि शोधक वैरोचन
ज्ञान संभार	प्रथम दीर्घा Ib, II B प्रथम दीर्घा Ia प्रथम व द्वितीय दीर्घाएँ I Ba,IIB	अवदान ललित विस्तर जातक	
पुण्य संभार	प्रच्छन्न या गुप्त आधार	वैरोचनाभ सम्बोधि लोक प्रज्ञप्ति कर्म विभंग	तन्त्र अभि- सम्बोधि वैरोचन

बोरोबुदुर की वैचारिक परिकल्पना यद्यपि चार संभारों पर आधारित है, दृश्यतः वह अनेक ग्रंथों की प्रतिनिधि है, ये विदर्शना की तैयारी बताते हैं। विदर्शना तीन प्रभु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशों में वैरोचन के अध्यात्मिक जगत का आरोही प्रतिरूप है—अभिसम्बोधि-वैरोचन, दुर्गतिपरिशोधन-वैरोचन जिनका समाहार आगे चलाकर वज्रधातु वैरोचन में हो जाता है।

बोधिसत्व को अपनी पारगामी प्रज्ञा और प्रज्ञादायों द्वारा अपने मार्ग शोधन कर सभी प्रारम्भिक संभार व्रतों द्वारा अपने को सुसम्पन्न बनाना होता है। वह आकाश की भाँति निस्संग है तथा सभी वस्तुओं पर शून्य की भाँति झरकर नीचे आता हैं (सुजूकी, 1930 : 227)। संभार उस स्तर की नैतिक सामग्री है जो अ-बहिर्प्रवाह स्थिति से आगे चलकर वहाँ आती है, जहाँ वे उस समय तक रहते रहे थे। (वही, पृष्ठ 361)। कर्म विभंग की विभिन्न ग्रन्थों में पुण्य प्राप्ति का विवेचन किया गया है। ज्ञान पारगामी जानकारी है जो व्यावहारिक जानकारी, विज्ञान से पृथकतया भिन्न है। समथ या क्षान्ति मन को सौम्य और अविक्षुब्ध बनाए रखने की कला है तथा विदर्शना सर्वोच्च स्तर पर किया गया ध्यान है। जीवन कार्यों (कर्म विभंग) से गुणात्मक सम्पर्क बनाने से आरम्भ करके साधक पार्थिव जगत से ऊपर के विदर्शना के स्पन्दनों पर पहुँच वहाँ आरूढ़ हो जाता है।

चार संभार दो स्पष्ट श्रेणियों में द्विदिश करके दिखाए गए हैं—

(*i*) भित्तिचित्रों में, और

(*ii*) सुमेरू और बड़ी मूर्त्तियों वाले समग्र वास्तुकर्म में।

भित्तिचित्र पहले तीन संभारों और वास्तुकर्म चौथे और समाहारकारी विदर्शना संभार का प्रतिनिधित्व करते हैं।

5. इसका गुप्त या प्रच्छन्न आधार—पुण्य संभार अर्थात् सुकर्म और दुष्कर्म तथा उनके परिणाम हैं। बोरोबुदुर के अधोस्तर में कर्मविभंग रखने की संगति या औचित्य क्या है? आचार सम्बन्धी दोष और दुष्कर्म नरक में ले जाते हैं और जैसे-जैसे कोई पुण्य की ओर बढ़ता जाता है उसका जन्म स्वर्ग में किसी आनन्दमयी स्थली पर होता है। नैतिक कर्तव्यों के प्रतीक बौद्ध धर्म में शिंकालोवाद सुतन्त में मुख्य बना गए हैं और उसे ही सम्राट अशोक के धम्म का स्रोत भी स्वीकार किया जाता है। हाजिमे नाकामुरा ने आधुनिक बर्मी बौद्ध धर्म (*शाकुसन नो कोतोबा, तोक्यो, 1960, 244-45*) में इस सूत्र का महत्त्व दिखाया है। इस सूत्र के चार चीनी अनुवाद मिलते हैं : 148-170 ई. आन शिह काव द्वारा किया अनुवाद; 301 में धर्मरक्ष का किया अनुवाद; 397-98 ई. में गौतम संघदेव का किया अनुवाद, जो मध्यमकागम ग्रंथमाला में सम्मिलित है और 413 ई. में दीर्घागम के अन्तर्गत किया हुआ बुद्धयशस् का अनुवाद। बौद्ध धर्म के इतिहास में श्रावकों के लिए नैतिकता का केन्द्रीय स्थान पर होना महत्त्वपूर्ण है। बोधि तक पहुँचाती, आध्यात्मिक सीढ़ियों वाले दूसरे स्तर तक ले जाने वाला यह पहला पग था। एक पालिग्रंथ का उद्धरण देखें—

"कर्म अपने ही होते हैं, वो कर्मों का उत्तराधिकारी है, कर्म ही व्यूह हैं, कर्म बंधु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, कर्म ही निर्णायक हैं, कर्म जीवों में निम्नता, उत्तमता लाकर उन्हें भिन्न-भिन्न बनाते हैं।" यह *मज्झिमनिकाय* के *चुल्ल-कम्म-विभंग-सुत्त* का कथन है (हौर्नर (1977:3:253)। इस शुभ सुत्त भी कहा जाता है क्योंकि इसका उपदेश राजा प्रसेनजित के ब्राह्मण पुरोहित तोदेय्य के पुत्र शुभ को दिया गया था। तोदेय्य अपने ही घर में श्वान बनकर जन्मा और जब बुद्ध शुभ से भेंट करने आए तो वह उन पर भौंकने लगा। बुद्ध ने शुभ को कुत्ते की पहचान, उससे एक निधि पहचनवा कर कराई जिसे मानव रहते समय उसने घर में किसी जगह छिपाया था। इसका पालि पाठ है। कम्म-स्सका, माणवा, सत्ता, कम्म-दायादा कम्म-योनि कम्म-बन्धु।' कम्म पतिसरणा—कम्मं सत्ते विभजति यद इदं हीनप्पणितततायाति। बोरोबुदुर के आधार में बने ये भितिचित्र हीन कर्मों और उत्तम (प्पणित) योनियों में पुनर्जन्म होने का द्विद्विश लक्षण प्रतिबिम्बित करते हैं।

6. गुणधर्म ने गुप्त या प्रच्छन्न आधार में कई ग्रन्थों का अनुसरण किया। उसका प्रधान स्रोत *कर्म विभंग* के विभिन्न संस्करण, *लोकप्रज्ञप्ति* और *वैरोचनाभिसम्बोधि* प्रतीत होते हैं जिनका ब्योरों में तथा दृश्य प्रभाव बढ़ाने के लिए उपयोग किया गया।

सुकर्म और दुष्कर्म का विवेचन अनेक बौद्ध सूत्रों में किया गया मिलता है। (*अंगुत्तर निकाय* 4, 427; *दशभूमक* सम्पा. राहडेर 26 *लोक प्रज्ञप्ति शास्त्र, कारण प्रज्ञप्ति* शास्त्र (*कौस्मोलोजी बौद्धिकि,* 1914-18, 298, 325, 347)। सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रंथ *शुक सूत्र* था, जिसका अन्य नाम कर्म विभंग भी है। शुक सूत्र दूर-दूर तक प्रचलित ग्रन्थ है। शुक इसमें पालि नाम शुभ की जगह आया है। शुभशुक। इसका तीसरी, पाँचवीं, छठी और दसवीं शताब्दी में चार बार चीनी अनुवाद किया गया। चीनी में किए गए अनुवादों का ब्यौरा आगे दिया जा रहा है—

(क) 265-317 में किया गया अनामी अनुवाद
चिन तू तियाव चिङ, तू तियाव को कहा गया सूत्र; तूतियाव पूर्व जन्म का ब्रह्मचारी तोदेय्य ही है।

(ख) 435-443 में गुणभद्र द्वारा किया गया अनुवाद।
चिन यिङ वू चिङ; शुक को कहा गया सूत्र।

(ग) 582 में गौतम धर्मप्रज्ञ द्वारा किया गया अनुवाद
चिन येह पाव चा पिच चिङ्; कर्म के विभिन्न परिणामों का सूत्र।

(घ) 984 में तिएन हसि-त्सई द्वारा किया गया अनुवाद
चिन फेह सिच शान ए पाव यिङ चिङ; अच्छे-बुरे कर्मो का परिणाम समझाने वाला सूत्र।

इसके भोट भाषा में दो अनुवाद हुए।

(ङ) जिनमित्र, दसशील, मुनि वर्मा व ये सेस्-स्दे कृत *कर्म विभंग*

(च) अज्ञात अनुवादक कृत *कर्म विभंग नामधर्म* ग्रंथ।

सुकर्मों और दुष्कर्मों का विवेचन करते दो अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ये हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(क) *मध्यमागम सूत्र*, 170, गौतम संघदेव द्वारा 397-98 में अनूदित।

(ख) *लोक प्रज्ञप्ति*, परमार्थ द्वारा 558 या 569 में अनूदित। उन्होंने *अभिधर्मकोश* का प्रथम अनुवाद किया। *चिन लि शिह आ पि तान लुन*, *लोकप्रज्ञप्ति अभिधर्मशास्त्र*। नरक में पुनर्जन्म होने के चित्र कर्मविभंग की अपेक्षा इस ग्रंथ के विवरणों में काफी ज्यादा मिलते हैं। (फोन्तेन, पृ. 35)

7. लोक प्रज्ञप्ति—इयान फोन्तेन के नए अध्ययनों ने सिद्ध किया है कि भित्तिचित्रों का अनुक्रम *महाकर्म विभंग* के संस्कृत पाठ से नहीं मेल खाता। इसके बजाय ये भित्तिचित्र गौतम धर्मप्रज्ञ के पाठ (ए) के ज्यादा निकट हैं। तथा कुछ भित्तिचित्रों का ब्योरा तो लोकप्रज्ञप्ति से मेल खाता है। प्रो. र्‍यूशो हिकाता ने निम्नलिखित फलकों को लोकप्रज्ञप्ति : 86-89, आठ महानरकों से सहसम्बन्धित किया है—

90-92 कुकूल, कुणय (90), क्षुरधारा, अयः शाल्मली वन (91), असिपत्र वन, क्षारनदी (92)। ये अभिधर्मकोश शास्त्र, अध्याय 11 से लिए हुए, महाव्युत्पत्ति (सं. 4929-4944) सोलह नरकों में से हैं।

93-96 छह *दुर्गतियों* में जन्म : पक्षी, पशु, गरुड़, नाग, प्रेत, असुर।

97-100 *सद्गति* में जन्म : मनुष्य।

101-108 *सद्गतियों* में जन्म : कामावचर व रूपावचर लोकों में देव।

123-160 लोक प्रज्ञप्ति अध्याय 62-71 के प्रतिनिधि हैं।

हिकाता का कथन है कि अध्याय 23-26 और 40-58 के भित्तिचित्र नहीं है। प्रतीत होता हैं लोक प्रज्ञप्ति ब्योरों के लिए सम्पूरक स्रोत रहा होगा। भित्तिचित्र 86-92 में नरकों का ब्योरा कर्म विभंग की अपेक्षा इस ग्रंथ के ज्यादा निकट है (फोन्तेन पृ. 35)।

कर्म प्रणाली की छह योनियाँ अभिधर्म की छह ध्यान स्थितियों से भिन्न हैं। डब्लू. एफ. स्टुट्टरहाइम ने सुझाया है कि प्रच्छन्न आधार कामधातु को प्रतीकित करता है। (*स्टडीज़ इन इन्दोनीसियन आर्काइलोजी*, 1956:37)। कामधातु भूमि के अंदर का नरक वास नहीं है जैसा कि प्रच्छन्न आधार से समझा जाएगा। ये तीनों लोक किसी भौगोलिक क्षेत्र में बने क्षैतिज अस्तित्व वाले नहीं, बल्कि मनोवैज्ञानिक स्थितियाँ हैं। निचीरेन ने इन लोकों की आन्तरिक प्रकृति पर बल दिया है। "जहाँ तक इस प्रश्न की बात है कि नरक और बुद्ध ठीक-ठीक कहाँ पर स्थित है, तो एक सूत्र में पाठ है कि नरक पाताल में है और दूसरा सूत्र कहता है कि बुद्ध पश्चिम में हैं। तथापि गहराई से परीक्षण करने पर विदित होता है कि ये दोनों हमारे पाँच फुटे शरीर में ही विद्यमान हैं।"

"तो फिर ये लोक हैं क्या? निम्नतम से अधिकतम वांछनीय तक चलते हुए ये हैं *नरक;* निराशा की ऐसी स्थिति जिसमें कोई जीव दुःखों से पूरी तरह पराभूत हो जाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है; *बुभुक्षा*, ठगनेवाली ऐसी इच्छाओं से शासित स्थिति जिन्हें पूरी तरह से कभी संतुष्ट ही नहीं किया जा सकता; पशुता स्वभाव प्रेरित बलवान से भय खाने और कमजोरों पर धौंस गाँठने की स्थिति; *क्रोध*—ऐसी स्थिति जिसका लक्षण दूसरों से बढ़ने और उनपर शासन चलाने, बहुधा अच्छा और बुद्धिमान होने का ढोंग करने की अदमनीय प्रतिस्पर्धात्मक उत्तेजना होती है। ये चारों स्थितियाँ चार कुटिल पथ कही गई हैं। क्योंकि ये विनाशकारी नकारात्मक हैं जो इनका स्पष्ट चिह्न है।

"आगे बताते हुए, *मानवता* शान्त स्थिति है जिसका चिह्न तर्क करने, शान्तिपूर्ण निर्णय कर सकने की योग्यता है। यह मानव रूप में हमारी पहचान का आधारभूत तत्त्व है, परन्तु यह स्थिति भंजनशील संतुलन को भी प्रतिनिधित कर सकती है जो नकारात्मक दशाओं से सामना होने पर किसी निम्नतर स्थिति के आगे झुक जाती है। *परमानन्द आनन्द* की ऐसी अवस्था या स्थिति है जिसका विशिष्ट अनुभव उस समय होता है जब कोई इच्छा पूरी हो जाती है और दुःख से बचाव हो जाता है। इन सभी संसारों को कभी-कभी छह निम्नतर संसारों या जगत में एक साथ कर एक वर्ग में रख दिया जाता है।' (लोकेशचन्द्र *डिक्शनरी ऑफ बुद्धिस्ट आइकनोग्राफी,* 2000, : 2 555)।

रूपावचर देव रूपधातु में बसते हैं जो ध्यान की चार अवस्थाओं अथवा ध्यानभूमियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन चारों ध्यानभूमियों का ब्यौरा *अभिधर्मकोश* में दिया गया है। त्रिधातु विश्व के ब्रह्माण्डीय स्थल नहीं है। इन्हें हम ब्रह्माण्ड ज्ञान की धारणाएँ और व्यवहार कह सकते हैं।

देवयोनि प्राप्त कर लेने के बाद व्यक्ति दैवीय बन आध्यात्मिक स्तरों से एकाकार हो, सारतत्त्वों के लोक में ऊपर पहुँच जाता है। *देवोभूत्वा देवं अर्चयेत्*/देव बनकर देवत्व की अर्चना करता है। साधक ने सभी पापों और पुण्यों का परित्याग कर दिया है और अब वह अपनी *साधना* की सहायक आध्यात्मिक स्थितियाँ ग्रहण करने को तैयार है। शैव शब्दावली में उसका *शिवीकरण* पूर्ण हो चुका है अर्थात् शिव से वह एकाकार हो गया है। *शिवीकरण* पारिभाषिक बालि में अभी भी मिलता है।

ध्यान और कर्मकाण्ड से मिली शक्ति के कारण साधक अभिधर्म के तीनों लोकों (त्रिधातु) : कामधातु (कामनाओं का लोक), रूपधातु (घटना लोक) और अरूपधातु (आत्मा के रूपहीन लोक) से पार चला जाता है। वह पदार्थ के विचार और पदार्थ के बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाता है। ये लोक की स्थितियाँ हैं जिनमें ध्यान की तुल्यता प्राप्त करते हुए व्यक्ति रहा करता है। (सोक गक्कई, *डिक्शनरी ऑफ बुद्धिज्म,* 2002:804)।

पुण्य संभार की छह योनियों को, जैसा कि उन्हें कर्म विशेष शैली का प्रतिनिधित्व करने के लिए प्रच्छन्न आधार में चित्रित किया गया है, अभिधर्म की त्रिधातु से पृथक तथा भिन्न समझा जाना चाहिए, क्योंकि वे दैवीकरण तक ले जाती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और फिर वहाँ से वैरोचन के एकनिष्ठ स्वर्ग में ध्यानभूमियों तक पहुँचाती सीढ़ियाँ हैं।

8. वैरोचनाभिसम्बोधि तन्त्र और प्रच्छन्न भित्तिचित्र—प्रच्छन्न आधार के 160 भित्तिचित्रों में 60 भित्तिचित्र योगपट्ट से बंधे बैठे हुए व्यक्ति के हैं। ये 60 चित्र अशुद्ध मन की 60 अवस्थाओं से सम्बन्धित हैं जिन्हें बोधिचित्त की प्राप्ति के लिए पार करके आगे बढ़ना होता है। (माविल्श्ज, 1991:35)। ताजिमा (वेमैन 1993:261) इन्हें 'भूल करते हृदय' कहता है। बुद्ध वज्रपाणि को इन 60 हृदयों के विशिष्ट लक्षण गिनाते हैं और एक-एक करके समझाते हैं; उदाहरण कि "लोभ का हृदय क्या है?" यह ऐसा हृदय है जो अशुद्ध धर्मों से अपने को जोड़ता है।" अच्छे हृदय थोड़ा-थोड़ा करके सुधरते हैं क्योंकि वे साठ बुरी प्रवृत्तियों से घिरे हुए होते हैं जो इस सुधार को आपदग्रस्त कर डालते है और जिनसे इसे छुटकारा भी दिलाया जाना चाहिए (ताज़िमा, पृ. 296)। इन साठ मनों को कभी-कभी उपमाओं द्वारा भी अभिव्यक्त किया गया है। उदाहरण कुत्ते (29) का अर्थ है वस्तुओं से प्रसन्न हो उठने वाला भले ही वे थोड़ा-सा ही क्यों न हो", यह हौज़ का किया रूपांतरण है अथवा 'थोड़ा-सा जो मिल जाए उसी से सन्तुष्ट हो जानेवाला।' यह यामामोतो के किए अनुवाद में है। इनकी कुछ श्रेणियाँ तो स्पष्टतया विशिष्ट हैं और भित्तिचित्रों की पहचान करने में हमारी सहायक हो सकती हैं। पशुओं के नाम पहचाने जा सकते हैं : बिल्ली 28, गिरगिट 47, कौआ 28, कुत्ता 29, गरुड़ 30, सिंह 36, चूहा 11, उलूक 37, सर्प 17, नृत्य के दृश्य 33, सूर्य 34, और गीत 32 कुंजियाँ दे सकते हैं। प्राकृतिक घटनाओं को भी भित्तिचित्रों से सह-सम्बन्धित करना कठिन नहीं है : बादल 53, खेत 54, अग्नि 44, सागर 58, तडाग 24, नदी 23, सुमेरु 57, कूप 24। भित्ति चित्र में नर्तकी 72, नृत्य के 33वें मन का प्रतिनिधित्व करती है जो समझता है कि अपने विविध कौशलों से वह अन्य लोगों को उत्तेजित कर डालेगा। फोन्तेन ने सोचा कि उसमें नर्तकी को मन हटाने के लिए जोड़ा गया है। वैरोचनाभिसम्बोधि तन्त्र का भोट भाषा में मिलती उसकी टीकाओं और मूल संस्कृत ग्रन्थों के चीनी अनुवादों तथा देशी व्याख्या ग्रंथों के साथ मिलाकर भित्तिचित्रों की कुंजी प्राप्त करने के लिए अययन करना होगा।

साठ में से निम्नलिखित अवस्थाएँ भित्तिचित्रों में देखी जा सकती हैं : प्रावस्था 16 असुर : भित्तिचित्र 86; 17 सर्प : 94; 22 कृषक : 65, 122; 23 नदी : 92, 118; 24 तडाग : 9, 147; 25 कूपः 90; 28 बिल्ली : 105; 29 कुत्ता : 4, 22, 53, 86, 87, 88, 92; 30 गरुड : 94; 31 चूहा : 65, 87; 32 गीत : 125, 151; 33 नृत्य : 72, 149; 34 तूर्य : 1, 52; गृह : 119; 36 सिंह : 105, 67; उलूक : 4; 38 कौआ : 12, 41, 86, 105, 118; 40 कंटक : 87, 92; 43 जल : 30, 90; 44 अग्नि, 2, 88, 89, 109, 110; 47 गिरगिट : 118; 50 विष : 14, 18; 51 पाश : 9, 49; 52, हथकड़ियाँ : 113; 53 बादल 66, 118; 56, उस्तरा : 86, 87, 91; 58 सागर : 109; 59 छिद्र : 87।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योगपट्ट वाले साठ भित्तिचित्र हैं, 9, 10, 11, 17, 18, 20, 27, 31, 32, 33, 36, 37, 39, 40, 41, 42, 43, 44, 45, 47, 50, 52, 53, 56, 59, 62, 64, 68, 69, 70, 72, 74, 94, 96, 98, 100, 101, 102, 103, 106, 111, 113, 115, 117, 124, 125, 126, 127, 130, 132, 133, 134, 136, 144, 148, 149, 150, 153, 154 और 156।

160 हृदय पाँच मूलक्लेशों को 2 के प्रघात (5×2^5) से गुणित करने पर प्राप्त होते हैं। पाँच मूलक्लेश है *राग, प्रतिघ, मोह, मान* और *विचिकित्सा।* इस तरह से पाँच मूलक्लेश $\times 2^5 = 160$ क्लेशयुत हृदय (ताजिमा 1993 : 284n, 351)। पाँच मूलक्लेश टीका के अनुसार अविद्या से उत्पन्न होते हैं (तात्रिमा, पृ. 285n 351) जब संतोषी जनों के 160 प्रकार के क्लेशयुक्त मन पारगामी बन जाते हैं तो भारी पुण्य उत्पन्न होता है।" (यामामोतो 1990:5)। वेमैन (1992 : 43) कहता है "व्यक्ति 160 पार्थिव मनों के तीन कल्पों (eons) को परापार्थिव मन जगाकर पार करता है।" उन्होंने 'कल्प' का अनुवाद eons (समय का माप) किया है। कल्प का अर्थ समय की अवधि नहीं है। बल्कि यह भ्रांतिकारी जुड़ाव वैराग्यपरक बौद्धधर्म में होता है। (देखें यामामोतो 1990 : 9; हौज 452)। इसका सही अनुवाद होगा यदि कोई व्यक्ति तीन भ्रांतिकारी *लौकिक कल्पों* को पार कर जाए तो वह परापार्थिव हृदय (लोकोत्तर चित्त) उत्पन्न होता है (ताजिमा, पृ. 264, n352 व 353, पृ. 285)।

प्रतीत यही होता है कि प्रच्छन्न भित्तिचित्र कर्म विभंग और उससे जुड़े हुए ग्रंथों की अपेक्षा वैरोचनाभिसम्बोधि तन्त्र को उससे कहीं ज्यादा प्रतिनिधित करते हैं। अथवा वे दो पृथक विचारों के सम्मिश्रण के प्रतिनिधि हैं जिन्हें एक जगह साथ लाकर एक संग्रथित दृश्यगत सम्पूर्ण बना दिया गया है।

इन्दोनीसिया का प्रसिद्ध बौद्ध ग्रंथ साङ ह्याङ कूमहायानिकन (एस एच के) वैरोचनाभिसम्बोधि तन्त्र से ही आरम्भ होता है। वैरोचनतन्त्र की पन्द्रह पंक्तियाँ एस एच के में भी मिलती हैं। (लोकेशचन्द्र, 1995 : 4.295 पृ. पर)।

चीनी-जापानी मन्त्रयान (जापानी में शिंगोन) की स्थापना शुभाकर सिंह (635-735) वज्रबोधि (671-741) और अमोघवज्र (705-774) ने की थी। वज्रबोधि भारत से श्रीलंका और फिर वहाँ से श्रीविजय गया। वहाँ उसकी भेंट अमोघवज्र से हुई जो उसका शिष्य बन गया। श्रीविजय से 719 में वह चीन पहुँचा। शिंगोन के प्रधान ग्रन्थ हैं, *वैरोचनाभिसम्बोधि तन्त्र, सर्व तथागत तत्त्व संग्रह, जापसूत्र* और *न्यायसूत्र* जापसूत्र और न्यायसूत्र की पंक्तियाँ *साङ ह्याङ कामहायानिकन* में भी उद्धृत की गई हैं। प्रतीत होता है कि इन ग्रंथों के मूल संस्कृत ग्रंथ *वज्रबोधि* इन्दोनीसिया से ही लिए गए थे। एस एच के मन्त्रयान के ग्रन्थों का संग्रह है। तथा इसमें एक संक्षिप्त साङ ह्याङ नागवायु सूत्र, संस्कृत में वज्रधातु प्रणाली के पाँच तथागतों को समर्पित किया हुआ, सम्मिलित है। कल्पबुद्ध के प्राचीन जावाई पाठ में भी पाँच तथागतों के विशिष्ट गुण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बताए हुए हैं। (एफ. डी. के. बौश्श, *सेलेक्टेड स्टडीज़ इन इन्दोनीसियन* आर्कायोलॉजी, 1961 : 131-133)। शीर्षक में आया नागबायु नागाहवय का जो नागार्जुन का ही अन्य नाम है, भ्रष्ट रूप है। वह शिंगोन के आठ गुरुओं या पुरखाओं में से प्रथम गुरू है : नागार्जुन, उनका शिष्य नागबोधि, शुभांकर सिंह (637-735), वज्रबोधि (671-741), अमोघवज्र (705-774, ईत्सिंग (683-727), हुई-कुओ (746-805), कोबो दार्याश (774-835)। शिंगोन का इन्दोनीसियाई ग्रंथों से निकट सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। इन्दोनीसिया जरूर मन्त्रयान का बड़ा केन्द्र रहा होगा। जहाँ उसकी सक्रिय शैक्षिक परम्परा और उसके साथ वास्तुशिल्पीय महत्ता की भव्यता विद्यमान थी। अमोधवज्र ने अपने छह प्रधान शिष्यों को, जिनमें सिल्ला का हुई चा'ओ (कोरिया) भी एक शिष्य था, *वज्र धातु* पढ़ाया। हुई-चाओ वज्रबोधि का भी शिष्य रह चुका था। अमोघवज्र के कई विदेशी शिष्य भी थे जैसे जावा का पिएन हुंग (चाऊ यि-तलियाङ, *तंत्रिज्म इन चायना,* हार्वर्ड वर्ल्ल *ऑफ एशियाटिक स्टडीज,* 1945; 8.329)। *जापसूत्र* भी शिगोन सम्प्रदाय का बड़ा ग्रन्थ था जिसमें मण्डलों की पूजा विधियों, अभिषेक करने और होम का विवेचन था। केवल इसी ग्रन्थ में अभिषेक विधि को विस्तार पूर्वक बताया गया है। (चाऊ चि, पृ. 281)। इसका अनुवाद वज्रबोधि ने किया है जिसने उसका अध्ययन नागार्जुन के शिष्य नागबोधि के अधीन रहकर किया था। एस एच के में बार-बार इसका उल्लेख किया गया है। न्यायसूत्र के वज्रसत्त्वमंडल से सम्बन्धित प्रारंभिक दसवीं शती की छह प्रतिमाएँ 1976 में सुरोकोलो में मिली थीं। (हयान फोन्तेन, *दि स्कल्पचर ऑफ इन्दोनीसिया,* 1990 : 224-226)। न्याय सूत्र का जापान में तीन बार, प्रातः, मध्याह्न में और सायंकाल, पाठ किया जाता है। शिंगोन मन्दिरों में यह प्रतिदिन चलने वाला पाठ है। प्रतीत होता है कि इन्दोनीसिया की मंत्रयान प्रथाओं ने पूर्व एशिया में हुए विकास को प्रभावित किया था जैसा कि बोरोबुदुर और एस एच के में मिलते निकट साम्यों तथा शिंगोन के सजीव नामों से पता चलता है। मन्त्रयान में शृंगारिक तत्त्व नहीं थे इसी से बोरोबुदुर का मूर्तिनिर्माण अनलंकृत है। बोरोबुदुर मन्त्रयान का पावन स्थल है जिसमें तीन स्तरों पर वैरोचन बिना अपनी किसी मूर्ति के उपस्थित है : प्रच्छन्न आधार में, जालीदार स्तूप में तथा पावनस्थली की समग्र रूपाकृति में।

9. **दुर्गति परिशोधन वैरोचन**—जालीदार स्तूप की 72 बुद्ध मूर्तियाँ 72 संस्कृत धर्मों को दूर करने की प्रतिनिधि हैं। ललित विस्तर का एक श्लोक, 195.12 कहता है 'दृष्टि जालम उद्धति संस्कृतातः' अर्थात् जिन्होंने संस्कारगत मिथ्या-दृष्टि जाल से उद्धार कर लिया है। 72 की संख्या और जाल जालीदार 72 स्तूपों से इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं। *संस्कृत* शब्द समाधि आदि के लिए अधकचरे शिक्षक (या गुरु) रुद्रक द्वारा *ललितविस्तर* 244.2 में प्रयुक्त किया गया है : संस्कृतानो साश्रवानां... ध्यान-समाधि-सम्पत्तिनाम् (एडगर्टेन, 1953 : 543a)। डब्लू. ई. त्सुर्राह व एल. होड्स, *ए डिक्शनरी ऑफ़ चायनीज़ बुद्धिस्ट टर्म्स* (1937 : 421a) संस्कृत के लिए प्रयुक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चीनी पारिभाषिक शब्द का अर्थ "सक्रिय, घटनात्मक, कारणतन बना हुआ, जन्म लेने के लक्षणों वाला, अस्तित्व, परिवर्तन और मृत्यु" करते हैं। इन घटनात्मक स्थितियों को न आने देना ही बोधिसत्व मार्ग है। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि गुणधर्म ने यह विचार ग्रहण किया। वह *ललित विस्तर* में गहरे उतरा हुआ था जिसने उसकी मनोकल्पना और उसके दृश्यगत प्रतिनिधायन पर गहरा प्रभाव डाला था। जालीदार स्तूप में स्थापित किए हुए बुद्ध धर्मचक्र (प्रवर्तन) मुद्रा में हैं जो सभी दुर्गति नियतियों को दूर करने के लिए सर्वदुर्गति परिशोधन तंत्र के महावैरोचन को मिली हुई है (*निष्पन्नयोगावली*) मंडल 22, पृ. 66 और उसके आगे के पृष्ठों पर)। बोरोबुदुर में निर्वाण का कोई चित्रण न किया जाना (फोन्तेन, पृ. 78) इस बात को पुष्ट करता है कि *ललित विस्तर* जो भगवान बुद्ध के निर्वाण के बजाय भगवान बुद्ध की बोधिप्राप्ति पर समाप्त हो जाता है, इस पावनस्थली का मार्गदर्शक ग्रंथ था। सुमेरु जिसके शिखर पर स्तूप बनाया हुआ है, चारों दिशाओं में चार बुद्धों की मुद्रा और कुल बुद्धों की 504 संख्या, सभी का वज्रधातु से सम्बन्ध है।

10. **वज्रधातु वैरोचन** पावन बनाए स्थल में सुमेरु पर्वत पर बने कूटागार में निष्पन्न योगावली के अनुसार (पृ. 44., वज्रधातु मण्डले वज्रपजरादरे सुमेरुपरि कूटागारं तस्य मध्ये सिंहोपरि...भगवान वैरोचनः) आसीन है। बोरोबुदुर का वास्तुशिल्प चार दिशाओं में खुलते चार प्रवेशद्वारों वाला जीनेदार बनाए सुमेरु का है। शकाब्द 746 (दामाइस के अनुसार 26 मई 824 ई.) का करंगतेणह अभिलेख पंक्ति 2 में इसे *उत्तुंग शैलस्थ सूरो* तथा पंक्ति 23 में *मेरु* बताता है। मण्डल की मूर्तियाँ *सुरोकोलो* गाँव से मिली हैं। *सुरोकोलो* का अर्थ देवताओं का पर्वत है। यह सुमेरु का पर्याय है।

बोरोबुदूर के शिखर पर स्तूप बना हुआ था, जो उस समय, जब बोरोबुदुर की खोज हुई, खुला हुआ था। यह इतना खुला था कि व्यक्ति कूटागार में पूजा-अर्चा करने के लिए प्रविष्ट हो सकता था। उदित होते सूर्य की प्रथम रश्मियाँ निश्चय ही खुले कूटागार में स्थापित किए वैरोचन का स्पर्श करती होंगी। दुर्भाग्य से वॉन एर्प द्वारा इसके पुनर्निर्माण कराते, और बाद में युनेस्को द्वारा इसे बन्द करा दिया गया। प्रो. रोल्फ ए. स्टाइन ने स्पष्टतः संकेत किया है कि खुला स्तूप वज्रधातु मंडल का प्रतिनिधि था। (*लैन्युवार द्यु कॉलेज द फ्रांस* 76-530)। सहस्रबुद्ध दिशाबुद्ध हैं जो जापान में बने वज्रधातु मण्डलों में पूर्व बुद्ध, दक्षिण बुद्ध, पश्चिम बुद्ध और उत्तर बुद्ध रूप में भली-भाँति ज्ञात है।

त्रिधातु (काम, रूप और अरुप्य) अथवा तीन लोकों की बत्तीस ध्यान स्थितियाँ होती हैं। इनका ब्योरा मेरे *कल्चरल होराइजंस ऑफ इंडिया* 7 : 235-37 में दिया हुआ है। वे हैं :

1-4 चार दुर्गतियाँ
5-11 सात सुगतियाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

12-28 रूपधातु : प्रथम ध्यान (12-14), द्वितीय ध्यान (15-17)
तृतीय ध्यान (18-20), चतुर्थ ध्यान (21-28)
29-32 अरूप्यधातु—पाँचवें से आठवाँ ध्यान।

पहली ग्यारह स्थितियाँ ध्यान अवस्थाओं की आन्तरिक प्रकृतियाँ हैं जिन्हें पहले कण्डिका 7 में समझाया जा चुका है। त्रिधातु को व्यंग्य स्वरूप ही नहीं लिया जाता और बोरोबुदुर में इस तरह उसे लिया भी नहीं गया है, जैसे अब तक उसकी व्याख्या की जाती रही है। *वैरोचनाभिसंबोधि तन्त्र* 2, 23 का वचन है, "मेरा धर्म पूर्णतः प्रबुद्ध है। इसका उदय आकाश में होता है।" आकाश ही ध्यान करने का स्थान है और त्रिधातु का मनोदर्शन ध्यान में ही किया गया था।

11. शैलेन्द्र सम्राट समरतुंग के 746 शकाब्द (824 ई.) ङ कयुमबुङन पाषाण अभिलेख में बोरोबुदुर की प्रधान प्रतिमा को 'उत्तंगु शैलस्थ शूरः' कहा गया है। सम्राट समर्पित मन से इस प्रतिमा का नमन करते हैं। शूर का संकेत शाक्यमुनि की ओर नहीं शाक्य सिंह रूप में वैरोचन की ओर है। निष्पन्न योगावली में (पृ. 66) वैरोचन को शाक्यसिंह : *श्री शाक्यसिंहो भगवान महावैरोचनः* कहा गया है। उत्तंगुशैला का संकेत सुमेरु रूप में बोरोबुदुर की ओर है। उत्तुंग या तुंग का उल्लेख इन्दोनीसिया के राजनामों में मिलता है तथा बोरोबुदुर का उच्च शिखर वाला सुमेरु शैलेन्द्र सम्राटों की शक्ति और वैभव है। अभिलेख की 15वीं पंक्ति में मूर्तियों से भरे हुए मेरु (समाक्रान्त मूर्तिश्च मेरुः) का उल्लेख है। *प्रणमति* का लट् लकार (वर्तमान काल) बताता है कि सम्राट समरतुंग ही इसके प्रदाता थे। अभिलेख में सम्राट के भारी शौर्य (पंक्ति 7) का उल्लेख मिलता है जिसने अनेक राजाओं को परास्त किया था। उनकी राज गुणों और विशेषताओं वाली, नारी चारुता और करुणा से युक्त, बहुत प्यारी पुत्री थी। वह सौंदर्य की प्रतिमा ही थी। और उसका नाम प्रमोदवर्द्धिनी उसके असाधारण गुणों का सूचक था कि वह सभी पर सदा प्रसन्नता बिखेरती थी। उसने जिनालया (पंक्ति 8) मन्दिर (पंक्ति 11) जिन मंदिर (पंक्ति 13) का निर्माण इस गाँव में करवाया और उसमें अपने स्वर्गीय पति (श्री घननाथ) और श्वसुर (आर्य पंक्ति 11) की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित कराईं। महिमा में यह मन्दिर शाक्यमुनि बुद्ध को अर्पित किए गए राजा बिम्बसार द्वारा निर्मित कराए विहार वेणुवन उपहार का प्रतिस्पर्धी था। भगवान बुद्ध के कार्यकलापों का यह महान केन्द्र था। अन्तिम पंक्ति 15 में प्रार्थना की गई है कि यह विहार तब तक यथावत बना रहे जब तक मेरु पर देवताओं का निवास रहे। मन्दिर का निर्माण राजकुमारी के स्वर्गीय पति और श्वसुर की स्मृति में तथा विहार की स्थापना उत्तम धर्म को फैलाने के लिए कराई गई थी। ये दोनों कार्य दो संभारों के प्रतिनिधि थे। मंदिर धार्मिक अनुष्ठानों द्वारा पुण्य संचय करने के लिए (पुण्य संभार) तथा विहार तरुण और बुद्ध भिक्षुओं (पंक्ति 13) द्वारा धर्म का ज्ञान प्रसार करने के लिए (ज्ञान संभार) थे। पंक्ति उन वस्तुतः इन दो संभारों को प्रोत्साहन देने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(महाज्ञान-पुण्य-प्रसूति) की ओर संकेत है। मंदिर और विहार का निर्माण *भक्ति* (पंक्ति 3) और प्रेम (*प्रीत्था*) के फलस्वरूप कराया गया। ताकि उत्तम धर्म सांसारिक दुःखों (पंक्ति 2) को दूर करने की प्रधान औषधि बन सके। अगली पंक्ति 3 में संसार को पीड़ित करनेवाले अनन्त दुःखों की बात दुहराई गई है। उससे अगली पंक्ति 4 में उस महान करुणा (करुणां...गरीयसीम्) का कथन है जो उन दुःखी प्राणियों को प्राप्त होगी जो बुद्ध के मार्ग का अनुसरण करेंगे। अभिलेख यह सूचित करता प्रतीत होता है कि एक नया मन्दिर और असाधारण विद्वानों वाला एक विहार निष्ठावान भक्तों की सहायता करने और उसके साथ-साथ उच्च ज्ञान को समर्पित विद्वानों की भी सहायतार्थ स्थापित किए गए थे। इन्हें बोरोबुदुर के पावन परिसर में स्थापित किया गया था ताकि राजकुमारी को हुई अपनी वैयक्तिक हानि में कुछ सान्त्वना मिल सके और उसके साथ-साथ यह उत्कृष्ट ज्ञानविज्ञान का केन्द्र भी बन जाए।

12. **बोरोबुदुर इन्दोनीसिया के जाति-राष्ट्र का प्रतीक है**—गण्डव्यूह के भित्तिचित्रों की वहुलता और वैरोचन अर्थात् महासूर्य की तीन स्तरों पर स्पष्ट इंगिति हमें इसकी विस्मयकारी तुलना जापान के सम्राट शोमु द्वारा 752 में रोशना (संस्कृत की रोचन) विशालमूर्ति अर्थात नारा दायबुत्सु से करने को आमन्त्रित करती है। सम्राट शोमु ने 743 में शक्ति के प्रति राष्ट्र की जागरूकता को संगठित करने के अपने प्रयत्न में "राष्ट्र का नियन्त्रण करने वाले प्रधान के रूप में सम्राट को उपयुक्त प्रतीक बनाने को" तोदई जी विहार में 16 मीटर ऊँची रोचन की विशालमूर्ति बनाने का आदेश-पत्र जारी किया। (कोबांयाशी 1975:22)। ऐसा जनता और सम्राट के मध्य समरसता लाने को राष्ट्र की प्रभुसत्ता को गहनतर आध्यात्मिक स्तरों पर मजबूत बनाने के लिए किया गया था : "भीतर से सन्त, बाहर से सम्राट।" यह एक महान राष्ट्र मंदिर था।

रोचन गण्डव्यूह (443-9) के धरमदेव अथवा *अभ्युच्च देव* हैं जिनकी विशालमूर्तियाँ किसी भी मन्दिर की अभिभूत करनेवाली दृश्य उपस्थिति होती हैं। उत्तरी वेई वंश ने 386 से 550 तक चीन पर शासन किया। वे 'पाँच बर्बरों' में से एक तोपा कबीले के थे। (याङ हसुआन चिह, *ए रेकार्ड ऑफ बुद्धिस्ट मोनास्ट्रीज इन लो-याङ*, 1984 : 113 टि 288)।

उन्होंने 440 में लोयाङ की प्राचीन राजधानी पर अधिकार कर लिया। पूर्व एशिया का सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य बनाकर पूरे उत्तरी चीन पर शासन करते रहे। उन्होंने भारत तक से अधीनता राशि लाते शिष्टमंडलों को स्वीकार किया। (वोल्फ्राम एवेरहार्ड, *ए हिस्ट्री ऑफ चायना*, 1955:152)। वेई सम्राटों ने अपना शासन देश पर वैध बनाने के लिए राजधानी के निकट यून-काङ गुफाएँ उत्खनित कराने और पहले पाँच सम्राटों : ताई-त्सु 386-408, ताई-त्सुङ 409-423, शिह-त्सु 424-452, कुङ-त्सुङ, काव-त्सुङ 452-465 के लाभार्थ पाँच गुहाओं में रोचन की विशाल मूर्तियाँ बनाने का राजादेश तान-याव को दिया। मूर्तियों को सम्राटों के शरीर-समानुपात में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनाया जाता था। यून-काङ की मूर्तियाँ एक नई वस्तु थीं जिससे चीनी विद्वान आश्चर्यचकित रह गए और अत्यधिक विकसित संस्कृति लाने के रूप में उत्तरी वेई वंश को ठोस वैधता मिल गई।

यून-काङ की विशालमूर्तियाँ मूलधारणा और उसके क्रियान्वयन में बामियान का स्मरण दिलाती हैं। केकय जिसने गुफाओं की आयोजना बनाने में तान याव से सहकार किया, उत्तर पश्चिम (भारत) का था और उसने बामियान की विशालमूर्तियों के जगमगाते विवरण अवश्य अपने ध्यान में रखे होंगे, जिससे तान याव को चीन की भूमि पर उन्हें पुनःसर्जित करने की प्रेरणा मिली। और जो उसके नामानुरूप गौतम की (तान) महिमा (याव) भी था। बामियान की विशाल मूर्तियाँ गण्डव्यूह के अभ्युच्च देव की प्रतिनिधि है जैसा मैंने अपने प्रबन्ध *बुद्धिस्ट कोलोसी एण्ड दि अवतंसक सूत्राज* (*कल्चरल होराइजंस ऑफ इंडिया* 6.32-51) में दिखाया है।

सम्राज्ञी वू त्से-तियेन ने अवतंसक सूत्रों का नए सिरे से अनुवाद 695-699 में शिक्षानंद से कराया। एक विशेष राजदूत संस्कृत ग्रंथ लाने खोतन भेजा गया। तथा अनुवाद में सम्राज्ञी ने भी योग दिया। ऐसा कन्फूसियस की यह मान्यता हटाने के लिए किया गया कि कोई महिला सम्राज्ञी नहीं बन सकती। 699 में अवतंसक के उन्हीं के लिखे आमुख में उन्होंने भगवान बुद्ध की भविष्यवाणियाँ प्राप्त किए जाने पर प्रसन्नता प्रकट की है। अवतंसक सूत्र का अनुवाद समाप्त हो जाने पर अनुवादकों द्वारा 5 नवम्बर 699 को प्रस्तुत किए गए स्मरण लेख में वू चाव चक्रवर्ती के विचार और बोधिसत्व धारणाओं को सम्पुष्ट किया गया। स्मरण लेख के हस्ताक्षर कर्ताओं में ई-त्सिङ, जो थोड़ा समय हुए ही भारत से चीन में वापस आया था, बोधिरुचि और कश्मीर से आये क्षत्रिय जाति के भिक्षु चिन्तामणि सम्मिलित थे। क्षत्रिय जाति का इसमें विशेष उल्लेख किया जाना कन्फूसियाई मन्दारिनों से तुल्यता दिखाने को है।

कोरिया की सोक्कुरम गुफा भी अवतंसक मन्दिर है। इसे क्योङ डॉक के शासनकाल में निर्मित किया गया जिसने राजादेश से अवतंसक को राज्य धर्मग्रंथ घोषित किया। कोरिया और बाद में जापान के शासक वर्ग ने अवतंसक और राज्य के बीच एक समतुल्यता देखी। सोक्कुरम पूर्वी सागर का प्रतिरक्षण करता है।

इसी प्रकार, शैलेन्द्र सम्राटों के लिए बोरोबुदुर भी (i) निष्ठा या कर्मकाण्ड कार्य (ii) ध्यान के लिए महान पर्वत केन्द्र (iii) विद्वत्ता की असाधारण स्थली तथा (iv) मूल्य प्रणाली के रक्षक रूप में सम्राट के व्यक्तित्व में राज्य का पावनीकरण और वैधकरण उपाय रहा होगा। अवतंसक का प्रच्छन्न आधार जालीदार स्तूपों और शिखर पर बने खुले स्तूप में वैरोचन की तीनों अभिव्यक्तियों के साथ सम्मिश्रण में बोरोबुदुर के राजनैतिक आयामों को देखा जा सकता है। रोचन और वैरोचन दोनों का अर्थ सूर्य है। धर्म स्थापकों में बुद्ध ही एक मात्र ऐसे हैं जिनमें राज रक्त है। अश्वघोष ने अपने बुद्धचरित I.1 के पहले श्लोक में ही कहा है, "ऐक्ष्वाकुओं के वंश में,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुद्धोधन नाम का अपराजेय शाक्यों का एक राजा था, जो शक्ति में इक्ष्वाकु के समान था" (ई. एच. जौन्स्टन, *दि बुद्धचरित,* भाग प्प्ए-पृ. 1)। इस प्रकार बुद्ध ऐक्ष्वाकुओं के सूर्यवंशी ठहरते हैं जिसके सर्वाधिक प्रसिद्ध वंशज रामायण के श्रीराम हैं।

·शाक्यमुनि अमिताभ बने। उनका वाहन मयूर है। ईरान का मयूर सिंहासन राज्य के साथ अमिताभ का सम्बन्ध होने का स्मरण कराता है।

बोरोबुदुर के प्रच्छन्न आधार में वैरोचनाभिसम्बोधि तन्त्र के 60 और 160 चित्र उसके योगपट्टों से बँधे 60 व्यक्तियों सहित 160 भित्तिचित्रों में सम्मिलित किए हुए हैं। जालीदार स्तूपों में दुगीर्ति परिशोधन वैरोचन की धर्मचक्र मुद्रा वाली 72 मूर्तियाँ हैं। सम्पूर्ण स्मारक में वज्रधातु वैरोचन के विविध तत्त्व मिलते हैं। वैरोचन अपनी सर्वविद् अभिव्यक्ति में चक्र लिए हुए है। (क्लार्क, 1937 : 2,114)। चक्र चक्रवर्ती (विश्व शासक) का प्रतिनिधित्व है। वज्रधातु वैरोचन का अन्य नाम एकाक्षर चक्रवर्तित है। अमोघवज्र (705-774) ने एकाक्षर उष्णीश चक्रवर्ती के आह्वान की मैनुअल लिखी। 12वीं शती की 76.5 सेमी. ऊँची बहुवर्णी काष्ठ प्रतिमा चुसोवी विहार में देखी जा सकती है। (फुकुयामा, 1976: 28 फलक, 22 रंगीन)। हम विशेष रूप से यह जान लें कि अमोघवज्र जावा में रहा था : विस्तृत बौद्ध विद्वान शेष जगत से निरन्तर अन्तःक्रिया करते रहते थे और मन्त्रयान के सर्वाधिक भव्य स्मारकों वाला जावा उस समय सबसे ऊपर अधिष्ठित था। सर्वविद् कर्मकाण्ड 14वीं शती तक प्रचलित रहे। नागरकृतागम में 1362 में हुए राजपत्नी के अन्तिम श्राद्ध समारोह का वर्णन दिया गया है जो कहता है (64.3) कि सर्वज्ञ की पूजा तन्त्रों और मंडल निर्माण में निष्णात बौद्ध भिक्षुओं ने सम्पादित की थी। इस वाक्य का सही-सही अभिप्राय थि. वीगोद अथवा जोइटमुल्डर किसी की समझ में नहीं आया है (ओ. जा. इंग्लिश डिक्शनरी, पृ. 1700 : सर्वज्ञपूजा)। सर्वज्ञ सर्वविद् वैरोचन का पर्याय है जो चक्रवर्ती का चक्र धारण किए हुए है। शैलेंद्र सम्राट समरतुंग के कयूमवूङन अभिलेख में उत्तुंग शैलस्थ शूर की चर्चा है जो बोरोबुदुर के ऊँचे शैल पर आसीन *शूर* (= वैरोचन) की ओर संकेत करता है। इसमें *शैल* शब्द अत्यधिक महत्त्व का है क्योंकि यह शैलेन्द्रों की ओर संकेत करता है। बोरोबुदुर का ऊँचा शैल शैलेन्द्रों के विस्तृत साम्राज्य और राष्ट्रीय स्मारक का प्रतीक था जो उनकी राजनैतिक शक्ति, आर्थिक समृद्धि और 8-9 वीं शताब्दियों में इन्दोनीसी राज्य की बौद्धिक महिमा का प्रतिनिधि था। हमें गूगे राज्य के भी ऐसे ही उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने 10-11वीं शताब्दी में 'राज्यदीप' के रूप में तावो विहार निर्मित कराया। तावो के प्रधान मन्दिर में ललितविस्तर और गण्डव्यूह के चित्र और वज्रधातु मण्डल की तीन आयामों वाली मूर्तियाँ बनाई हुई हैं।

गण्डव्यूह और मन्त्रयान में सदा गहरा निकट सम्बन्ध रहा है। जब कोबो दायशी मन्त्रयान शिक्षाओं का अपना अध्ययन और व्यवहार पूरा करने के बाद जापान लौटा तो उसके भारतीय गुरु प्रज्ञ ने उसे संस्कृत पाण्डुलिपियाँ, अवतंसक सूत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(गण्डव्यूह), सतपारमिता सूत्र के चीनी अनुवाद तथा अनेक संस्कृत पाण्डुलिपियाँ जनकल्याण के लिए दी थी। (हाकेदा, 1972 : 149)। अवतंसक के बुद्धभद्र द्वारा 422 ई. में किए चीनी अनुवाद का रोचन शिक्षानन्द द्वारा 699 ई. पूरा किए चीनी संस्करण में वैरोचन बन गया है। रोचन शब्द 798 में किए गए प्रज्ञ के चीनी अनुवाद में बार-बार आया है।

अवतंसक सूत्रों की रचना उत्तरपश्चिमी भारत में की गई और उसका प्राचीनतम चीनी अनुवाद रम्यक सूत्र (चीनी में–लोमो चिया चिङ) है, जिसे आर्यस्थिर ने 388-407 में किया था। यही गण्डव्यूह है। इसे यह नाम इसलिए मिला क्योंकि रम्यक में किया गया था जो आज की अफगानिस्तान की लमघन उपत्यका है। तोखारी जन इस श्रेत्र में विद्यमान थे। तोखारी इटैलो-केल्टिक भाषा है। राजशक्ति के इसके चित्र स्वाभाविक है कि पश्चिमी शास्त्रीय प्रतिरूपों से प्रभावित थे। सूर्य देव हेलिओस की सबसे ज्यादा प्रसिद्ध विशाल, 105 फुट ऊँची कांस्य मूर्ति पराजित शत्रु के हथियारों को गलाकर मिली धातु से बनाई गई थी। 653 ई. तक यह रोड्स बन्दरगाह के प्रवेश स्थल पर खड़ी हुई रही परन्तु उसके बाद अरबों ने इसे विनष्ट कर डाला। इसकी टूटी-फूटी धातु सामग्री 900 ऊँटों के लदान बराबर हुई। बामियान की बृहत्तर विशालमूर्ति, 175 फुट ऊँची, ऐसी सभी मूर्तियों से बड़ी और मानवाकार से तीसगुनी (5.83×30=175 फुट) थी। इस प्रकार गण्डव्यूह का रोचन और वैरोचन जो चीनी-जापानी अनुवाद में दायनिशी 'महतसूर्य' बन गए सूर्यवंश, इन्दोनीसिया में शैलेन्द्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

निष्कर्ष–

(*i*) हमने गुणधर्म को वह व्यक्ति माना है जिसने अनेक बौद्ध ग्रंथों की समरसता में सुमेरु और बोराबुदुर के भित्तिचित्रों की परिकल्पना की और उन्हें निर्मिति प्रदान की।

(*ii*) इसमें वह बौद्धों की बहुस्तरीय विकास परंपरा का अनुसरण कर रहा है जिसका समाहार इन सूत्रों में किया गया है।

(*iii*) प्रच्छन्न आधार अधोस्तर है क्योंकि कर्म ही सभी आध्यात्मिक उपलब्धियों की नींव है–

(*i*) सामान्य स्तर भिक्षु संघ में आए हुए लोगों को मिलते निर्वाण की जगह गृहपतियों को सुकर्म करके स्वर्ग में ज्यादा अच्छा जीवन प्राप्त होने की आशा प्रस्तुत करता है। देवताओं का पूजा अर्चा की जगह नैतिक आचरणशस्त्र ने ले ली है।

(*ii*) दूसरा स्तर बोधि तक पहुँचाने वाली सीढ़ियाँ हैं।

(*iv*) प्रच्छन्न आधार के लिए गुणधर्म का प्रधान स्रोत कर्म विभंग का वह पाठ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहा है जो अब केवल गौतम धर्मप्रज्ञ द्वारा किए चीनी अनुवाद में ही उपलब्ध है। इसे उन्होंने अन्य ग्रन्थों से सम्पूरित किया है।

(*v*) अब तक सम्पूर्ण बोरोबुदुर की पहिचान अभिधर्म की त्रिधातु प्रणाली के अनुसार ही की गई है। यह बोराबुदुर के विभिन्न अंगों के साथ मेल नहीं खाती।

(*vi*) गुणधर्म ने ललित विस्तर के चार संभारवाली चतुष्क प्रणाली का अनुसरण किया है। प्रच्छन्न आधार आचारशास्त्र का प्रतिनिधि है जिससे सुकर्म उदित होते हैं। यह पुण्य संभार है। जातकों और भगवान बुद्ध के जीवन के भित्तिचित्र बोधि तक ले जाने वाली सीढ़ियाँ हैं। ये ज्ञान संभार है। गण्डव्यूह के 54 कल्याणमित्र शमथ संभार के आयाम हैं। सुमेरु या वास्तुकर्म संरचनाओं तथा बुद्धों की 504 मूर्तियों का सम्बन्ध वज्रधातु वैरोचन से है। ये विदर्शना संभार है।

संदर्भ साहित्य–

वाल्टर युजीन क्लार्क — टू लामाइस्टिक पैल्वियोंस, कैम्बिन, मासा. (हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस)।

इयान फोन्तेन — दि लॉ ऑफ काज एण्ड इफेक्ट इन एंशियंट जावा, आम्स्टर्डम, 1981

तोशियो फूकूयामा — हेइअन टेम्पल्स : ब्योदो-इन एण्ड चुसोन जी, तोक्यो (हेइबोंशा), न्यूयार्क (वेदरहिल)

योशितो एस. हकेदा — कुकई : मेजर वर्क्स, न्यूयार्क (कोलंबिया युनिवर्सिटी प्रेस)

स्टीफन हौज — दि महावैरोचन-अभिसम्बोधि-तन्त्र, न्यूयार्क (रूटलिज कर्जन)

कोरियन त्रिपिटक, लीविस आर. लंकास्टर — दि कोरियन बुद्धिस्ट कैनन : ए. डेस्क्रिप्टिव कैटेलाग, बर्कले, 1919, युनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस

सिल्वाँ लेवी — महाकर्म विभंग कर्मविभंगोपदेश, पेरिस, 1932', लाइब्रेरी एनेलिसिस

एलिलिया मात्सुनाग — दि बुद्धिस्ट फिलासोफी ऑफ एसीमिलेशनः हिस्टारिकल डेवलेपमेंट ऑफ दि होंजी सुह्जाकू थ्योरी, तोक्यो, 1969, चार्ल्स ई. रटल कं.

बुनयिऊ नांगियो — ए केटेलाग ऑफ दि चाइनीज ट्रांसलेशन ऑफ बुद्धिस्ट त्रिपिटक, आक्सफोर्ड, 1883, क्लेरंडन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

	प्रेस
डी. टी. सुजुकी	स्टडीज इन दि लंकावतार सूत्र, लन्दन, 1930, जार्ज रूटलिज एण्ड संस लि.
तायशो	एडिशन ऑफ दि चाइनीज त्रिपिटक संपा. ताकाकुलू जुनजीरो एण्ड बतनाने कालग्योकु, 1924
एलेक्स वेमैन	दि एन्लाइटेनमेंट ऑफ वैरोचन, नई दिल्ली (मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा. लि.)
चिक्यो यामामोतो	महावैरोचन सूत्र, नई दिल्ली (आदित्य प्रकाशन)

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ :

साक्षात्कार 344-345; अगस्त सितम्बर 2008, संपादकः हरि भटनागर; साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद का मासिक प्रकाशन; प्रकाशक : निदेशक / प्रधान सम्पादक, साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद, संस्कृति भवन, बाण गंगा, भोपाल-3. पृष्ठः 272, मूल्यः 30 रुपये।

हरित रहे वसुंधरा (गीति नाटय); किशोरी लाल व्यास 'नीलकंठ'; इंदूर हिंदी समिति, निजामाबाद, प्रथम संस्करणः 2008, प्रकाशकः डॉ. किशोरी लाल व्यास, एफ-1, रत्ना रसिडेंसी, महेश्वरी नगर, हब्सीगुड़ा, हैदराबाद-500007; पृष्ठः 30, मूल्यः 100 रुपये।

दिव्यालोक अंक-10, वर्ष-2008; संपादकः जगदीश किंजल्क; प्रकाशकः राजो किंजल्क, साहित्य सदन, द्वारकापुरी, कोटरा रोड, पी. एण्ड टी. चौराहे के पास, भोपाल-462003 (म.प्र.), पृष्ठः 80, मूल्यः 100 रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तन्त्र या आगम और भाषा

राममूर्ति त्रिपाठी*

तन्त्र या आगम में भाषा से सम्बद्ध उस विवाद के लिए कोई स्थान नहीं है कि मानव ने व्यवहार सौकर्म के लिए वर्णों या उससे घटित रूप में भाषा की कल्पना की अथवा उसका कोई पदार्थ विज्ञान-सम्मत स्वरूप है। यहाँ तो माना जाता है कि मनुष्य की शरीर नामक संस्था में जन्मतः वर्णों की सूक्ष्म संस्थिति रहती है तथा इन वर्णों या आहत ध्वनियों के समाहारक अनाहत नाद अथवा प्रणव का सतत घोष होता रहता है। साथ ही यह कि ये वर्ण उसी एकाक्षर रवि रूप अव्याकृत वाक् से क्षरित होते रहते हैं। वैसे तो यह भी कहा गया है कि इससे भी परे प्रणव रूप पर शब्दात्मक कुण्डलिनी या महाशक्ति की घनीभूत अवस्था है जो सृष्टि का मूल है। अर्थात् एक तो इसकी चर्चा स्रष्ट्री रूप में है और दूसरे ऐहिक तथा आयुष्मिक कामनाओं की सिद्धि के लिए वर्ण-घटित मन्त्रों के रूप में। एक तरफ कहा गया—'वागेव विश्वाभुवनानि जज्ञे'—अर्थात् यह वाक्-तत्त्व है जिससे सारे भुवन जन्म लेते हैं और दूसरी तरफ माना गया है कि मनन द्वारा त्राण का माध्यम मन्त्र है।

आगम में ही नहीं, उससे जुड़े हुए निगमात्मक ऋग्वेद में से ही वाग्व्यापार को सृष्टि के पर्याय के रूप में देखा जाना प्रारम्भ हो गया। वाक् के ही तीन स्तरों के रूप में द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी की कल्पना की गई और वाक् को ही देवताओं की धारिका तथा प्रेरिका शक्ति के रूप में देखा गया। इसी वाक् की भीतरी खोज ही मन्त्र साधना का पर्याय बनी। इस खोज की परिणति होती है उस वाक् में जो हाथ में गही नहीं जाती, पर स्वयं प्रस्तुत होकर रहस्य उन्मीलित कर देती है। इस प्रकार प्रकृत में तन्त्र या आगमगत भाषा का चिन्तन उक्त दो ही रूपों में प्रतिश्रुत है।

पहले इसके स्रष्ट्री रूप पर विचार कर लें। निगमागम में सर्वत्र माना गया है कि स्रष्ट्री शब्द प्रणव है। प्रश्न यह होता है कि यह शब्द कौन-सा है? श्रोत्रग्राह्य शब्द तो स्वयं अपनी सत्ता के लिए अनेक उपादान एवं निमित्तों की अपेक्षा करता है—अतः यह शब्द तो सृष्टि का मूल नहीं हो सकता। सृष्टि का प्रथम उपक्रम जिससे हुआ है, उसे

*राममूर्ति त्रिपाठी, पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, उज्जैन विश्वविद्यालय, हिन्दी, संस्कृत तथा काव्यशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान हैं। संपर्क : 2 स्टेट बैंक कॉलोनी, देवास रोड, उज्जैन (म. प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि पूर्व विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग, उज्जैन विश्वविद्यालय। हिंदी एवं सांस्कृत तथा काव्य शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान है। प्राथमिक स्पन्द (Primordial Causal Movements) यह नाम दें तो हम जिसे शब्द कहते हैं—वह प्राथमिक स्पन्दन ही है। उस प्राथमिक स्पन्द के मूल उत्स से नाना दिशाओं में और नाना भाव से अभिव्यक्ति हुई है और हो रही है—नाना धाराओं में सृष्टि का प्रवाह चल रहा है। इन धाराओं को 'कार्याभिव्यक्ति धारा' (Lines or streams of different Manifestation) कहा जा सकता है। इसकी ग्रहीता बहिरिन्द्रिय या अन्तरिन्द्रिय में से कोई नहीं है। वह प्राथमिक स्पन्द मात्र है। प्राथमिक स्पन्द कहने की जगह इसे केवल 'स्पन्द' कहना संगत होगा। जगत् के दो पक्ष हैं—ज्ञान और ज्ञेय। किसी भी विषय का ज्ञान या जानना या अनुभूति अपने मूल में एक स्पन्दन ही है। विषय का ज्ञानेन्द्रियों पर धक्का, ज्ञानेन्द्रियों का ज्ञानवाही स्नायुतन्त्र पर धक्का और उसका अनुभूति केन्द्र गुच्छ-विशेष पर धक्का—इसी की प्रतिक्रिया तो ज्ञान या अनुभूति है। इसी प्रकार ज्ञेय पदार्थ मात्र का घटक परमाणु क्या स्पन्दनशील नहीं है? क्या उसकी भीतरी बनावट में स्थित एलेक्ट्रान गतिशील नहीं हैं? ज्ञान-ज्ञेयात्मक जगत् का जब सबकुछ स्पन्दनशील है तो मानना होगा कि उसका अनुगत तत्त्व 'स्पन्द' ही है। सारे ब्रह्माण्ड के मूल में यही चलने-फिरने का व्यापार है—इसी चल-फिर का नाम दिया गया है—'स्पन्द'। जगत् और संसार अन्वर्थ संज्ञा है। पर क्या अचल की समझ के बिना सचल की धारणा बन सकती है? यह अचल सबका अधिष्ठान है। पूर्णता दोनों के सामरस्य में है और वह समरस—तत्त्व 'सुखमहमस्वाप्सम्', न किञ्चिदवेदिषम' की सुषुप्ति परवर्ती स्मृति के सर्ववादिसम्मत अविसंवादी अनुभूति के साक्ष्य पर चिदाह्लादमय है। ईशावास्य उपनिषद् में भी कहा है कि मूल तत्त्व एजनात्मा और अनेजनात्मा है—'तदेजति तन्नैजति'। एजनात्मा शक्ति है और अनेजनात्मा शक्तिमान्—साथ ही दोनों तादात्म्यापन्न हैं—यह अद्वय द्वयात्मक है।

इस प्रकार इस आद्य स्पन्द को 'शब्द' या 'पर शब्द' संज्ञा दो कारणों से दी गई है—एक उसकी गतिशीलता और दूसरी सर्जनक्षमता। नाद को देखें—वह गतिशील भी है और सर्जनक्षम भी। इस प्रकार श्रोत्रग्राह्य शब्द अपर शब्द है और आद्यस्पन्द पर शब्द—साथ ही बोधात्मक। तन्त्र में वाक् या शब्द की यही परिकल्पना है। आगम कहता है कि परात्पर सत्ता की घटकीभूत अथ च अभिन्न चिदाह्लादमयी विमर्शात्मा शक्ति स्पन्दात्मा ही है। 'स्पन्द' शब्द किञ्चिच्चिलनार्थक स्पदि धातु से निष्पन्न है। यह किञ्चिच्चिलनात्मिका स्पन्दात्मिका शक्ति क्रियात्मक होकर भी क्रियात्मक इसलिए नहीं है कि वह कालातीत है। जहाँ स्पन्द होगा—वहाँ शब्दन भी होगा। यही मूल स्पन्द या शब्दन वह वाक् है जो सृष्टि की जननी है। आगम भी कहता है—

'यस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तन्त्रालोक भी कहता है—'संवित् प्राक् प्राणे परिणता'—परात्पर सत्ता में सिसृक्षावश जो प्रथम स्पन्द हुआ वही तद्विदों द्वारा शिवतत्त्व या उसका स्वभावभूत शक्ति कहा गया—

स एक विश्वमेषितुं ज्ञातुं कर्तुश्चोन्मुखीभवन्।
शक्तिस्वभावः कथितः हृदयत्रिकोणमधुमांसलोल्लासः॥

(महेश्वरानन्द कृत महार्थञ्जरी', पृष्ठ 40)

वही (शिव ही) अपने हृदय के इच्छा-ज्ञान-क्रिया रूपी त्रिकोण के माधुर्य से परिवर्द्धित उल्लास द्वारा अपने में ही स्थित विश्व का ईक्षण करने के लिए उन्मुख होने पर शक्ति-स्वभाव वाला कहलाता है अर्थात् जब शिव अपने हृदय में बीज रूप से विद्यमान अर्थ-तत्त्व को बाहर लाना चाहता है तब वह शक्ति कहलाता है। शक्ति चित् की क्रियाशीलता है। छान्दोग्य उपनिषद् भी यही कहती है—पर भाष्यकार आचार्य शंकर ने इस निहितार्थ को प्रस्फुटित नहीं किया—

सदैव सोम्य इदमग्र आसीदेकमद्वितीयम्।
तदैक्षत बहुस्याम्, प्रजायेय—इति।

यह ईक्षितृत्व विमर्श या उन्मुखता के समान है। भाष्यकार यहीं मौन है। यही शक्ति या स्पन्दात्मिका वाक्-सर्जिका है। ऋग्वेद से ही वाग्व्यापार को सृष्टि के पर्याय के रूप में देखा गया है—

चत्वारि शृंगास्त्रयो अस्य पादाः
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति,
महो देवो मर्त्यां आविवेश॥

यहाँ भाषा को वृषभ से उपमित कर कहा यह जा रहा है कि दोनों वर्षा करते हैं। भाषा एषणा की पूर्ति करती है—बरसती हुई। इसके चार शृंग हैं—वैयाकरण इसे नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप में देखते हैं—पर आगमिक इसे वाक् के चार भेद के रूप में देखते हैं—पस, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। एक अन्य ऋचा में भी कहा गया है—

'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि'।

नागेश भट्ट ने दोनों अर्थों को भाष्यसम्मत माना है। उन्होंने कहा है कि श्रोत्रग्राह्य रूप वैखरी है, हृदयदेश में रहनेवाली चिन्तन में उपयोगी मध्यमा है। यह व्यवहार का कारण या साधन है। लोकव्यवहारातीत जो वाणी का रूप है—वह 'पश्यन्ती' है। यह रूप योगिप्रत्यक्षगम्य माना जाता है। साधारण मानव इसका व्यवहार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं करते। 'परा' इन तीनों में ऊपर की वाक् है। इसे शब्द-ब्रह्म भी कहा जाता है। परा में किसी भी प्रकार का विभाग नहीं होता। पश्यन्ती में योगी अपने योगबल से प्रकृति और प्रत्यय का विभाग कर सकते हैं। नागेश ने कहा है–

> "तत्र श्रोत विषया वैखरी। मध्यमा हृदयदेशस्था पदप्रत्यक्षानुपपत्त्या व्यवहारकारणम्। पश्यन्ती तु लोकव्यवहारातीता। योगिनां तु तत्रापि प्रकृति प्रत्ययविभागावगतिरस्ति। परायान्तु न।"

तांत्रिकों ने चेतन को पाँच स्तरों पर देखा है–जागर, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत। इसी के समानान्तर शब्द में भी अवस्थाओं या स्तरों की कल्पना की गई है–जागर, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। तुरीय शब्द ही शब्द ब्रह्म है (परा है) जिसका अतिक्रम करके अतितुर्य या परब्रह्म पद की प्राप्ति होती है। परमब्रह्म ही परमशिव है। तन्त्रों में इनके और भी रूप और भेद-प्रभेद कहे गए हैं। वैखरी में स्थूल वर्ण होते हैं। यह अभिलापरूपिणी, पंचदशाक्षर शशिमयी तथा लौकिक एवं वैदिक सम्पूर्ण शब्दों की आत्मा है। मध्यमा वैखरी वर्णों का वासनात्मक सूक्ष्म रूप है–यहाँ वर्ण सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहते हैं। इसकी तांत्रिकी संज्ञा 'नाद' है। शब्दब्रह्म (परा) वायु के द्वारा नाभि से हृदयपर्यन्त अभिव्यक्त होता हुआ निश्चयात्मिका बुद्धि से युक्त होकर विशेष स्पन्द प्रकाश रूप नादमय मध्यमा वाक् के नाम से कहा जाता है। पद्मपादाचार्य इसकी व्युत्पत्ति देते हैं–

> "मध्ये मा बुद्धिर्यस्याः सा"

और भास्कर राय कहते हैं–

> "मध्ये स्थिता मध्यमा"।

पश्यन्ती और वैखरी के मध्य स्थित होने के कारण यह मध्यमा है। यह न तो 'पश्यन्ती' की भाँति केवल उत्तीर्णा है और न वैखरी की भाँति बाह्य। भास्कर राय इसे नादमयी मानते हैं और पद्मपादाचार्य बिन्दुमयी। राघवभट्ट इस नादबिन्दुमयी मानते हैं।

वस्तुतः बिन्दुरूपा पश्यन्ती है और नादरूपा मध्यमा–और तत्त्वतः ये दोनों कार्यरूप हैं। कारणात्मक नानबिन्दु अलग है। यह मध्यमा भी द्विविध है–स्थूल और सूक्ष्म। सूक्ष्म नवनादमय है और स्थूल नववर्गात्मक तथा भूतनिधि स्वरूप है। नवनाद से नववर्ग का जन्म होता है। कहीं-कहीं इसे त्रिविध–पर, सूक्ष्म तथा स्थूल–भी कहा गया है। पश्यन्ती वाक् ईश्वर तत्त्व है। यदि मध्यमा माषशमिकोपमा है तो पश्यन्ती वटधानिका के समकक्ष है। यही कार्यबिन्दु है। कारणबिन्दु स्वरूप शब्दब्रह्म (परा) जब पवन-प्रेरित होकर नाभिदेश को प्राप्त होकर विमर्शात्मक मन से युक्त होता है तो उसे ही सामान्य स्पन्द, प्रकाशरूप, कार्यबिन्दुमय पश्यन्ती वाक् की संज्ञा मिलती है। इसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्युत्पत्ति है—

"पश्यति—इति पश्यन्ती"।

इसी की दूसरी संज्ञा 'उत्तीर्णा' भी है—

'पश्यति सर्वं स्वात्मनि, करणानां सरणिमपि यद् उत्तीर्णं।'

यह सम्पूर्ण स्रक्ष्यमाण का आकलन तो करती ही है—करणों की पद्धति को भी देखती है—अतः पश्यन्ती और उत्तीर्णा कही जाती है। पश्यन्ती के भी स्थूल , सूक्ष्म और पर—जैसे तीन भेद हैं। इसमें वाच्य-वाचक का विभाग नहीं है, यह क्रमरहित, स्वरूपज्योति, स्वप्रकाश तथा अविनाशी सूक्ष्म वाक् की पश्यन्ती है। ईश्वराद्वयवाद में जो ज्ञान-शक्ति अथवा सदाशिवरूपता है वही वैयाकरणों की पश्यन्ती है। इसे ही वे लोग परतत्त्व कहते हैं। यही अनादि अक्षय शब्द-तत्त्व है। अभिनवगुप्त ने पश्यन्ती, महापश्यन्ती तथा परम महापश्यन्ती की भी चर्चा की है। परम महापश्यन्ती ही परावाक् है। सोमानन्द पश्यन्ती को ज्ञान-शक्ति कहते हैं, पर अभिनवगुप्त इसे इच्छा शक्ति कहते हैं। वस्तुतः इच्छा-शक्ति ज्ञान और क्रिया-शक्ति की अनुग्राहिका बीजावस्था है। जानने की इच्छा भी बोध ही है। इच्छा-शक्ति में बोध्य वस्तु का पूर्ण रूप से प्रकाशन होता है। परावाणी शब्द की चरम अवस्था है। इसी का अतिक्रम करके परब्रह्म या परमशिव पदवी की उपलब्धि होती है। पूर्ण होने के कारण ही इसे परा कहते हैं। इसकी व्युत्पत्ति है—

"वक्ति विश्वमयलपति प्रत्यवमर्शेन इति च वाक्"

अर्थात् समस्त विश्व के आस्वादात्मक चमत्कार रूप प्रत्यवमर्श द्वारा कथन करने के कारण इसे वाक् कहा गया है। इसे परम शिव का परमन्त्रात्मक विमर्श रूप हृदय कहा गया है। मन्त्र ही समग्र का हृदयभूत है। विमर्श के अतिरिक्त मन्त्र का और कोई अर्थ नहीं है और विमर्शन परावाङ्मय है—अतएव सार भी। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में कहा गया है—

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥ 14/2॥

जगद् रूप अंकुर के लिए कन्दात्मक होने के कारण यह परावाक् कारणबिन्दु के नाम से कही जाती है। यह परावाणी निःस्पन्द मानी जाती है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया—यहाँ समष्टि रूप से विद्यमान रहती है। इसी परावाणी में सम्पूर्ण वाच्य-वाचक-वैचित्र्य मयूराण्ड के सदृश अनभिव्यक्त रूप अभेदापन्न होकर विद्यमान रहती है। विविक्त नभ के सदृश शोभित वह परमशिव बहिर्मुख होने की इच्छा से किंचित् चलित होता है। यह चलन उसका आद्य प्रसर है। इसी को स्पन्द, प्राण और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊर्मि की संज्ञा प्रदान की जाती है। अन्ततः सर्जना चाहे ईश्वरीय हो या मानवीय–वह वाक् के इन्हीं स्तरों पर सम्पन्न होती है। उभयत्र उल्लसित चेतना पश्यंती भूमि पर स्रक्ष्यमाण का आकलन करती हुई मध्यमा स्तर पर स्फुट और वैखरी पर स्फुटतर हो जाती है।

वाक् की भीतरी खोज ही मन्त्र-साधना का पर्याय बनी। तन्त्रों में भाषा-विचार का यह दूसरा पक्ष है जहाँ ऐहिक और आयुष्मिक प्रयोजनों की पूर्ति के लिए वर्ण-घटित मन्त्रों का उपाय रूप में प्रयोग होता है। मन्त्र के तात्त्विक स्वरूप पर विचार करते हुए माना गया है कि शब्द का वह रूप *परशब्द* है जो स्पन्द मात्र है–यह स्वयं श्रुत शब्द नहीं है, पर शब्दतन्मात्र श्रुत शब्द है–फलतः वह *अपरशब्द* के वर्ग का है–पर यह तुम्हारे हमारे कर्ण द्वारा श्रुत शब्द नहीं है–पारमार्थिक कर्ण से सुना गया निरतिशय शब्द है। अवश्य ही यह अपरशब्द का सर्वोच्च स्तर या पराकाष्ठा तन्मात्र में है। इसके नीचे नाना स्तरों के शब्द हैं। मोटे तौर पर इन्हें दो प्रकार का समझ सकते हैं। यन्त्र विशेष या ध्यान-धारणा से जो सुने जा सकते हैं–वे सूक्ष्म शब्द हैं–शब्दतन्मात्रा उनकी पराकाष्ठा है और सचराचर कान में हम जो शब्द सुनते हैं–वह स्थूल शब्द हैं। शब्द-भेद की तरह कर्णभेद भी है। इन त्रिविध शब्दों के मूल में परशब्द है जिसके न रहने पर प्रजापति भी नहीं सुन सकते। त्रिविध श्रुत शब्द के लिए त्रिविध श्रवण सामर्थ्य भी आवश्यक है। शब्दतन्मात्र के लिए पारमार्थिक कर्ण है, सूक्ष्म शब्द के लिए दिव्य-कर्ण और स्थूल शब्द के लिए भौतिक कर्ण है।

निष्कर्ष यह कि शब्द की ओर से हिसाब लगाने पर हमारे जगत् प्रत्यय की पाँच अवस्थाएँ हैं–क्षोभशून्य *अशब्ददशा,* क्षोभ या चाञ्चल्य वाला *परशब्द,* जिसके सुनने के लिए कोई कान नहीं होता। उसके बाद वह चाञ्चल्य, जो निरतिशय भाव से सुना जा सकता है–तन्मात्रशब्द, तदनन्तर दिव्य कर्णगोचर सूक्ष्म और भौतिक कर्णगोचर स्थूल शब्द। पारमार्थिक कर्ण में ज्योंही शक्ति-व्यूह किसी प्रकार का चाञ्चल्य या क्षोभ पैदा करेगा–वही उस क्षेत्र का स्वाभाविक शब्द है। स्वाभाविक शब्द ही वस्तु का बीज मन्त्र है।

प्रत्येक द्रव्य की सृष्टि और स्थिति के मूल में शक्ति व्यूह (Constituting forces or Causal Stress) रहता है, निरतिशय शब्द-सामर्थ्य में उस शक्ति-व्यूह की जिस शब्द या रूप में अभिव्यक्ति होती है, वही पदार्थ का स्वाभाविक शब्द है। यही पदार्थ का स्रष्टा है। तन्त्र में इस शब्द या मन्त्र का विस्तृत विवरण है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डायरी के पन्नों से

रमेश चन्द्र शाह*

भोपाल, 1 अगस्त, 2002

संयोग भी अकारण नहीं घटते—मानो मेरी इसी प्रतीति को ही बल देने के लिए—मुझ किताबों से बुरी तरह उकता चुके आदमी पर—एक के बाद एक ऐसी किताबें टूटी पड़ रही हैं जिन्हें मैंने नहीं ढूँढ़ा-पढ़ा; खुद उन्हींने मानो मुझे ढूँढ़ निकाला, मेरा घेराव किया—और, अपने को पढ़वाकर ही छोड़ा।

पेसोआ और कृष्णमूर्ति की डायरियों के बाद अब यह 'रिफ्लेक्शंज़ ऑन मैटा-रिएलिटी'। लेखक—रॉय भास्कर, जिनका कभी नाम तक मैंने नहीं सुना था।

क्या यह सचमुच ही एक नया दार्शनिक प्रस्थान लगता है? रॉय भास्कर आलोचनात्मक यथार्थवाद के प्रवक्ता की तरह जाने जाते रहे हैं। इस किताब में वे अपने उस 'क्रिटिकल रियलिज्म' को नकारते नहीं उलाँघते नज़र आते हैं। यानी, अब तक की अपनी विचार-सरणी को छोड़े बिना, उसके अतिक्रमण की संभावना का शोध करते हुए अद्वैत अवस्थाओं और सत् (वीइंग) की कलाओं (फेजेज) के गहनतर, उच्चतर और सर्वव्यापी-पारमार्थिक यथार्थ को रेखांकित करते हैं : यह दर्शाते हुए, कि किस प्रकार वे अवस्थाएँ (समाधि की, लोकोत्तर अनुभूति की) समस्त मानवीय—बल्कि, चराचर के—जीवन को उसकी समग्रता में धारण किए हुए हैं। अर्थात्, वे अब यह प्रतिपादित कर रहे हैं कि इस अतिक्रामी यथार्थ का ज्ञान (=साक्षात्कार) इस द्वैतमूलक-द्वैतात्मक संसार की सीमाओं को वस्तुतः समझ लेना है; तथा ऐसी समझ को स्वायत्त कर चुकने के बाद हमारे अभी तक के जाने-समझे यथार्थ का गुणात्मक रूप से बदल जाना निश्चित है।

आलोचनात्मक यथार्थवाद—लेखक के कथनानुसार—'यथार्थ को प्रक्रिया और परिवर्तन के हिसाब से संरचित और विशेषीकृत (Structured & differentiated) किए है। साथ ही वह समग्र (पूर्ण) के हिसाब से स्वयं में आत्म-चेतन मनुष्य को भी समाविष्ट किए हुए है।' जो आत्म-चेतन मनुष्य, फिर 'स्वयं यथार्थ के ही

*जानेमाने चिंतक, लेखक, समीक्षक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूपान्तरण का माध्यम' बन जाता है। लेखक कहता है कि अभी तक इन माध्यमों ने—अर्थात् मानव-व्यक्तियों ने—जिस तरह के संसार को बनाया है—जिसमें हम फ़िलहाल निवास कर रहे हैं—वह द्वैत का संसार है : दुःख-उत्पीड़न-संघर्ष का संसार। ऐसा संसार, जिसमें हम न केवल अपने-आप से और एक-दूसरे से निर्वासित-उन्मूलित हैं, बल्कि अपने कार्यकलापों से तथा उस प्राकृतिक पर्यावरण से भी, जिसके साथ किए गए हमारे कार्य-कलाप ही हमें एक अभूतपूर्व संकट और आत्म-विनाश की ओर धकेल रहे हैं।

इस पुस्तक में लेखक का उद्देश्य यह दर्शाना है कि किस प्रकार अद्वैत को जाने-माने बिना इस मनुष्य नाम के जीव का और उसके द्वारा निर्मित संसार का कहीं कोई निस्तार नहीं है। वह दर्शाता है कि किस प्रकार यह मानव-निर्मित, अन्याय-उत्पीड़न-जिघांसा से पटा संसार स्वयं भी उन अद्वैत अवस्थाओं की बदौलत ही—उन्हीं के बूते—टिका हुआ है, जो मानव जीवों के पारस्परिक सौहार्द-बन्धुत्व तथा सर्जनात्मक-बौद्धिक सामर्थ्य का भी स्रोत हैं—वह प्रेरणा और सामर्थ्य, जिसके बिना हमारा कोई भी उद्योग, कोई भी कर्म-व्यापार चल ही नहीं सकता था। ज्यों ही हम इस सत्य के प्रति सचेतन होते हैं, हम उस उलटी प्रक्रिया का सूत्रपात कर देते हैं जो समस्त शोषण-उत्पीड़न-आत्मोन्मूलन की त्रासद प्रक्रिया को—उसके समूचे तन्त्र को—रूपान्तरित और विघटित करना शुरू कर देती है। जब जाकर हमारे सामने वह *विजन,* VISION उघड़ता है—एक सन्तुलित विश्व का, और एक ऐसे मानव-समाज का चित्र जिसमें प्रत्येक मानव-जीव की अन्तर्निहित सम्भावनाओं का स्वतन्त्र विकास चराचर विश्व के विकास और आत्म-चरितार्थन की पूर्व शर्त बन जाता है। पूर्व शर्त भी, और परिणाम भी। सब कुछ के स्वाधीन विकास और सम्पन्नता की।

मन में, स्वभावतः यह सवाल उठता है कि आलोचनात्मक यथार्थवाद के प्रवक्ता दर्शनशास्त्री को ऐसे चराचरवादी, अद्वैत-प्रतिष्ठ और अद्वैतोन्मुखी विकास का इलहाम कैसे और कहाँ से हुआ?

पुस्तक के भीतरी आवरण-पृष्ठ पर तीन उद्धरण टाँके गए हैं : एक आइंस्टाइन का, एक जलालुद्दीन रूमी का और, एक पाण्डिचेरी की श्रीमा का। श्रीमा ('मदर') वाले उद्धरण में उक्त अवश्यम्भावी रूपान्तरित जीवन-जगत् की भविष्यवाणी ही नहीं, उसके धरती पर पहले ही पूर्वाभासित, बल्कि प्रकट भी हो चुकने का विश्वास व्यक्त हुआ है : इस तरह, जैसे वह तथ्य हो, मात्र आभास नहीं। हालाँकि उस उद्धरण में यह भी संकेत है कि यह प्राकट्य अभी प्रच्छन्न है और स्वयं को बहुत धीमी गति से, बहुत आन्तरिक स्तर पर उन्मीलित कर रहा है—जिससे बाह्य जगत् अभी सर्वथा अपरिचित और अछूता है। अब यह है तो श्री अरविन्द के ही पूर्णयोग का विचार-दर्शन, किन्तु लेखक ने पुस्तक में कहीं भी उनका नाम नहीं लिया है : शायद इसे गैरजरूरी मानते हुए और विवादास्पद बनने से—अर्थात् एक गैर-अकादमिक, गैर-दार्शनिक, और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गैर-पारम्परिक संस्था के प्रवक्ता बन जाने के संभावित आरोप से बचने के लिए। किन्तु श्री अरविन्द के जीवन-कार्य से, पाण्डिचेरी के क्रान्तिकारी प्रयोग से परिचित हमारे जैसे लोगों के लिए यह मान पाना कठिन है कि अगर यह कार्य सामने न होता तो इसके बिना भी इस लेखक के लिए अपने 'क्रिटिकल रियलिज्म' वाले पृच्छा-पथ पर चलते हुए ही उसे लाँघकर इस मैटा-रियलिटी के दर्शन तक—स्वयं अपने स्वाधीन तार्किक उपकरणों के बूते ही—पहुँच पाना सम्भव होता। किन्तु यह प्रेरणा उसे उस स्रोत से मिली हो, तो इसमें ऐसी असंगति भी क्या है? आखिर उसने 'सुप्रामेण्टल' की भी बात की ही है—बेशक अपनी तर्क-संरचना की शब्दावली का उपयोग करते हुए, और उसी के हिसाब से।

अर्थात् 'मैटा-रियलिटी' का यह फलसफा श्री अरविन्द के 'द ह्युमन सर्किल' और 'दि लाइफ डिवाइन' में प्रतिपादित जीवन-दर्शन और विचार-दर्शन के मेल में ही है। किन्तु, रॉय भास्कर श्री अरविन्द का नामोल्लेख न करते हुए स्वतन्त्र और विविक्त रूप से अपना यह दावा पेश कर रहे हैं इस पुस्तक में, कि मानव-कर्तृत्व की उज्ज्वलतम संभावनाओं के विकास और चरितार्थन का मार्ग प्रशस्त करते हुए उनका यह मैटा-रियलिटी का फलसफा अतीत की महान् दार्शनिक परम्पराओं में अन्तर्निहित अनुभव और दर्शन का ही अद्यतन तार्किक पुष्टिकरण और पुनः प्रस्फुटन है। साथ ही, वह यह भी कहते प्रतीत होते हैं कि ऐसा होते हुए भी उनकी तर्क-पद्धति आमूलचूल नए ढंग की है : समकालीन विश्व और समकालीन विचार-प्रवाहों के भीतर से, उनसे टकराते हुए उनके पार देखने-जाने की मौलिक चेष्टा। उन्हीं की शब्दावली का प्रयोग करें, तो वह कहते हैं—(हिन्दी अनुवाद मेरा)

> हम चाहें तो सचमुच स्वाधीन होने बनने की इस आत्मलयी प्रक्रिया को—अर्थात् अपने-अपने जीवनों में अद्वैतानुभव के क्षेत्र-विस्तार की प्रक्रिया को—आज और अभी प्रारम्भ कर सकते हैं, बशर्ते हम उन सारे तत्त्वों के प्रति सर्वथा चेतन-जागरूक हो सकें जो हमारे वर्तमान जीवन को रचती हैं। साथ ही हम उन सारे तत्त्वों को, जो हमारे मानव-स्वभाव की आधारभूत स्वतन्त्रता, सर्जनात्मकता और प्रेम-क्षमता के आड़े आती हैं, उनके प्रतिकूल जाती हैं—ऐसे उन तमाम असंगत और अनिष्ट तत्त्वों का मूलोच्छेद कर डालने को कृतसंकल्प हों। तभी—इस कर्मज्ञता और अद्वैतोन्मुख, अद्वैतानुभव-प्रेरित कर्मठता के चलते ही हम स्पष्ट देख पाएँगे कि यह जो दुःख-त्रास-शोषण-आत्मप्रवंचना की दुनिया हमीं ने निर्मित की है—यह दुनिया भी स्वयं उन सत्य-बीजों के द्वारा ही धारित और पोषित है—जो वस्तुतः भूमा, शान्ति और आत्म चरितार्थता की ओर ले जाने वाले समाज के बीज हैं। उन्हीं से हमारी मानवीय अवस्थिति अपने को सार्थक और कृतार्थ कर सकती है।

× × ×

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भोपाल, 15 अगस्त 2002

आज 15 अगस्त है। पहली बार, इस पूरे पखवाड़े के दौरान बादल दीख रहे हैं। बरसने वाले रिमझिम ही सही, तो भी झींसी से बेहतर। सूखी जमीन गीली हो रही है। कोई दो घण्टों से यह रिमझिम जारी है—यही क्या कम है!

अखबार में छपा है कि कोई चीकट कम्बल बन गया है प्रदूषणकारी गैसों का, जो बादलों को बरसने नहीं देता। इससे अधिक भयावह और क्या होगा? देश के कितने भाग सूखाग्रस्त घोषित किए जा चुके हैं। मध्यप्रदेश में उत्तरप्रदेश की तुलना में स्थिति थोड़ी बेहतर है, तो भी कई जगह यहाँ भी—छत्तीसगढ़ में ही जैसे—सूखा पड़ा हुआ है। पहली बार प्रधानमन्त्री के भाषण में 'एक-एक बूँद पानी को बटोर कर सुरक्षित रख लेने' का संकल्प मुखरित हो रहा है। पर...अभी तक कहाँ थे आप भाईजान?

× × ×

16 अगस्त, 2002

अचानक लगा जैसे एक बहुत भारी चट्टान जो अरसे से छाती पर जमी पड़ी थी, कुछ हिल-डुल रही है, खिसकने लगी है।...कैसा हल्कापन, कैसी राहत!

कहीं यह एक और भ्रान्ति, एक और प्रवंचना तो नहीं? नहीं! यह भ्रान्ति नहीं हो सकती क्यों कि मैं इस अनुभव को कहीं बहुत भीतर से पहचानता हूँ। शापमोचन जैसे अनुभव को।

'व्हॉट अ पिटी, दिस मैन नैवर फाउण्ड हिमसेल्फ़'...अचानक एक वाक्य जाने किसका किसके बारे में बोला गया—मेरे भीतर क्यों बज उठा था? और क्यों इसे अजीब ढंग से आकाशवाणी की तरह अपने ऊपर लागू होने की तरह महसूस करते हुए मुझे हँसी आ गई थी? जैसे...मैं जानता हूँ, यह तथ्य है, पर इससे मैं हताश या कुण्ठित नहीं कदापि। मैं जानता हूँ, मुझे पता है मैं इससे बाहर निकलने में सक्षम हूँ।

× × ×

कहाँ तो महीने भर—इस पूरे सावन भर—सूखा पड़ा रहा था और कहाँ अब लगातार वर्षा ही वर्षा! धूप निकली ही नहीं तीन दिन से। कमरे की दीवारें गीली हो गई हैं—छत चू रही है। तबीयत सील जाती है ऐसे में। इस कदर कीचड़ है रास्ते में, कि ज़रूरी चिट्ठियाँ छोड़ने के लिए सड़क तक जाना भी भारी पड़ रहा है।

ध्यान! ध्यान!! ध्यान!!!...ध्यान के अलावा और कुछ किया जा सकता है क्या इस मौसम में? किया क्यों नहीं जा सकता? पढ़ा जा सकता है। पर पढ़ने से एकदम विरक्ति हो गई है। क्या फिर से वही तीस वर्ष पहले के पन्ना वाले चक्र की पुनरावृति होने जा रही है? और फिर से वही विपरीत पराकाष्ठाओं के बीच झूला झूलते रहने की? नहीं, वैसा तो नहीं लगता। कुछ अलग अनुभव है इस बार। पर क्या?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शल्यजी सप्ताहभर रहके चले भी गए परसों। सुबह या शाम की सैर के दौरान उनसे कुछ दार्शनिक चर्चा भी होती ही थी। परन्तु ...जाने क्या बात है, कि कल्पना में जो संवाद हम अपने आत्मीय सखाओं के साथ करते हैं या करना चाहते हैं, वह उनकी साक्षात् उपस्थिति में कभी सम्भव नहीं होता।

अनेक शारीरिक व्याधियों और जराव्याध के आक्रमण से उत्पन्न कमज़ोरी और थकान के बावजूद शल्यजी की विचार-क्षमता जरा भी कुम्हलाई नहीं है। अभी 'उन्मीलन' में 'जगत्-चिन्तन' शीर्षक उनका लेख पढ़ा था—उसे लेकर बड़ी दिलचस्प और उत्तेजक बातचीत उनके साथ हुई। दार्शनिक के रूप में उनमें उतार के कोई लक्षण नहीं दीखते। हाँ, साहित्य पर बातचीत करते हुए (हाँ, वे कविता और उपन्यास के मर्मी आलोचक भी हैं, यह तथ्य काफी पहले उजागर हो चुका है) जरूर उनकी बातों में कभी-कभी शैथिल्य नजर आता है।

मैं उनसे रॉय भास्कर के बारे में—Critical realism और Meta-reality वाली उसकी नई थीसिस के बारे में सघन संवाद चलाने को उत्सुक था। पर बात बनी नहीं। उन्होंने पढ़ा ही नहीं है रॉय भास्कर को, न उसके बारे में अपेक्षित कुतूहल जगा उनमें, तो फिर बात होती भी कैसे? मैंने जो बताया उन्हें, उससे वे तनिक भी उत्तेजित या उन्मेषित होते नहीं दीखे। तो मैंने छोड़ ही दी कोशिश।

शल्यजी के साथ एक शाम गोविन्दचन्द्र पाण्डेजी के यहाँ (उनकी बेटी सुस्मिता के घर) गए थे। उन्हें—जैसे कि मुझे शंका थी—भोपाल बिलकुल रास नहीं आ रहा है। कहाँ इलाहाबाद और कहाँ भोपाल! कोई बात करने वाला नहीं। सत्संग और स्वाध्याय दोनों की संभावनाएँ यहाँ निरस्त हैं। टाइपिस्ट काम का नहीं। विश्वविद्यालय तो,...कुछ न पूछिए। एक किताब नहीं मिलती वहाँ। किसी को कुछ नहीं पता।

पाण्डेजी को इन्दौर जाना था हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में। शल्यजी को मंगलाप्रसाद पारितोषिक उन्हीं के हाथों दिया जाना था। शल्यजी आज जयपुर प्रस्थान करने वाले होंगे। पता नहीं, विद्यानिवासजी को वहाँ क्या करना है। फोन आया था उनका उज्जैन से, कि 19 तक वे वहीं हैं और इसी बीच मेरे निबन्ध-संग्रह पर लिख डालेंगे। भोपाल भी आएँगे। पर यह निबन्ध-संग्रह की बात कहाँ से आई—मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। मुझे तो उत्सुकता है—मेरी कविताओं पर जो वे लिखनेवाले थे बहुत दिनों से—उसकी। विद्यानिवासजी को मेरी कविताएँ बहुत रुचती हैं। अपनी ओर से ही उन्होंने मन बनाया था मेरी कविता पर लिखने का। क्यों टल रहा है। वह काम—इसका कारण भी उन्होंने मुझे बताया था। पर अब तो वह कारण भी रहा नहीं। अब लिखने में क्या दिक्कत है? कहूँगा उनसे, अभी आएँगे। यहाँ, तो।

इस बीच कक्कू ने उनके कई लेख पढ़ डाले और वह बहुत ही प्रभावित हुई। मुझे यह भी लगा कि उसकी कई जिज्ञासाएँ हैं जिनका विद्यानिवासजी ही समाधान कर सकते हैं। अब वे आने वाले हैं तो कक्कू यहाँ नहीं है। कितना अच्छा अवसर था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनसे आमने-सामने बात करने का। फिर, पता नहीं कब आएँ। अभी कुछ दिन पूर्व अपनी एक चिट्ठी में विद्यानिवासजी ने अपनी अस्वस्थता का ऐसा घबरा देने वाला चित्र उभारा था कि तबसे मन चिन्ताकुल है उन्हें लेकर। पर वे हैं कि इसे चेतावनी की तरह न लेकर यात्राएँ किए जा रहे हैं। भगवान् जाने, किस स्रोत से शक्ति खींचते हैं—इतना काम कर पाने और इस कदर यात्राएँ करने की।

× × ×

24 अगस्त, 02

मध्यप्रदेश साहित्य परिषद् में परसाई व्याख्यानमाला के अन्तर्गत महाश्वेता देवी का भाषण। विषय है—'साहित्य और भारतीय मानस।' एक अनोखा स्वाद उस हिन्दी का जो एक बंगाली बोल सकता है। संप्रेषण की कोई दिक्कत नहीं।

घंटे भर के भाषण में कहा क्या उन्होंने इस विषय पर? ज़रा याद तो करूँ। सिलसिलेवार।

एक—परसाईजी से कभी मिली नहीं। पहली बार अभी कल ही दो कहानियाँ उनकी पढ़ीं तो बेहद प्रभावित हुई कि इतना महान् लेखक हिन्दी में हो चुका है जिसने ऐसी अद्भुत बात कही है। रामायण के बन्दरों के बारे में कि वे बन्दर नहीं थे, आदमी ही थे। आदिवासी। इस देश के असली निवासी, जो अपने प्रतीक चिह्नों के गोत्र से पहचाने जाते थे। असली काम भारतीय लेखक का यही है—जो परसाईजी ने किया है : हमारी पारम्परिक, प्रश्नविहीन आस्थाओं को झकझोरना। अतीत, परम्परा, हर चीज के प्रति एक 'इर्रेवरेंस' (अवज्ञा) जगाना, हर मान्यता को शक की नजर से देखना। परसाई में मुझे उस आदर्श लेखक के दर्शन हुए, जिसे कभी से खोज रही थी।

दो—शेक्सपीयर के शाइलॉक और क्रिस्टोफर मार्लो के 'ज्यू ऑव माल्टा' का हवाला देते हुए यहीं पर महाश्वेता देवी ने संकेत—बड़ा चौंकाऊ, मगर, अनर्गल संकेत—उभारा, कि यूरोपीय समाज के हाशिए पर पड़े यहूदियों के प्रति जो तिरस्कार का भाव पश्चिम में मुख्यधारा के लेखकों में पाया जाता है, वही भारतीय साहित्य में आदिवासियों-अल्पसंख्यकों के प्रति रहा है।

तीन—तत्पश्चात् महाभारत का हवाला इसी सिलसिले में—कि कैसे पदातिकों की स्त्रियों ने कुन्ती, द्रौपदी, वगैरह के साथ चलने के अनुरोध को ठुकराया। कहा—हम वापस अपने जनपद जाएँगी। जब पूछा कौरव-पाण्डवों की विधवाओं ने—"क्या करोगी वहाँ जाकर?"—तो उन्होंने जवाब दिया—"हम तुम्हारी तरह की औरतें नहीं हैं जिनकी एकमात्र गति पति ही है। हमें कोई फर्क नहीं पड़ेगा। हम अपनी ज़मीन जोतेंगे, फिर से घर-बार बसाएँगे।"

चार—एक बहुत बड़ा झूठ हर जगह इस देश में प्रचारित किया जाता रहा है कि भारतीय समाज में जो भी गड़बड़ियाँ हैं, सब मुस्लिम आक्रमणों के बाद ही पैदा हुई हैं। सच्चाई यह है कि भारतीय समाज सदा से ऐसा ही दमन-उत्पीड़न शोषण-विषमता वाला रहा है। मुसलमानों का इसमें कोई योगदान नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाँच—साहित्य का काम इन उपेक्षितों-वंचितों के जीवन के बारे में लिखना है।

छह—लोकवृत्त इतिहास का सबसे प्रामाणिक स्रोत है। मैंने 'झाँसी की रानी' लिखने से पहले बुंदेलखंड में घूम-घूम कर लोकगीत इकट्ठे किए। किंवदंतियाँ-कहावतें भी। लिखने का सही तरीका यही है।

सात—इस नये अछूते विषय पर कहानियाँ-उपन्यास लिखने लगी, तभी अपने काम की दिशा मेरे लिए स्पष्ट हुई और आजीविका की समस्या भी हल हुई।

आठ—फिर लगा—लिखना काफी नहीं है। अधूरा काम है। पूरा तभी होगा जब इनके बीच पैठकर इनके लिए कुछ किया जाए। इन उपेक्षित आदिवासियों के अधिकारों के लिए लड़ना होगा। यह बात उनकी बहुत संगत-सटीक लगी : उनके जीवन-कार्य से पुष्ट और प्रमाणित। वास्तव में महज लिखना आपके अभीष्ट सामाजिक न्याय के लिए किए जाने वाले 'कर्म' का ऐवजी तो नहीं ही हो सकता।

महाश्वेता देवी को ज्ञानपीठ अवार्ड मिला था तब उनके दो उपन्यास पढ़े थे। मुझे उनमें उच्चकोटि की सृजन-क्षमता के दर्शन नहीं हो पाए। उसके बाद फिर उनकी कोई पुस्तक पढ़ने की उत्कण्ठा मन में नहीं जागी।

× × ×

दिल्ली, 30 अगस्त

दिल्ली प्रवास अच्छा रहा। सम्मान-कार्यक्रम घण्टे भर का था। नेशनल म्यूजियम का सभागार खचाखच भरा था। चयन समिति के अध्यक्ष भोलाभाई पटेल का वक्तव्य सत्यप्रकाश मिश्र ने पढ़कर सुनाया। भोलाभाई पटेल के कथनानुसार मुद्दा यह भी उठा था कि मुझे मेरे रचनात्मक लेखन के लिए सम्मान दिया जाए कि आलोचना के लिए। वे स्वयं कवि या उपन्यासकार के रूप में भी मेरे योगदान को समान महत्त्व का अधिकारी समझते हैं। पर अन्त में चयन समिति के द्वारा आलोचना के लिए निर्णय लिया गया।

सम्मान कार्यक्रम की एकमात्र खटकने वाली बात थी म. प्र. के मुख्यमन्त्री दिग्विजय सिंह का भाषण। कइयों ने कहा भी कि—'पी. आर. ओ. की तरह बोल रहे थे।' मेरा नाम तक सही नहीं बोल पाए।

आठ बजे अपने कमरे में लौटे और तत्काल मित्रगण आने शुरू हो गए। निर्मलजी ने सबको चकित करते हुए बाक़ायदा एक संक्षिप्त, मगर मर्मस्पर्शी व्याख्यान दे डाला। लेखक के मर्म में कोई लेखक ही पैठ सकता है। परन्तु कितना विरल और दुर्लभ होता है ऐसा अवसर! मेरे लिए तो वह शाम इसी से सार्थक और स्मरणीय हो गई। अशोक, रश्मि, ज्योतीन्द्र, यूता, प्रयाग शुक्ल, ओम थानवी, ईश्वर, राजुला सभी थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाँचवें भूटान नरेश का राज्याभिषेक : धर्मतन्त्र, राजतन्त्र और प्रजातन्त्र की अबूझ पहेली

ए. सी. सिन्हा*

पूर्वी हिमालय में अवस्थित द्रुकपन्थी भूटान विश्व का एकमात्र महायान लामावादी राजतन्त्र है। विगत एक वर्ष से वहाँ राजतन्त्र की स्थापना की शताब्दी मनायी जा रही है, जिसकी परिणति 6 नवम्बर से 17 दिसम्बर, 2008 के बीच राज्याभिषेक में होगी। वांगचुक वंश के पाँचवें नरेश के रूप में युवक राजकुमार खेसार नामज्याल की ताजपोशी उनके पिता और चौथे नरेश जिग्मे सिंग्घे वांगचुक के पदत्याग के बाद किया जाएगा। राज्याभिषेक में आमंत्रित अतिथियों में भारत के राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री और काँग्रेस अध्यक्ष सोनिया गाँधी के अतिरिक्त करीब 30 देशों के प्रतिनिधि, राजपरिवार के मित्रगण और अन्य गण्यमान्य व्यक्ति होंगे। आंतरिक प्रजातीय संघर्ष से जूझते भूटान के लिए समारोह एक नया अनुभव होगा।

द्रुकपन्थी धर्मराज

भूटान भारतवर्ष और तिब्बत के सांस्कृतिक सीमा पर अवस्थित है। ईसा से करीब ढाई हजार वर्ष पूर्व वहाँ भारतीय मूल के राजा राज करते थे। फिर ईसा की आठवीं शताब्दी में महागुरु (गुरुरिम्पोची) पद्मसम्भव का भूटान में अवतरण होता है और तत्कालीन प्रशासकों के बीच शांति स्थापित कर पद्मसम्भव बौद्ध धर्म स्थापित करते हैं। तदुपरांत भूटान अपने दक्षिणी पड़ोसी, लखनावती, कोचबिहार के सम्पर्क में रहता है। इस बीच भूटानी लामा नालन्दा विश्वविद्यालय में पढ़ते रहे। परन्तु कालान्तर में उनका सम्पर्क कमजोर होता गया और तिब्बती लामाओं का आवागमन आरंभ हो गया। सतरहवीं शताब्दी में सिक्किम और भूटान दोनों राज्यों में तिब्बती लामाओं ने केन्द्रीय धर्मतन्त्र की स्थापना की। इस संदर्भ में शाबद्रुंग (धर्मराजा) नगाबांग नामग्याल (1594-1651) की भूमिका मूर्द्धन्य रही।

* प्रोफेसर ए. सी. सिन्हा, पूर्व आचार्य, समाजशास्त्र विभाग, पूर्व संकायाध्यक्ष पूर्वोत्तर पार्वत्य विश्वविद्यालय, शिलांग–793022। सम्पर्क : डी-7/7331, बसन्त कुंज, नयी दिल्ली–110070।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मराजा द्रुक पन्थ के 18वें राजकुमार *महंथ* (Prince-abbot) थे; द्रुक पन्थ तिब्बती परंपरा में सनातनी माना जाता है; दूसरी तरफ दलाई लामा के केन्द्रीय नेतृत्व में गेलुकपा ;ळमलसनाचंद्ध पन्थ सुधारवादी कहा जाता है। दोनों पन्थों में द्वन्द्व और संघर्ष इतना बढ़ गया कि द्रुकपन्थी शाबद्रुंग (धर्मराजा) को तिब्बत से भागकर भूटान में शरण लेना पड़ा। फिर भी उनके विरोधी तिब्बत से बार-बार भूटान पर आक्रमण करते रहे। आक्रमणकारियों से निबटने के उद्देश्य से प्रथम धर्मराजा ने विभिन्न पहाड़ियों पर सुरक्षात्मक दुर्ग ;क्रवदहेद्ध बनवाये। क्योंकि राजव्यवस्था धर्मतांत्रिक थी, ये दुर्ग शीघ्र ही बौद्ध विहार, प्रशासन केन्द्र, स्थानीय राजस्व केन्द्र, सरकारी खजाने के रूप में उभरे। इस प्रकार भूटान के इतिहास में पुनाखा, पारो, थिम्फू, वांगदी, सिम्तोखा, टोंगसा आदि दुर्गों की भूमिका बढ़ती गयी। चूँकि पढ़े-लिखे भिक्षु इन दुर्गों में निवास कर धर्मग्रंथ का अध्ययन-अध्यापन करते थे, इस कारण इनकी दैनिक जीवन की भाषा–जोंखा, दुर्ग की बोली–कालांतर में भूटान की राष्ट्रभाषा के रूप में अपनायी जा रही है।

प्रथम धर्मराजा ने भूटान को स्थायित्व प्रदान किया और 57 वर्ष की अवस्था में वे समाधिस्थ हो गए। तदुपरांत उनके शिष्यों ने 54 वर्ष तक समाधिस्थ धर्मराजा के नाम पर राजकाज चलाया। इन अन्तरिम वर्षों में समाधि धर्मराजा को भोजन परोसा जाता रहा। उनसे आदेश प्राप्त कर राजकाज चलता रहा। वे, यहाँ तक कि, विशिष्ट आगंतुकों से मिलते भी रहे। कहा जाता था कि धर्मराजा की समाधि नहीं तोड़ी जा सकती और उनके मुख्य शिष्य उनसे सम्पर्क बनाए रहते थे, ताकि राज्य में व्यवस्था बनायी रखी जा सके। इसके बाद राजकुमार-महंथ के स्थान पर अवतारी परम्परा चल पड़ी। यानी धर्मराजा के समाधिस्थ होने पर नवजात शिशुओं में से उनके उतराधिकारी की पहचान विशिष्ट भिक्षु किया करते थे। कई कारणों से अवतारो की पहचान समय पर नहीं हो पाती थी। अकसर कई अवतार असमय ही काल की गाल में धकेल दिए जाते थे। प्रथम धर्मराजा की समाधि भंग होने के समय (1705 से 1931 तक) मात्र 5 सर्वमान्य अवतार हुए, परन्तु राज-काज धर्मराजा के नाम पर ही चलता रहा। समाधिस्थ होने के पहले ही धर्मराजा ने धार्मिक कर्मकाण्डों के लिए 'जे खेंपो' (Je Khenpo) और राज्य के लौकिक प्रशासन के लिए देवदेशी (देवराजा) की व्यवस्था कर डाली थी। आज भी धार्मिक क्रिया-कलाप में जे खेंपो की भूमिका प्रमुख है। 1651 से 1905 तक 55 देवराजा हुए इनमें 13 तो प्रतापी प्रशासक थे, जिन्होंने क्रमशः औसतन 11 वर्ष तक राज्य किया। इनके विपरीत एक दर्जन देवराजा बलपूर्वक पदच्युत किए गए और अन्य आधे दर्जन देवराजाओं को मार डाला गया।

1773 से 1863 तक भुटान में एक प्रकार से अराजकता छायी रही। भूटानी सुरक्षा बल प्रायः अपने दक्षिणी पड़ोसी कूचबिहार के सीमावर्ती क्षेत्रों पर धावा बोलते; पशु, स्त्री, बच्चों और व्यक्तियों को लेकर पहाड़ी दर्राओं में छिप जाते। इस प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूटान के दक्षिणी सीमा से सटे 18 द्वार (ये राजस्व देनेवाली इकाइयाँ थीं, जो भूटान और कूचबिहार दोनों को कर प्रदान करती थीं और दोनों से सतायी जाती थीं।) को लेकर भूटान और भारत की प्रशासक ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बीच लम्बा विवाद चला। भूटान की धर्मतांत्रिक व्यवस्था में धर्मराजा और देवराजा के बीच प्रशासकीय सीमाओं के अभाव में अँग्रेजी सरकार उलझन में पड़ जाती थी कि किस सार्वभौम अधिकारी से निबटें। तंग आकर 1863 में एग्ले ईडन को दूत बनाकर अँग्रेज़ों ने भूटान में प्राय बलपूर्वक एक दल भेजा। भूटानी अधिकारियों ने एग्ले ईडन मिशन को काफी बेइज्जत किया और उससे बलपूर्वक एक असमान सन्धि पर हस्ताक्षर करवाया। मिशन की वापसी की राह में पर्याप्त रुकावटें डाली गयीं। फलस्वरूप 1864 में अँग्रेजों ने भूटान पर धावा बोल दिया। इस बार भूटान पूरी तरह परास्त हो गया और सिंचुला की सन्धि के अनुसार उसकी सीमा तय कर दी गयी। उसे पश्चिम में कलिम्पोंग और दक्षिण के 18 द्वारों से हाथ धोना पड़ा।

राजतन्त्र की स्थापना और अँग्रेजी कूटनीति की विजय

सिंचुला की सन्धि (1865) से क़रीब चार दशकों तक भूटान प्रायः पुराने ढर्रे पर ही चलता रहा। परन्तु गाहे-बगाहे अपने दक्षिणी पड़ोसी की तरफ झाँक लेता था। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक तत्कालीन धर्मराजा और देवराजा की मृत्यु क्रमशः 1901 और 1903 में हो गयी। फलस्वरूप क्षीण व्यक्तित्व के तात्कालिक *जे खेंपो* ने दोनों पदों का कार्यभार सम्भाला। परन्तु राज्य का प्रशासन प्रभावी रूप से टोंगूसा के राज्यपाल उगेन वांगचूक, के हाथ में रहा। यह वह समय था, जब भारत के ब्रिटिश वाइसराय, नाथाइल कर्जन, ने कर्नल यंगहस्बेंड के नेतृत्व में तिब्बत पर हमला किया। तिब्बत एक्सपेडिशन (Tibet Expedition, 1903-04) को सफल बनाने में भूटान के तत्कालीन राज्यपाल, टोगंसा पेनलप उगेन वांगचुक (b-1861; r-1907-1926) ने अँग्रेजी सेना के साथ तिब्बत की राजधानी ल्हासा की सफर की ओर अँग्रेजी पक्ष को परास्त तिब्बत के अधिकारियों के सामने प्रभावकारी रूप से रखा। भूटान की धर्मतन्त्रीय व्यवस्थाओं में व्याप्त अराजकता और अव्यवस्था से परेशान अँग्रेजों ने उगेन वांगचुक के रूप में एक चरित्रवान और प्रभावी नेता पाया। उस पर से अपने पूर्वजों के विपरीत उगेन वांगचुक अँग्रेजों का कृपापात्र बनने को तत्पर था। अँग्रेजों ने शीघ्र ही गांतोक (सिक्किम) स्थित अपने अँग्रेज पालिटिकल ऑफिसर जे. सी. ह्वाइट को भूटान भेज उगेन वांगचुक को Knight Commander of British Indian Empire (K C I B) से 1905 में अलंकृत किया। स्मरणीय है कि सिक्किम नरेश थुटुब नामग्याल, अपनी तिब्बत परक नीतियों के चलते अँग्रेजों की नजरबन्दी में तब दार्जीलिंग में दिन काट रहा था; ऐसी स्थिति में अँग्रेज एक विश्वस्त मोहरे की तलाश में थे और उगेन वांगचुक उस पर पहल करने के लिए तत्पर थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीसवीं शदी के प्रथम दशक आते-आते पूरे भूटान पर उगेन वांगचुक की तूती बोल रही थी। प्रसिद्ध विहारों के भिक्षुक और महंथ या तो समाधिस्थ थे या धर्मशास्त्रार्थ में व्यस्त थे, प्रतिद्वन्द्वी क्षेत्रीय राज्यपाल निरस्त कर दिए गए। कुछ ऐसा कुचक्र चला कि भूतपूर्व धर्मराजा का सर्वमान्य अवतार नहीं चुना जा सका और देवराजा के स्थान पर नये देवराजा का चुनाव भी नहीं हो पाया। ऐसी स्थिति में भूटान का प्रशासन पूरी तरह टोंगसा राज्यपाल उगेन वांगचुक के हाथ आ गया। दिसम्बर 17, 1907 को पुनाखा के दुर्ग में भूटान परिषद की सभा हुई। उसमें सभी सभासदों ने एकमत से 45 वर्षीय टोंगसा राज्यपाल उगेन वांगचुक को भूटान का महाराजा चुना और उनके और उनके उत्तराधिकारियों के प्रति कृतज्ञ रहने की प्रतिबद्धता दिखाई। भूटान नरेश को देवराजा के क्रम में प्रशासक तय किया गया। धर्मराजा के अवतार के अभाव में उनकी पूजा-अर्चना का कार्य जेखेंपो को सौंप दिया गया। ब्रिटिश उपनिवेशवादी भारतीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में इस अवसर पर सिक्किम स्थित अँग्रेजी पालिटिकल ऑफिसर ज़ान क्लाइड ह्वाइट ने वाइसराय की तरफ से बधाई दी। शीघ्र ही जनवरी 1910 में भूटान और अँग्रेज़ी भारत के बीच सन्धि हुई और भूटान नरेश स्वेच्छा से स्वछन्द रूप में कहता है कि भूटान अँग्रेजी साम्राज्य का अंग बन गया है, और उसने दिल्ली दरबार (1911) में सिक्किमी राजकुमार के साथ भाग लिया। सिक्किम स्थित पालिटिकल ऑफिसर को भूटान के प्रशासन की देख-रेख की जिम्मेवारी सौंपी गयी। फलस्वरूप 1911 से 1946 तक गांत्तोक स्थित पालिटिकल ऑफिसर प्रति वर्ष अपना प्रतिवेदन केन्द्रीय सरकार को भेजते रहे। यही नहीं, भूटान के महाराजा और अँग्रेजी सरकार ने भूटान को भारतीय साम्राज्य के अधीन एक देशी राज्य माना और महाराजा भारत के अन्य भागों की यात्रा करते रहे और उसने हिन्दी भाषा के माध्यम से आधुनिक शिक्षा की शुरुआत 1914 में की।

धर्मराजा का असंतोष, दुखद मृत्यु और राजनैतिक प्रकरण

परंपरागत समाज में प्राचीन परिपाटियाँ एकाएक समाप्त नहीं हो जातीं। ऊपर कहा गया है तत्कालीन धर्मराजा के 1901 में समाधिस्थ होने के उपरान्त उनका अवतार नहीं पाया गया। परन्तु यह वाक्य अर्द्ध सत्य है। बात यों हुई कि आधुनिक अरुणाचल प्रदेश के तवांग क्षेत्र में जिग्मे दोजी नामक बालक का जन्म एक प्रतिष्ठित कुल में 1905 में हुआ। विधिवत् पहचान के उपरान्त धर्मराजा के इस नये अवतार को उनकी माता और परिवार के अन्य सदस्यों के साथ 'तालो' विहार में लाया गया और उनकी विधिवत शिक्षा और पालन-पोषण आरम्भ हुआ। स्मरणीय रहे कि द्वितीय वांगचुक नरेश जिग्मे वांगचुक का जन्म भी 1905 में ही हुआ था। धर्मराजा की उपस्थिति राजपरिवार को प्रायः खटकती रही। परन्तु जनाक्रोश के भय से महाराजा धर्मराजा की उपेक्षा भी नहीं कर सकते थे। भूटान की यात्रा पर गए अंग्रेज आगंतुक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रायः धर्मराजा से मिलते रहे और अपने प्रतिवेदनों में उनका जिक्र करते रहे। यहाँ तक कि दूसरे भूटान नरेश जिग्मी वांगचुक (1905-1952) के पदग्रहण समारोह में (1926) धर्मराजा की मुख्य भूमिका थी। कहते हैं कि धर्मराजा की माँ दबंग व्यक्तित्व की महिला थीं और उनकी मान्यता थी कि धर्मराजा ही भूटान का वास्तविक राज्याध्यक्ष है और वांगचुक नरेश ने अंग्रेजों की सहायता से भूटान को हड़प लिया है। धर्मराजा के अधिकार को प्रकट करते हुए उनकी माँ ने कुछ तवांगी चरवाहों को भूटान के पूर्वोत्तर सीमांत पर पट्टे भी जारी कर दिए। स्पष्ट है कि पता चलने पर महाराजा ने उन्हें निरस्त कर दिया। परन्तु धर्मराजा और महाराजा के सम्बन्धों में कटुता आ गयी, जो कालान्तर में बढ़ती ही गयी।

इस बीच भारतीय समाचार पत्रों ने मई 1931 में छापा कि तथाकथित 'भूटान नरेश' के एक भाई ने महत्मा गाँधी से गुजरात के बोरशाद स्थान पर मुलाकात की और भूटान को अंग्रेजों तथा उसके 'नकली' नरेश से मुक्त कराने की अपील की। तथाकथित दूत ने महात्मा गाँधी को 16 प्रकार के उपहार दिए और कहा कि महात्मा और धर्मात्मा (धर्मराजा) अंग्रेजों के विरुद्ध साथ हों और इस संदर्भ में भूटान के धर्मराजा भविष्य में महात्मा गाँधी से मिलेंगे। इस सूचना के बाद अंग्रेजों और भूटान नरेश—दोनों के—होश उड़ गए। छानबीन शुरू हुई; कुछ पड़ताल के बाद पाया गया कि धर्मराजा का भाई—चोक्सी ग्लातृसेन—एक सेवक के साथ गाँधी से मिला था। बात यों हुई कि बारशाद में मिलने के बाद महात्मा गाँधी ने चोकसी को उसके भाई और तत्कालीन धर्मराजा के नाम हिन्दी में एक पत्र दिया। चूँकि धर्मराजा हिन्दी से अनभिज्ञ थे, फलस्वरूप हिन्दी पत्र का तिब्बती भाषा में अनुवाद कलकत्ते के किसी 'बाबू' से कराया गया। 'बाबू' के पेट में बात पची नहीं और बात उजागर हो गयी।

फिर क्या था? अँग्रेजी अधिकारी और भूटान नरेश ने दमन का रास्ता अपनाया। धर्मराजा को कैद कर तालो विहार में बन्द कर दिया गया। धर्मराजा के भाई और उसके सेवक से महाराजा ने स्वयम् जानकारी प्राप्त की। शीघ्र ही इन दोनों ने विष खाकर आत्महत्या कर ली। धर्मराजा के परिवार और सम्बंधियों को तरह-तरह से सताया गया। अँग्रेजों की सलाह पर भूटान की उत्तरी सीमा पर 'फौजी' पहरा बिठा दिया गया। कहानी का पटाक्षेप करने के लिए 12 नवम्बर, 1931 को धर्मराजा को प्रताड़ित करने के बाद भोजन में विष देकर मार डाला गया। अँग्रेजों और भूटान नरेश ने समझा चलो समस्या का समाधान हो गया। परन्तु कहानी यहीं खत्म नहीं होती है। दलाईलामा के मन्त्रिपरिषद् ने महाराजा को एक 'तथाकथित तिब्बती लामा' (धर्मराजा तावांग में पैदा हुए थे, जिसे तिब्बत अपना मानता था) की हत्या करने के अपराध के लिए प्रताड़ित किया और धमकी दी कि क्यों नहीं ऐसे अधार्मिक कृत्य के लिए महाराजा को दण्ड दिया जाए। घबराए महाराजा ने अँग्रेजों की सलाह माँगी। अगले वर्ष जुलाई में तत्कालीन पालिटिकल ऑफिसर कर्नल वेयर ने तिब्बती राजधानी ल्हासा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की यात्रा की और दलाईलामा को आश्वस्त किया कि मृत धर्मराजा की मृत्यु सामान्य स्थिति में हुई थी और वे वास्तव में भूटानी नागरिक थे। यह प्रकरण एक अँग्रेजी कूटनीति का शर्मनाक उदाहरण पेश करता है। झुँझलाये महाराजा ने अपने अँग्रेज आकाओं को सलाह दी कि महात्मा गाँधी से बात करने के बदले उन्हें फाँसी दे देना चाहिए। इसके बाद से भूटान नरेश भारतीय स्वतन्त्रता आंदोलन से विद्वेष करने लगे।

इधर भारतवर्ष में अँग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष बढ़ता जा रहा था। ऐसा वातावरण बन रहा था कि अँग्रेजों को देर-सवेर भारत छोड़ना ही था। ऐसी स्थिति में अँग्रेज भक्त अन्य देशी रजवाड़ों की तरह जिग्मी वाँगचुक, द्वितीय भूटान नरेश भी चिंतित थे। अँग्रेज पलिटिकल ऑफीसर की राह पर सिक्किम नरेश के समान भूटान ने भी अपने माँग पत्र के साथ एक प्रतिनिधि मण्डल कैबिनेट मिशन से मिलने 1946 में दिल्ली भेजा। भूटान की मुख्य माँगें थीं : भूटान का ब्रिटिश छत्रछाया में बना रहना। द्वार क्षेत्रीय पहाड़ी और जंगली भागों का भूटान में विलयन और अनवरत वित्तीय सहायता। भूटानी शिष्ट मण्डल कैबिनेट मिशन से तो न मिल सका। उसे सलाह दी गयी कि वापस जाकर अँग्रेजी न्याय की प्रतीक्षा करे। अन्त में भूटान को सलाह दी गयी कि अँग्रेज किसी भी प्रकार की सुरक्षा देने में असमर्थ हैं; क्षेत्रीय सीमाएँ नहीं बदली जा सकतीं और अँग्रेजों के वापसी के पश्चात् भूटान को अन्त में नयी उभरती भारतीय सरकार से नये सम्बन्ध बनाने पड़ेंगे। इसी प्रकार अँग्रेजी सरकार ने भारतीय संघ को भी सलाह दी कि भूटान को भारत में विलय करने के स्थान पर उसे एक अलग परन्तु आश्रित राज्य बनाना श्रेयकर होगा। स्मरणीय है कि भूटान के दक्षिण-पश्चिमी भाग में नेपाली मूल की जनजातियाँ रहा करती थीं। सिन्चुला सन्धि के उपरान्त भूटान का सम्पर्क भारत स्थित ब्रिटिश अफसरशाही से बढ़ता गया। 19वीं सदी के अंतिम दशकों में अँग्रेजों ने हिमालय के सम्बन्ध में आक्रामक नीति—Forward Policy to the Himalayas—अपनाई। इस नीति में नेपाली फौजियों, श्रमिकों और कृषकों को अँग्रेजों ने अपने ढाल के रूप प्रयुक्त किया। फलतः भूटान का दक्षिण-पश्चिमी भाग नेपाली कृषकों की सघन आबादी में बदल गया। स्मरणीय है कि ये नेपाली कृषक भूटान के द्रुकपा खेतिहरों के विपरीत ज़मीन की मालगुजारी मुद्रा में जमा करते थे। व्यापार, विनिमय पद्धति पर आधारित भूटान की कमजोर अर्थव्यवस्था के लिए नेपाली कृषकों से प्राप्त राजस्व भूटान के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। कालान्तर में इसी क्षेत्र से विकास कार्यों के लिए मजदूर, औद्योगिक श्रमिक, निर्यात के लिए मौद्रिक उपज (cash crops) और आयातित दैनिक खपत की वस्तुओं के बाजार प्राप्त हुए। परन्तु इसी क्षेत्र से राजनैतिक सुगबुगाहट भी आरम्भ हुई।

भारतवर्ष में व्याप्त स्वाधीनता आंदोलन 1940 के दशक में हिमालयी रजवाड़ों तक जा पहुँचा। यह गैर बात है कि राजनैतिक आंदोलन के समर्थन के लिए आवश्यक नागरीय और औद्योगिक केन्द्रों के अभाव में पूर्वी हिमालयी रजवाड़ों में जनतांत्रिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहल सफल नहीं हो पायी। फिर भी प्रयास किए गए और कालान्तर में इन प्रयासों से सबक भी सीखे गए। दिल बहादुर गुरूंग, दिल बहादुर क्षत्री, जी. पी. शर्मा आदि के प्रयास से 56 वर्ष पूर्व 1952 में भूटान राज्य काँग्रेस की स्थापना की गयी। नेपाली काँग्रेस और सिक्किम राज्य काँग्रेस की तरह भूटान राज्य काँग्रेस ने अपना माँग पत्र तैयार किया। भूटान काँग्रेस की मुख्य माँगें थी : सामन्ततन्त्र का उन्मूलन, प्रशासन का जनतान्त्रिकरण, नागरिक और राजनैतिक अधिकारों की बहाली और भारतीय संघ से निकटता की नीति। शिक्षा, संचार, और प्रभावी प्रशासन के अभाव में उपरोक्त माँगें भूटानी प्रजा की समझ से परे की बात थी। भूटान काँग्रेस का प्रभाव दक्षिणी भूटान के नेपालियों तक ही सीमित रहा। चूँकि भूटान काँग्रेस के पदाधिकारी भारत और नेपाल आते-जाते रहे। फलस्वरूप नेपाली प्रशासकों ने भूटान काँग्रेस को प्रवासी नेपालियों की शैतानी की संज्ञा दे डाली। भूटान काँग्रेस ने 22 मार्च 1954 को अपने सत्याग्रह के क्रम में गेलुग्फू स्थान पर धरना दिया। प्रशासन ने उन्हें ऐसा करने से मना किया। सत्याग्रहियों के नहीं मानने पर स्थानीय प्रशासन के संगठित सुरक्षाबल ने उनपर आक्रमण किया और कुछ सत्याग्रहियों को पकड़कर कैद भी कर लिया गया। हिमालयी रजवाड़ों और भारतीय संघ के इतिहास की यह एक अनिर्णय की घड़ी है, जब सामान्य जनता कंधे से कंधा मिलाकर नये भविष्य का निर्माण करना चाहती थी; परन्तु राजनेता इतिहास को पीछे ढकेलने में लगे रहे। फलस्वरूप भूटान कांग्रेस के निर्वासित नेता राजनैतिक प्रस्ताव ही पास करते रहे।

संयोजित विकास, असुरक्षा और ल्हात्शामा पलायन

द्वितीय भूटान नरेश, जो वर्षों से भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन से द्वेष रखता था, अंग्रेजी साम्राज्य का अन्त आता देख चिंतित हो उठा। अंग्रेजी अफसरों की सलाह पर उसने कैबिनेट मिशन से मिलने के लिए अपनी मांगों की सूची के साथ एक प्रतिनिधि मंडल दिल्ली (1946) में भेजा। भूटान और सिक्किम के प्रतिनिधियों को सलाह दी गई कि वे अंग्रेजों से कोई अपेक्षा न करें; नयी भारतीय सरकार से अपने सम्बन्धों की समीक्षा करें और भारत सरकार को सलाह दी गई कि वह रजवाड़ों के साथ के संबंधों में आमूल परिवर्तन न करे। यह एक ऐसा ऐतिहासिक मोड़ था, जब केवल चीन ने बलपूर्वक तिब्बत को हड़प लिया; नेपाल नरेश अपने ही सभासदों के विरुद्ध भागकर दिल्ली के शरणागत हुए; सिक्किम और भूटान तथास्थिति बनाए रखने के लिए भारत से संधि करते हैं। एक तरफ भारतीय संघ के कर्णधार अपनी नयी आजादी को सम्भालने में व्यस्त थे, तो दूसरी तरफ हिमालयी जनता सामन्ती अंधकार को सहन करने को तैयार नहीं थी और जनतंत्र की राह पर चलने को उद्धत थी। परन्तु ध्यान देने की बात है कि शिक्षा, स्वास्थ्य, छापाखाना और समाचार पत्र एवं आवागमन के साधनों के अभाव में भूटानी जनता जंगल-पहाड़ों में बन्दप्राय पड़ी थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस आत्मघाती 'एकला चलें' की नीति से बाहर लाने के लिए भारतीय प्रधानमंत्री ने 1958 में पहल की। सड़कों के अभाव में बरास्ते सिक्कम और तिब्बत पंडित नेहरू भूटान घोड़ों पर चढ़कर पहुंचे। उन्होंने शिक्षा, स्वास्थ्य और आवागमन के विकास के लिए भूटान को सहायता देने की कोशिश की। इन योजनाबद्ध विकास कार्यों के लिए सक्षम और सस्ते श्रमिकों की आवश्यकता थी, जिसकी भरपाई पीढ़ियों से उपेक्षित नेपाली मूल के भूटानी श्रमिकों ने की। भूटान नरेश ने इन नेपाली मूल की प्रजा को 1958 से नागरिकता प्रदान की। यही नहीं, उन्हें एक नयी पहचान भी दी–दक्षिणी प्रान्तों के निवासी–लत्शाम्पा (Lhotshampas)। राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देने के लिए अन्तर्जातीय विवाह सम्बन्धों के लिए भूटान सरकार पांच हजार और बाद में 10 हजार रुपये की पारितोषिक देती रही। 1960 से आरम्भ कर अगले 25 वर्ष द्रुकपा और ल्हात्शाम्पा सम्बन्धों को स्वर्णिम युग कहा। परन्तु 1985 आते-आते स्थिति बदलने लगी।

आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक विकास के क्रम में बेगारी की समस्या उठ खड़ी हुई। वहाँ विदेशों से विशेष शिक्षा प्राप्त कर भूटानी आते रहे। द्रुकपा मूल के लोगों के अहं को चोट लगने लगी कि धर्मराजा शबद्रंग के राज्य में उन्हें तरजीह न देकर गैर-बौद्ध ल्हात्शाम्पाओं को नौकरी दी जा रही है। फिर क्या था? सरकार के कुछ प्रभावशाली प्रशासकों की शह पर अफवाह फैलाई गई कि शिक्षित ल्हात्शाम्पा विदेशी नेपालियों की सहायता से भूटान का नेपालीकरण करना चाहते हैं। फिर पुलिस प्रशासन और प्रभावशाली सामंत सभी एक तरह से संशय का वातावरण बनाने में लग गए। नेपाली मूल के किसानों की जमीन, जायदाद, पशु आदि जब्त किए जाने लगे। उनकी स्त्रियों को बेइज्जत किया जाने लगा। बच्चों का स्कूल का दाखिला रोक दिया गया। नेपाली और संस्कृत भाषा की पढ़ाई बन्द कर दी गई। यहाँ तक कि पीले गेंदे का फूल, जिसे देवताओं पर चढ़ाया जाता है, रोपने पर पाबन्दी लगा दी गयी। विवाहित नारियों को आदेश दिया गया कि वे द्रुकपा नारियों के समान अपने बाल कटवायें। सिन्दूर लगाने पर पाबन्दी लगा दी गयी। घर, गाँव, बखार जला दिए गए। शिकायत करने पर पुलिस नेपाली मूल के नागरिकों को प्रताड़ित करती रही। पुलिस और द्रुकपा गुण्डों से डरकर लोग जंगलों में भाग गए। यहाँ तक कि सरकार ने अपनी राष्ट्रीयता के प्रमाण-पत्र को मानने से इनकार कर दिया और उन्हें नकली करार देकर शिकायत कर्त्ताओं को या तो जेल में डाल दिया या जलावतन करने के लिए मजबूर किया। जब 1990 में भयग्रस्त जनता ने विरोध में धरना देने का प्रयास किया तो उन पर गोलियाँ चलाई गईं।

ऐसी स्थिति में बड़े पैमाने पर नेपाली मूल के भूटानियों का भूटान से पलायन आरम्भ हुआ। भारत और भूटान के बीच खुले सरहद का फायदा उठाकर ल्हात्शाम्पा भारत या नेपाल में अपने सम्बन्धियों, मित्रों या हमदर्दों के पास चले गए। प्रजातीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघर्ष को रोकने के उद्देश्य से भारत सरकार ने भूटान से निर्वासित लोगों को अपनी ज़मीन पर शिविर बनाने की मनाही कर दी। ये सताये हुए शरणार्थी खुली सीमा का लाभ उठाकर नेपाल चले गए। नेपाल सरकार ने अपने यहाँ आठ शिविरों में शरणार्थियों को संयुक्त राष्ट्र की शरणार्थी आयोग (UNHCR) के संरक्षण में रखा। शरणार्थियों में तरह-तरह के सताये नर-नारी, भूतपूर्व सरकारी अधिकारी, शिक्षक-विद्यार्थी, विधायक, कृषक, मजदूर यहाँ तक कि भूटान के केन्द्रीय सलाहकार परिषद के सदस्य तक शामिल थे। शरणार्थी पहले तो इक्के-दुक्के आते रहे; फिर इनकी संख्या बढ़ने लगी। एक ऐसी भी स्थिति आयी कि वे किराये की बसों या ट्रकों में आने लगे। 1991 के अन्त तक आठ शिविरों में शरणार्थियों की संख्या बढ़कर 75,000 हो गयी। भूटानी शरणार्थियों की समस्या अब स्थानीय न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय बन गयी। नेपाली और भूटानी सरकारी प्रतिनिधि पंद्रहों बार मिले। पर शरणार्थी पिछले 18 वर्ष से शिविरों में हैं। अब उनकी संख्या बढ़कर 1,25,000 से ऊपर हो गयी है। दक्षिणी भूटान में अभी भी पर्याप्त ल्हात्शाम्पा रह गए हैं। परन्तु उनको द्रुक संस्कृति में आत्मसात करने के प्रयास तेज कर दिए गये हैं। विरोध करने पर उन्हें शरणार्थियों का समर्थक बताकर सताया जाता है। उनकी नागरिकता और अचल सम्पत्ति जब्त कर ली जाती है। उन्हें सरकारी पदों से निकाल दिया जाता है। उनके बच्चों को स्कूलों में दाखिला नहीं मिलता। लाचार वे देश छोड़ने को मजबूर हो जाते हैं। शरणार्थियों की समस्या पर भूटान की अन्य देशों में भर्त्सना भी हुई। परन्तु भूटान का मानना है कि उसे अपनी संस्कृति की रक्षा करने का अपने देश में पूरा अधिकार है भले ही उससे मानव अधिकारों का हनन होता हो। दुनिया के प्रभावशाली राष्ट्र, भारत संघ सहित, मौन हो भूटान का समर्थन कर रहे हैं। शरणार्थियों का शरणदाता—नेपाल—खुद अपनी अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा है। फिर कौन शरणार्थियों की सुने? इस बीच निष्क्रिय शरणार्थी अतिवादी संगठनों से जुड़ते जा रहे हैं। जनतान्त्रिक विधि को असफल होते देख उन्होंने हथियार उठाना आरम्भ कर दिया है। गाहे-ब-गाहे आतंकवादी हमलों की सूचना भूटान सरकार देती रहती है। ऊपर से तुर्रा यह कि अन्य संगठनों के अलावा इन्होंने भूटान कम्युनिस्ट पार्टी (B C P) भी बना रखी है। अन्तिम समाचार यह है कि अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड आदि पश्चिमी देश अधिकतर शरणार्थियों को अपने यहाँ अस्थायी रूप से बसाने पर राजी हो गए हैं। भूटान खुशी-खुशी और नेपाल लाचारी में इस पहल से सहमत हैं। परन्तु शत प्रतिशत ग्रामीण कृषक शरणार्थी एकमात्र भूटान जाने की जिद पर अड़े हुए हैं।

प्रजातन्त्र की पहल, संविधान, चुनाव और राज्याभिषेक

नेपाली मूल के ल्हात्शाम्पाओं ने लिखित संविधान, संवैधानिक राजतन्त्र, संविधान प्रदत्त मूलभूत नागरिक अधिकार, सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार, नियमित चुनाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा संसद नियन्त्रित मन्त्रिपरिषद् की माँग प्रजातीय संघर्ष के साथ कर दी थी। परन्तु उन माँगों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। सरकार की पूरी शक्ति ल्हात्शाम्पा पलायन के उपरान्त हुई आर्थिक क्षति को सँभालने और विश्व जनमत को आश्वस्त करने में भी लगी हुई थी कि वास्तव में नेपाली मूल के भूटानी सरकार हड़पना चाहते थे। और ऐसा भूटान सरकार की तथाकथित नेकनीयती के विरुद्ध हो रहा था। भूटान सरकार की कूटनीति और भारत सरकार के पुरजोर समर्थन के चलते बीसवीं सदी के अन्त तक विश्व जनमत भूटानी शरणार्थी समस्या से थक सा गया था। चौथे भूटान नरेश, जिग्मे सिंघे वांगचुक, ने अपनी जनता को वचन दिया था कि अगर उन्होंने प्रजातीय संघर्ष का समाधान नहीं किया, तो सिंहासन त्याग देंगे। 1998 में उन्होंने प्रशासन की अध्यक्षता सीमित रूप से चुने गये मंत्रिपरिषद के पक्ष में त्याग दी। शीघ्र ही उन्होंने हाईकोर्ट के मुख्य न्यायाधीश की अध्यक्षता में 40 सदस्यीय सभासदों की संविधान नियामक समिति का गठन किया। समिति से कहा गया कि वह एक सरल, संक्षिप्त और संपूर्ण संविधान का प्रारूप पेश करे। 2002 के अंत तक समिति ने अपना काम पूरा किया। भूटान नरेश ने आदेश दिया कि संविधान के प्रारूप पर सभी 20 जनपद विकास परिषदें विचार करें। तदुपरांत नरेश और राजकुमार ने सभी जनपदों की यात्रा की; जनसभाओं में संविधान के प्रारूप को पेश किया; जनता के विचार सुने और बहस के बाद जनता के विचारों को प्रारूप में समावेश किया गया। तदुपरान्त प्रस्तावित सँवैधानिक प्रारूप को सांगदू (देश की तत्कालीन संसद) में उसके विचार के लिए पेश किया गया। लम्बी बहस के बाद सांगदू ने संविधान की मंजूरी दी।

संविधान के अनुसार भूटान में वयस्क मताधिकार पर निर्वाचित द्विकक्षीय (Bicameral) संसद होगी, जिसमें 25 सदस्यीय राष्ट्रीय राज्य परिषद (National Council) और 47 सदस्यीय राष्ट्रीय विधान सभा (National Assembly) होगी। फिलहाल दो ही राजनैतिक दल विधिवत परिसूचित होंगे, जिनके उम्मीदवार चुनाव लड़ पाएँगे। एक सक्षम चुनाव आयोग की व्यवस्था की गयी है, जो कि चुनाव की निगरानी करेगा। चुने हुए सभासदों की सभा के बहुमत का नेता देश का प्रधानमन्त्री होगा, जो भूटानी सरकार का प्रमुख होगा। भूटान नरेश यथावत राष्ट्राध्यक्ष बने रहेंगे। इधर संसद ने संविधान की मंजूरी दी, उधर चौथे भूटान नरेश ने महाराजकुमार के पक्ष में पदत्याग की घोषणा कर डाली। महाराजकुमार खेसार जिग्मे वांगचुक का तत्काल राज्याभिषेक नहीं किया जा सकता था, क्योंकि सरकारी ज्योतिषियों ने बताया था कि ऐसी शुभ घड़ी 6 नवम्बर, 2008 को पड़ेगी। इसी ऊहापोह में वांगचुक वंश के सिंहासनारोहण की शताब्दी भी आ धमकी। फलस्वरूप 17 दिसम्बर 2007 से 17 दिसम्बर 2008 तक सिंहासनारोहण समारोह वर्ष मनाया गया, जिसकी परिणति पंचम वांगचुक नरेश के पदग्रहण समारोह के समापन से हुई। इस बीच मार्च 2008 में चुनाव आयोग ने वयस्क मताधिकार के आधार पर भूटानी संसद का पहला चुनाव सम्पन्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कराया। ड्रुक फ्यूसुना शोग्पा (Druk Phuensum Tshogpa) दल ने नेशनल असेंबली की 47 में से 45 स्थानों पर विजय पाई और P.D.P. (People's Democratic Parti) मात्र दो स्थानों पर विजयी रही। विजयी दल D.P.T. के दस सदस्यों की मन्त्रिपरिषद ने जिग्मी थिन्ले के नेतृत्व में शपथ ली। स्मरणीय है पहले पहले भूटान सरकार के मन्त्रिपरिषद में दो सदस्य नेपाली (ल्हात्शाम्पा) मूल के हैं। नई सरकार और प्रधानमन्त्री (Lyochhan) जिग्मी थिन्ले से समस्त विश्व को काफी आशा है कि कटुता को भुलाकर भूटान के राजनैतिक जीवन में नया अध्याय जोड़ेंगे। फिलहाल तो नई सरकार वांगचुक वंश के सत्ताग्रहण की शताब्दी और पाँचवें द्रुक नरेश के सिंहासनारोहण के समारोह में व्यस्त है। निश्चित रूप से भूटान के लिए यह एक स्मरणीय ऐतिहासिक क्षण है।

पश्चिमी बुद्धिजीवी, पत्रकार, राजनेता और पर्यटक हिमालय, उसकी जनता, उनकी संस्कृति, उनके धर्म और परम्पराओं को एक अजूबा (Exotic) समझ आकर्षित होते हैं। नेपाल और सिक्किम में जनतन्त्र की स्थापना के बाद पश्चिमी पर्यटकों की दिलचस्पी उनमें कम होती जा रही है। दूसरी तरफ सभी विसंगतियों के विपरीत भूटानी नरेश, बौद्धधर्म, बौद्ध भिक्षु, बौद्ध विहार, पर्वत शृंखलाएँ, याक और पूरा वातावरण एक आश्चर्य की तरह आकर्षित करता है। तबाही, फटेहाली, पिछड़ेपन, गरीबी, अशिक्षा, बीमारी आदि से भरपूर दक्षिणी भूटान की तरफ बहुत ही कम पर्यटकों की नजर जाती है। नये महाराजा से नयी उम्मीदें हैं कि वे पुराने घाव पर मरहम लगाएँगे और परिस्थिति वश प्रवासी बनी अपनी प्रजा से नया संवाद आरम्भ करेंगे। सौभाग्य से जिग्मी थिन्ले के रूप में उन्हें एक अनुभवी और सुलझा हुआ प्रधानमन्त्री मिला है। आशा है नवयुवक भूटान नरेश नयी जनतांत्रिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाएँगे और सम्पूर्ण भूटानी जनता के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करेंगे। इस प्रकार द्रुक धर्मतन्त्र, वांगचुक राजतन्त्र और नवजात जनतन्त्र एक पहेली न बनकर, एक नए सुखद प्रयोग के रूप में विश्व पटल पर आच्छादित होगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Aris Michael, Bhutan : *The Early History of a Himalayan kingdom*, Vikas Publishing House, New Delhi, 1980.
2. Sinha AC, *Bhutan : Ethnic Identity and National Dilemma*, Reliance Publishing House, New Delhi, 2nd Edition, 1998
3. Sinha, AC, *Himalayan kingdom Butan : Tradition, Transition and Transformation*, Indus Publishing company, New Delhi, 2nd Edition, 2004

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दू इतिहास-बोध और रामायण

शंकर शरण*

जिनका इतिहास होता है
उनके देवता हँसते हुए नहीं होते :
कैसे हँस सकते?
और जिनके देवता हँसते हुए होते हैं
उनका इतिहास नहीं होता :
कैसे हो सकता? (अज्ञेय)

यूरोपीय लोग मानते हैं कि भारतीयों में इतिहास बोध नहीं है। उनके प्रभाव में प्रायः हमारे बहुत से बुद्धिजीवी और विद्वान भी यही दुहरा दिया करते हैं। इसका प्रमाण उन्हें यह दिखता है कि भारत में इतिहास रूपी अध्ययन विषय की सामग्री नहीं मिलती। इस देश में कौन कब राजा हुआ, उसने कितने दिनों तक राज किया, किसको हराया, क्या क्या काम किए, आदि बातों को लिखकर इन्हें इतिहास की किताब का रूप देने की प्रवृत्ति भारतवासियों में कभी नहीं रही। क्या इससे स्पष्ट नहीं होता कि हममें इतिहास बोध नहीं है?

जी नहीं। जैसा कविगुरु और चिंतक रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा, "भारत की प्रवृत्ति यदि राष्ट्र-गठन की होती तो अवश्य ही आज भारत में बहुत बड़ी-बड़ी इतिहास की सामग्रियाँ देखने को मिलतीं और उनसे आधुनिक इतिहासज्ञों का काम बहुत कुछ सहज हो जाता। किंतु यह देखकर मैं इस बात को किसी तरह स्वीकार नहीं कर सकता कि भारत ने अपने अतीत और भविष्य को किसी एक सूत्र में ग्रन्थित नहीं किया है।...वह सूत्र सूक्ष्म है, परन्तु उसका प्रभाव साधारण नहीं है। स्थूल भाव से वह दीख नहीं पड़ता, परन्तु उसी ने अब तक हमें अपने पूर्वजों से अलग नहीं होने दिया।" (धम्मपदम्) इसीलिए महाभारत में वर्णित भारत तथा आज का भारत, बहुत बातों में भिन्न होने पर भी एक ही बने हैं। हजारों वर्ष बीत जाने पर भी ऐसा साम्य

*डॉ. शंकर शरण, प्रवक्ता, राजनीति विज्ञान विभाग, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद; संपर्क : IV/28, एन. सी. ई. आर. टी क्वार्टर्स नसीरपुर रोड, द्वारका, नई दिल्ली—110045

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धरती पर अन्य किसी देश के जनजीवन और संस्कार में नहीं है। इसलिए, कहना यह चाहिए कि भारत का इतिहास बोध अलग तरह का है जिसे यूरोपीय भौतिकवादी दृष्टि नहीं समझ सकती। यह कोई अनोखी बात नहीं है कि सामान्य भारतवासी के लिए कभी विचारणीय विषय नहीं रहा कि रामायण या महाभारत के विवरण तथ्य हैं या कल्पना। विदित है कि भारत में पिछले दो सौ वर्षों से अधिक समय से ईसाई मिशनरी राम, कृष्ण, शिव, गणपति, काली तथा समस्त हिन्दू देवी-देवताओं को काल्पनिक या कुत्सित बताते रहे हैं। किन्तु जनता और विद्वानों के लिए भी यह कभी विचार करने या उत्तर देने योग्य बात नहीं समझी गई। हिन्दू पण्डित ऐसी बातों को हँस कर उड़ा देते थे, मानो किसी मूढ़ बालक की बात सुनी हो। इसका एक कारण था कि अनादिकाल से भारतवर्ष का कण-कण शिव, राम और कृष्ण से व्याप्त है, जिसे किसी बाह्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं।

दूसरी बात यह भी है कि हिन्दुओं की भारतीय सभ्यता की इतिहास-दृष्टि ही पूर्णतः भिन्न है। इसीलिए साधारण जनता, गाँव के किसान और सम्पूर्ण स्त्री-समाज को रामायण या महाभारत के विवरणों के लिए वैसे किसी प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है, जिसे यूरोपीय या सामी दृष्टि 'हिस्टोरिकल एविडेंस' कहती है। हमारे बुद्धिजीवियों ने 'हिस्टरी' को 'इतिहास' का पर्याय मान लिया है, इसलिए वे उस बेकार की परेशानी में पड़ते हैं जिसमें भारतीय जनता कभी नहीं पड़ती। यूरोपियनों की 'हिस्टरी' मनुष्य केन्द्रित अथवा स्व-केन्द्रित है। यह घटनाओं की वह क्रम-कथा है जो उन्हें अतीत में ही प्रतिष्ठित कर के देखती है। वे विगत की सभी घटनाओं का अन्वेषण मात्र उसमें अपना स्थान ढूँढ़ने के लिए, अपने वर्तमान हेतु कोई सबक सीखने, आदि कारणों से करते रहते हैं। यूरोपियनों द्वारा काल की इस *हिस्टोरिकल* धारणा और बोध ने ही मानवीय अस्तित्व को इकाइयों में भी बाँट दिया है।

हिस्टरी से नितान्त भिन्न अवधारणा है इतिहास। शब्दशः अर्थ करें तो इति+ह+आस। अर्थात् ऐसा ही होता आया है। विगत को देखने-समझने की यह दृष्टि ही हिन्दू या भारतीय बोध है। यह काल के उस आयाम को भी प्रस्तुत करती है जो आवर्ती है, सतत वर्तमान है और निरन्तर अपना नवीकरण करता चलता है। इसीलिए, हिन्दू मानस रामचरित, कृष्ण-लीला, रामायण, महाभारत, जैसी अजर-अमर भारतीय परम्परा को हिस्टरी के चौखटे में नहीं रखता। हम अपने पूर्वजों, पितरों का स्मरण एक भास्वर तेजोरूप में करते हैं, किसी पार्थिव विग्रह के रूप में नहीं। इसीलिए हमारे यहाँ पूर्व पुरुषों की मूर्तियों में वर्तमान के चित्रों का वर्णन अधिकतर नहीं मिलता। न ही भारतवर्ष के महान मनीषियों, कवियों, शासकों, कलावन्तों, वास्तुकारों ने कभी अपने बारे में कोई छवि, विवरण या स्मारक बनाने का कार्य किया। इसे वे निरर्थक मानते थे। यह अनायास नहीं था, इसके पीछे वही इतिहास बोध भी था।

भारतवर्ष के महान मनीषियों, कवियों, शासकों, कलावन्तों, वास्तुकारों ने कभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने बारे में कोई छवि, विवरण या स्मारक बनाने का कार्य नहीं किया। यह आसानी से समझा जा सकता है कि जिन्होंने कोणार्क या कांचीपुरम् का महान् वास्तुशिल्प अथवा नालंदा या तक्षशिला के विश्वप्रसिद्ध विश्वविद्यालय बनाए, बनवाए वे अपनी भी मूर्तियाँ, विवरण आदि भी बनवा ही सकते थे। किन्तु सहस्रों वर्षों की ज्ञात भारतीय परम्परा में कहीं इस तरह की प्रवृत्ति ही नहीं मिलती। यहाँ धर्म, कर्म, अर्थ, जीवन, कला, साहित्य, शिल्प, वास्तु सब कुछ सदैव शिव, नारायण, ब्रह्म को अर्पित रहा है। यह कोई साधारण बात नहीं कि भारत में लोगों के नाम भी देवी-देवताओं के प्रसाद-स्वरूप, उनके अनुरूप रखे जाते हैं। अतः हमारे देश में महान शासकों, विद्वानों, कलाकारों आदि के बारे में भी मोटे व्यक्तिगत विवरण भी नगण्य, वह भी किसी संयोग से ही मिलते हैं। क्योंकि इन चीज़ों को भारतीय मानस निरर्थक मानता था। इसके पीछे वही विशिष्ट इतिहास बोध था। इसे गम्भीरता से समझने का यत्न करना चाहिए।

पश्चिम के हिस्टरी और भारत के इतिहास में एक मूलभूत अन्तर है। हिन्दू इतिहास-बोध की विशेषता उस पहचान का प्रभाव है जो काल के एक इतिहासातीत आयाम को भी देखती है। यह पहचान भारतीय लोक-साहित्य को पश्चिम की *हिस्टरी* के काल से अलग, भारत के *इतिहास* के काल में रख देती है। भारतीय दृष्टि में काल की एक आवर्ती धारणा भी थी, जिससे शाश्वतता, नित्यता की बहुमूल्य धारणा चलती आई है। अज्ञेय ने इसी बिन्दु को समझाते हुए लिखा था कि यहाँ शाश्वतता का अभिप्राय "एक *अन्तहीन काल* नहीं है बल्कि *एक कालातीत आयाम* मात्र है। हमारी स्मृति किसी भी समय किसी घटना का पुनराह्वान कर सकती है और अतीत का पुनर्निर्माण कर सकती है, इससे उसे एक कालातीत आयाम मिल जाता है। इतना ही नहीं, स्मृति में किसी अनुभूति की *गुणात्मकता* अपने मूल रूप में सुरक्षित रहती है, यहाँ तक कि जिस घटना से वह अनुभूति सम्बद्ध है उसके प्रायः सम्पूर्णतया विस्मृत हो जाने पर भी अनुभूति की गुणात्मक छाप सुरक्षित बनी रह सकती है।" (शब्दों पर बल मूल में है)। चाहे तो इसी से हमें यह समझने का संकेत मिल जाता है कि श्रीराम और रामायण की पश्चिमी अर्थ में ऐतिहासिकता के प्रश्न से भारतीय मानस क्यों निर्द्वन्द्व बना रहता है। निर्मल वर्मा लिखते हैं :

...और तब मैं अपने से पूछता हूँ कि 'बहते पानी' के साथ हिन्दू-मानस का इतना घना लगाव क्या इसलिए तो नहीं है कि उसमें मिथक और इतिहास का सम्पूर्ण भेद छिपा है? और इस 'भेद' में सिर्फ रहस्य का ही आशय नहीं है, बल्कि अलगाव का भी। हम इतिहास के प्रति सचेत नहीं थे, यह सही नहीं है। सही यह है कि हम इतिहास के प्रति सचेत होते हुए भी उसके बिम्बों का निर्माण निरर्थक समझते थे। इसलिए हम परम्परा को भी उतना महत्त्व नहीं देते थे, जितना दूसरे देशों के लोग, क्योंकि हम उसे बीते हुए समय का अंश नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानते थे, जिसे वर्तमान में ढोना है। हमें अपनी परम्परा का उतना ही अनुभव होता है, जितना 'अतीत' हम अपने भीतर लेकर चलते हैं...

(*पत्थर और बहता पानी*)

इस प्रकार भारतीय इतिहास-बोध की विशेषता यह थी कि हम इतिहास को पुराण में परिवर्तित करते हैं। एक कालबद्ध चेतना को हम व्यापक देशकाल-मुक्त चेतना में परिवर्तित करते आए हैं। उससे हमारे लिए काल-खण्डों का कोई महत्त्व नहीं होता है। इतने काल-खण्डों के बीत जाने पर भी कितना अंश हमारे भीतर समा गया है, उसी का महत्त्व रहा है। अतः हम इतिहास का बोझ नहीं ढोते थे। अपने हर कर्तव्य का निश्चय इतिहास से नहीं करते थे। यह तो पिछले दो सौ वर्षों की अँग्रेजी शिक्षा ने हमें इतिहासग्रस्त बना दिया है। हम हर चीज़ की शती मनाने लगे। ध्यान देने की बात है कि यहाँ मुगलों के जमाने से पोर्ट्रेट-चित्रण शुरू हुआ और अँग्रेजों के शासन से चौराहों पर लॉर्डों, वायसरायों, आदि की मूर्तियाँ लगनी शुरू हुईं। उनकी देखा-देखी भारतीय उच्च-वर्ग ने नकल आरम्भ कर दी। यूरोप से प्रभावित इस इतिहासग्रस्तता या ऐतिहासिकतावाद ने हमारे चिन्तन को काफी दूर तक विकृत किया है। अज्ञेय ने ठीक ही ध्यान दिलाया था कि हमारे प्रबुद्ध वर्ग द्वारा 'आधुनिक' और 'पश्चिमी' को पर्यायवाची मान लेना भी उसी ऐतिहासिकतावाद की देन है! इस में यह भी जोड़ सकते हैं कि भारतीय बुद्धिजीवियों द्वारा कार्ल मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद को सहजता से विज्ञान मान लेना भी उसी नकल में सम्भव हुआ।

अन्यथा यूरोपीय ऐतिहासिकता से विपरीत भारतीय परम्परा में मनुष्यों के चेहरे, तिथियाँ, विवरण आदि का ब्योरा रखना, उनका आकलन करना, इन सबको महत्त्वपूर्ण मानना कभी नहीं रहा। हम जिस किसी को भी याद करना चाहते हैं उसके चरित्र, उपदेश, विचारों से अपने को जोड़ते हैं। उसकी भौतिक घटना उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं होती। इसीलिए मर्यादा पुरुषोत्तम राम या योगेश्वर कृष्ण वास्तव में हुए थे या नहीं, यह प्रश्न ही भारतीय मानस के लिए अनर्गल है। उसके लिए 'मर्यादा पुरुष' के रूप में राम का आदर्श स्थायी सत्य बन चुका है। तदनुरूप हमारे लिए सत्य का अर्थ ऐतिहासिक नहीं, शाश्वत है। यह काल की नितान्त भिन्न धारणा से जुड़ा है। इसीलिए भारतीय धर्म अथवा लोक-परम्परा में सत्य इतिहास के नियमों के अधीन नहीं है। (जो यूरोपीय-ईसाई चिंतन में है)। यही कारण है कि ग्रामीण, पारंपरिक भारत की मानसिकता में शाश्वत, नित्य, सनातन का एक मौलिक स्थान आज भी है। इसी तरह के किसी प्रसंग में प्रसिद्ध लेखक यू. एस. अनंतमूर्ति ने भारत के 'अशिक्षित जन-गण' को प्रणाम किया था 'जिनके कारण भारतीय सभ्यता-संस्कृति बची हुई है'।

इसलिए कह सकते हैं कि मानव जीवन और समाज में जो फिर-फिर होता है, उसके सतही आँकड़ों, तिथियों, विवरणों में नहीं, बल्कि शाश्वत, तत्त्व-ज्ञान में भारतवासियों की जिज्ञासा थी। जबकि काल के प्रति यूरोपीय धारणा, जो स्वयं बहुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरानी नहीं है, अप्रत्यावर्ती, एक दिगोन्मुख थी। भारतवासी की जिज्ञासा *काल के सातत्य* में प्रतिष्ठित थी। जबकि यूरोप की आधुनिक जिज्ञासा काल में *अपना स्थान* ढूँढ़ने के प्रति थी। इसी से आज सारा इतिहासलेखन प्रेरित है। पश्चिमी प्रणाली की शिक्षा पाया हुआ हमारा शिक्षित वर्ग भी उससे आक्रान्त है। यह अनायास नहीं है कि महान भारतीय आख्यानों की ऐतिहासिकता के प्रमाण माँगे जाने पर चाहे हमारे बुद्धिजीवी हलकान होने लगते हैं। किन्तु भारतीय किसान या हिन्दू पण्डित, दोनों ही नीलकण्ठ, त्रिपुरारी शिव, दैत्यवंशनिकंदक, रघुकुलतिलक राम या लीलाधर कृष्ण के लिए ऐतिहासिक प्रमाण, 'हिस्टोरिकल एविडेंस' की कोई परवाह नहीं करते। अतः राष्ट्रीय या हिन्दूचेतना सम्पृक्त बुद्धिजीवियों को भी रामायण, श्रीराम या रामसेतु आदि के ऐतिहासिक प्रमाण की अधिक चिन्ता नहीं करनी चाहिए। यह तो इतिहास की तुलना में हिस्टरी को महत्त्वपूर्ण मानने, अपने गहन कालबोध की तुलना में यूरोपियनों के सतही बोध को अधिक मूल्यवान समझने, और राजनीतिक रूप में—अपने शत्रु या विरोधी के बनाए गए खेल के नियम स्वीकार कर लेने जैसा हुआ। कवि अज्ञेय ने हमें ठीक ही सचेत किया था, "*क्या यह अनिवार्य है कि हम जैसे-जैसे काल को पहचानते चलें वैसे-वैसे सनातन को गँवाते चलें?*"

(*शाश्वत काल : इतिहास का क्रम*)

किन्तु, मात्र प्रसंगवश, इसका अर्थ यह नहीं कि रामायण या महाभारत के विवरणों के लिए यूरोपियन हिस्टरी दृष्टि को सन्तुष्ट करने के लिए प्रमाणों की कोई कमी है। हम ऐतिहासिक प्रमाणों की परवाह नहीं करते, यह एक बात है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि रामायण के विवरणों के यथार्थ-घटित होने के साक्ष्यों का अभाव है। यूरोपियन 'हिस्टरी' लेखन के सिद्धान्तों की कोई भी टेक्स्ट-बुक उलटिए। उसमें इसकी लंबी गिनती मिलती है कि वे किन चीज़ों को ऐतिहासिक स्रोत या साक्ष्य मानते हैं। उसमें प्रत्यक्षदर्शी विवरण, दस्तावेज, पुरातात्विक चिह्न, शिला-लेख, भित्ति-चित्र, शास्त्रीय ग्रंथ, समकालीन साहित्य, कला-कृतियाँ, प्रचलित कथाएँ, लोक-आख्यान, लोकापवाद, नगरों, स्थानों के नाम, विभिन्न स्मारकों से जुड़ी किंवदंतियाँ आदि सभी कुछ को साक्ष्य माना जाता है। विशेषकर यदि वह उपर्युक्त वर्णित एकाधिक साक्ष्यों से परस्पर संपुष्ट होता हो। इस प्रकार स्वयं यूरोपियन आधारों पर भी रामायण और महाभारत के विवरणों के वास्तव में घटित हुए होने के जितने साक्ष्य हैं, उतने अनेक हाल की घटनाओं के भी नहीं हैं। कृपया याद रखें : आदिकवि वाल्मीकि ने *रामायण* का समकालीन, प्रत्यक्षदर्शी विवरण लिखा है!

वही बात महाभारत के बारे में भी है। दोनों प्रामाणिक इतिहास ग्रन्थ से भी अधिक हैं। क्योंकि दोनों में रचयिता के इतिहासकार नहीं, वरन् प्रत्यक्ष द्रष्टा होने का प्रमाण मिलता है। कृष्णद्वैपायन व्यास भी *महाभारत* के परवर्ती रचयिता नहीं, उसमें वर्णित कई प्रसंगों में स्वयं भागीदार हैं। अतः व्यास तथा वाल्मीकि, दोनों क्रमशः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाभारत और रामायण में प्रतिभागी हैं। दोनों इन ग्रंथों में आते हैं, कहीं न कहीं उनका योगदान है। वाल्मीकि ने स्वयं राम को सम्बोधित करते हुए भी कुछ बातें लिखीं। राम के पुत्र लव-कुश उनके आश्रम में रहते थे। रामायण को ध्यान से पढ़ें। एक स्थल पर वाल्मीकि राम को चुनौती देते हैं और जिस भाषा में चुनौती दी गई है वह बड़ी कड़ी भाषा है। पण्डित विद्यानिवास मिश्र उस पर लिखते हैं:

> पूर्वजों का स्मरण करके जब कोई बात कही जाती है तो उन्होंने (वाल्मीकि ने) कहा कि 'प्राचेतसोहं दशमः पुत्रः'। 'मैं प्राचेतस का दसवाँ पुत्र' 'मैं कह रहा हूँ, मेरा वचन प्रमाण मानो, रघुवंशी। मैं कह रहा हूँ' अपने पितरों का जो स्मरण किया है और बड़ी कड़ाई से कहा है कि मैं कह रहा हूँ कि सीता निष्पाप हैं। यदि मैंने जीवन भर सत्य आचरण किया हो, जीवन भर तप किया हो तो मैं कहता हूँ कि सीता निष्पाप हैं। और तुम अपने अन्तःकरण में जानते थे, सीता शुद्ध हैं और तुमने लोकापवाद से भयभीत होकर त्याग किया है। तुम्हारे ऊपर मुझे बहुत क्रोध है। तुमने त्रिलोक के कण्टक रावण का वध किया, पर इसके लिए बहुत अमर्ष है। तो यह एक साक्ष्य मात्र नहीं है...
>
> *(वाद्य वृन्द)*

इस प्रकार, दोनों ग्रन्थों में प्रत्यक्ष द्रष्टा का प्रमाण मिलता है। अभिनवगुप्त ने तो इतिहास का अर्थ ही बताया है कि जो प्रत्यक्ष देखा गया है। इति का अर्थ, जो प्रत्यक्ष है, इसको देखकर जो कहा जाता है वह इतिहास है। अतः यूरोपियन जिसे प्रमाण मानते हैं, उस दृष्टि से भी रामायण के विवरण प्रामाणिक हिस्टरी है। वह काल्पनिक कथा नहीं है। इसके अनगिनत और साक्ष्य उपलब्ध हैं। भारत में ही नहीं, श्रीलंका में भी साहित्य ही नहीं, पुरातत्त्व, लोकपरम्परा, भाषा, स्थान, स्मृति-चिह्न आदि अनेक रूपों में रामायण और महाभारत की ऐतिहासिकता के असंख्य प्रमाण उपलब्ध हैं। राम की तरह कृष्ण भी उतने ही वास्तविक रहे हैं। यद्यपि यहाँ भी वही बात है कि भारतवासियों के लिए उनकी ऐतिहासिकता का आध्यात्मिक महत्त्व कम है। हमारे लिए उस कृष्ण का महत्त्व है जो हमारे गान में है। जो हमारे नृत्य की गति में है, वह कृष्ण हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है। भारतवासियों के लिए सुदूर पाँच हजार वर्ष पूर्व के कृष्ण का वह महत्त्व नहीं है जितना एक सनातन वर्तमान कृष्ण का है। फिर भी, वास्तविक कृष्ण भी थे, यह सत्य है।

श्री अरविन्द, जो यूरोपीय और भारतीय दोनों मनीषा के प्रकाण्ड विद्वान थे, ने लिखा है : "मुझे नहीं लगता कि इसमें कोई भी सन्देह हो सकता है कि कृष्ण नामक व्यक्ति भारतीय अतीत का कोई गल्प या काव्यमय आविष्कार नहीं है, बल्कि वह वास्तव में इस धरती पर हुए थे और यहाँ के इतिहास में एक भूमिका निभाई थी। ...ऐतिहासिक रूप से कृष्ण निस्संदेह हुए थे। उनका नाम सर्वप्रथम *छांदोग्य उपनिषद* में आता है जहाँ पता चलता है कि वह आध्यात्मिक परम्परा में ब्रह्म ज्ञाता के रूप में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक जाने-माने नाम थे। एक व्यक्तित्व और अपने जीवन की परिस्थितियों के साथ इतने सुपरिचित कि उनके बारे में देवकी पुत्र कृष्ण कहने से ही सबके लिए स्पष्ट हो जाता था कि किसकी बात हो रही है। उसी उपनिषद् में विचित्रवीर्य के पुत्र राजा धृतराष्ट्र का भी उल्लेख मिलता है और चूँकि परम्परा उन दोनों को इतनी निकटता से जोड़ती है कि दोनों ही महाभारत की घटनाओं के प्रमुख पात्र हैं, हम सुरक्षित रूप से निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि दोनों समकालीन थे और वह महाकाव्य बहुत सीमा तक वास्तविक पात्रों से सम्बन्धित है जो इस जाति (भारतवासियों) की स्मृति में गहरे खुदा हुआ है..." (श्री अरविन्द, कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 22, पृ. 425-26)

प्रमाण चर्चा के प्रसंग में एक भिन्न प्रकार का उल्लेख लें। *गीता* में श्रीकृष्ण कहते हैं, "पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्। झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥" (श्रीमद्भगवतगीता, 10/31) अर्थात्, मैं पवित्र करने वालों में वायु और शस्त्रधारियों में राम हूँ, तथा मछलियों में मगरमच्छ और नदियों में श्रीभागीरथी गंगा हूँ। ध्यान दें, इसमें श्रीकृष्ण ने सभी उपमाएँ वास्तविक अस्तित्व की दी हैं–वायु, मगरमच्छ, जाह्नवी और राम। यदि वायु, मगरमच्छ और गंगा को काल्पनिक नहीं कहा जा सकता तो क्या कारण है कि राम को काल्पनिक मान लिया जाए? केवल इसलिए कि वामपन्थी इतिहासकार रूपी हिन्दू-विरोधी प्रचारक ऐसा कहते हैं?

रामायण के ऐतिहासिक प्रमाणों की तुलना में ऐसे इतिहासकारों के प्रिय विषयों की प्रामाणिकता की स्थिति भी जाँचनी चाहिए। तभी वास्तविक चित्र और प्रगतिवादी महानुभावों की हिन्दू-विरोधी धूर्तता स्पष्ट होगी। अतएव ध्यान दें कि हमारे आधुनिक, वामपन्थी या सेक्यूलर इतिहासकारों, अर्थात् कथित एमिनेंट हिस्टोरियंस ने अपनी पुस्तकों में बार-बार कुछ बातें दुहराई हैं। दुहरा-दुहरा कर उन्हें ऐतिहासिक तथ्य के रूप में ऐसा प्रतिष्ठित कर दिया है कि हमारे नेता, लेखक, सम्पादक और सॉलिसिटर साहबान भी उसे सहज सत्य के रूप में मानते हैं। जैसे : आठवीं शताब्दी से अरब या मध्य एशिया के आक्रमणकारी केवल धन के लोभ से भारत पर आक्रमण करने आते रहे थे; बाबर कलावंत था; अकबर उदार था; गुरु गोविन्द सिंह या शिवाजी लुटेरे थे; औरंगजेब जिन्दा पीर था; हिन्दू राजा भी मन्दिर तोड़ा करते थे; अँग्रेज विकसित थे; भारतीय पिछड़े थे; ब्राह्मणों के उत्पीड़न से त्रस्त होकर यहाँ शूद्र इस्लाम में धर्मांतरित हुए; नेहरू महान द्रष्टा थे; पटेल मुस्लिम-विरोधी थे; भारत की संस्कृति मिश्रित है; लोकतन्त्र और समानता के विचार भारतवासियों ने यूरोप से सीखे; सोवियत संघ या लाल चीन में किसानों-मजदूरों की सत्ता थी; इस्लाम समता का दर्शन है; आदि। किन्तु ऐसी बड़ी-बड़ी ऐतिहासिक प्रस्थापनाओं के लिए हमारे स्वनामधन्य वामपन्थी इतिहासकारों ने कितने और किस तरह के प्रमाण दिए हैं?

उनकी पुस्तकों में तनिक गहराई से ढूँढ़िए, बल्कि उनका सारा लेखन छान मारिए तो दंग रह जाना पड़ेगा। कहीं किसी पुरानी साहित्यिक कृति में लिखी गई एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंक्ति, कहीं-कहीं केवल एक शब्द मात्र, कहीं किसी राजकीय दस्तावेज का एक आदेश, कोई एक फरमान, कहीं केवल किसी अन्य लेखक का किया दावा—और बस! इतने पर ही हमारे एमिनेंट इतिहासकारों ने ठसक से पूरी की पूरी प्रस्थापना बनाई, कई दशकों से प्रचारित की और मनवाई है! कोई भी पाठक स्वयं इसकी परीक्षा कर सकते हैं। तब तुलना करें कि रामायण या महाभारत के विवरणों के समर्थन और साक्ष्य में कितने प्रत्यक्ष, साहित्यिक, लोकाख्यानिक, पुरातात्विक, पारंपरिक, परस्पर पूरक तथ्य व विवरण मिलते हैं। सच तो यह है कि विश्व के किसी भी आख्यान में वर्णित स्थानों, पात्रों, विवरणों, घटनाओं के इतने तरह के प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं जितने रामायण और महाभारत के लिए हैं। इसीलिए, हमारे वही इतिहासकार जो बीच-बीच में इस या उस चीज़ का हमसे प्रमाण माँगते हैं, स्वयं प्रमाणों से इतना डरते हैं कि प्रत्येक वैसे शोध को छल-प्रपंच और सत्ता के दुरुपयोग से अविलम्बं बन्द करवाते हैं। सरस्वती शोध परियोजना को क्यों बन्द कराया गया? अयोध्या में खुदाई का विरोध क्यों किया गया? कुरुक्षेत्र या मथुरा या द्वारिका में पुरातात्विक खोज-बीन क्यों रोकी दी गई? केवल इसलिए क्योंकि उसे न रोकने पर ऐतिहासिक प्रमाणों का इतना बड़ा भण्डार एकत्र हो सकता है, जो हिन्दू-विरोधी मानसिकता से ग्रस्त वामपन्थी, नेता और प्रचारकों के गर्हित उद्देश्यों के लिए भारी अवरोध बन कर खड़ा हो जाएगा।

इसलिए बात रामायण, श्रीराम या रामसेतु के लिए साक्ष्य जुटाने या प्रस्तुत करने की है ही नहीं। मूल बात है एक धूर्त, कटिबद्ध, हिन्दू-विरोधी राजनीतिक, वैचारिक रणनीति का कठोर प्रतिकार करने की। प्रश्न भारतीय या हिन्दू समाज के सभ्यतागत, स्थाई बैरियों को सन्तुष्ट करने का नहीं, उन्हें मुँहतोड़ उत्तर देने, उनका दोहरापन, पाखण्ड और वास्तविक रूप उजागर करने का है। ऐसा करने के लिए हिन्दू जनता में आत्मबल अब भी है। दुर्भाग्य से उसके प्रतिनिधि ही झिझक जाते हैं। इसी का लाभ शत्रु उठाते हैं और उलटे हमें अपदस्थ करने का दुस्साहस करते हैं। रामसेतु परियोजना प्रसंग पर हुए विवाद और श्रीराम सम्बन्धी श्रद्धा-विश्वास पर वैचारिक आक्रमण आदि को इसी रूप में लेना चाहिए। हमारे पश्चिम-परस्त बुद्धिजीवी, विशेषकर मार्क्सवादी, प्रगतिशील महानुभाव, भारतीय सभ्यता-संस्कृति से न केवल दूर हैं, बल्कि उन्हें इससे भारी दुराव भी है। वे तरह-तरह की यूरोपियन दृष्टि के दास रहे हैं। इसीलिए धड़ल्ले से कह देते हैं कि भारतीयों में इतिहास-बोध नहीं है। उनकी देखा-देखी कई दूसरे भी बिना सोचे-समझे वही सब दुहराने लगते हैं। किन्तु सच यह है हिन्दुओं की इतिहास-दृष्टि भिन्न और सामंजस्यपूर्ण है। किन्तु इससे नितान्त अनजान रहते अथवा जानते-बूझते उसका तिरस्कार करते हुए वाममार्गियों ने हिन्दू सभ्यता-संस्कृति का सदैव उपहास करने का काम किया है। अभी भी यही हो रहा है। वे लगभग सभी विषयों में पश्चिमी वैचारिकता की दासता निभा रहे हैं। इसलिए उनका इतिहास-बोध भी अपने देश का न होकर पश्चिम का अनुगामी है। यहाँ ध्यान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देने की बात है कि पश्चिम का इतिहास-बोध मनुष्य के समूचे समय को हथियाने की, कॉलोनाइज करने की चेष्टा करता है, उसे अपनी अहं-केन्द्रित इमेज में ढालना चाहता है। इसका गम्भीर मूल्यांकन करते हुए निर्मल वर्मा ने लिखा है :

> पश्चिम का ऐतिहासिक समय धीरे-धीरे समूची मानव-जाति के समय-बोध को शोषित करने लगता है। यदि आज भारतीय मनीषा इतिहास और अतीत के दो मृत खण्डों में विभाजित दिखाई देती है तो हमें इसका कारण सीधा पश्चिम के उस अहं-केन्द्रित इतिहास-बोध में दिखाई देगा जिसने पिछले दो सौ वर्षों में भारतीय मनुष्य को उसके अतीत और परंपरा से उन्मूलित किया है...
>
> (*परम्परा और इतिहास-बोध*)

कहने की आवश्यकता नहीं, कि यह भारतीय मनुष्य और कोई नहीं वे बुद्धिजीवी ही हैं जो कभी सरस्वती को काल्पनिक, तो कभी श्रीराम को मिथक बताते हैं या रामसेतु को चुनौती देते हैं। ऐसे सभी प्रसंग हमें यह अवसर देते हैं कि हम अपने बुद्धिजीवी वर्ग की मानसिक दासता तथा हिन्दू विरोधी बौद्धिक दोहरेपन को पहचान सकें। साथ ही साथ काल की भारतीय और पश्चिमी अवधारणाओं का, एवं 'हिस्टरी' तथा 'इतिहास' के बीच के मूलभूत अन्तर भी समझें। पश्चिमी साइंस, साइंटिफिक, ऐतिहासिकता रेशनेलिटी की प्रभावी धारणाओं और भारतीय ज्ञान, सत्य और ऋत् की कालजयी धारणाओं के बीच के तुलनात्मक भेद को पहले तथ्यतः समझना भी अनेक कारणों से आवश्यक है। तभी हम यह समझ सकेंगे कि सभी बिन्दुओं पर पश्चिमी कसौटियों, शर्तों को स्वीकार कर माथापच्ची करने लगना निरर्थक ही नहीं, हानिप्रद भी है। केवल हमारे लिए ही नहीं, वरन विश्व के लिए भी। पश्चिमी समाज के साइंटिफिक टेम्पर, प्रोग्रेस और हिस्टोरिसिज्म में एक आत्म-विनाशी प्रतिज्ञा भी निहित है। अज्ञेय के शब्दों में कहें तो पश्चिम की हिस्टरी "थिगलियाँ जोड़कर बनाया गया एक कन्था है जिसमें ऐसी कोई 'सार्थकता' या अभिप्राय नहीं हो सकता जो बुद्धि अथवा मानवीय संकल्प के आधार पर परिभाषित किया जा सके।" अभी समय है कि हम अपनी ज्ञान-परम्परा की भूमि पर टिककर देश-काल की संपूर्ण स्थिति और विचार-बिंदुओं की परख करना आरम्भ करें। अन्यथा हो सकता है आनेवाले समय में इसका अवसर ही न बचे।

जी हाँ, देश में बौद्धिक वातावरण जिस दिशा में जा रहा है उससे यह आशंका वृथा नहीं। कुछ समय से रामसेतु को तोड़कर व्यापारिक समुद्री मार्ग बनाने का प्रपंच चल रहा है। इसके लिए मुख्य तर्क यह दिया गया, बल्कि सर्वोच्च न्यायालय में शपथ-पत्र में कह दिया गया कि राम तो एक मिथकीय चरित्र है। इसलिए रामसेतु तोड़ने में कोई ऐसी बड़ी बात नहीं। यह प्रसंग एक संकेत है कि इस देश में स्वतन्त्रता के छः दशकों में किस गति से बौद्धिक अवनति हुई है।

कृपया विचार करें : जिस देश में जीवन से लेकर मरण तक राम का अवलम्ब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चलता हो। जहाँ नमस्कार सूचक 'जय रामजी की', 'राम-राम' और घृणा-सूचक 'राम! राम!' से लेकर 'रामजी की इच्छा', 'हे राम!' 'राम नाम सत्य' तक जीवन के प्रत्येक दिन हृदय के सभी भाव और उच्छ्वास राम के सहारे व्यक्त होते हों। सारे समाज में किसी न किसी तरह की राम-धुन आजीवन चलती हो। और यह परम्परा कश्मीर के रामवन से लेकर कन्याकुमारी के रामेश्वरम् तक एक समान, अनादिकाल से स्थापित हो। जहाँ राम से जुड़े—रामाधार, रामनिवास, रामजीवन, रामपुकार, रामउद्गार, रामानंद, सीताराम, रामास्वामी, रामचन्द्रन, रामकृष्णन, शिवरामन आदि—सैकड़ों नाम भारत के कोने-कोने में लोग अपनी सन्तानों का रखते हों। ऐसे देश में गम्भीरतापूर्वक कहना कि राम जैसा कुछ कभी न था, कि यह सब मिथक है, यह घातक सेक्युलर फण्डामेंटलिज्म के अतिरिक्त और क्या है जिस पर निर्मलजी ने दुःख व्यक्त किया था?

यह कहना पर्याप्त नहीं कि श्रीराम को मिथक बताकर हिन्दू भावना को आहत किया गया है। वैसे भी हिन्दुओं की भावना सामी मजहबों की तरह इतनी दुर्बल या अंधी नहीं जो बात-बात में आहत हो जाती हो। यहाँ ईसाई मिशनरी पिछले दो सौ वर्षों से शिव, राम, कृष्ण, दुर्गा, हनुमान आदि के लिए एक से एक कुत्सित बातें कहते रहे हैं। किन्तु इस पर पण्डित हिन्दू और किसान, पढ़-अपढ़ सभी हँसते रहे हैं। अब वही कुत्सा हिन्दू परिवारों में जन्मे, किन्तु कुशिक्षा पाए सेक्यूलर, वामपन्थी बुद्धिजीवी, अफसर नेता, पत्रकार कर रहे हैं, तो यह केवल हिन्दू आस्था का अपमान नहीं। बात अधिक गम्भीर और गहरी है, जिस पर विचार करना चाहिए।

उस शपथ-पत्र पर 'हाय-राम!' मचने के बाद कुछ लोग उन दोषियों को ढूँढ़ने लगे जिन्होंने सरकार के संस्कृति मन्त्रालय या भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण को दिग्भ्रमित किया। यदि सचमुच दोषियों को ढूँढ़ना चाहते हैं तो उन इतिहास पुस्तकों को पलटें जो तीस-पैंतीस वर्षों से स्कूल-कॉलेजों में पढ़ाई जा रही हैं। मार्क्सवादी इतिहासकारों, जो आपस में एक-दूसरे को 'एमिनेंट हिस्टोरियंस' कहते नहीं अघाते, की वह पुस्तकें जो केन्द्रीय अकादमियों, विश्वविद्यालयों पर राजनीतिक कब्जे के माध्यम से बच्चे-बच्चे तक पहुँचा दी गईं। जिन्हें अनजान विद्यार्थी और शिक्षक विद्वत् लेखन मानकर रटते-रटाते रहे हैं। जिन्हें घोटना उन युवाओं की विवशता भी है जो ऊँची सरकारी नौकरियों के लिए प्रतियोगी परीक्षाओं में बैठते हैं। हिन्दू-विरोधी पुस्तकें लिखने, उन्हें कोर्स में लगवाने से लेकर सेवा आयोगों की कुर्सियाँ हथियाने, और वहाँ अफसर उम्मीदवारों का चयन करने तक सेक्युलर-वामपन्थी गिरोहों का कब्जा रहा है। अतः परीक्षा में लिखने और इण्टरव्यू में उत्तर देने के लिए वही बातें बोलना अनिवार्य है, अन्यथा...। वामपन्थी प्रोफेसरों के इन गिरोहों को प्रसिद्ध समाजशास्त्री आशीष नन्दी ने सटीक नाम दिया है, 'एकेडेमिक गैंगस्टर्स!' राम, कृष्ण और पूरी हिन्दू सभ्यता को खारिज करनेवाले, और इस पर कालिख पोतने के असली दोषी यही हैं।

आज यदि कोई अफसर, सॉलिसिटर, पत्रकार या नेता रामायण को कपोल-कल्पना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहता है, तो इसके मूल अपराधी वे एकेडेमिक गैंगस्टर्स हैं जिन्होंने सरकारी तन्त्र का दुरुपयोग कर देश की कम से कम दो पीढ़ियों को बौद्धिक, आध्यात्मिक रूप से आत्महीन और पंगु बनाया। कुछ सेक्युलर अफसर, पत्रकार और राजनीतिक कार्यकर्तागण (एक्टिविस्ट) जिस उत्साह व रति-प्रवृत्ति से हिन्दू धर्म व सभ्यता पर नियमित आक्रमण करते हैं, वह कट्टर ईसाई मिशनरियों को भी लजाने वाला है। यह सब उन्होंने कहाँ से सीखा? स्कूल से लेकर विश्वविद्यालयों तक पढ़ाई जाने वाली इतिहास, राजनीति, साहित्य की पाठ्य-पुस्तकें पलटें। जो बातें पुरातत्त्व सर्वेक्षण के अभागे अफसर ने शपथपत्र में लिख डालीं, वही हमारे एमिनेंट इतिहासकारों अथवा एकेडेमिक गैंगस्टर्स ने लिख-लिख कर दशकों से प्रचारित की हैं जिसे भावी अफसरों, पत्रकारों, राजनीतिक कार्यकर्ताओं ने समय के साथ आत्मसात कर लिया। तब मूल दोषी कौन है?

सेक्युलर-वामपन्थी इतिहासकारों की इतिहास-दृष्टि भिन्न है तथा उन्हें अपनी व्याख्या देने का अधिकार है—यह तर्क दुर्बल या धूर्ततापूर्ण हैं। उस प्रपंच का अंग जिसके अन्तर्गत शिक्षा-संस्कृति को व्यवस्थित रूप से भ्रष्ट किया गया। भिन्न दृष्टि का तर्क तब मान्य होता, जब उसमें सुसंगतता होती। यदि इतिहास के प्रति किसी की भिन्न समझ ईमानदार हो, तो वह एक तरह के सभी मामलों में झलकेगी। किन्तु बार-बार देखा गया है कि उन्हीं इतिहासकारों की सम्पूर्ण तर्कप्रणाली बदल जाती है यदि प्रसंग, महापुरुष या ग्रन्थ इस्लाम संबंधित हो। न केवल, इतिहास वरन् वर्तमान राजनीतिक विषयों पर भी। इस दोहरेपन को अब अनेक वैसे टिप्पणीकार भी मानने लगे हैं जिन्हें हिन्दू धर्म या दृष्टि से कोई लगाव नहीं है।

किन्तु एकेडेमिक गैंगस्टर्स के अन्य विचारों को छोड़ अभी इतिहास प्रमाण और श्रीराम तक ही सीमित रहें। क्या वास्तव में उनके पास इतिहास प्रस्तुत करने का कोई भिन्न मानदण्ड है—अथवा वे इतिहासकार का भेस धरे राजनीतिकर्मी मात्र हैं? उन चार-छह बड़े मार्क्सवादी सेक्यूलर इतिहासकारों के लेखन, भाषण पर सरसरी नजर डालें। कुछ प्रस्थापनाएँ उनमें बार-बार मिलेंगी। उन प्रस्थापनाओं के पक्ष में दिए गए ऐतिहासिक प्रमाणों पर ध्यान दें, और फिर उनकी संख्या, स्रोत और गुरुता की तुलना उन प्रमाणों से करें जो रामायण, महाभारत के विवरणों के पक्ष में उपलब्ध हैं। तुरत स्पष्ट हो जाएगा कि जहाँ एक ओर किसी बात के पक्ष में सौ गुने वजन के असंख्य प्रमाणों को भी मिथक कहा जाता है, वहीं किसी अन्य बात के पक्ष में कहीं लिखी हुई मात्र एक पंक्ति को पक्का प्रमाण मान लिया जाता है—वह भी जबकि उसके विपरीत अनेक तथ्य उपलब्ध हों तब भी।

उदाहरण लें। सेक्यूलर-वामपन्थी इतिहासकारों ने अपनी पुस्तकों, भाषणों में निरन्तर दुहराया है कि इस्लामी शासक ही नहीं, हिन्दू राजा भी मन्दिर तोड़ा करते थे। कि यह तो 'पुरानी परम्परा' थी और मुस्लिम आक्रमणकारियों ने कुछ नया नहीं किया। और इस बात की पुष्टि में ये इतिहासकार क्या प्रमाण देते हैं? केवल कल्हण की एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंक्ति, वह भी पूरी बात छिपा कर अधूरी, अर्थात् झूठी! इसी तरह, उनकी दूसरी प्रिय प्रस्थापना है कि मुहम्मद गोरी या गजनवी ने धन के लोभ से भारत पर आक्रमण किया था और उनमें कोई इस्लामी, जिहादी भावना जैसी चीज़ न थी। अब इस बात के लिए उनके दिए प्रमाण ढूँढ़ें तो पता चलता है कि कोई प्रमाण देने के बदले अधिकांशतः केवल घोषणा और कठदलीली की गई है। वस्तुतः पिछले हजार वर्ष के भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में अनेक ऐसे विषय हैं जिन पर मार्क्सवादी इतिहासकार बार-बार बोलते हैं। किन्तु उसके लिए प्रस्तुत दीलीलों की तुलना रामसेतु के प्रचलित आख्यान के पक्ष में मिलनेवाले प्रमाणों से करें। तब स्पष्ट होगा कि ऐतिहासिक प्रमाण की भंगिमा केवल ढोंग है। सेक्यूलर इतिहासकारों ने ऐसा घोर दोहरापन अपनाया है कि उनकी ढिठाई पर दंग रह जाना पड़ता है।

दुनिया में मानक विद्वत्-लेखन में इतिहास के स्वीकार्य स्रोतों पर एकमतता है। उसमें प्रत्यक्षदर्शी विवरण, समकालीन और परवर्ती दस्तावेज, पुरातात्विक चिह्न, शिला-लेख, भित्ति-चित्र, शास्त्रीय ग्रन्थ, साहित्य, कला-कृतियाँ, प्रचलित लोक-आख्यान, स्थानों के नाम, स्मारकों से जुड़ी किंवदन्तियाँ आदि सभी कुछ को साक्ष्य माना जाता है। विशेषकर यदि उपर्युक्त में से कोई साक्ष्य-स्रोत दूसरे साक्ष्य-स्रोत की बात की पुष्टि करता हो, तब तो उस बात की प्रामाणिकता में कोई सन्देह ही नहीं रहता। इस प्रकार, यदि इतिहासलेखन के स्रोत, प्रमाण के मानक सिद्धान्त को ही आधार बनाएँ तो रामायण अथवा महाभारत के विवरणों के लिए भारत की धरती पर सहस्रों वर्षों से इतने प्रकार के भौतिक, साहित्यिक, शास्त्रीय, भौगोलिक, लोक-पारंपरिक प्रमाण उपलब्ध हैं जितने विश्व के किसी अन्य ऐतिहासिक आख्यान के लिए नहीं मिलते। किन्तु यही रामायण हमारे सेक्यूलर इतिहासकारों के लिए मिथक है! जबकि 'औरंगजेब जिंदा फकीर था' और 'सोवियत संघ में मजदूरों का राज था', ऐसी बातें बिना किसी प्रमाण की परवाह किए केवल प्रचार के बल पर ऐतिहासिक तथ्य के रूप में पढ़ाई जाती हैं!

क्या इससे स्पष्ट नहीं कि श्रीराम या रामसेतु के विरुद्ध ऐतिहासिक प्रमाण असली बात ही नहीं? जिन्हें सन्देह हो, वह रामायण के बारे में सीधे हमारे सेक्यूलर-वामपन्थी इतिहासकारों की एक छोटी-सी पुस्तिका पढ़ लें। *इतिहास का राजनीतिक दुरुपयोग* (1989) नामक यह प्रसिद्ध पुस्तिका जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग द्वारा प्रकाशित की गई थी। चार पृष्ठ की इस पुस्तिका के लेखक रोमिला थापर, बिपनचन्द्र, हरबंस मुखिया, के. एन. पणिक्कर, मृदुला मुखर्जी आदि 25 बड़े-छोटे सेक्यूलर-वामपन्थी इतिहासकार थे। कम्युनिस्ट पार्टी प्रेस से छपी यह पुस्तिका पूरे देश में खूब प्रसारित की गई थी। इसमें श्रीराम की ऐतिहासिकता पर प्रश्न उठाते हुए अनेक बातें थीं। इसका परीक्षण लेश-पात्र सन्देह नहीं रहने देता कि यह लोग इतिहासकार नहीं, राजनीतिक प्रचारक हैं। ऐसे प्रचारक जो भारतीय संस्कृति को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्मूल करने के लिए किसी हथकण्डे से नहीं सकुचाते।

वह पुस्तिका अयोध्या आन्दोलन की पृष्ठभूमि में लिखी गयी थी। उसमें निम्निलिखित दावे किए गए : (1) इसका कोई प्रमाण नहीं कि राम हुए भी थे या नहीं; (2) वर्तमान अयोध्या *रामायण वाली अयोध्या नहीं है;* (3) अयोध्या राम की जन्मभूमि है, इसका कोई प्रमाण नहीं; (4) अयोध्या का पहले कोई महत्त्व नहीं था, बाद में इसे महत्ता प्रदान की गई; (5) अयोध्या अनेक धर्मों का पावन स्थान रहा है, राम भक्त सम्प्रदाय के लिए इसका पावन बन जाना केवल पिछली चार सदी की बात है; (6) अयोध्या के हिन्दू तीर्थ के रूप में विकसित होने में मुस्लिम नवाबों के सहयोग-संरक्षण ने बड़ी भूमिका निभाई थी; (7) अयोध्या पर कोई एक धार्मिक समुदाय अपना एकछत्र पावन-स्थल होने का अधिकार नहीं कर सकता, आदि।

पच्चीस एमिनेंट इतिहासकारों द्वारा लिखी गई उक्त पुस्तिका प्रमाणों की दृष्टि से कितनी दयनीय थी, इसका इसी से अनुमान लगा लें कि आज उन पच्चीस महानुभावों में कोई भी उसका उत्तरदायित्व लेने के लिए तैयार नहीं! क्यों? क्योंकि प्रकाशन के बाद तुरत ही उसका खोखलापन उजागर हो गया था। शिमला विश्वविद्यालय के प्रो. ए. आर. खान ने अपने लेख 'इन द नेम ऑफ 'हिस्टरी' (*इण्डियन एक्सप्रेस, 25 फरवरी 1990)* में पुस्तिका में किए सभी दावों की धज्जियाँ उड़ा दीं। तब यह रहस्य सामने आया कि पुस्तिका लिखनेवाले अवगत थे कि उनके दावे सही नहीं! किंतु यह प्रकट हो जाने के बाद वे इस बात से ही भाग खड़े हुए कि मूल प्रश्न ऐतिहासिक प्रमाण का है। जबकि पुस्तिका ठीक इसी दावे से आरम्भ हुई थी! यह प्रसंग दिखाता है कि सेक्यूलर इतिहासकारों को इतिहास के प्रमाणों की चिन्ता ही नहीं है। उनका लक्ष्य हिन्दू-विरोध है, चाहे वह जैसे सधे। उनके अपने ही शब्दों में, "चाहे ऐतिहासिक प्रमाण कुछ भी हों।" (हरबंस मुखिया)। रामसेतु पर भी यही हो रहा है।

अतः श्रीराम और रामायण को मिथक कहने का दोषी कौन है, इसे गम्भीरता से पहचानें। ऐसे दावों से और कौन-कौन-सी प्रस्थापनाएँ जुड़ी हुई हैं, कौन-सी देशी-विदेशी शक्तियाँ उनके पीछे हैं, उनका अन्तिम या प्रधान उद्देश्य क्या है, उसके क्या परिणाम हुए और हो रहे हैं, आदि बातों पर गहराई से विचार किया जाना चाहिए। यदि ऐसा न हो तो जो चोट हुई है, वह तब तक दुहराई जाती रहेगी जब तक सामी मजहबों के हाथों भारतीय सभ्यता का अन्त नहीं हो जाता। अतएव प्रश्न हिन्दुओं की आस्था का नहीं, सभ्यतागत बैरियों से भारतीय सभ्यता की रक्षा का है। यह समझे बिना हिन्दू नेता और संगठन दिग्भ्रमित रहेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज भी खरे हैं तालाब

अनुपम मिश्र *

हमारे देश में पिछले हजारों वर्षों से जल संचयन एवं प्रबंधन की श्रेष्ठ प्रविधि काम में लायी जाती रही है। इसके साधन थे देश के कोने-कोने में, प्रायः हर गाँव में, बिखरे लाखों तालाब। इस देश में लगातार तालाब बनते रहे; उनकी मरम्मत होती रही; इस कार्य में समाज का स्वतः स्फूर्त सहयोग मिलता रहा। हमारे पास तालाब से जुड़ी तकनीक थी और उस तकनीक के जानकार लोग। यदि किसी को पारस मिल जाता या गड़ा खजाना तो वह उसका उपयोग तालाब बनाने, परोपकार के कार्यों में लगाने में करता था। तालाब बनाना सबसे अधिक परोपकार का काम हुआ करता था। तालाब बनवानेवालों को समाज संत बना देता था, उसका नाम सदा याद रखता था। हमारे देश में तालाब के लिए अनेक शब्द थे, उससे जुड़ी समृद्ध शब्द सम्पदा थी। तालाब बनाना एक धार्मिक कृत्य भी था; तालाब से जुड़े धार्मिक कृत्य तो थे ही। तालाब बनने पर जीवंत हो उठता था; उसका विवाह भी कराया जाता था। वर्षा ऋतु में तालाब लबालब भर जाते थे और सालभर वरुण देवता का प्रसाद बाँटा करते थे। तालाबों के चलते भू-जल का स्तर ऊँचा बना रहता था। नदियाँ प्रवाहित होती रहती थीं; वे सदानीरा बनी रहती थीं। कभी-कभार लम्बे समय की अनावृष्टि के चलते पड़नेवाले अकालों के अतिरिक्त अन्न-जल की कमी नहीं होने पाती थी। लेकिन यह स्थिति बनी न रह सकी। पिछले लगभग दो सौ वर्षों में हमने नये तालाब बनाना, लगभग बन्द सा कर दिया। पुराने तालाबों के रख-रखाव की अनदेखी की जाने लगी, नये किस्म की थोड़ी सी पढ़ाई पढ़ गये समाज ने हजारों वर्षों से चली आ रही व्यवस्था को लगभग ध्वस्त ही कर दिया।

*गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान, नयी दिल्ली के पर्यावरण कक्ष द्वारा **आज भी खरे हैं तालाब** शीर्षक से एक अत्यन्त बहुमूल्य पुस्तक प्रकाशित हुई है। पुस्तक की एक लाख से अधिक प्रतियाँ हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में अनूदित कराकर विभिन्न संस्थानों, नेशनल बुक ट्रस्ट तथा अन्य प्रकाशकों द्वारा 2004 तक प्रकाशित करायी जा चुकी थीं। मुझे लगता है कि इस पुस्तक की करोड़ों प्रतियाँ छपनी चाहिए तथा इसे विद्यालयों महाविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में स्थान पाना चाहिए। पुस्तक का आलेख अनुपम मिश्र ने लिखा है तथा शोध एवं संयोजन का कार्य शीना एवं मंजुश्री द्वारा हुआ है। पुस्तक के दो लेख हम इस अंक में प्रकाशित कर रहे हैं।*—**संपादक**

---

*गाँधी शांति प्रतिष्ठान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाल के किनारे रखा इतिहास

"अच्छे-अच्छे काम करते जाना," राजा ने कूड़न किसान से कहा था।

कूड़न बुढ़ान, सरमन और कौंराई थे चार भाई। चारों सुबह जल्दी उठकर अपने खेत पर काम करने जाते। दोपहर को कूड़न की बेटी आती, पोटली में खाना लेकर।

एक दिन घर से खेत जाते समय बेटी को एक नुकीले पत्थर से ठोकर लग गई। उसे बहुत गुस्सा आया। उसने अपनी दरांती से उस पत्थर को उखाड़ने की कोशिश की। पर लो, उसकी दरांती तो पत्थर पर पड़ते ही लोहे से सोने में बदल गई। और फिर बदलती जाती हैं इस लम्बे किस्से की घटनाएँ बड़ी तेजी से। पत्थर उठाकर लड़की भागी-भागी खेत पर आती है। अपने पिता और चाचाओं को सब कुछ एक साँस में बता देती है। चारों भाइयों की साँस भी अटक जाती है। जल्दी-जल्दी सब घर लौटते हैं। उन्हें मालूम पड़ चुका है कि उनके हाथ में कोई साधारण पत्थर नहीं है, पारस है। वे लोहे की जिस चीज़ को छूते हैं, वह सोना बनकर उनकी आँखों में चमक भर देती है।

पर आंखों की यह चमक ज़्यादा देर तक नहीं टिक पाती। कूड़न को लगता है कि देर-सबेर राजा तक यह बात पहुँच ही जाएगी और तब पारस छिन जाएगा। तो क्या यह ज्यादा अच्छा नहीं होगा कि वे खुद जाकर राजा को सब कुछ बता दें।

किस्सा आगे बढ़ता है। फिर जो कुछ घटता है, वह लोहे को नहीं बल्कि समाज को पारस से छुआने का किस्सा बन जाता है।

राजा न पारस लेता है न सोना। सब कुछ कूड़न को वापस देते हुए कहता है : "जाओ इससे अच्छे-अच्छे काम करते जाना, तालाब बनाते जाना।"

यह कहानी सच्ची है, ऐतिहासिक है—नहीं मालूम। पर देश के मध्य भाग में एक बहुत बड़े हिस्से में यह इतिहास को अंगूठा दिखाती हुई लोगों के मन में रमी हुई है। यहीं के पाटन नामक क्षेत्र में चार बहुत बड़े तालाब आज भी मिलते हैं और इस कहानी को इतिहास की कसौटी पर कसने वालों को लजाते हैं—चारों तालाब इन्हीं चारों भाइयों के नाम पर हैं। बुढ़ागर में बूढ़ा सागर है, मझगवां में सरमन सागर है, कुआंग्राम में कौंराई सागर है तथा कुंडम गाँव में कुंडम सागर। सन् 1907 में गजेटियर के माध्यम से इस देश का 'व्यवस्थित' इतिहास लिखने घूम रहे अंग्रेज़ ने भी इस इलाके में कई लोगों से यह किस्सा सुना था और फिर देखा-परखा था इन चार बड़े तालाबों को। तब भी सरमन सागर इतना बड़ा था कि उसके किनारे पर तीन बड़े-बड़े गाँव बसे थे और तीनों गाँव इस तालाब को अपने-अपने नामों से बांट लेते थे। पर वह विशाल ताल तीनों गाँवों को जोड़ता था और सरमन सागर की तरह स्मरण किया जाता था। इतिहास ने सरमन बुढ़ान, कौंराई और कूड़न को याद नहीं रखा लेकिन इन लोगों ने तालाब बनाए और इतिहास को उनके किनारे पर रख दिया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देश के मध्य भाग में, ठीक हृदय में धड़कने वाला यह किस्सा उत्तर-दक्षिण, पूरब-पश्चिम—चारों तरफ किसी न किसी रूप में फैला हुआ मिल सकता है और इसी के साथ मिलते हैं सैकड़ों हज़ारों तालाब। इनकी कोई ठीक गिनती नहीं है। इन अनगिनत तालाबों को गिनने वाले नहीं, इन्हें तो बनाने वाले लोग आते रहे और तालाब बनते रहे।

किसी तालाब को राजा ने बनाया तो किसी को रानी ने, किसी को किसी साधारण गृहस्थ ने, विधवा ने बनाया तो किसी को किसी असाधारण साधु-संत ने–जिस किसी ने भी तालाब बनाया, वह महाराज या महात्मा ही कहलाया। एक कृतज्ञ समाज तालाब बनाने वालों को अमर बनाता था और लोग भी तालाब बनाकर समाज के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते थे।

समाज और उसके सदस्यों के बीच इस विषय में एक ठीक तालमेल का दौर कोई छोटा दौर नहीं था। एकदम महाभारत और रामायण काल के तालाबों को अभी छोड़ दें तो भी कहा जा सकता है कि कोई पाँचवीं सदी से पन्द्रहवीं सदी तक देश के इस कोने से उस कोने तक तालाब बनते ही चले आए थे। कोई एक हजार वर्ष तक अबाध गति से चलती रही इस परंपरा में पन्द्रहवीं सदी के बाद कुछ बाधाएँ आने लगी थीं, पर उस दौर में भी यह धारा पूरी तरह से रुक नहीं पाई, सूख नहीं पाई। समाज ने जिस काम को इतने लंबे समय तक बहुत व्यवस्थित रूप में किया था, उस काम को उथल-पुथल का वह दौर भी पूरी तरह से मिटा नहीं सका। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के अंत तक भी जगह-जगह पर तालाब बन रहे थे।

लेकिन फिर बनाने वाले लोग धीरे-धीरे कम होते गए। गिनने वाले कुछ जरूर आ गए पर जितना बड़ा काम था, उस हिसाब से गिनने वाले बहुत ही कम थे और कमजोर भी। इसलिए ठीक गिनती भी कभी हो नहीं पाई। धीरे-धीरे टुकड़ों में तालाब गिने गए, पर सब टुकड़ों का कुल मेल कभी बिठाया नहीं गया। लेकिन इन टुकड़ों की झिलमिलाहट पूरे समग्र चित्र की चमक दिखा सकती है।

लबालब भरे तालाबों को सूखे आँकड़ों में समेटने की कोशिश किस छोर से शुरू करें? फिर से देश के बीच के भाग में वापस लौटें।

आज के रीवा ज़िले का जोड़ौरी गाँव है, कोई 2500 की आबादी का, लेकिन इस गाँव में 12 तालाब हैं। इसी के आसपास है ताल मुकेदान, आबादी है बस कोई 1500 की, पर 10 तालाब हैं गाँव में। हर चीज़ का औसत निकालने वालों के लिए यह छोटा-सा गाँव आज भी 150 लोगों पर एक अच्छे तालाब की सुविधा जुटा रहा है। जिस दौर में ये तालाब बने थे, उस दौर में आबादी और भी कम थी। यानी तब ज़ोर इस बात पर था कि अपने हिस्से में बरसने वाली हरेक बूंद इकट्ठी कर ली जाए और संकट के समय में आसपास के क्षेत्रों में भी उसे बांट लिया जाए। वरुण देवता का प्रसाद गाँव अपनी अंजुली में भर लेता था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और जहाँ प्रसाद कम मिलता है? वहाँ तो उसका एक कण, एक बूंद भी भला कैसे बगरने दी जा सकती थी। देश में सबसे कम वर्षा के क्षेत्र जैसे राजस्थान और उसमें भी सबसे सूखे माने जाने वाले थार के रेगिस्तान में बसे हज़ारों गाँवों के नाम ही तालाब के आधार पर मिलते हैं। गाँवों के नाम के साथ ही जुड़ा है 'सर'। सर यानी तालाब। सर नहीं तो गाँव कहाँ? यहाँ तो आप तालाब गिनने के बदले गाँव ही गिनते जाएँ और फिर इस जोड़ में 2 या 3 का गुणा कर दें।

जहाँ आबादी में गुणा हुआ और शहर बना, वहाँ भी पानी न तो उधार लिया गया, न आज के शहरों की तरह कहीं और से चुरा कर लाया गया। शहरों ने भी गाँवों की तरह ही अपना इंतज़ाम खुद किया। अन्य शहरों की बात बाद में, एक समय की दिल्ली में कोई 350 छोटे-बड़े तालाबों का ज़िक्र मिलता है।

गाँव से शहर, शहर से राज्य पर आएँ। फिर रीवा रियासत लौटें। आज के मापदंड से यह पिछड़ा हिस्सा कहलाता है। लेकिन पानी के इंतज़ाम के हिसाब से देखें तो पिछली सदी में वहाँ सब मिलाकर कोई 5000 तालाब थे।

नीचे दक्षिण के राज्यों को देखें तो आज़ादी मिलने से कोई सौ बरस पहले तक मद्रास प्रेसिडेंसी में 53,000 तालाब गिने गए थे। वहाँ सन् 1885 में सिर्फ 14 ज़िलों में कोई 43,000 तालाबों पर काम चल रहा था। इसी तरह मैसूर राज्य में उपेक्षा के ताज़े दौर में, सन् 1980 तक में कोई 39,000 तालाब किसी न किसी रूप में लोगों की सेवा कर रहे थे।

इधर-उधर बिखरे ये सारे आँकड़े एक जगह रख कर देखें तो कहा जा सकता है कि इस सदी के प्रारम्भ तक आषाढ़ के पहले दिन से भादों के अंतिम दिन तक कोई 11 से 12 लाख तालाब भर जाते थे—और अगले जेठ तक वरुण देवता का कुछ न कुछ प्रसाद बाँटते रहते थे।

क्योंकि लोग अच्छे-अच्छे काम करते जाते थे।

मृगतृष्णा झुठलाते तालाब

देश भर में पानी का काम करने वाला यह माथा रेगिस्तान में मृगतृष्णा से घिर गया था।

सबसे गरम और सबसे सूखा क्षेत्र है यह। साल भर में कोई 3 इंच से 12 इंच पानी बरसता है यहाँ। जैसलमेर, बाड़मेर और बीकानेर के कुछ भागों में कभी-कभी पूरे वर्ष में बस इतना ही पानी गिरता है, जितना देश के अन्य भागों में एक दिन में गिर जाता है। सूरज भी यहीं सबसे ज़्यादा चमकता है और अपनी पूरी तेज़ी के साथ। गरमी की ऋतु लगता है, यहीं से देश में प्रवेश करती है और बाकी राज्यों में अपनी हाजिरी लगाकर फिर यहीं रम जाती है। तापमान 50 अंश न छू ले तो मरुभूमि के लोगों के मन में उसका सम्मान कम हो जाता है। भूजल भी यहीं सबसे गहरा है। जल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अभाव को ही मरुभूमि का स्वभाव माना गया है। लेकिन यहाँ के समाज ने इसे एक अभिशाप की तरह नहीं, बल्कि प्रकृति के एक बड़े खेल के हिस्से की तरह देखा और फिर वह एक कुशल पात्र की तरह सजधज कर उस खेल में शामिल हो गया।

चारों तरफ मृगतृष्णा से घिरी तपती मरुभूमि में जीवन की, एक जीवंत संस्कृति की नींव रखते समय इस समाज ने पानी से संबंधित छोटी से छोटी बात को देखा-परखा होगा। पानी के मामले में हर विपरीत परिस्थिति में उसने जीवन की रीत खोजने का प्रयत्न किया और मृगतृष्णा को झुठलाते हुए जगह-जगह तरह-तरह के प्रबंध किए।

जहाँ तालाब नहीं, पानी नहीं, वहाँ गाँव नहीं। तालाब का काम पहले होगा तब उसको आधार बनाकर गाँव बसेगा। मरुभूमि में सैकड़ों गाँवों का नामकरण वहाँ बने तालाबों से जुड़ा है। बीकानेर ज़िले की बीकानेर तहसील में 64, कोलायत तहसील में 20 और नोखा क्षेत्र में 123 गाँवों के नाम 'सर' पर आधारित हैं। एक तहसील लूणकरणसर के नाम में ही सर है और यहाँ अन्य 45 गाँवों का नामकरण सर पर है। बचे जिन गाँवों के नाम में सर नहीं है, उन गाँवों में भी तालाब ज़रूर मिलेंगे। हाँ दो-चार ऐसे भी गाँव हैं, जिनके नाम में सर है लेकिन वहाँ सरोवर नहीं है। गाँव में सरोवर बन जाए—ऐसी इच्छा गाँव के नामकरण के समय रहती ही थी, ठीक उसी तरह जैसे बेटे का नाम रामकुमार, बेटी का नाम पार्वती आदि रखते समय माता-पिता अपनी संतानों में इनके गुणों की कामना कर लेते हैं।

अधिकांश गाँवों में पूरा किया जा चुका कर्तव्य और जहाँ कहीं किसी कारण से पूरा न हो पाए, उसे निकट भविष्य में पूरा होते देखने की कामना ने मरुभूमि के समाज को पानी के मामले में एक पक्के संगठन में ढाल दिया था।

राजस्थान के ग्यारह ज़िलों—जैसलमेर, बाड़मेर, जोधपुर, पाली, बीकानेर, चुरु, श्रीगंगानगर, झुंझुनूं, जालौर, नागौर और सीकर में मरुस्थल का विस्तार मिलता है। लेकिन मरुस्थल अपने को समेट कर सघन बनता है जैसलमेर, बाड़मेर और बीकानेर में। यहीं देश की सबसे कम वर्षा है, सबसे ज़्यादा गरमी है, रेत की तेज़ आँधी है और 'पंख' लगाकर यहाँ से वहाँ उड़ने वाले रेत के विशाल टीले, धोरे हैं। इन तीन जिलों में जल का सबसे ज़्यादा अभाव होना चाहिए था। लेकिन मरुभूमि के इन गाँवों का वर्णन करते समय जनगणना की रिपोर्ट को भी भरोसा नहीं हो पाता कि यहाँ शत-प्रतिशत गाँवों में पानी का प्रबंध है। और यह प्रबंध अधिकांश गाँवों में मरुभूमि के समाज ने अपने दम पर किया था। यह इतना मजबूत था कि उपेक्षा के ताजे लंबे दौर के बाद भी यह किसी न किसी रूप में टिका हुआ है।

गजेटियर में जैसलमेर का वर्णन बहुत डरावना है : 'यहाँ एक भी बारामासी नदी नहीं है। भूजल 125 से 240 फुट और कहीं-कहीं तो 400 फुट नीचे है। वर्षा अविश्वसनीय रूप से कम है, सिर्फ 16.4 सेंटीमीटर। पिछले 70 वर्षों के अध्ययन के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसार वर्ष के 365 दिनों में से 355 दिन सूखे गिने गए हैं। यानी 120 दिन की वर्षा ऋतु यहाँ अपने संक्षिप्ततम रूप में केवल 10 दिन के लिए आती है।

लेकिन यह सारा हिसाब-किताब कुछ नए लोगों का है। मरुभूमि के समाज ने संभवतः 10 दिन की वर्षा में करोड़ों बूंदों को देखा और फिर उनको एकत्र करने का काम घर-घर में, गाँव-गाँव में और अपने शहरों तक में किया। इस तपस्या का परिणाम सामने है :

जैसलमेर ज़िले में आज 515 गाँव हैं। इनमें से 53 गाँव किसी न किसी वजह से उजड़ चुके हैं। आबाद हैं 462। इनमें से सिर्फ एक गाँव को छोड़ हर गाँव में पीने के पानी का प्रबंध है। उजड़ चुके गाँवों तक में यह प्रबंध कायम मिलता है। सरकार के आँकड़ों के अनुसार जैसलमेर के 99.78 प्रतिशत गाँवों में तालाब, कुएँ और अन्य स्रोत हैं। इनमें नल, ट्यूबवेल जैसे नए इंतज़ाम कम ही हैं। पता नहीं 1.73 प्रतिशत गाँव का क्या अर्थ होता है। पर इस सीमांत ज़िले के 515 गाँवों में से 'इतने' ही गाँवों में बिजली है। इसका अर्थ है कि बहुत-सी जगह ट्यूबवेल बिजली से नहीं, डीज़ल तेल से चलते हैं। तेल बाहर दूर से आता है। तेल का टैंकर न आ पाए तो पंप नहीं चलेंगे, पानी नहीं मिलेगा। सब कुछ ठीक-ठीक चलता रहा तो आगे-पीछे ट्यूबवेल से जलस्तर घटेगा ही। उसे जहाँ के तहाँ थामने का कोई तरीका अभी तो है नहीं।

एक बार फिर दुहरा लें कि मरुभूमि के सबसे विकट माने गए इस क्षेत्र में 99.78 प्रतिशत गाँवों में पानी का प्रबंध है और अपने दम पर है। इसी के साथ उन सुविधाओं को देखें जिन्हें जुटाना नए समाज की नई संस्थाओं, मुख्यतः सरकार की जिम्मेदारी मानी जाती है : पक्की सड़कों से अभी तक केवल 19 प्रतिशत गाँव जुड़ पाए हैं, डाक आदि की सुविधा 30 प्रतिशत तक फैल पाई है। चिकित्सा आदि की देखरेख 9 प्रतिशत तक पहुँच सकी है। शिक्षा सुविधा इन सबकी तुलना में थोड़ी बेहतर है—50 प्रतिशत गाँवों में। फिर से पानी पर आएँ—515 गाँवों में 675 कुएँ और तालाब हैं। इसमें तालाबों की संख्या 294 है।

जिसे नए लोगों ने निराशा का क्षेत्र माना वहाँ सीमा के छोर पर, पाकिस्तान से थोड़ा पहले आसूताल यानी आस का ताल है। जहाँ तापमान 50 अंश छू लेता है वहाँ सितलाई यानी शीतल तलाई है और जहाँ बादल सबसे ज्यादा 'धोखा' देते हैं वहाँ बदरासर भी है। लेकिन ऐसी बात नहीं है कि मरुभूमि में पानी का कष्ट नहीं रहा है। लेकिन यहाँ समाज ने उस कष्ट का रोना नहीं रोया। उसने इस कष्ट को कुछ सरल बना लेने की आस रखी और उस आस के आधार पर अपने को इस तरह के संगठन में ढाल लिया कि एक तरफ पानी की हर बूँद का संग्रह किया और दूसरी तरफ उसका उपयोग खूब किफायत और समझदारी से किया।

संग्रह और किफायत के इस स्वभाव को न समझ पाने वाले गजेटियर और जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, उस राज और समाज को यह क्षेत्र 'वीरान, वीभत्स,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्फूर्तिहीन और जीवनहीन' दिखता है। लेकिन गजेटियर में यह सब लिख जाने वाला भी जब घड़सीसर पहुँचा है तो 'वह भूल जाता है कि वह मरुभूमि की यात्रा पर है।'

कागज़ में, पर्यटन के नक्शों में जितना बड़ा शहर जैसलमेर है, लगभग उतना ही बड़ा तालाब घड़सीसर है। कागज़ की तरह मरुभूमि में भी ये एक दूसरे से सटे खड़े हैं—बिना घड़सीसर के जैसलमेर नहीं होता। लगभग 800 बरस पुराने इस शहर के कोई 700 बरस, उसका एक-एक दिन घड़सीसर की एक-एक बूँद से जुड़ा रहा है।

रेत का एक विशाल टीला सामने खड़ा है। पास पहुँचने पर भी समझ नहीं आएगा कि यह टीला नहीं, घड़सीसर की ऊँची-पूरी, लंबी-चौड़ी पाल है। जरा और आगे बढ़ें तो दो बुर्ज और पत्थर पर सुन्दर नक्काशी के पाँच झरोखों और दो छोटी और एक बड़ी पोल का प्रवेश द्वार सिर उठाए खड़ा दिखेगा। बड़ी और छोटी पोलों के सामने नीला आकाश झलकता है। जैसे-जैसे कदम आगे बढ़ते जाते हैं, प्रवेश द्वार से दिखने वाली झलक में नए-नए दृश्य जुड़ते जाते हैं। यहाँ तक पहुँच कर समझ में आएगा कि पोल से जो नीला आकाश दिख रहा था, वह तो सामने फैला नीला पानी है। फिर दाईं-बाईं तरफ सुन्दर पक्के घाट, मंदिर, पठियाल, बारादरी, अनेक स्तंभों से सजे बरामदे, कमरे तथा और न जाने क्या-क्या जुड़ जाता है। हर क्षण बदलने वाले दृश्य पर जब तालाब के पास पहुँच कर विराम लगता है, तब आँखें सामने दिख रहे सुंदर दृश्य पर कहीं एक जगह टिक नहीं पातीं। हर क्षण पुललियाँ घूम-घूम कर उस विचित्र दृश्य को नाप लेना चाहती हैं।

पर आँखें इसे नाप नहीं पातीं। तीन मील लंबे और कोई एक मील चौड़े आगर वाले इस तालाब का आगौर 120 वर्गमील क्षेत्र में फैला हुआ है। इसे जैसलमेर के राजा महारावल घड़सी ने विक्रम संवत् 1391 में यानी सन् 1335 में बनाया था। दूसरे राजा तालाब बनवाया करते थे, लेकिन घड़सी ने तो इसे खुद बनाया था। महारावल रोज़ ऊँचे किले से उतर कर यहाँ आते और खुदाई, भराई आदि हरेक काम की देखरेख करते। यों वह दौर जैसलमेर राज के लिए भारी उथल-पुथल का दौर था। भाटी वंश गद्दी की छीनाझपटी के लिए भीतरी कलह, षड्यंत्र और संघर्ष से गुजर रहा था। मामा अपने भानजे पर घात लगाकर आक्रमण कर रहा था, सगे भाई को देश निकाला दिया जा रहा था तो कहीं किसी के प्याले में ज़हर घोला जा रहा था।

राजवंश में आपसी कलह तो थी ही, उधर राज और शहर जैसलमेर भी चाहे जब देशी-विदेशी हमलावरों से घिर जाता था और जब-तब पुरुष वीर गति को प्राप्त होते और स्त्रियाँ जौहर की ज्वाला में अपने को स्वाहा कर देतीं।

ऐसे धधकते दौर में खुद घड़सी ने राठौरों की सेना की मदद से जैसलमेर पर अधिकार किया था। इतिहास की किताबों में घड़सी का काल जय-पराजय, वैभव-पराभव, मौत के घाट और समर सागर जैसे शब्दों से भरा पड़ा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब भी यह सागर बन रहा था। वर्षों की इस योजना पर काम करने के लिए घड़सी ने अपार धीरज और अपार साधन जुटाए और फिर इसकी सबसे बड़ी कीमत भी चुकाई थी। पाल बन रही थी, महारावल पाल पर खड़े होकर सारा काम देख रहे थे। राज परिवार में चल रहे भीतरी षड्यंत्र ने पाल पर खड़े घड़सी पर घातक हमला किया। राजा की चिता पर रानी का सती हो जाना उस समय का चलन था। लेकिन रानी विमला सती नहीं हुईं। राजा का सपना रानी ने पूरा किया।

रेत के इस सपने में दो रंग हैं। नीला रंग है पानी का और पीला रंग है तीन-चार मील के तालाब की कोई आधी गोलाई में बने घाट, मंदिरों, बुर्ज और बारादरी का। लेकिन यह सपना दिन में दो बार बस केवल एक ही रंग में रंगा दिखता है। उगते और डूबते समय सूरज घड़सीसर में मन-भर पिघला सोना उंड़ेल देता है। मन-भर यानी माप-तोल वाला मन नहीं, सूरज का मन भर जाए इतना!

लोगों ने भी घड़सीसर में अपने-अपने सामर्थ्य से सोना डाला था। तालाब राजा का था पर प्रजा उसे सँवारती, सजाती चली गई। पहले दौर में बने मंदिर, घाट और जलमहल का विस्तार होता गया। जिसे जब भी जो कुछ अच्छा सूझा, उसे उसने घड़सीसर में न्यौछावर कर दिया। घड़सीसर राजा-प्रजा की उस जुगलबंदी में एक अद्‌भुत गीत बन गया था।

एक समय घाट पर पाठशालाएँ भी बनीं। इनमें शहर और आसपास के गाँवों के छात्र आकर रहते थे और वहीं गुरु से ज्ञान पाते थे। पाल पर एक तरफ छोटी-छोटी रसोइयाँ और कमरे भी हैं। दरबार में, कचहरी में जिनका कोई काम अटकता, वे गाँवों से आकर यहीं डेरा जमाते। नीलकंठ और गिरधारी के मंदिर बने। यज्ञशाला बनी। जमालशाह पीर की चौकी बनी। सब एक घाट पर। काम-धंधे के कारण मरुभूमि छोड़कर देश में कहीं और जा बसे परिवारों का मन भी घड़सीसर में अटका रहता। इसी क्षेत्र से मध्य प्रदेश के जबलपुर में जाकर रहने लगे सेठ गोविंददास के पुरखों ने यहाँ लौटकर पठसाल पर एक भव्य मंदिर बनवाया था।

पानी तो शहर-भर का यहीं से जाता था। यों तो दिन-भर यहाँ से पानी भरा जाता लेकिन सुबह और शाम तो सैकड़ों पनिहारिनों का मेला लगता। यह दृश्य शहर में नल आने से पहले तक रहा है। सन् 1919 में घड़सीसर पर उम्मेदसिंहजी महेता की एक ग़ज़ल ऐसे दृश्यों का बहुत सुंदर वर्णन करती है। भादों की कजली-तीज के मेले पर सारा शहर सज-धज कर घड़सीसर आ जाता। सिर्फ नीले और पीले रंग के इस तालाब में तब प्रकृति के सब रंग छिटक जाते।

घड़सीसर से लोगों का प्रेम एकतरफा नहीं था। लोग घड़सीसर आते और घड़सीसर भी लोगों तक जाता था और उनके मन में बस जाता। दूर सिंध में रहने वाली टीलों नामक गणिका के मन ने संभवतः ऐसे ही किसी क्षण में कुछ निर्णय ले लिए थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तालाब पर मंदिर, घाट-पाट सभी कुछ था। ठाट में कोई कमी नहीं थी। फिर भी टीलों को लगा कि इतने सुनहरे सरोवर का एक सुनहरा प्रवेश द्वार भी होना चाहिए। टीलों ने घड़सीसर के पश्चिमी घाट पर 'पोल' यानी प्रवेश द्वार बनाना तय कर लिया। पत्थर पर बारीक नक्काशी वाले सुंदर झरोखों से युक्त विशाल द्वार अभी पूरा हो ही रहा था कि कुछ लोगों ने महाराज के कान भरे, "क्या आप एक गणिका द्वारा बनाए गए प्रवेश द्वार से घड़सीसर में प्रवेश किया करेंगे।" विवाद शुरू हो गया। उधर द्वार पर काम चलता रहा। एक दिन राजा ने इसे गिराने का फैसला ले लिया। टीलों को खबर लगी। रातों-रात टीलों ने प्रवेश द्वार की सबसे ऊँची-मंजिल में मंदिर बनवा दिया। महारावल ने अपना निर्णय बदला। तब से पूरा शहर इसी सुन्दर पोल से तालाब में प्रवेश करता है और बड़े जतन से इसे टीलों के नाम से ही याद रखे है।

टीलों की पोल के ठीक सामने तालाब की दूसरी तरफ परकोटेनुमा एक गोल बुर्ज है। तालाबों के बाहर तो अमराई, बगीचे आदि होते ही हैं पर इस बुर्ज में तालाब के भीतर बगीची बनी है, जिसमें लोग गोठ करने, यानी आनंद-मंगल मनाने आते रहते थे। इसी के साथ पूरब में एक और बड़ा गोल परकोटा है। इसमें तालाब की रक्षा करने वाली फौज की टुकड़ी रहती थी। देशी विदेशी शत्रुओं से घिरा राज पूरी आबादी को पानी देने वाले इस तालाब की सुरक्षा का भी पक्का प्रबंध रखता था।

मरुभूमि में पानी कितना भी कम बरसता हो, घड़सीसर का आगौर अपने मूलरूप में इतना बड़ा था कि वह वहाँ की एक-एक बूंद को समेट कर तालाब को लबालब भर देता था। तब तालाब की रखवाली फौज की टुकड़ी के हाथ से निकल कर नेष्टा के हाथ में आ जाती। नेष्टा चलता और इतने विशाल तालाब को तोड़ सकने वाले अतिरिक्त पानी को बाहर बहाने लगता। लेकिन यह 'बहाना' भी बहुत विचित्र था। जो लोग एक-एक बूंद एकत्र कर घड़सीसर भरना जानते थे, वे उसके अतिरिक्त पानी को केवल पानी नहीं जलराशि मानते थे। नेष्टा से निकला पानी आगे एक और तालाब में जमा कर लिया जाता था। नेष्टा तब भी नहीं रुकता तो इस तालाब का नेष्टा भी चलने लगता। फिर उससे भी एक और तालाब भर जाता। यह सिलसिला, आसानी से भरोसा नहीं होगा, पूरे नौ तालाबों तक चलता रहता। नौताल, गोविंदसर, जोशीसर, गुलाबसर, भाटियासर, सूदासर, मोहतासर, रतनसर और फिर किसनघाट। यहाँ तक पहुँचने पर भी पानी बचता तो किसनघाट के बाद उसे कई वेरियों में यानी छोटे-छोटे कुएँनुमा कुंडों में भर कर रख लिया जाता। पानी की एक-एक बूंद जैसे शब्द और वाक्य घड़सीसर से किसनघाट तक के सात मील लंबे क्षेत्र में अपना ठीक अर्थ पाते थे।

लेकिन आज जिनके हाथ में जैसलमेर है, राज है, वे घड़सीसर का ही अर्थ भूल चले हैं तो उसके नेष्टा से जुड़े नौ तालाबों की याद उन्हें भला कैसे रहेगी! घड़सीसर के आगौर में वायुसेना का हवाई अड्डा बन गया है। इसलिए आगौर के इस हिस्से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का पानी अब तालाब की ओर न आकर कहीं और बह जाता है। नेष्टा और उसके रास्ते में पड़ने वाले नौ तालाबों के आसपास भी बेतरतीब बढ़ते शहर के मकान, नई गृह निर्माण समितियाँ, और तो और पानी का ही नया काम करने वाला इंदिरा नहर प्राधिकरण का दफ्तर, उसमें काम करने वालों की कालोनी बन गई है।

घाट, पठसाल, पाठशालाएँ, रसोई, बरामदे, मंदिर ठीक सार-सँभाल के अभाव में धीरे-धीरे टूट चले हैं। आज शहर ल्हास का वह खेल भी नहीं खेलता, जिसमें राजा-प्रजा सब मिलकर घड़सीसर की सफाई करते थे, साद निकालते थे। तालाब के किनारे स्थापित पत्थर का जलस्तंभ भी थोड़ा-सा हिलकर एक तरफ झुक गया है। रखवाली करने वाली फौज की टुकड़ी के बुर्ज के पत्थर भी ढह गए हैं।

फिर भी 668 बरस पुराना घड़सीसर मरा नहीं है। बनाने वालों ने उसे समय के थपेड़े सह जाने लायक मज़बूती दी थी। रेत की आंधियों के बीच अपने तालाबों की उम्दा सार-सँभाल की परंपरा डालने वालों को शायद इसका अंदाज नहीं था कि कभी उपेक्षा की आँधी भी चलेगी। लेकिन इस आँधी को भी घड़सीसर और उसे आज भी चाहने वाले लोग बहुत धीरज के साथ सह रहे हैं। तालाब पर पहरा देने वाली फौजी टुकड़ी आज भले ही नहीं हो, लोगों के मन का पहरा आज भी है।

पहली किरन के साथ मंदिरों की घंटियाँ बजती हैं। दिन भर लोग घाटों पर आते-जाते हैं। कुछ लोग यहाँ घंटों मौन बैठे-बैठे घड़सीसर को निहारते रहते हैं तो कुछ गीत गाते और रावण हत्था, एक तरह की सारंगी बजाते हुए मिलते हैं।

पनिहारिनें आज भी घाटों पर आती हैं। पानी ऊँटगाड़ियों से भी जाता है और दिन में कई बार ऐसी टैंकर गाड़ियाँ भी यहाँ देखने मिल जाती हैं, जिनमें घड़सीसर से पानी भरने के लिए डीज़ल पंप तक लगा रहता है।

घड़सीसर आज भी पानी दे रहा है। और इसीलिए सूरज आज भी उगते और डूबते समय घड़सीसर में मन-भर सोना उंड़ेल जाता है।

घड़सीसर मानक बन चुका था। उसके बाद किसी और तालाब को बनाना बहुत कठिन रहा होगा। पर जैसलमेर में हर सौ-पचास बरस के अंतर पर तालाब बनते रहे—एक से एक, मानक के साथ मोती की तरह गुँथे हुए।

घड़सीसर से कोई 175 बरस बाद बना था जैतसर। यह था तो बंधनुमा तालाब ही पर अपने बड़े बगीचे के कारण बाद में बस इसे 'बड़ा बाग' की तरह ही याद रखा गया। इस पत्थर के बाँध ने जैसलमेर के उत्तर की तरफ खड़ी पहाड़ियों से आने वाला सारा पानी रोक लिया है। एक तरफ जैतसर है और दूसरी तरफ उसी पानी से सिंचित बड़ा बाग। दोनों का विभाजन करती है बाँध की दीवार। लेकिन यह दीवार नहीं, अच्छी-खासी चौड़ी सड़क लगती है जो घाटी पार कर सामने की पहाड़ी तक जाती है। दीवार के नीचे बनी सिंचाई नाली का नाम है राम नाल।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राम नाल नहर, बाँध की तरफ सीढ़ीनुमा है। जैतसर में पानी का स्तर ज़्यादा हो या कम, नहर का सीढ़ीनुमा ढाँचा पानी को बड़े बाग की तरफ उतारता रहता है। बड़ा बाग में पहुँचने पर राम नाल राम नाम की तरह कण-कण में बँट जाती है। नहर के पहले छोर पर एक कुआँ भी है। पानी सूख जाए, नहर बंद हो जाए तो रिसन से भरे कुएँ का उपयोग होने लगता है। उधर बाँध के उस पार आगर का पानी सूखते ही उसमें गेहूँ बो दिया जाता है। तब बाँध दीवार के दोनों ओर बस हरा ही हरा दिखता है।

हरा बाग सचमुच बहुत बड़ा है। विशाल और ऊँची अमराई और उसके साथ-साथ तरह-तरह के पेड़-पौधे। अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में, वहाँ भी प्रायः नदी के किनारे मिलने वाला अर्जुन का पेड़ भी बड़ा बाग में मिल जाएगा। बड़ा बाग में सूरज की किरणें पेड़ों की पत्तियों में अटकी रहती हैं, हवा चले, पत्तियाँ हिलें तो मौका पाकर किरणें नीचे छन-छन कर टपकती रहती हैं। बाँध के उस पार पहाड़ियों पर राजघराने का श्मशान है। यहाँ दिवंगतों की स्मृति में असंख्य सुंदर छतरियाँ बनी हैं।

अमर सागर घड़सीसर से 325 साल बाद बना। किसी और दिशा में बरसने वाले पानी को रोकना मुख्य कारण रहा ही होगा लेकिन अमर सागर बनाने वाले संभवतः यह भी जताना चाहते थे कि उपयोगी और सुंदर तालाबों को बनाते रहने की इच्छा अमर है। पत्थर के टुकड़ों को जोड़-जोड़ कर कितना बेजोड़ तालाब बन सकता है—अमर सागर इसका अद्भुत उदाहरण है। तालाब की चौड़ाई की एक भुजा सीधी खड़ी ऊँची दीवार से बनाई गई है। दीवार पर जुड़ी सुंदर सीढ़ियाँ झरोखों और बुर्ज में से होती हुई नीचे तालाब में उतरती हैं। इसी दीवार के बड़े सपाट भाग में अलग-अलग ऊँचाई पर पत्थर के हाथी-घोड़े बने हैं। ये सुंदर सजी-धजी मूर्तियाँ तालाब का जलस्तर बताती हैं। अमर सागर का आगौर इतना बड़ा नहीं है कि वहाँ से साल भर का पानी जमा हो जाए। गर्मी आते-आते तालाब सूखने लगता। इसका अर्थ था कि जैसलमेर के लोग इतने सुंदर तालाब को उस मौसम में भूल जाएँ, जिसमें पानी की सबसे ज्यादा ज़रूरत रहती!

जैसलमेर के शिल्पियों ने यहाँ कुछ ऐसे काम किए, जिनसे शिल्पशास्त्र में कुछ नए पन्ने जुड़ सकते हैं। यहाँ तालाब के तल में सात सुंदर बेरियाँ बनाई गईं। बेरी यानी एक तरह की बावड़ी। यह पगबाव भी कहलाती है। पगबाव शब्द पगवाह से बना है। वाह या बाय या बावड़ी। पगबाव यानी जिसमें पानी तक पग, पग पैदल ही पहुँच जा सके। तालाब का पानी सूख जाता है, लेकिन उसके रिसाव से भूमि का जल स्तर ऊपर उठ जाता है। इसी साफ छने पानी से बेरियाँ भरी रहती हैं। बेरियाँ भी ऐसी बनी हैं कि ग्रीष्म में अपना जल खो बैठा अमर सागर अपनी सुंदरता नहीं खो देता। सभी बेरियों पर पत्थर के सुंदर चबूतरे, स्तंभ, छतरियाँ और नीचे उतरने के लिए कलात्मक सीढ़ियाँ। गर्मी में, बैसाख में भी मेला भरता है और बरसात में भादों में भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूखे अमर सागर में ये छतरीदार बेरियाँ किसी महल के टुकड़े सी लगती हैं और जब यह भर जाता है तो लगता है कि तालाब में छतरीदार बड़ी-बड़ी नावें तैर रही हैं।

जैसलमेर मरुभूमि का एक ऐसा राज रहा है, जिसका व्यापारी-दुनिया में डंका बजता था। फिर मंदी का दौर भी आया पर जैसलमेर और उसके आसपास तालाब बनाने का काम मंदा नहीं पड़ा। गजरूप सागर, मूल सागर, गंगा सागर, गुलाब तालाब और ईसरलालजी का तालाब—एक के बाद एक तालाब बनते चले गए। यह कड़ी अंग्रेज़ों के आने तक टूटी नहीं थी।

इस कड़ी की मज़बूती सिर्फ राजाओं, रावलों, महारावलों पर नहीं छोड़ी गई थी। समाज के वे अंग भी, जो आज की परिभाषा में आर्थिक रूप से कमज़ोर माने जाते हैं, तालाबों की कड़ी को मज़बूत बनाए रखते थे।

मेघा ढोर चराया करता था। यह किस्सा 500 बरस पहले का है। पशुओं के साथ मेघा भोर सुबह निकल जाता। कोसों तक फैला सपाट रेगिस्तान। मेघा दिन भर का पानी अपने साथ एक कुपड़ी मिट्टी की चपटी सुराही में ले जाता। शाम वापस लौटता। एक दिन कुपड़ी में थोड़ा-सा पानी बच गया। मेघा को न जाने क्या सूझा, उसने एक छोटा-सा गड्ढा किया, उसमें कुपड़ी का पानी डाला और आक के पत्तों से गड्ढे को अच्छी तरह ढंक दिया। चराई का काम आज यहाँ कल कहीं और। मेघा दो दिन तक उस जगह पर नहीं जा सका। वहाँ वह तीसरे दिन पहुँच पाया। उत्सुक हाथों ने आक के पत्ते धीरे से हटाए। गड्ढे में पानी तो नहीं था पर ठण्डी हवा आई। मेघा के मुंह से शब्द निकला—'भाप'। मेघा ने सोचा कि यहाँ इतनी गर्मी में थोड़े से पानी की नमी बची रह सकती है तो फिर यहाँ तालाब भी बन सकता है।

मेघा ने अकेले ही तालाब बनाना शुरू किया। अब वह रोज़ अपने साथ कुदाल-तगाड़ी भी लाता। दिन भर अकेले मिट्टी खोदता और पाल पर डालता। गाएँ भी वहीं आसपास चरती रहतीं। भीम जैसी शक्ति नहीं थी लेकिन भीम की शक्ति जैसा संकल्प था मेघा के पास। दो वर्ष तक वह अकेले ही लगा रहा। सपाट रेगिस्तान में पाल का विशाल घेरा अब दूर से ही दिखने लगा था। पाल की खबर गाँव को भी लगी।

अब रोज़ सुबह गाँव से बच्चे और दूसरे लोग भी मेघा के साथ आने लगे। सब मिलकर काम करते। 12 साल हो गए थे, अब भी विशाल तालाब पर काम चल रहा था। लेकिन मेघा की उमर पूरी हो गई। पत्नी सती नहीं हुई। अब तालाब पर मेघा के बदले वह काम करने आती। 6 महीने में तालाब पूरा हुआ।

भाप के कारण बनना शुरू हुआ था, इसलिए इस जगह का नाम भी भाप पड़ा जो बाद में बिगड़कर बाप हो गया। चरवाहे मेघा को, समाज ने मेघोजी की तरह याद रखा और तालाब की पाल पर ही उनकी सुंदर छतरी और उनकी पत्नी की स्मृति में वहीं एक देवली बनाई गई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाप बीकानेर-जैसलमेर के रास्ते में पड़ने वाला छोटा-सा कस्बा है। चाय और कचौरी की 5-6 दुकानों वाला बस अड्डा है। बसों से तिगुनी ऊँची पाल अड्डे के बगल में खड़ी है। मई-जून में पाल के इस तरफ लू चलती है, उस तरफ मेघोजी के तालाब में लहरें उठती हैं। बरसात के दिनों में तो तालाब में लाखेटा (द्वीप) 'लग' जाता है। तब पानी 4 मील में फैल जाता है।

मेघ और मेघराज भले ही यहाँ कम आते हों, लेकिन मरुभूमि में मेघोजी जैसे लोगों की कमी नहीं रही। पानी के मामले में इतना योग्य बन चुका समाज अपनी योग्यता को, कौशल को, अपना बताकर घमंड नहीं करता। वह विनम्र भाव से इसका पूरा श्रेय भगवान को सौंप कर सिर झुका लेता है। कहते हैं कि महाभारत युद्ध समाप्त हो जाने के बाद श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र से अर्जुन को साथ लेकर द्वारिका जा रहे थे। उनका रथ मरुप्रदेश पार कर रहा था। आज के जैसलमेर के पास त्रिकूट पर्वत पर उन्हें उत्तुंग ऋषि तपस्या करते हुए मिले। श्रीकृष्ण ने उन्हें प्रणाम किया और फिर वर माँगने को कहा। उत्तुंग का अर्थ है ऊँचा। सचमुच ऋषि ऊँचे थे। उन्होंने अपने लिए कुछ नहीं माँगा। प्रभु से प्रार्थना की कि यदि मेरे कुछ पुण्य हैं तो भगवान वर दें कि इस क्षेत्र में कभी जल का अभाव न रहे।

मरुभूमि के समाज ने इस वरदान को एक आदेश की तरह लिया और अपने कौशल से मृगतृष्णा को झुठला दिया।

संदर्भ :

पाल के किनारे रखा इतिहास

खरे सोने से वने तालाबों की कहानी सन् 1907 के गजेटियर का अपवाद छोड़ दें तो इतिहास की किसी और अंग्रेज़ी पुस्तक में नहीं मिलती। लेकिन मध्य प्रदेश के रीवा, सतना, जबलपुर और मंडला जिलों में यह कहानी गाँव-गाँव में तालाबों पर सुनाई देती है। इस तरह यह सचमुच पाल के किनारे रखा इतिहास है।

श्री भूपतसिंह द्वारा लिखी गई पुस्तक 'पाटन तहसील के स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास' में इस कहानी का विस्तृत विवरण मिलता है। इस विवरण में कहानी में वर्णित चार विशाल तालाबों में से एक कुंडम तालाब से निकलने वाली हिरन नामक नदी की कथा भी विस्तार से दी गई हैं।

इस क्षेत्र का परिचय और यहाँ दी गई जानकारियाँ हमें जनसत्ता, नई दिल्ली के श्री मनोहर नायक से प्राप्त हुई है।

श्री वृंदावनलाल वर्मा के उपन्यास 'रानी दुर्गावती' में भी बुंदेलखंड क्षेत्र में पारस से बनने वाले तालाबों का उल्लेख एक अलग अर्थ में मिलता है।

जबलपुर प्राधिकरण द्वारा सन् 1977 में प्रकाशित जबलपुर स्मारक ग्रंथ में भी इस कथा की झलक है। जबलपुर के पास ही सन् 1939 में हुए प्रसिद्ध त्रिपुरी कांग्रेस सम्मेलन के अवसर पर छपी 'त्रिपुरी कांग्रेस गाइड' में भी इस कथा में वर्णित क्षेत्र के कई भव्य तालाबों का विवरण दिया गया था। आजादी की लड़ाई के बीच आयोजित इस ऐतिहासिक सम्मेलन में, जहाँ श्री सुभाषचंद्र बोस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और श्री पट्टाभि सीतारमैया जैसे नेता उपस्थित थे, वहाँ भी तालाबों का उल्लेख अप्रासंगिक नहीं माना गया था।

पर इस प्रसंग की तुलना कीजिए, सन् 1991 के तिरुपति कांग्रेस अधिवेशन से। जल संकट से घिरे कठिन दौर में आयोजित इस सम्मेलन का पंडाल कभी के एक भव्य पर अब सूख चुके अविलल नामक तालाब के आगर पर ही ताना गया था। आगर की नमी के कारण पंडाल के भीतर का तापमान बाहर की गर्मी से 4 अंश कम था। लेकिन इस अधिवेशन में उपस्थित हमारे नए आत्ममुग्ध नेताओं ने देश के सामने छाए तरह-तरह के संकटों से पार उतरने में लोकबुद्धि पर कोई भरोसा नहीं जताया। इसी तरह सन् 1993 का कांग्रेस अधिवेशन भी दिल्ली की सीमा पर सूरजकुंड में हुआ था। वह ऐतिहासिक तालाब भी आज लगभग पट चुका है। तालाबों की सर्वत्र की जा रही उपेक्षा के अनुपात में ही पानी का संकट बढ़ता जा रहा है।

महाभारत काल के तालाबों में कुरुक्षेत्र का ब्रह्मसर, करनाल की कर्णझील और मेरठ के पास हस्तिनापुर में शुक्रताल आज भी हैं और पर्वों पर यहाँ लाखों लोग इकट्ठे होते हैं।

रामायण काल के तालाबों में शृंगवेरपुर का तालाब प्रसिद्ध रहा है। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के निदेशक श्री बी.बी. लाल ने पुराने साक्ष्य के आधार पर इलाहाबाद से 60 किलोमीटर दूर खुदाई कर इस तालाब को ढूँढ़ निकाला है। श्री लाल के अनुसार यह तालाब ईसा पूर्व सातवीं सदी में बना था–यानी आज से 2700 बरस पहले।

शृंगवेरपुर के तालाब का संक्षिप्त विवरण गाँधी शांति प्रतिष्ठान से प्रकाशित पुस्तक 'हमारा पर्यावरण' (1988) में तथा विस्तृत विवरण नई दिल्ली के 'सेंटर फॉर साइंस एण्ड एनवायर्नमेंट' द्वारा देश में जल संग्रह के परंपरागत तरीकों पर अक्तूबर 1990 में आयोजित गोष्ठी में श्री लाल द्वारा अंग्रेज़ी में प्रस्तुत लेख में उपलब्ध है।

पन्द्रहवीं से अठारहवीं सदी तक के समाज का, उसके संगठन का, उसके विद्या केन्द्रों का विस्तृत विवरण श्री धर्मपाल द्वारा लिखी गई 'इंडियन साइंस एंड टेक्नालॉजी इन एटीन्थ सेंचुरी' और 'द ब्यूटीफूल ट्री' पुस्तकों में मिलता है। प्रकाशक हैं— विबलिया इम्पैक्स प्राइवेट लिमिटेड, 2/18 अंसारी रोड, नई दिल्ली-110002

इसी विषय पर एक भिन्न प्रसंग में रुड़की के इंजीनियरिंग कालेज के इतिहास पर लिखी गई एक पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ थामसन कालेज ऑफ इंजीनियरिंग' अच्छा प्रकाश डालती है। बहुत कम लोगों को यह जानकारी होगी कि देश का पहला इंजीनियरिंग कालेज कलकत्ता, बंबई या दिल्ली जैसे शहरों में नहीं बल्कि हरिद्वार के पास रुड़की नाम के एक बिलकुल छोटे से गाँव में सन् 1847 में खोला गया था। इसके पीछे मुख्य कारण था, इस इलाके में कोई 20 वर्ष पहले निकाली गई गंगा नहर। यह नहर सोलानी नाम की एक नदी के ऊपर से भी निकलती है। इस नहर और इस 'अक्वाडक' का पूरा काम उस इलाके में रहने वाले गजधरों ने किया था, जिसे देखकर बाद में यहाँ के तत्कालीन गवर्नर श्री थामसन ने इन जैसे प्रतिभाशाली गजधरों के और उत्तम प्रशिक्षण के लिए रुड़की में ही कालेज खोलने की अनुशंसा ईस्ट इंडिया कम्पनी से की थी। यह देश का ही नहीं, एशिया का पहला इंजीनियरिंग कालेज था। इस पूरे प्रसंग का विवरण इस पुस्तक में मिल सकता है। लेखक हैं श्री के.वी. मित्तल, 79/2, सिविल लाइन्स, रुड़की, उत्तर प्रदेश। इस पुस्तक से हमारा परिचय डॉ. जी. डी. अग्रवाल के साथ हुई चर्चाओं से हुआ थ्रा। वे आई.आई.टी. कानपुर में प्राध्यापक रहे हैं और इस विषय की आधुनिकतम पढ़ाई-लिखाई के साथ-साथ गजधरों की परंपरा का भी सम्मान करते हैं। उनका पता है : प्रमोद वन, चित्रकूटधाम कर्वी, जिला वांदा, उत्तर प्रदेश।

वापस फिर श्री धर्मपाल पर लौटें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस विषय पर पुणे की संस्था इंडियन एसोसिएशन फॉर कल्चरल फ्रीडम में श्री धर्मपाल के भाषण हुए थे। इन भाषणों को नई दिल्ली के दैनिक हिंदी पत्र 'जनसत्ता' ने एक लेखमाला के रूप में प्रकाशित किया था जो बाद में शताब्दी प्रकाशन, 48 स्वर्णकार कालोनी, विदिशा, मध्य प्रदेश की ओर से 'अंग्रेजों से पहले का भारत' शीर्षक से एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए थे। गाँधी शांति प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित श्री रामेश्वर मिश्र पंकज की पुस्तक 'आज की अपेक्षाएँ' और 'नदियाँ और हम' भी इस विस्तृत लेकिन लगभग विस्मृत विषय पर उम्दा प्रकाश डालती हैं।

रीवा के तालाबों की जानकारी सन् 1907 के गजेटियर से ली गई है। गजेटियर तब की रीवा रियासत में आने वाले गाँवों के तालाबों का विस्तृत ब्यौरा देता है।

थार के रेगिस्तान में पानी के काम पर श्री ओम थानवी, संपादक, जनसत्ता, नई दिल्ली; श्री शुभू पटवा, भीनासर, बीकानेर तथा श्री सुरेन्द्रमल मोहनोत, मरुभूमि विज्ञान केंद्र 109 नेहरू पार्क, जोधपुर से संपर्क किया जा सकता है।

दिल्ली के 350 तालाबों का उल्लेख सन् 1971 की जनगणना रिपोर्ट में मछली पालन के संदर्भ में मिलने वाले पुराने आँकड़ों में सिर्फ एक पंक्ति में मिलता है। इस छोर को पकड़ कर आगे काम करते हुए हमें भारतीय मानचित्र सर्वेक्षण विभाग द्वारा सन् 1807 की दिल्ली पर हाल में ही छपे एक नक्शे में कई तालाब देखने को मिलते हैं।

इसी सिलसिले में श्री मुहम्मद शाहिद के सौजन्य से मिले दिल्ली के सन् 1930 के एक दुर्लभ नक्शे में उस समय के शहर में तालाबों और कुओं की गिनती लगभग 350 की संख्या छूती है। शाहिदजी से 2583 चूड़ीवालान, दिल्ली-6 पर संपर्क किया जा सकता है।

दक्षिण के राज्यों, विशेषकर मद्रास प्रेसिडेंसी और मैसूर-कर्नाटक के तालाबों के फैलाव, संख्या और संचालन के बारे में इन क्षेत्रों के गजेटियर, सिंचाई और प्रशासन रिपोर्टों से काफी मदद मिली। इसी कड़ी में सन् 1983 में कर्नाटक राज्य योजना विभाग के श्री एम.जी. भट्ट, श्री रामनाथन चेट्टी और श्री अंबाजी राव द्वारा तैयार की गई एक रिपोर्ट से भी सहायता ली गई है।

इस बीच प्रगतिशील माने गए कर्नाटक राज्य में जल का संकट लगातार बढ़ा है। अब सरकार का भी ध्यान इससे निपटने के उपायों की तरफ गया है। यह अच्छा संकेत है कि उपायों में सरकार ने तालाबों पर ही सबसे ज्यादा भरोसा किया है। सन् 1999 में कर्नाटक सरकार ने जल संसाधन विभाग की ओर से एक नया अर्द्ध-सरकारी संगठन बनाया है। इसका नाम है—'तल संवर्धने योजना संघ'। सन् 2002 के 5 जून को कर्नाटक सरकार ने दिल्ली के प्रमुख अखबारों में बड़े-बड़े विज्ञापन निकालकर अपने राज्य में लोगों के साथ जुड़कर तालाबों की सफाई, रखरखाव और नए तालाब बनाने की शपथ ली है। सरकार ने स्वीकार किया है कि यह काम यहाँ सदियों से होता आ रहा है और ये तालाब आज भी खरे हैं।

मृगतृष्णा झुठलाते तालाब

इसे लिखने के लिए जैसलमेर, बीकानेर एवं बाड़मेर जिलों के गजेटियर एवं 1981 की जनगणना रिपोर्टों से बहुत मदद मिली है। इसके अलावा इन इलाकों की एकाधिक यात्राओं से मरुभूमि का वहाँ के समाज का और पानी से संबंधित उनकी बुद्धिमत्ता का आभास हो सका है। वहाँ की अधिकांश यात्राएँ अनुपम मिश्र को के.के. बिड़ला प्रतिष्ठान से राजस्थान में जल संग्रह विषय पर मिली एक शोधवृत्ति के अंतर्गत की जा सकी हैं।

जैसलमेर शहर और उसके आसपास बने तालाबों की प्रारम्भिक जानकारी श्री नारायण लाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शर्मा द्वारा लिखित 'जैसलमेर' नामक पुस्तिका से मिली है। प्रकाशक हैं : गोयल ब्रदर्स, सूरज पोल, उदयपुर।

इन क्षेत्रों के वारे में समय-समय पर श्री ओम थानवी, श्री भगवानदास माहेश्वरी, श्री दीनदयाल ओझा और राजस्थान गो सेवा संघ के श्री भंवरलाल कोठारी से हुई बातचीत से भी हमें बहुत मदद मिली है। राजस्थान गो सेवा संघ का पता है : रानी बाजार, बीकानेर।

घड़सीसर तालाब, गड़सीसर या गड़ीसर नाम से भी पुकारा जाता है। इस तालाब के किनारे बने मंदिर, घाट, रसोइयाँ, चौकी, पोल और तालाब पर जमने वाले मेले का वर्णन हमें श्री उम्मेदसिंह महेता की एक गज़ल से मिला है। यह गज़ल 'जैसलमेरीय संगीत रत्नाकर, पहिला हिस्सा' नामक पुस्तक में है। पुस्तक लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस से सन् 1929 में प्रकाशित हुई थी। यह हमें जैसलमेर के श्री भगवानदास माहेश्वरीजी के निजी संग्रह से मिली है। देश के एक विशिष्ट तालाब पर 46 बरस पहले जैसलमेर में लिखी गई और लखनऊ से छपी यह दुर्लभ सामग्री एक विशेष महत्त्व रखती है। इसलिए हम यहाँ इसे ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर रहे हैं :

अथ तालाब गड़सीसर की गजल लिखते

कवित्त

तख्त जेसांन ताको जानत है जहांन ताको
सब मुलकन में नाम तमाम अति भारी है।
किल्ला है भूरगढ़ भूप जवाहिर सिंह अधिक
छवि प्यारी और फोज दल अपारी है ॥
रईयत मतवारी छटा गड़सीसर की भारी
जहाँ भरत नीर लाखों और किरोड़ पनिहारी है।
महेता कहे उम्मेदसिंह वाहो
जेसाण नाथ रियासत तुम्हारी बादशाहत से नियारी है।

ग़ज़ल

गवरी पुत्र है गणराज। समझों सदा पूरण काज॥
आदू मरुस्थल है माड़। जैसलमेर गड़ रजवाड़ ॥
पूरब दिशा गड़मल ताल। दोनों तरफ ऊँची पाल॥
बंधीया घाट घाटी नाल। ऊपर महल मंदिर
साल। भरीय नीर अमृत जान ॥ जिन
पर शहर का मंडान ॥ दुनिया भरत आवत नीर।
चोकी प्रथम ब्राजत पीर ॥ नाम जमालशा है
जान ॥ मांने सकल मुसलमान ॥ फिर पठियाल
जिनके पास। वहाँ सिधा वसूते का वास ॥
परच्यो प्रगट पायो नाम। समझों सदा
सिधी काम ॥ सांमी वासूवों की प्रोल।
जातों वक्त डावे डोल ॥ छत्री साल मंदिर
ठाट। बधीया सरोवर पर घाट ॥ देख्या बड़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गज मंदर। शिव की मूर्ति अंदर ॥ होता गायत्री यगसाल। ब्रह्मण जीमता हदमाल ॥ कीतो युं अजीत ने काम। राख्यों बगेची को नामं ॥ मंदिर रच्यो गिरधारी के। नीचे सात बंध भारी के ॥ छत्री पास है मंदर। लोले वणायो पहोकर ॥ मोटो नीलकंठ महादेव। दुनिया सकल करती सेव ॥ आगे मंदिर पठसाला के। मालिक जवलपुर वाला के ॥ वाई सदांमा का महेल। दुनिया बैठ करती सहेल ॥ नीचे माई का ओटा के। लगता भंग का घोटा के ॥ बाहर बगेची घाली के। ब्रह्मण रहत सिरमाली के ॥ बिसां की बगेची त्यार। साला मंदिर महल अपार ॥ आदू गड़सीसर रावल। मंदिर वणायो सावल ॥ देवी मात है हिंगलाज। सेवा कीयों सरता काज ॥ भारी बुरज हे गड़ी के ॥ फोजों बीच में लड़ी के। इनके रहत जल चौफेर ॥ आगे लीया नेष्टा घेर। आया पराक्रमा दे ताल ॥ च्यारों तरफ हे पठसाला। सांमा बगेचा मंदर ॥ व्यासों तणा सांमीसर ॥ भीतर मोल हे निजदेख। व्यासों बणायो हद एक ॥ लिक्ष्मीनाथजी का बाग। मंदिर महल अच्छो लाग। आई बगेची जो आद। प्रोहितों बणाई रखयाद ॥

....

....

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ललित-निबंध : आधुनिकता के संदर्भ में

श्रीराम परिहार*

वर्तमान मनुष्य संस्कृति की देन है। संस्कृति ने मनुष्य का निरंतर परिष्कार किया। संस्कृति ने मनुष्य को संस्कारित किया। यह भी सच है कि मनुष्य की नैसर्गिक रचनात्मकता की चिरंतन विजय-यात्रा ने सांस्कृतिक अध्याय रचे हैं। "संस्कृति मनुष्य की वह रचना है, जिसमें मानव की सर्जनात्मक शक्ति और योग्यता का चरम निहित है।"[1] मानविकी में मनुष्य के व्यवहारों की समग्रता को संस्कृति कहा है। संस्कृति की व्यापक परिधि में मनुष्य के ज्ञान, इच्छा, कर्म से जुड़े वे सारे व्यापार आते हैं, जो प्रकृति, समाज और अदृश्य शक्तियों से अपना सम्बन्ध स्थापित करते हैं। अतः ये सम्बन्ध मनुष्य के विचारपक्ष, भावपक्ष और क्रियापक्ष के अन्तरावलम्बन के परिणाम होते हैं।

संस्कृति के केन्द्र में मनुष्य है और उसके सम्बन्धों से जुड़ा मानवेतर जीव-जगत और पदार्थ-जगत है। कुछ संस्कृतियों की दर्शना ने पदार्थ में भी जीव-सत्ता की निदर्शना की है। अर्थात् संस्कृति का सीधा सम्बन्ध जीवन से है। जीवन निरन्तर परिवर्तनशील और विकासमान है। अतः जिस संस्कृति में जीवन के तत्त्व जितने अधिक होंगे, उसमें उतनी ही परिवर्तनशील और विकसनशील प्रवृत्ति होगी। जीवन-सौन्दर्य का उपासक होता है। सौन्दर्य प्रतिक्षण नवीन होता है। प्रतिक्षण की नवीनता ही जीवन को रसास्वाद देती है। आनन्द देती है। संस्कृति एक बहती नदी है। उसमें जल की चिरनवीनता बनी रहती है। साथ ही उसमें अन्य नदियों के जल को आत्मसात करने, एकरूप करने, निर्मल करने और गतिशील करने की क्षमता भी होती है। जो नदियाँ या संस्कृतियाँ ऐसी क्षमता नहीं रखतीं, वे सूख जाती हैं या समाप्त हो जाती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृति के स्रोत, संस्कृति की आन्तरिक क्षमता और प्रकृति की अजस्रता तथा चिरनवीनता उसे सूखने और मिटने से बचाती है।

भारतीय संस्कृति जीव और पदार्थ दोनों में परमसत्ता की उपस्थिति मानती है। उसका यह विश्वास है कि एक परमसत्य समूचे ब्रह्माण्ड में अवस्थित है। वह अपरिवर्तनीय है। शाश्वत है। भारतीय संस्कृति का दूसरा विश्वास यह है कि प्रत्येक

*डॉ. श्रीराम परिहार, 16 आजाद नगर, खण्डवा (म. प्र.)—450001

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मा उसी ब्रह्म का अंश है। आत्मा भी अमर है। ब्रह्म और आत्मा विशिष्ट स्थिति में एक है। अद्वैत, विशिष्ट, द्वैत और द्वैताद्वैत के आधार पर ब्रह्म और आत्मा के बारे में चिन्तन हुआ है। वह आत्मा समस्त जीवों में विराजमान है। तीसरा विश्वास यह है कि जब समस्त जीवों में आत्मा स्थित है, और वह आत्मा एक ही ब्रह्म का अंश है, तो विभेद के बावजूद समस्त मानव जाति और जीव-जगत एक ही परिवार के सदस्य हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की धारणा का विकास इसी विश्वास का परिणाम है। चौथा विश्वास विभिन्न धर्मों के बहुपन्थों के बाद एक लक्ष्य का है। सभी धर्मों की उपासना पद्धति और ईश्वर प्राप्ति के मार्ग भिन्न हैं, लेकिन उनका लक्ष्य एक है। इसलिए अलग-अलग मार्गों को उदारतापूर्वक समझना और दैवी-शक्ति के आत्मिक ऐक्य की अनुभूति करना समीचीन है। भारतीय संस्कृति का पाँचवाँ विश्वास समस्त जीवों के कल्याण में है। 'बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय' की कल्याणी अवधारणा को आधार बनाकर भारतीय संस्कृति कर्म की प्रतिष्ठा करती है। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया' की उदात्तता के कारण भारतीय संस्कृति न केवल मनुष्य, बल्कि चर-अचर सबके प्रति 'परहित' का भाव लेकर चलती है। उपर्युक्त पाँचों विश्वासों से परिचालित भारतीय संस्कृति द्वारा पोषित जीवन-विधि अपार समन्वय-क्षमता और विकसनशीलता से पुष्ट है।

पश्चिम की संस्कृति में पदार्थ और जीव में स्पष्ट भेद है। उसमें इन दोनों के जन्म और विश्वास की अवधारणाएँ भी भिन्न हैं। द्वन्द्वात्मक विकासवादी सिद्धान्त ने मनुष्य को पहले एक प्राणी और अब एक वस्तु मान लिया। औद्योगिक विकास सूचना-तन्त्र का प्रसार, सूचनाओं का विस्फोट, उपभोगवाद, विश्वग्राम की संरचना के कारण भारतीय संस्कृति पर पदार्थवादी संस्कृति का दबाव बढ़ा है। भारतीय संस्कृति के विश्व कल्याणकारी मूल्यों के सामने बाजार चुनौती बनकर खड़ा है। भारत के शहर गाँव तक पसर गए हैं। गाँव उजड़कर शहर की गन्दी बस्तियों में तब्दील हो रहे हैं। मनुष्य का जीवन और संघर्षपूर्ण हो गया है। भारतीय संस्कृति के शाश्वत तत्त्वों की घोर उपेक्षा के कारण अविश्वास, कुण्ठा, स्वार्थ और अशान्ति की व्याप्ति बढ़ रही है। आधुनिक जीवन-दृष्टि में व्यक्तिवादी और उपयोगितावादी दर्शन ने हर क्षेत्र में सकीर्णताएँ उत्पन्न की हैं।

भारतीय संस्कृति के अध्येता और प्रवक्ता डॉ. कपिल तिवारी ने पश्चिमी औद्योगिक आधुनिक सभ्यता पर अपनी गहरी विवेचना प्रकट करते हुए कहा है– "बीसवीं शताब्दी के अन्त तक खुद पश्चिमी औद्योगिक सभ्यता के पास बाजार के अलावा कुछ नहीं था। प्रकृति के अबाध दोहन और कमज़ोर देशों के प्राकृतिक साधनों पर कब्जा करने के अलावा यह आधुनिक औद्योगिक सभ्यता अपने जीवत्व के लिए और कोई विकल्प नहीं खोज पा रही है। वैश्विकता का नया उपक्रम एक उपभोक्तावादी और बाजारवादी सभ्यता के संसारव्यापी उपक्रम के अतिरिक्त कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है। सभ्यता का यह रूप एकायामी है। भाषायी और जीवन-शैली की विविधताओं में ही यह संसार रहने और जीने लायक है। उत्तर-आधुनिक औद्योगिक सभ्यता, जो तकनीक और संचार क्रान्ति के बाद बाजारवाद की ओर फैल रही है, वह मनुष्य के रहने के प्राकृतिक और मानवीय परिवेश को नष्ट करती है। यह पिछले तमाम युगों के घृणित पश्चिमी साम्राज्यवाद से अधिक, घृणित, पतित और मनुष्य-विरोधी है, इसने मनुष्य को वस्तुओं का उपयोग करने वाले दैत्य में बदल दिया है। यह शोषण की व्यवस्थाओं का अधिक परिष्कृत रूप है, इसे सभ्यता कहना भी असंगत लगता है। यह एक मूल्यवान शब्द का अपमान है।"[2]

जब अँधेरा घना होता है, तब दीपक की और अधिक ज़रूरत महसूस होती है। विश्व में आधुनिकता के कारण जो अपसांस्कृतिक फैलाव हो रहा है, उससे विश्व-कल्याण-आधारित संस्कृति को कैसे बचाया जाए, यह चिन्ता भी बढ़ रही है। आधुनिक की खरोंच से संस्कृति को सुरक्षित बचाने का दबाव भी बढ़ रहा है। साहित्य-सर्जकों ने इस दबाव को अन्तस् में महसूस किया है तथा आधुनिकता के ऐसे मूल्य, जो आज के व्यक्ति के जीवन को सकारात्मक विकास देते हैं, उन्हें स्वीकारने तथा अपसांस्कृतिक तथ्यों को नकारने का रचनात्मक कार्य किया है।

ललित निबन्ध ने विश्व संस्कृति और विश्व-मानव को केन्द्र में रखकर अपने चिन्तन को विस्तार दिया है। उसने अपने वस्तु-विन्यास में ऐसे विषयों को केन्द्र में रखा है, जो मानव संस्कृति आधारित हैं। ऐसे मूल्यों, जो एक जीव के साथ-साथ एक तिनके की रक्षा की भी चिन्ता करते हैं, को उसने अपने आत्मिक कलेवर में जगह दी है। आधुनिकता की शालीनता को स्वीकारते हुए उसकी आतंकी मुद्रा को ललित निबन्ध ने न केवल अस्वीकारा, बल्कि उसे खत्म करने की भी वकालत की है। ललित निबन्ध ने आधुनिकता की पत्थर-संधियों में फँसती जा रही सांस्कृतिक जड़ों का दर्द महसूस किया है तथा चिन्ताकुलता के साथ उन जड़ों की सुगम भूमि का निर्माण किया और संकेत दिया है। आधुनिकता की दुनिया में आज प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को अकेला और अधूरा अनुभव कर रहा है। ललित निबन्ध उसे व्यक्ति-व्यक्ति, व्यक्ति-समाज, व्यक्ति-प्रकृति और व्यक्ति-विश्व की पारस्परिकता की व्यावहारिकता और भावनात्मकता के द्वारा पूरा करना चाहता है। ललित निबन्ध ने आधुनिकता के सन्दर्भ में एक अहं सवाल खड़ा किया है। "तुमने कैसे समझा कि आधुनिकता केवल बिजली के लट्टुओं से सजी वंदनवार के नीचे ही प्रवेश करती है? तुमने यह कैसे मान लिया कि वह केवल मिल के भोंपू की पुकार पर ही आँखें खोल सकती है? क्या अब तक तुम यान्त्रिकता और आधुनिकता को एक ही जान रहे हो?"[3]

ललित निबन्ध ने सांस्कृतिक दबाव को तर्क-सम्मत ढंग से स्वीकार किया। आधुनिकता और प्राचीनता का द्वन्द्व तो प्रत्येक काल में रहता है। जीवट वाली संस्कृति प्राचीन में से अनुपयोगी और नवीन में से मानव-विरोधी तत्त्वों को छोड़ती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चलती है। वह नवीन मूल्यों की परख मानवता की कसौटी पर करती है। जहाँ कहीं आधुनिकता के कारण सांस्कृतिक भवन क्षत-विक्षत हुआ है, ललित निबन्ध ने उस आधुनिकता की भर्त्सना की है। आधुनिकता का हिस्सा तकनीकी विकास है। इसने मनुष्य-निर्मित सौन्दर्य की विविधता को समाप्त किया है। दूसरी ओर इससे मनुष्य भी यन्त्रवत होता जा रहा है। ललित निबन्ध यन्त्र के बाजार में भी मानुष-भाव बचाना चाहता है। "तकनीकी विकास से एक बहुत बड़ी समृद्धि से मनुष्य वंचित हो जाता है और मनुष्य के सोचने में जो अनेकविध सौन्दर्य है और उस सौन्दर्य में एकसूत्रता है—वह पहचान नष्ट हो जाती है। इसकी कीमत पर आप तकनीकी विकास करना चाहते हैं या उसके ऊपर सजग भाव से नियन्त्रण रखते हुए अपने मनुष्य-भाव को बनाए रखते हुए विकास करना, यह गहराई से सोचने की बात है।"[4]

यान्त्रिकता ने व्यक्ति को श्रम से वंचित किया और औद्योगिकीकरण ने उसे उपभोगवादी बनाया। इससे व्यक्ति के अहं और शक्ति का विकास प्रकृति की सुन्दरता के नाश की दिशा में हुआ। साथ ही मनुष्य का 'स्व' और प्रखर तथा बड़ा हुआ। परिणामस्वरूप प्रकृति पर मनुष्य का कब्जा उसके अधिकार के बतौर हुआ और वस्तुओं का अधिकाधिक उत्पादन और उपभोग जीवन का लक्ष्य बन गया। यह गैर-सांस्कृतिक दृष्टि पश्चिम से आयतित हुई—"पश्चिमी दृष्टि में ईश्वर ने मनुष्य की सृष्टि एक चरम उपभोक्ता के रूप में की है। सारी प्रकृति, सारे जीव-जन्तु, सारी वनस्पतियाँ इसीलिए बनीं कि मानव उसका उपभोग कर सके।"[5] इस दृष्टि से आज विश्व आक्रान्त है। उसका प्रभाव भारतीय समाज-जीवन पर भी स्पष्ट दिखाई देने लगा है। अतः भारतीय संस्कृति में जो समग्र का भाव था, 'स्व' के विस्तार का भाव था, सबमें बँटने का भाव था, सबको साथ लेकर चलने का भाव था, 'मेरा नहीं, सबका है' का जो भाव था, वह समाप्त हो गया। ललित निबन्धकार ने इस स्थिति को सांस्कृतिक चिन्ताकुलता के साथ अनुभव किया है और भारतीय संस्कृति की तर्कसम्मत पैरोकारी की है—"यह संस्कृति संस्थाओं, प्रासादों और विद्या-केन्द्रों तक सीमित नहीं है, यह घर-आँगन तक जन संकुल से दूर से दूर विजन तक, रहस्यमय गुहा की साधना की नदी की रेती के फैलाव तक चाँदनी की तरह छिटकी हुई है। इस संस्कृति की पहचान साधारण किसान की उस उदारता में है, जो हर दाने पर किसी का नाम पढ़ता है और सबको नाई-धोबी, बढ़ई-लुहार, यहाँ तक कि चिरई-चुरूँग को हिस्सा देकर अनाज घर के भीतर लाता है। वह यह सब करते हुए अभिमान नहीं पालता कि मैंने उपजाया। सबको दिया, क्योंकि सबने अनाज उपजाया, मैंने नहीं।"[6]

यह जो 'पर हित निरत निरन्तर मन-वच-क्रम नेम निबहोंगो' की बान खत्म हो चली है, इससे स्वकेन्द्रण और उपयोगितावादी धारणा फली-फूली। 'उपयोग करो और फेंको' की संस्कृति ने मनुष्य को भी उपयोग की वस्तु मानना आरम्भ किया। मनुष्य से सारी सांस्कृतिक और वैश्विक चेतना के सूत्र जुड़े हुए हैं, उसे ही 'यूज़ एण्ड थ्रो'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया जाएगा, तब पदार्थ की सत्ता सर्वोपरि और चेतना की सत्ता गौण हो जाएगी। पदार्थ की और उस पर केन्द्रित ज्ञान की सीमा होती है, लेकिन मनुष्य अनन्त संभावनाएँ अपनी चेतना में गर्भस्थ किए हुए है, इसलिए उसका महत्त्वहीन हो जाना एक तरह से सृष्टि के श्रेष्ठतम का श्रीहीन हो जाना है, इसलिए ललित निबन्ध आधुनिकता की भौतिकवाद, उपभोक्तावाद, प्रदर्शनप्रियता, शहरीकरण, उपनिवेशवाद, आतंकवाद, शस्त्रीकरण आदि-आदि अमरबेलियों को सांस्कृतिक वृक्ष के लिए खतरनाक मानता है। यदि हमारे पास सांस्कृतिक कवच नहीं रहा तो—"सारे सतोगुण, अध्यात्म, आत्मवाद, गाँधीवाद के बावजूद हमारे व्यक्तित्व की मणि को कोई एक रोटी, एक ट्रांजिस्टर थमा कर खरीद लेगा।"[7]

ललित निबन्ध को आधुनिकता से एतराज नहीं है, लेकिन आधुनिकता के अविवेकी अन्धानुकरण के कारण हो रही सांस्कृतिक क्षति की गहरी चिन्ता है। उसकी यह चिन्ता एक तरह से मनुष्य के अमृतत्व को अक्षुण्ण रखने की चिन्ता है।

सन्दर्भ :

1. लोक-संस्कृति—बसन्त निरगुणे, पृष्ठ 7
2. कला समय (पत्रिका)—डॉ. कपिल तिवारी से विनय उपाध्याय का संवाद, पृष्ठ 4
3. भोर का आह्वान—डॉ. विद्यानिवास मिश्र, पृष्ठ 57
4. नैरन्तर्य और चुनौती—डॉ. विद्यनिवास मिश्र, पृष्ठ 126
5. साहित्य का परिवेश—अज्ञेय, पृष्ठ 7
6. जीवन अलभ्य है, जीवन सौभाग्य है—डॉ. विद्यानिवास मिश्र, पृष्ठ 86
7. रस-आखेटक—कुबेरनाथ राय, पृष्ठ 206

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी भाषा और इण्टरनेट

डॉ. साताप्पा लहू चव्हाण

आजादी के बाद हिन्दी पत्रकारिता व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के नवनिर्माण के प्रति प्रतिबद्ध हुई। उद्बोधन, जागरण, क्रान्ति के पश्चात पत्रकारिता ने व्यक्तिगत निर्माण करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। हिन्दी भाषा को माध्यम बनाकर करोड़ों निरन्न, निर्वस्त्र नागरिकों की स्थिति का लेखा-जोखा शंखनाद के साथ प्रस्तुत करने में पत्रकार सफल हुए। राष्ट्र के नवनिर्माण हेतु पत्रकारों की परम्परा ने राजनेताओं का पथ प्रदर्शन किया। नया आत्मबोध, नई चिंतनधारा, नूतन रचनात्मक तत्त्वों के व्यापक प्रचार-प्रसार का कार्य करनेवाली हिन्दी पत्रकारिता को बल देने का महत्त्वपूर्ण कार्य 'सूचना प्रौद्योगिकी' ने किया। हिन्दी पत्रकारिता के साथ-साथ हिन्दी भाषा विकास में दूरदर्शन, सिनेमा, आकाशवाणी, इण्टरनेट आदि आधुनिक जनसंचार माध्यमों की भूमिका प्रभावकारी रही है।

समकालीन युग सूचना प्रौद्योगिकी का युग है। 'सूचना विस्फोट' के इस युग में 'इण्टरनेट' की भूमिका महत्त्वपूर्ण और सर्वव्यापी होती है। अतः हिन्दी भाषा के विकास में आधुनिक संचार माध्यम के रूप में 'इण्टरनेट' का स्थान नवीनतम प्रणाली के रूप में महत्त्वपूर्ण बनता जा रहा है। "भाषा एक दैवी शक्ति है जो मानव को मानवता प्रदान करती है। भावों को प्रकट करने, विचारों को बोधगम्य बनाने तथा परस्पर व्यवहार बढ़ाने का यही एक विश्वव्यापी और सशक्त माध्यम है। वास्तव में भाषा के अभाव में मूक प्राणी निरीह बना रहता है, विचार बहरे हो जाते हैं और व्यवहार लँगड़े बनकर रह जाते हैं। भाषा के कारण ही मानव सुसंस्कृत होता है, सम्मान और यश का भागी बनता है।...मौखिक और लिखित संचार-साधनों में अरबी, अँग्रेजी, इतालवी, उर्दू, चीनी, जर्मन, जापानी, तमिल, तेलगु, पुर्तगाली, फ्रांसीसी, बंगला, मलय, रूसी, स्पेनी तथा हिन्दी ये 16 प्रमुख भाषाएँ हैं। गौरव की बात तो यह है कि इनमें सम्मिलित 5 भाषाएँ अपने भारत राष्ट्र की हैं। चीनी और अँग्रेजी भाषा के बाद हिन्दी ही विश्व की प्रमुख भाषा है, जो स्वतन्त्रता तथा सम्प्रभुता की

* डॉ. साताप्पा लहू चव्हाण, अधिव्याख्याता, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, अहमदनगर महाविद्यालय, अहमदनगर 414001 (महाराष्ट्र)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमरवाणी है।...हिन्दी मानव के बुद्धि-कौशल, विवेक, चिन्तन, आचार-व्यवहार तथा संस्कृति की भाषा है।"[1] अतः हिन्दी भाषा को कंप्यूटर के माध्यम से पाठकों तक पहुँचाने का विचार सामने आया। 'सन् 1946'[2] कंप्यूटर का जन्म वर्ष माना जाता है। गुणात्मक कार्य के कारण कंप्यूटर वर्तमान युग में आवश्यक एवं व्यापक कार्यक्षेत्रवाला माध्यम बना है। कंप्यूटरों के माध्यम से तमाम इण्टरनेट सेवाएँ अपना महत्त्व बढ़ा रही हैं। इण्टरनेट की हिन्दी भाषा विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही दृष्टिगोचर होती है। इण्टरनेट की आवश्यकता और महत्त्व को बताने से पहले जनसंचार माध्यमों के क्रम में 'इण्टरनेट' का स्थान निश्चित करना आवश्यक है।

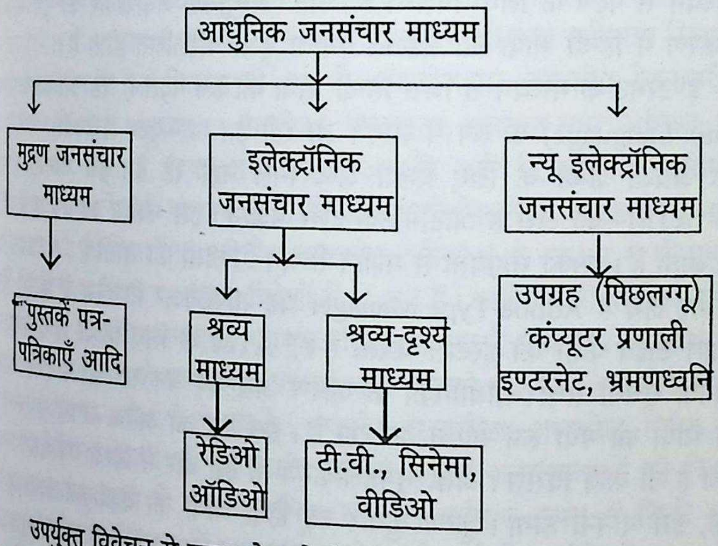

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि समकालीन युग में अपना विशेष प्रभाव बनाए रखनेवाले न्यू इलैक्ट्रॉनिक जनसंचार माध्यमों में 'इण्टरनेट' (आंतरिक संजाल) प्रभावी बन रहा है। अतः इण्टरनेट, इण्टरलिंक (Internet, Interlink) का इतिहास जानना आवश्यक है। "इण्टरनेट का बीजारोपण सन् 1969 में अमरीका की प्रतिरक्षा विभाग ARPA (Advanced Research Project Agency) के शोध कार्यक्रम के क्रियान्वयन से हुआ, जिसका उद्देश्य एक ऐसी तकनीक का विकास करना था जिसके कारण अलग-अलग कंप्यूटरों के मध्य एक सुरक्षित कम्युनिकेशन सम्भव हो सके, जिससे विभिन्न प्रकार के नेटवर्क को एक दूसरे से जोड़ा जा सके, जिससे नेटवर्क की विश्वसनीयता बढ़ सके। उपरोक्त नेटवर्क को (ARPANET) नाम दिया गया। प्रारंभ में इसका उपयोग केवल रक्षा सम्बन्धी ज़रूरतों के लिए किया गया परन्तु बाद में रक्षा सम्बन्धी मामलों में शोध कर रहे संस्थानों व विश्वविद्यालयों को भी इस नेटवर्क से जोड़ दिया गया। इन नेटवर्कों के नेटवर्क को इण्टरनेट (Internet) नाम दिया गया। यह TCPèIP (Transmission Control ProcdureèInternet Protocol) अमेरिकन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुरक्षा विभाग द्वारा विकसित एक नेटवर्क में सहायक उपकरण पर आधारित है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इण्टरनेट का कनेक्शन सन् 1973 में इंग्लैण्ड और नार्वे के मध्य स्थापित किया गया। भारत में पहला इण्टरनेट कनेक्शन प्रयोग करनेवाला संस्थान था नई दिल्ली स्थित नेशनल इन्फोर्मेटिक सेण्टर (NIC)। भारत में व्यावसायिक रूप से प्रथम इण्टरनेट सेवा 1995-96 में भारत सरकार के उपक्रम विदेश संचार निगम लिमिटेड (VSNL) ने की।"[3] हमकालीन युग का अध्ययन किया जाय तो आधुनिक जनसंचार माध्यमों में (श्रव्य दृश्य माध्यम) पिछलग्गू (Satellite) का उपयोग बढ़ता हुआ दृष्टिगोचर होता है। अब हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ एवं विभिन्न पुस्तकें भी इण्टरनेट के माध्यम से पढ़ने के लिए उपलब्ध हैं। अतः आधुनिक जन-संचार का यह माध्यम वैश्वीकरण में हिन्दी भाषा को सशक्त बनाता हुआ परिलक्षित होता है।

इण्टरनेट के माध्यम से जिस हिन्दी भाषा को हम पढ़ते हैं वह 'रिमिक्स भाषा' (Remix Language) के रूप में सामने आ रही है। 'कम्प्यूटर शब्दकोश' देखेंगे तो अनेक अँग्रेजी शब्दों के लिए हिन्दी शब्द मिल नहीं रहे हैं। इसे मानना होगा। जैसे–"ATM–का अर्थ है ऑटोमेटिक टेलर मशीन। इस मशीन का प्रयोग बैंकों में किया जाता है। इसकी सहायता से मशीन से धन-निकासी की जाती है। ATM– का एक और अर्थ है Adobe Type Manager यह सॉफ्टवेअर विण्डोज में प्रयोग किए जानेवाले टाइप फेसों को इंस्टाल करता है।"[4] ATM के लिए हिन्दी शब्द देना नई आधुनिक सूचना संचार प्रौद्योगिकी के कारण असम्भव बन रहा है। इण्टरनेट द्वारा हिन्दी भाषा का नया रूप सामने आ रहा है। इस रूप का अनेक जगहों पर स्वागत हो रहा है तो कहीं विरोध। अतः भूमंडलीकरण के इस दौर में हिन्दी का चेहरा बदल रहा है, इसे मानना होगा। कृष्ण कुमार रत्तू हिंदी भाषा का वैश्वीकृत बाजारमूलक चेहरा स्पष्ट करते हुए कहते हैं–"हिंदी के इस बदलते स्वरूप में जहाँ प्रयोजनमूलकता का व्याकरणीय तत्त्वबोध इसके सौंदर्य में बढोतरी करता है वहीं कुछ विद्वानों द्वारा हिंदी भाषा को नष्ट करने की संज्ञा भी दी जा रही है। हिंदी का यह चेहरा हिंग्लेजी, हिंगलिश मिश्रित हिंदी अथवा बिगड़ी हुई हिंदी का है। कालचक्र जिस तरह से राजनीतिक सामाजिक बदलाव की और अग्रसर है, उसमें भाषायी समरसता समूचे विश्व में बहस का मुद्दा हो गयी है। समूचे विश्व में भाषा भौगोलिक सीमाएँ तोड़ रही है। स्पष्ट उदाहरण तौर पर जिस तरह से अँग्रेजी व अन्य यूरोपीय भाषाओं में नए शब्दों को खुले मन से समाहित किया जा रहा है, उसी तरह ही हिन्दी भाषा भी अब इस स्वरूप का अपवाद नहीं रह गई है। हिन्दी में भी हर भाषा के ज्यादातर अँग्रेजी के शब्दों को ज्यों का त्यों लिया जा रहा है। उदाहरण के तौर पर देश के बड़े मीडिया परिदृश्य पर एक नज़र डालनी होगी।"[5] इण्टरनेट जैसा पिछलग्गू (Satellite) आधुनिक संचार माध्यम भी 'रिमिक्स भाषा' से अछूता नहीं रह सका। हिन्दी भाषा का यह रिमिक्स भाषायी आयाम अनेक प्रश्नों को, विवादों को जन्म तो दे रहा है, साथ ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ हिन्दी भाषा का यह चेहरा बदलते तकनीकी जगत में अपनी अलग पहचान बनाने में सफल हुआ है।

इण्टरनेट संचार-प्रक्रिया में अपनी विशेष भूमिका निभाता है। हिन्दी भाषा के प्रसार-प्रचार में भी 'इण्टरनेट' का स्थान महत्त्वपूर्ण रहा है। 'संचार' शब्द को परिभाषित करते हुए डॉ. हरिमोहन लिखते हैं, "संचार एक जटिल प्रक्रिया का परिणाम है, जिसके द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के बीच अर्थपूर्ण संदेशों (meaningful message) का आदान-प्रदान किया जाता है। ये अर्थपूर्ण संदेश भेजनेवाले और संदेश पानेवालों के बीच एक समझदारी या साझेदारी बनाते हैं।"[6] कहना सही होगा कि संचार प्रक्रिया में अर्थपूर्ण विचारों का आदान-प्रदान करने हेतु 'इण्टरनेट' का सही उपयोग हो रहा है। 'इण्टरनेट' के माध्यम से देवनागरी में यान्त्रिक सुविधाओं तथा नवीनतम द्विभाषी शब्द संसाधक प्रणाली का विकास हो रहा है। विण्डोज पर आधारित देवनागरी फॉण्ट उपलब्ध हो रहे हैं। अक्षरा-11, मल्टीवर्ड, शब्दमाला, शब्दरत्न सुपर, अलिशा, ए. एल. पी., विजन, वर्ड्सवर्ड, भाषा, शब्द सम्राट, आकृति आदि द्विभाषी शब्द संसाधकों की जानकारी इण्टरनेट के माध्यम से हिन्दी प्रेमियों को मिलने के कारण हिन्दी भाषा को विकास की नई दिशा मिल रही है। 'इण्टरनेट टेलीफोन' के माध्यम से भी प्रचुर मात्रा में हिन्दी भाषा का प्रचार-प्रसार विदेशों में हो रहा है। साहित्यकारों के लिए अधिकतम ज्ञान प्राप्त करने हेतु इण्टरनेट उपयुक्त सिद्ध हो रहा है। विभिन्न भारतीय भाषाओं का साहित्य हिन्दी के माध्यम से पाठकों तक पहुँचाने का कार्य इण्टरनेट के माध्यम से सुविधाजनक तरीके से हो रहा है। इण्टरनेट पर साहित्य, शब्दकोश, संगीत, इतिहास आदि विभिन्न विषयों की जानकारी होने के कारण अनुसंधाताओं को विचारों का आदान-प्रदान करने में सफलता मिल रही है। वर्तमान समय में हिन्दी भाषा के अनुसंधानात्मक विकास में, अनुसंधान क्षेत्र को नई दिशा देने में 'इण्टरनेट' की भूमिका महत्त्वपूर्ण बनती जा रही है। "इण्टरनेट के माध्यम से मानव के ज्ञान में तीव्रता से वृद्धि होती है। इण्टरनेट पर एक सवाल का जवाब खोजने के सिलसिले में कई दूसरे तरह का ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है, जो अचानक ही खोज के दौरान जाहिर होते हैं। इण्टरनेट की भाषा में इसे 'सिरेनडियिटी' याने आकस्मिक लाभ-वृत्ति कहा जाता है।[7] हिन्दी भाषा के विकास में इस आकस्मिक लाभ-वृत्ति का उपयोग हो रहा है। हिन्दी पारिभाषिक शब्दों को सीखने हेतु अब इण्टरनेट का प्रयोग हो रहा है। भले ही यह पारिभाषिक शब्दावली हिन्दी व्याकरण के नियम तोड़ रही हो, इसमें अँग्रेजी शब्दों का प्राचुर्य हो, फिर भी 'इण्टरनेट' के माध्यम से हिन्दी का जो सर्वथा भिन्न रूप सामने आ रहा है। उस रूप को हिन्दी पाठक अपना रहे हैं।

समकालीनता का विचार किया जाए तो इण्टरनेट के प्रति लोगों का आकर्षण दिन-ब-दिन बढ़ता जा रहा है। उपयोगकर्ताओं को जिन शब्दों में 'ज्ञान' की आवश्यकता है, उन्हीं शब्दों में ज्ञान दिया जा रहा है और इसके प्रचलित शब्दों में होने के कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समकालीन पीढ़ी इण्टरनेट की 'भाषा' पर आपत्ति नहीं उठा रही है। अतः इण्टरनेट पर आ रही हिन्दी भाषा पर विवाद उठाने के बजाय इण्टरनेट के लिए 'व्यावसायिक उद्देश्य' पूरा करनेवाले हिन्दी शब्दों का निर्माण करना हिन्दी भाषा की पुरानी इण्टरनेटीय दशा बदलकर नई दिशा देने जैसा होगा। समकालीन पीढ़ी के हिन्दी प्रेमियों को इस दिशा में अग्रसर होना चाहिए। वर्तमान समय में हमें इण्टरनेट के लिए 'स्वतन्त्र हिन्दी भाषा' का निर्माण करना होगा। अतः हिन्दी शब्दों का मानकीकृत रूप इण्टरनेट में लाने के लिए व्यापक स्तर पर अनुसंधान होना अनिवार्य है। डॉ. अवधेश प्रसाद सिंह कहते हैं—"लाइनक्स नामक एक नया ऑपरेटिंग सिस्टम इसी दिशा में एक अधुनातन पहल है। यह उपयोगकर्ताओं को अपनी आवश्यकतानुसार इण्टरनेट के उपयोग की सुविधा उपलब्ध कराने का प्रयास कर रहा है। यह इण्टरनेट पर अन्तःक्रिया करनेवाले हजारों प्रोग्रामरों का सहयोगात्मक प्रयास है, जिसमें तकनीकी शब्दों का ही नहीं आम जीवन के शब्दों को भी एक मानक रूप देकर प्रचलित करने की चेष्टा की जा रही है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि हिन्दी शब्दों और उसके रूपों को मानकीकृत करने का काम हिन्दीवालों द्वारा नहीं किया जाता है तो ऐसा नहीं है कि यह काम रुका रहेगा। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ इस काम को अपने हाथ में ले लेंगी, आयोग बनाएंगी, तन्त्र विकसित करेंगी और हिन्दी जगत के समक्ष एक बनी-बनाई भाषा परोस देंगी। ऐसा वे हिन्दी के प्रति स्नेह के आवेश में नहीं बल्कि अपना माल बेचने के लिए करेंगी। उनकी आँखों के सामने हिन्दी क्षेत्र का एक बहुत बड़ा बाजार फैला है, जिस पर कब्जा किए बिना उनका व्यावसायिक उद्देश्य पूरा नहीं होगा।"[8] कहना आवश्यक नहीं कि अपना व्यावसायिक उद्देश्य पूरा करने के लिए कामचलाऊ 'हिन्दी को विकसित करने का प्रयास हो रहा है। इसे रोकना होगा। इण्टरनेट के लिए हिन्दी का मानक कोश' निर्माण करने की जिम्मेदारी समकालीन पीढ़ी की है। अतः इस ओर निर्णायक कदम उठाने होंगे। संचार एवं सूचना प्रौद्योगिकी मन्त्रालय, भारत सरकार द्वारा प्रायोजित हिन्दी सॉफ्टवेयर उपकरण (Hindi Software Tools) विकसित किया गया है, जिसमें हिन्दी भाषा के यूनीकोड आधारित ओपन टाइप फॉन्ट्स, की बोर्ड, ड्राइवर, हिन्दी भाषा के शब्द-वर्तनी जाँचकर्ता, हिन्दी, भाषा का शब्दानुवाद टूल आदि विषयों की जानकारी प्राप्त होती है। इण्टरनेट संसाधित भाषा शिक्षण को बढ़ावा देने में भारत सरकार द्वारा हुआ यह प्रयास महत्त्वपूर्ण माना जाता है। फिर भी भाषा अध्यापक के लिए कंप्यूटर के माध्यम से भाषा सिखाना आज भी कठिन कार्य बना हुआ है। भाषा शिक्षण के लिए आवश्यक हार्डवेअर और सॉफ्टवेअर की उपलब्धता आज भी आवश्यकता के अनुसार नहीं हो रही है। इस स्थिति को नकारा नहीं जा सकता। "कंप्यूटर द्वारा गणित, भौतिकी, रसायनशास्त्र आदि विषय सिखाना सरल है क्योंकि इन विषयों में किसी भी अध्यापक द्वारा पढ़ाई जानेवाली सामग्री प्रायः पूर्वनिर्धारित होती है। उसके प्रस्तुतीकरण का तरीका मात्र बदल जाता है। पर कंप्यूटर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के द्वारा भाषा सिखाना एक अत्यधिक जटिल कार्य है। भाषा सिखाना वास्तव में कौशल सिखाना है। लिखना व पढ़ना जैसा गौण कौशल अथवा नियमों पर आधारित व्याकरण आदि जैसा विषय तो फिर भी आधारभूत मूल/सामान्य कंप्यूटर से सिखाए जा सकते हैं, पर मौखिक और श्रवण कौशल सिखाना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है।"[9] वर्तमान समय का विचार किया जाए तो वर्तनीशोधक, कंप्यूटर कोश रूपात्मक और वाक्यात्मक विश्लेषक, स्पीच सिंथेसाइजर, रिकग्नाइजर, डिकोटर आदि की उपलब्धता के कारण इण्टरनेट के माध्यम से हिन्दी भाषा शिक्षण सुदूर पहुँच रहा है। भाषा शिक्षण की प्रक्रिया में बदलाव नजर आ रहा है। इण्टरनेट में दिन-ब-दिन बदलाव, भाषाई सुधार होकर हिन्दी भाषा शिक्षण पिछड़ी दशा से उभरकर नई दिशा की ओर अग्रेसित हो रहा है। भूतपूर्व राष्ट्रपति प्रख्यात वैज्ञानिक ए. पी. जे. अब्दुल कलाम जी कहते हैं–"टेक्नॉलॉजी विज्ञान से भिन्न एक सामूहिक गतिविधि है। यह किसी एक व्यक्ति की बुद्धि या समाज पर आधारित नहीं होती बल्कि कई व्यक्तियों की आपसी बौद्धिक प्रतिभा पर आधारित होती है।"[10] हिन्दी भाषा के विकास हेतु नवीनतम टेक्नॉलॉजी विज्ञान के साथ सामूहिक प्रयास की आवश्यकता है। अखिल भारतीय स्तर पर यह प्रयास होना ज़रूरी है कि हिन्दी भाषा को व्यवहार एवं प्रयोग के स्तर पर सार्वदेशिक बनाया जाए। अतः यह बात तब सम्भव है जब हमकालीन पीढ़ी इण्टरनेट के माध्यम से हिन्दी भाषा शिक्षण को नई दिशा दे। हिन्दी के विकास की यह प्रक्रिया जितनी तेज रफ्तार से हो उतना ही हमारा और हमारे देश का विकास होगा। इण्टरनेट के माध्यम से हिन्दी भाषा को वैज्ञानिक, तकनीकी, यान्त्रिकी, प्रौद्योगिकी आदि विषयों के साथ जोड़कर हिन्दी भाषा की सुदीर्घ परम्परा को और अधिक समृद्ध बनाना होगा। हमकालीन पीढ़ी के कंप्यूटरविज्ञ तथा भाषाविज्ञ दोनों को एक साथ मिलकर हिन्दी भाषा विकास में 'इण्टरनेट' जैसे आधुनिक जनसंचार माध्यम की भूमिका को ध्यान में रखकर निरन्तर कार्यरत रहना होगा। तभी हिन्दी भाषा के विकास में 'इण्टरनेट' के माध्यम से नई दिशा प्राप्त होगी।

निष्कर्ष

हिन्दी भाषा विकास में इण्टरनेट जैसे आधुनिक जनसंचार माध्यम की भूमिका के सिंहावलोकन से यह स्पष्ट है कि इण्टरनेट हिन्दी भाषा विकास में सर्वाधिक प्रभावी माध्यम बन रहा है। इण्टरनेट के माध्यम से हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ, नवीनतम सूचनाएँ, पुस्तकें हमें प्राप्त हो रही हैं। अतः हिन्दी भाषा के विकास में इण्टरनेट दिशादर्शक बनता नजर आ रहा है। हम हिन्दी भाषा को इण्टरनेट के माध्यम से जितना जीवनोपयोगी, व्यवसायमूलक बनाने की दृष्टि से विकसित करेंगे उतनी जल्दी हिन्दी समृद्ध और शक्तिमान भाषा बनकर विश्व के सामने आएगी। सरकारी, सार्वजनिक, व्यक्तिगत, स्कूलों, कालेजों में व्यापक तौर पर यदि हिन्दी भाषा विकास के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'इण्टरनेट' का प्रयोग किया जाएगा तो हिन्दी अन्ततः विश्व-मंच पर अपनी अलग पहचान बनाएगी, इसमें दो राय नहीं।

संदर्भ-संकेत

1. डॉ. अर्जुन तिवारी—हिन्दी पत्रकारिता का बृहद् इतिहास, पृष्ठ 17, 18
2. संपा. डॉ. शशि भारद्वाज—भाषा (द्वैमासिक) पत्रिका, मई-जून, 2002, पृष्ठ 132
3. प्रह्लाद शर्मा—इण्टरनेट और पुस्तकालय, पृष्ठ 2
4. सम्पा. अरविंद त्रिपाठी, गुंजन शर्मा—कंप्यूटर शब्दकोश, पृष्ठ-3
5. सम्पा. डॉ. डी. एन. प्रसाद—बहुवचन, अक्टूबर-दिसम्बर, 2007, पृष्ठ 130, 131
6. डॉ. हरिमोहन—सूचना प्रौद्योगिकी और जनमाध्यम, पृष्ठ 25
7. डॉ. गोविन्द प्रसाद, अनुपम पाण्डेय—हिन्दी पत्रकारिता का स्वरूप, पृष्ठ 282
8. सम्पा. नन्द किशोर मिश्र—भाषा (द्वैमासिक) पत्रिका, मई-जून, 1996, पृष्ठ 10
9. सम्पा. डॉ. गंगाप्रसाद विमल—भाषा (द्वैमासिक) पत्रिका, मई-जून, 1996, पृष्ठ 14
10. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम—अग्नि की उड़ान, पृष्ठ 183

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शंख-सिन्दूर

समीक्षा : ब्रज बिहारी कुमार

वरिष्ठ साहित्यकार, बहु-भाषाविद् एवं रामकथा के विशेषज्ञ डॉ. रमानाथ त्रिपाठी से कुछ समय पूर्व उनके उपन्यास '*शंख-सिन्दूर*' के *अंग्रेजी अनुवाद* की प्रति (*अनुवादक, प्रो. प्रभात कुमार पाण्डेय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय*) प्राप्त हुई थी। मेरे आग्रह पर उनसे मुझे पुस्तक की *मूल हिन्दी प्रति* भी प्राप्त हुई थी (*प्रकाशक : साहित्य सहकार, दिल्ली-32*) उल्लेख्य है कि उपन्यास के उड़िया एवं असमी अनुवाद भी (क्रमशः डा. अभय कुमार पटनायक एवं डा. भूपेन्द्र राय चौधुरी द्वारा) प्रकाशित हुए हैं।

अपने छोटे कलेवर (परिशिष्ट के अतिरिक्त मात्र 105 पृष्ठ) के वावजूद यह हिन्दी का एक विशिष्ट उपन्यास है; पूर्वी बंगाल (वर्तमान बांगलादेश) की पृष्ठभूमि में लिखा गया हिन्दी का संभवतः अकेला उपन्यास। जैसा कि पुस्तक के प्रारंभ में ही सत्यपाल चुघ के विचार उद्धृत किये गये हैं : "यह एक ऐसी संयमशील ब्राह्मण-कन्या की करुण कहानी है जिसके गंगाजल से पवित्र और कच्चे नारियल के दुधिया रस से मधुर-शीतल स्नेह को ठुकरा कर उसका प्रेमी ठीक विवाह के दिन, नस-नस को झनझना देने वाले नशीले प्यार की ऊष्मा की खीज में धर्मान्तरण कर बैठा।" चन्द्रावती चिर-कुमारित्व स्वीकार करती है; फुलेश्वरी नदी के तट पर अपने लिए अपने पिता वंशीदास द्वारा बनवाये गये शिव मन्दिर में आराधना करते हुए वह आजीवन रामायण रचना में तल्लीन रही। चन्द्रावती कृत 'रामायण' का जिसे वह पूरा नहीं कर सकी थी–उल्लेख रामानन्द सागर ने अपनी 'धारावाहिक रामायण' के संदर्भ में किया है। रामायण के अतिरिक्त चन्द्रावती ने, जो स्वयं संस्कृत की पण्डिता थीं, 'दस्यु केनारामेर पाला' तथा 'मलुआ सुन्दरी' नामक गाथा गीतों को सामान्यजन के लिए लिखा था। नयन चाँद प्रणीत गाथा-गीत 'चन्द्रावती चरित' के अतिरिक्त चन्द्रावती प्रणीत उल्लिखित तीन गाथा-गीतों के विभिन्न पात्र इस उपन्यास में अवतरित हुए हैं। कहना न होगा कि इन विभिन्न कथाओं के अन्तर्गुम्फन से यह उपन्यास अत्यन्त रोचक बन पड़ा है। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि विभिन्न गाथा-गीतों पर आधारित यह उपन्यास बिल्कुल काल्पनिक भी नहीं है। चन्द्रावती के पूर्वज चक्रपाणि राढ़ देश से जाकर ब्रह्मपुत्र के किनारे एक गाँव में बस गये थे। उनकी पाँचवीं पीढ़ी में वंशीदास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भट्टाचार्य हुए जिन्होंने 'मनसा-मंगल' काव्य लिखा था, जो पद्मापुराण के नाम से भी विख्यात है। इसके लेखन में चन्द्रावती का भी योगदान रहा था।

स्वर्गीय दीनेशचन्द्र सेन ने 'पूर्व बंग-गीतिका' एवं 'मयमनसिंह गीतिका' नाम से कलकत्ता विश्वविद्यालय से कई खण्डों में बांगलादेश के गाथा गीतों का संकलन प्रकाशित कराया था। 'प्राचीन पूर्व बंग गीतिका' के लेखक वृद्ध क्रान्तिकारी श्री क्षितीश चन्द्र मौलिक ने तो गाँव-गाँव घूमकर इन गीतिकाओं का संकलन किया था। वंशीदास का गाँव पातुआरी/पातुरी, मालो/मलुआ का पतुआरी के निकट आड़ालिया तथा केनाराम का बाकुलिया अब भी मयमनसिंह के किशोर गंज में अवस्थित हैं। मौलिक 1935 में और अन्तिम बार 1954 में फुलेश्वरी नदी से थोड़ा हटकर निर्जन स्थान पर अवस्थित पातुआरी गाँव गये थे; शिव मन्दिर जीर्ण-शीर्ण अवस्था में था। ध्यातव्य है कि मालो तथा केनाराम उपन्यास के मुख्य पात्रों में हैं। इस उपन्यास में चिर कुमारित्व का वरण करनेवाली चन्द्रा/चन्द्रावती के साथ ही उसके चिर कुमारित्व के कारक जयचन्द्र हैं (जयन्त तथा जयानन्द भी उसी के नाम लोकगीतों में हैं)। इसमें सीता है तो उसे पुनः वनवास देनेवाले राम भी; रावण है तो मन्थरा को मात देनेवाली राम की सौतेली बहन कुकुआ भी। मालो (लोकगीतों की मलुआ) सारे प्रलोभनों तथा दबाव को झेलते हुए गरीब पति का साथ नहीं छोड़ती।

जयचन्द्र आशमानी के आकर्षण में पड़कर मुसलमान बना था। आशमानी का पिता बाउल मियाँ बेहद उदार व्यक्ति था तो उसका फुफेरा भाई आब्दुल्ला कट्टर जेहादी। बाउल मियाँ ने एक बार पण्डित वंशीलाल से पूछा था : ठाकुर क्या मै हिन्दू हो सकता हूं? बाउल मियाँ ने अपने ब्राह्मण अतीत और इस्लामी वर्तमान के बीच का पूल तोड़ा नहीं था। बगल के गाँव की मुसलमान औरतों को पूल न तोड़ पाने की कीमत बाउल मियाँ के भगीना आब्दुल्ला के हाथ अपनी इज्जत तथा अपने प्राण देकर चुकानी पड़ी थी।

इस उपन्यास में केनाराम दूसरे अंगुलिमाल के रूप में अवतरित हुआ है। निःसंतान माता-पिता को देवी-पूजा से केनाराम प्राप्त हुआ था। देवी-पूजा से क्रय किए जाने से उसका नाम केनाराम रखा गया। दूध के एक दो दाँत होते ही माँ मर गयी। पिता पालने के लिए मामी को दे आये। भयंकर अकाल पड़ा। मामा ने पाँच कट्ठा धान के बदले उसे एक दस्यु सरदार को बेच दिया। भयंकर डाकुओं के बीच पल-बढ़कर केनाराम खूंख्वार डाकू बना। अत्यन्त निर्मम। उसीसे वंशीदास भट्टाचार्य एवं उनके दल की मुलाकात मयमनसिंह के जंगलों में हुई थी। उन्हें मारने के पहले उसने उन्हें अपना गान सुनाने को कहा। वाद्य-यंत्रों की झंकार के साथ मधुर संगीत की लहरियों से जंगल प्रांतर गूँज उठा। सारी रात मनसा-मंगल का गान होता रहा। सवेरा हो गया था। अचानक केनाराम चीत्कार कर रो पड़ाः "गुरु, यह तुमने क्या सुना दिया? गुरु हो—"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"गुरु मुझे तो आज तक ऐसी बातें किसी ने नहीं बताईं। माता-पिता और बेटे का, पति और पत्नी का ऐसा भी प्रेम होता है, यह मैंने कभी नहीं जाना। मुझे अपने चरणों में ले लो। अब भीख मत मांगना गुरु! मैं तुम्हें इतना धन दूँगा कि सात पीढ़ी तक बैठे-बैठे खाओगे।"

पागलों की तरह भागते हुए जाकर वह नई स्वर्ण मुद्राओं से भरे तीन घड़े उखाड़ लाया। वंशीदास के नहीं लेने पर उसने उन्हें नदी की धारा में फेंक दिया और रक्त रंजित खांडा से अपनी गर्दन काटने को उद्धृत हो उठा। गुरु ने रोका, उसे मुक्ति का मंत्र दिया। हृदय-परिवर्तन के लिए अंगुलिमाल को बुद्ध मिले थे; दस्यु केनाराम को वंशीदास।

अपनी भूल की तीव्रानुभूति के प्रायश्चित्त-स्वरूप जयचन्द्र ने जल-समाधि ले ली। इस घटना के आघात से चन्द्रावती भी चल बसी। फुलेश्वरी के तट पर उसकी चिता पर सभी थे, सब वर्गों के लोग। केनाराम ने मृदंग के खोल फाड़कर फेंक दिए। "जब साक्षात पद्मा-बेटी चन्द्रा नहीं रही तो किसके गीत गाऊँगा?" पंडित वंशीदास छोटी सी पोटली लेकर वृन्दावन जा रहे थे। केनाराम भी साथ हो चला। अपने छोटे से बेटे चन्द्रमोहम्मद के साथ आशमानी भी।

चन्द्रावती के बड़े भाई, श्रीवल्लभ ने उसकी एकमात्र अमानत बाँस की एक पिटारी को खोला। एक पुरानी फटी साड़ी में लिपटे एक जोड़ा शांखा (शंख की चूड़ियाँ) एवं सिन्दूर मिले; साथ ही दो बस्ते। शांखा एवं सिन्दूर जयचन्द्र ने मालो के द्वारा विवाह की तिथि के तीन-चार दिन पूर्व चन्द्रावती को भिजवाए थे। बंगाल में वे स्त्रियों के सधवापन की प्रतीक वस्तुएँ हैं। श्रीवल्लभ ने उन्हें उसी स्थान पर नदी में प्रवाहित कर दिया जहां उसकी चिता की भस्म प्रवाहित की गयी थी।

एक बस्ते में चन्द्रावती प्रणीत 'दस्यु केनाराम का माला' एवं 'मलुआ सुन्दरी' की प्रतियाँ थीं, तो दूसरे में उसी के द्वारा लिखी गयी रामायण की अपूर्ण प्रति।

पूर्व बंगाल के सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं प्राकृतिक परिवेश को दर्शाता यह हिन्दी का अनूठा उपन्यास है। यहाँ इस बात पर बरबस ध्यान चला जाता है कि दूसरे प्रदेशों की पृष्ठभूमि में लिखे, विशेषतः बिहार एवं झारखण्ड के बांगला उपन्यासों की लम्बी परम्परा रही है। हिन्दी में यह अभाव खटकता है। उपन्यास की मनोहर गतिशील संवादात्मक शैली, तत्कालीन रूपकों एवं लोक तत्वों का सफल समायोजन, बांगला पदों का अन्तर्गुंफन, नये बिम्बों एवं उपमाओं का प्रयोग, रचना का कसाव एवं आवेग दीप्त काव्यात्मक भाषा इस कृति को विशिष्ट बनाती हैं। इसमें प्रयुक्त बिम्बों एवं उपमाओं का उल्लेख आवश्यक है, जैसे : ज्वार का चील, महुआ के फूल सा सुन्दर, हृदय में कदम्ब खिलना, तितलियों के पंख सी फड़फड़ाती पलकें, तीलफूल सी नाक, पके केले से भरे अंग, लाल मिर्च सी चटपटी। उपन्यास में गुम्फित बांगला पदों के मूल रूप पाद-टिप्पणियों में दिए जाने से पुस्तक महत्त्वपूर्ण बन जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आप्तलोक की तलाश की कहानियाँ*

संजय कुमार सिंह**

'टुकड़ा-टुकड़ा आकाश' डॉ. सुकन पासवान प्रज्ञाचक्षु की इक्कीस छोटी-बड़ी कहानियों का संग्रह है। इन कहानियों की पाठ-प्रक्रिया का प्रत्याख्यान यह कहकर किया जा सकता है कि मनुष्य के हृदय की सबसे बड़ी लालसा होती है कि उसके भाव- विचार और अनुभव अपनी व्याप्ति में कहानी बन जाएँ। यह बन जाना ही उसकी रचना-प्रक्रिया है यानी दृष्टि बिन्दु का मुख्य तनाव।

कहना नहीं होगा कि पाठक जब कहानी से गुजरता है, तो वह उस पाठ के अलावे अपना भी एक पाठ बनाता चलता है। ऐसा करते हुए वह कहानी की रचना-प्रक्रिया की पाठ-प्रक्रिया के अंदर आत्मसात करते हुए कहानी की बारीकियों, प्रतीकों, फैंटेसियों, भाषिक संरचनाओं, स्वरूपों का भी उल्लेख करते चलता है। इसके लिए उत्तरदायी समय सन्दर्भ को भी पाठ प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण माना जाना चाहिए। कहानी की पाठ-प्रक्रिया दुहरे स्तर पर चलने वाली एक जटिल मानसिक क्रिया है जहाँ पाठक की सबसे बड़ी चाहत कहानी के मर्म तक पहुँचने की होती है। कहानी का मर्म वास्तव में अनुपस्थित की तलाश है।

'टुकड़ा-टुकड़ा आकाश' की कहानियाँ भी आज की भूमंडलीकृत बाजारवादी व्यवस्था में आप्तलोक की तलाश करती हैं। वह जो सामयिक स्वार्थ और अमानवीय आपाधापी के अश्वमेध में कहीं खो गया है। दरअसल यह ट्रेजेडी उस कहानी की भी है, जिसके अंदर कभी पूरा लोकजीवन धड़कता था। जातीय जीवन का जीवन्त इतिहास रचा होता था और किस्सागो की आँखों में अतीत की स्मृतियों की कौंध वर्तमान से लेकर भविष्य तक फैली हुई दिखती थी। पर आज कल्पना का, भावना का और स्मृति का वह लोक वर्तमान की चौखट पर लहू-लुहान है, "कल रहेंगे कि नहीं"—इसका भी जब पता नहीं तक आदमी के ख़ून का प्यासा बना है आदमी जो चलता आदमी? इन कहानियों के बारे में कुछ कहने से पहले डॉ. सुकन पासवान अगर यह जिन्दगी होती हजारों साल की तो फिर आदमी से कौन-सी चाल प्रज्ञाचक्षु के

*टुकड़ा-टुकड़ा आकाश, लेखक सुकन पासवान प्रज्ञाचक्षु, पंकज बुक्स, दिल्ली-110091, मूल्य 150 रुपये

**डॉ. संजय कुमार सिंह, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, डी.एस.कॉलेज, कटिहार, पिन-854105

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखकीय वक्तव्य को भी देख लेना जरूरी होगा, "संग्रह की कहानियों को मैंने उनकी जन्म की मिट्टी, परिवेश ओर आबोहवा से अलग नहीं होने दिया है।"...यहाँ यह कहना बेमानी होगा कि इनसे अलग कहानी का कोई जीवन होता। कहानी कहने-सुनने से लेकर लिखने-पढ़ने की परम्परा तक हमारे होने की इन्हीं वास्तविक और अवास्तविक अनुभूतियों से जुड़ी होती है, लोक गया तो हम गए और कहानी गयी। सच तो यह है कि इस अर्थ में वह लुप्त होते लोक का पुनःसृजन करती है—

ठीक 'पूस हार्डी के बूड़ान' की तरह! प्रकारांतर से हर कहानी और कहानीकार यही करता है—यही कहानी की रचना-प्रक्रिया का सार्वभौमिक और सार्वकालिक सत्य है। आइए हम इसी पुनः सृजित दुनिया की तलाश करें। इन कहानियों में पहली कहानी है, 'टुकड़ा-टुकड़ा आकाश' जो संबंधों के स्वार्थपूर्ण विखण्डन की कहानी है जहाँ आनंद के आई. ए. एस. बनने और वर्गांतरण के बाद कई दुनियाओं के आकाश टुकड़ों में विध्वस्त हो जाते हैं। रामदेव सिंह की कहानी 'गठरी' की याद आती है जहाँ बिखरी हुई गठरियों के बीच अपनी दुनिया के साथ माँ पीछे छूट जाती है—नैरेटर कलात्मक उपक्रमों से उस छूटती दुनिया को पुनः सृजित कर पाता है। प्रज्ञाचक्षु की इस कहानी में एक तरह से उस छीजती दुनिया के विवरण हैं। इस आई. ए. एस. वर्ग की प्रतिभा, मेधा, महत्ता और बुद्धिजीविता के सारे मान्य-मूल्य परम्परागत उम्मीदों और आस्थाओं की सीमा रेखा को तोड़कर अर्थ की अपसंस्कृति में अब विन्यस्त हो गए लगते हैं।

'सिंगेसर फूफा' एक दुर्लभ चरित्र कथा है, जो आज की दुनिया से लुप्त होने की कगार पर है। कहानी में चरित्र सृष्टि का अपना महत्त्व होता है। पर यह केवल कथा सृष्टि नहीं है, बल्कि जीवन के अहम किरदार हैं, जो कभी थे, पर आगे नहीं रहने वाले हैं। उनमें ईमानदारी, कर्मठता और कर्मशीलता का अहेतुक जीवट होता था। ठीक बेनीपुरी के पात्रों जैसे वे गये, वह दुनिया गयी। प्रज्ञाचक्षु के सामने जब एक से एक जटिल संश्लिष्ट अन्तर्विरोधी मनोशिल्प वाले छूटे हुए लोगों की दुनिया है तो वे सिंगेसर फूफा को याद कर कहानी को भूलते और छूटते रास्तों की ओर ले जाना चाहते हैं। माँ कहती है, "वे धोती लेकर जिस साल लौटे थे, रास्ते में ही गंडकी की गोद में उनकी नाव पलट गयी।" (पृष्ठ 22) पर मेरी नजर में तो यह अनिवार्य दुर्घटना है। नाव न भी पलटती, तो कोई न कोई गंडकी उन्हें लील जाती।

वस्तुतः मैं कहानी को तोड़कर नहीं, जोड़कर पढ़ने का आदी हूँ। यह मेरी अपनी पाठ-प्रक्रिया है? जो जरूरी नहीं कि कहानीकार के पाठ से मेल खाए ही। कहानी की अपनी मुक्ति होती है और पाठ-प्रक्रिया की अपनी। मैं डॉ. नामवर सिंह के इस कथन से सहमत हूँ कि अक्सर कहानी का विचार उसका वक्तव्य नहीं होता। अब कहानी में नाव वाली दुर्घटना को ही लीजिए इस आकस्मिक घटना की अपनी अनिवार्य प्रयोजनीयता है। इसे जाने बिना कहानी के मर्म तक पहुँचना असंभव है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कथादेश के दिसम्बर 2006 कहानी नये पाठ-6 में जयप्रकाश ने पाठ-प्रक्रिया पर बहुत सारे मौलिक सवाल उठाए हैं। यह जरूरी है कि पाठ-प्रक्रिया, पाठ-प्रविधि और पाठ के औचित्य आदि पर हम गम्भीरता से विचार करें—वहाँ सिर्फ नए ढाँचे का सवाल नहीं है। आरंभ से ही पाठ-प्रक्रिया का सवाल है यह। किलर्ज कहानी के सन्दर्भ में डॉ. सिंह ने इशारा किया है। केवल मोहन दास, वारेन हेस्टिंग्स का साँड़, पाल गोमरा का स्कूटर, अविनाश मोटू आदि कहानियों के सन्दर्भ में ही इस पर विचार नहीं होना चाहिए। आत्मपूर्ण ग्रहणशीलता के लिए समग्रता में सामाजिक/सांस्कृतिक परिवेश का परिज्ञान होना आवश्यक है। नए ढ़ाँचे और गढ़ंत के सन्दर्भ में ही कहानी में समाये विवरणों, सूचनाओं, तथ्यों, प्रतीकों, अन्यार्थों आदि की चर्चा नहीं होनी चाहिए। ऐसा कहकर हम कहानी का सुविधानुसार सरलीकृत विजापान करते हैं जबकि सच्चाई यह है कि कोई भी साहित्यिक अभिव्यक्ति सर्जनात्मक यानी गढ़ंत होती है। क्या बूड़ान गढ़ंत नहीं है? प्रेमचंद की बड़े भाई साहब, कफन, पूस की रात नहीं? बहुत सीधी-सी कहानी सिंगेसर फूफा भी गढ़ंत है। कहानी का मर्म तो गढ़ंत के बाहर होता है, उसे ढूँढ़ना पड़ता है। हिन्दी कहानी के मामले में यह पाठ-प्रक्रिया का दोष कहा जाएगा कि हमने कोई ऐसी पाठ-प्रविधि नहीं बनाई कि सरलीकरण से बचा जाए। क्या तथाकथित गढ़ंत वाली (मैं नहीं कहता) कहानी ही श्रेष्ठ होती है? गढ़ंत के कई रूप हो सकते हैं। हमें इस अन्तर्विरोध के यथार्थ को समझना होगा। बकौल डॉ. नामवर सिंह, "आज बहुत-सी श्रेष्ठ कहानियाँ; गो श्रेष्ठ कहानियाँ बहुत नहीं होतीं और न हैं ही, ऐसी मिलेंगी, जिनका कथानक चढ़ाव-उतार हीन, एकदम सपाट है, जिसमें पहाड़ी सड़क की तरह न तो कदम-कदम पर आकस्मिक मोड़ मिलेगा और न ऊँचाई-नीचाई ही। (पृष्ठ सं. 15); कहानी नई कहानी। जयप्रकाश जी बताएँगे, कि इन कहानियों के गढ़ंत में अन्यार्थों की कोई स्थिति होती है कि नहीं? क्या इन्हें गढ़ंतहीन कहानियों की श्रेणी में रखा जाएगा? उनसे यह भी कहना है कि मनोरंजन और बुद्धिरंजन कोई अलग प्रक्रिया नहीं—यह ग्रहणशीलता का परिणाम है। बैंडिट क्वीन देखते हुए हम जिन अनुभवों से गुजर रहे थे, उसके विपरीत कुछ लोग सीटियाँ बजा रहे थे। इस अलग स्तर को तो स्वीकार किया जा सकता है पर इसे उस फिल्म का मर्म नहीं कहा जा सकता। मानसिक क्रिया व्यापारों का वर्गीकरण गंभीरता से होना चाहिए। कहानी के लिखित विमर्श में सौन्दर्यात्मक क्रियाकलाप से क्या आशय हो सकता है? दूसरी बात कि कहानी की पाठ-प्रक्रिया पर वह विमर्श किन लोगों के बीच हो रहा है? हमारे बीच विमर्श के कुछ सुचिंतित प्रतिमान होने चाहिए अन्यथा हम अपने ही बनाए जाल में फँस जाएँगे। रस, मर्म, वक्तव्य आदि शब्दों को पारिभाषित करना होगा इसकी प्राप्ति पाठक में कैसे होती है? और कहानी के पाठक से हमारा अभिप्राय क्या है? हम किस पाठक की चर्चा पाठ-प्रक्रिया में करते हैं? डॉ. सिंह (कहानी नई कहानी, पृष्ठ 77) पर उस पाठक के बारे में कहते हैं, "इस प्रकार एकदम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल तो नहीं फिर भी काफी करीब की एक कहानी प्रतिमा निर्मित होती है...कहानी पढ़ने का मतलब है एक ऐसी ही प्रतिमा का निर्माण।"

...मेरे समझ से यही कहानी का नया पाठ है जो उस मूल पाठ का अतिक्रमण करता है। डॉ. बच्चन सिंह उत्तर-आधुनिकता और विखंडनवाद के सन्दर्भ में इसे अनुपस्थित की तलाश कहते हैं, "शब्द अपने आप में अपर्याप्त और अपूर्ण होता है। वह जितना कहता है, उससे अधिक नहीं कहता यानी उसमें विलोपीकरण की शक्ति है...चिह्नों में कुछ निशान होते हैं, जो हमें अनुपस्थित अर्थ की ओर ले जाते हैं।" (पृष्ठ 103) आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज-शब्द)। टेक्स्ट से ही बना है टेक्स्चर जिसे हम पाठ-रूप, शब्द-रूप, शब्द-रचना आदि कहते हैं। और यही किसी कहानी का भी रूप है जो गढ़ंत है। हिन्दी आलोचना में कहानी की पाठ-प्रक्रिया पर गंभीरता से विचार नहीं हुआ है। कुछ कहानियों तक विमर्श को सीमित रखने से कोई पाठ-पद्धति नहीं निर्मित होगी।

आकस्मिक नहीं कि डॉ. सुकन पासवान प्रज्ञाचक्षु की कहानियों के साथ पाठ-प्रक्रिया पर संवाद का यही अभिप्राय है। कोई भी कहानी अच्छी या खराब दृष्टि-बिंदु के तनाव के कारण होती है। यही सृजन का माकूल आधार है जो रचनाकार की यथार्थ को देखने की दृष्टि हो सकती है किन्तु पाठ-प्रक्रिया में समानुभूति फिर भी हो सकती है। *ठाकुर का कुआँ* का हर पाठ दलित विमर्श के पक्ष में जाएगा, मेरा मतलब कुपाठ से नहीं है। लेकिन 'आरक्षण का संरक्षण' प्रज्ञाचक्षु की एक जटिल और संश्लिष्ट यथार्थ की कहानी है। जो आरक्षण के राजनीतिक पाठ का अतिक्रमण है। कहानी अलग तरीके से इस पोल को खोलती है। मुक्ति मंत्र आत्म छलनामय जीवन की दास्तान है तो अपहरण की केस थ्योरी पढ़कर यही लगा कि लगभग डॉ. कविता चौधरी की कहानी भी यही है। हमारा सभ्य समाज एक नैतिक फिसलन के दौर से गुजर रहा है। हत्या और अपहरण तो सिर्फ सिक्के के अभिन्न पहलू हैं। असल सवाल अनैतिकता का है। इसी तरह एक्सचेंज ऑफर भी विकृत और कुंठित समय समाज की कहानी है, जिसके पीछे उपभोक्ता संस्कृति वाली आत्म- विच्युत दुनिया का यथार्थ है। 'अग्रवादी' कहानी का संदेश महत्त्वपूर्ण है, जहाँ आतंक मिटानेवाला आंदोलन लक्ष्य भ्रष्ट हो जाता है। बैट नं. सरकारी लालफीताशाही और भ्रष्टाचार की कहानी है तो 'मछली' आत्मविच्युत मनुष्य की एक कतरा पानी के लिए पामाल जिंदगी का इतिवृत्त। 'रोता चाँद बिलखता सूरज' मिथक के बदल जाने की कहानी है। संग्रह की अन्य कहानियों में पीपल परछाई, माँ आदि का भी विशेष रूप से जिक्र होना चाहिए।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि प्रज्ञाचक्षु की कहानियों में बदलती हुई बाजारवादी आधुनिक दुनिया की तस्वीरें हैं, व्यवस्था के रूप में जिस भूमण्डलीकृत मॉडल को जीने के लिए हमने आयात किया है। जाहिर है वहाँ सम्बन्धों के स्वरूप बदल गए हैं। पूँजी निवेश वाले इस दौर में भौतिक संसाधनों की ओर भागती मनुष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
की लिप्साओं के साथ महत्वाकांक्षाओं का अन्तःसंघर्ष और अनिवार्य परिणति के रूप में विध्वंस होता लोक जीवन है। ऐसा लगता है कहीं न कहीं कुछ हम 'मिस' कर रहे हैं। एक ऐसी व्यवस्था, ऐसा तन्त्र जो हमारा नहीं है या हमारा होकर भी हमें अपनी दुनिया से अलग कर रहा है। अलगाव, विस्थापन, निर्वासन, आत्मविच्युति आदि आज की अमानवीकृत मानवीय दुनिया की नियति हैं। इन कहानियों के यही पाठ हो सकते हैं। पर आपत्ति के रास्ते फिर भी खुले रह जाते हैं।

पुनश्चः हाँ जयप्रकाश जी (पृष्ठ 79 कथादेश-2006 पर) कहते हैं, "नई गुण ग्राहकता और सौंदर्य दृष्टि के अभाव में वॉरेन हेस्टिंग्स का साँड़ एक देशी युवती की प्रेम गाथा की तरह पढ़ी जाएगी।" सवाल उठता है क्यों पढ़ी जाएगी? कहानी बदल गई और उसी समय-समाज का पाठक मूर्ख रह गया? काव्यशास्त्र में पाठकों की कोटियाँ बनाई गई हैं। शास्त्र होता ही है लोक शिक्षण के लिए। हिन्दी आलोचना ने क्या किया? क्या पाठक का अतिसाधारण और सरलीकृत विभाजन ही उसकी उपलब्धि है? उसका पाठक अद्यतन 'अपटुडेट' नहीं हुआ तो यह दोष किसके मत्थे मढ़ा जाएगा? हाँ एक पाठ के पक्ष में मैं कतई नहीं हूँ, एक प्रविधि हो सकती है। अगर प्रेम गाथा के रूप में ही पढ़ी जाए तो दूसरी कहानी 'तीसरी कसम' का कोई और पाठ नहीं होगा। पर मुझे तो इस कहानी में अर्थ की विडंबना दिखती है। यह विडंबना ही कहानी का असली मर्म है, जो अपने अभिप्राय में भेद मूलक अर्थ व्यवस्था की त्रासदी की ओर संकेत है। हीराबाई और हीरामन अर्थ की विडंबना के कारण ही अपनी स्वाभाविक दुनिया से आत्म निर्वासित हैं। अतः दोनों का प्रेम कथामुक्ति का योग है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में भी अर्थ सत्ता का यह खलनायक महत्त्वपूर्ण है। असल में चीजों को देखने की एक दृष्टि होनी चाहिए जो पाठ-प्रक्रिया को कहानी के आर-पार ले जाए, तभी उसकी उपयोगिता सिद्ध होगी। सामाजिक जीवन एक सघन, कॉम्प्लेक्स यथार्थ है जो सम्बन्धों के जाल से घिरा होता है पर यह सम्बन्ध एक जैसा नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समग्र यथार्थ की कहानियाँ*

संजय कुमार सिंह**

डॉ. विजयराघव रेड्डी द्वारा अनूदित तेलुगु की तीस प्रतिनिधि कहानियों के संकलन से गुजरना मेरे लिए एक सुखद अनुभव रहा। भारत के जिस भौगोलिक, सांस्कृतिक एकता की बात हम सैद्धांतिक रूप में करते हैं, उसका व्यावहारिक रूप इन कहानियों में मूर्त होता है। डॉ. रेड्डी साधुवाद के पात्र हैं, सवाल अनुवाद की उस ऐतिहासिक परम्परा के उल्लेख का नहीं, उसे अक्षुण्ण बनाये रखने का है। अनुवादक का जीवट, उत्साह और रचनाधर्म के प्रति प्रतिबद्धता का कायल कोई भी हो सकता है। सही अर्थ में अनुवाद दो भाषाओं के बीच एक ऐसा पुल है, जो आपस में बँटी अपनी ही दो दुनियाओं को जोड़ता है। मनुष्य के दुःख-दुख, रोग-शोक, आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, संघर्ष और जिजीविषा दुनिया के किसी भी हिस्से में एक दूसरे से अलग नहीं होते। साहित्य ही समत्व का वह प्रतिमान है, जो हमें एक-दूसरे से जोड़ता है। आज के उदारीकरण और भूमंडलीकरण के इस दौर में भी हमारे लिए अंतःक्रिया और संवाद का एक मात्र रास्ता यही है। अगर युवाकवि कल्लोल के शब्दों में कहूँ तो 'पूरब को जानने के लिए पूरब घूमना जरूरी नहीं है?' वस्तुतः तेलुगु समय-समाज या कहें अपने समय-समाज को जानने के लिए यह संग्रह ही काफी है। अनुवादक ने ठीक ही लिखा है-"जो कहानियाँ तेलुगु भाषी समाज के वैशिष्ट्य को प्रतिपादित करती हैं और जो आन्ध्रप्रदेश के विभिन्न भौगोलिक अंचलों के जन-जीवन के जीते-जागते चित्र को प्रस्तुत करती हैं, उनको इस संकलन में प्रमुखता दी गयी है।" यहाँ यह कहना आवश्यक हो जाता है कि बाहरी वैविध्य के बावजूद अपनी आंतरिक संरचना में साहित्य का यथार्थ एक ही होता है, क्योंकि वह मनुष्य की दुनिया के यथार्थ से सृजित होता है। अब्बूरिछायादेवी की कहानी *'हमारे ये अड़ोसी-पड़ोसी'* में मानवीय संबंधों के जिस आत्मक्षरण को प्रतीकात्मक ढंग से कहा गया है, वह किसी भी समय-समाज के लिए चिंतनीय है। हमने शहरीकरण और उपभोक्तावाद के नाम पर जो दुनिया बनायी

---

* *तेलुगु की तीस प्रतिनिधि कहानियाँ, अनुवादक—डॉ. विजय राघव रेड्डी, मूल्य 250 रु., प्रकाशक—ग्रंथ सदन 27/109ए/3 भूतल, शंकर गली के सामने, ज्वालानगर, शाहदरा, दिल्ली-110032*

** अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, डी.एस.कॉलेज, कटिहार, पिन-854105, मो. नं. 09431867283

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, उसका सब से बड़ा संकट है स्वार्थ और संवेदनहीनता। अपनी जिम्मेवारियों से पलायन और दूसरे का उपभोग। यह कंक्रीट का जंगल है, जहाँ सारी क्रियाओं के केन्द्र में है अर्थ की क्रिया। पर्यावरण और अन्य जीवों की उपेक्षा स्वभाविक है। लेकिन क्या अपनी इस दुनिया में इतनी क्षुद्रता के साथ यह आदमी भी रह पाएगा? 'पराजिता' प्रेम के महत्त्व को समझानेवाली एक करुण कहानी है। राव के अहैतुक लगाव को विश्वम के पैसे के कारण ठुकरानेवाली पार्वती का आत्मशोध है यह। भौतिक सुख प्रेम का भवितव्य नहीं है, सब कुछ गँवाने के बाद ही समझ पाती है पार्वती। "मैं और चंचला" स्त्री और पुरुष के संबंधों को व्याख्यायित करने वाली एक मनोवैज्ञानिक कहानी है। वही '*ओल्गा*' की '*सहारा*' एक संतुलित कहानी है। स्त्री-पुरुष के संबंधों की नियति कुछ ऐसी है कि हमेशा से पुरुष वर्चस्व के पीछे घर-परिवार के नाम पर वही कीमत अदा करती है, इसलिए विजयलक्ष्मी सहारा का अर्थ सेवा कहती है, मगर यह कहानी अपने अंत में जिस निष्कर्ष तक आती है, वही महत्तर है। सचमुच अगर इतना ही होता तो ये स्त्री-पुरुष इतने लम्बे समय से एक साथ कैसे रह सकते थे? हिन्दी में जहाँ स्त्री स्वातंत्र्य और अधिकार पर विमर्श चल रहा है, वहीं सहारा इसे बड़ी स्वाभाविकता से चिरपरिचित क्षितिज प्रदान करती है, लेकिन इसपर और कुछ कहना खतरे से खाली नहीं है। हाँ गंगाधरम इस बात को जितना जल्दी समझे, उतना बेहतर।

कालुव मल्लय्या की कहानी–'साहेब की ड्योढ़ी' कतिपय अंतर्विरोधों के बावजूद पुरानी सामंती व्यवस्था के पतन की कहानी है। शोषण, दमन, आतंक और अन्याय के बल पर गाँव को जागीर की तरह इस्तेमाल करनेवालों के लिए गाँव की स्थिति अब अनुकूल नहीं है। तेलंगाना का सच यही है। लेकिन इस समस्या को कहानी में एकांगी रूप में नहीं उठाया गया है। नयी बदली हुई स्थिति भी बहुत मानवीय और गरिमापूर्ण नहीं है। मल्लय्या की कहानी में दृष्टि बिन्दु का तनाव मार्मिक है। इसी तरह चन्द्रशेखर आजाद की कहानी 'पेड़' भी एक विलक्षण कहानी है। आधुनिकता, शहरीकरण और अब उदारीकरण और भूमंडलीकरण के नाम पर हमारी आस्था, उम्मीद, स्मृति इतिहास को पिछवाड़े में धकेल कर जो खड़ा किया जा रहा है, वह खतरनाक है। यह कहानी सिर्फ 'पेड़' के कटने की नहीं, सम्पूर्ण सामाजिक व सांस्कृतिक पर्यावरण को उजाड़कर हमारे आकृति और विचारों को तोड़कर, हमारे आत्म-कथ्य को खाली कर जीने के लिए मजबूर किये जाने वाली परिस्थिति को उजागर करती है। आश्चर्य यह भी है कि किसी कारण से हम इससे सहयोग भी कर रहे हैं। 'कुवैत सावित्रम्मा' कहानी का शीर्षक अगर 'सावित्रम्मा ही होता तो भी स्त्री होने की त्रासदी में कोई कमी नहीं आती। सदियों से कभी सत्ता, कभी धर्म तो कभी अर्थ के नाम पर हमने स्त्रियों को जीने के लिए एक 'कुवैत' दिया है। दूसरी तरफ चितर्वुमधु की कहानी 'तेरे जैसा तू' एक नई उम्मीद के साथ क्लोनिंग की अन्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिणतियों से अनजान एक चौंकाने वाली कहानी है। इस पर सचेत विमर्श की आवश्यकता है।

गाँव और शहर के असामान्य विकास को रेखांकित करनेवाली कहानी है 'सोने की बेड़ियाँ'। सरकारी परियोजनाओं के पीछे जो भी तर्क हों, सच्चाई यही है कि इस सदी की कई प्राकृतिक आपदायें, मनुष्य के अधिकाधिक भोग और लालच की परिणाम हैं। कल्याणी बाँध से यहाँ भी अकल्याण हुआ, स्वर्णामुखी सूख गयी। नदी के सूख जाने से उनका जीवन डूब गया। क्या यह केवल आन्ध्रप्रदेश की कहानी है? विकास के नाम पर विस्थापन की पीड़ा भोग रहे लोगों के दर्द की क्या कीमत है पूँजी के बाजार में? लेकिन यहाँ सवाल उठता है कि हम किसे और क्या उजाड़कर मुआवजा दे रहे हैं? प्रगति का यह व्याकरण प्रकृति की दुर्दशा का व्याकरण है। लोहे की बेड़ियों से खतरनाक हैं सोने की बेड़ियाँ, जिन्हें हम चाहकर भी काटने में असमर्थ हो रहे हैं। लेकिन जिन्हें काटे बिना हमारी मुक्ति भी संभव नहीं। 'इतराते शरीफ और पिसते गरीब' में भी यह मुक्ति तभी संभव है, जब माढ़िगा लोग बड़े लोगों की राजनीति का कुत्सित यथार्थ समझें, वर्ना कितने ही ओबिगाडु और एगिटि उनके जातिगत वर्गीय स्वार्थ की बलि चढ़ते रहेंगे। संग्रह की कुछ कहानियों को पढ़कर आसानी से यह समझा जा सकता है कि आन्ध्रप्रदेश में किस वजह से नक्सलियों के आन्दोलन का औचित्य है। कुछ कहानियाँ इसका पूर्वाभास देती हैं।

कहना नहीं होगा कि इस संग्रह की सारी कहानियाँ अपने समय-समाज की बहुलतावादी सामाजिक संरचना का पोस्टमार्टम करती हैं। चाहे वह, वी.आई.पी. आदमखोर, नेह का चाँद धूमिल हो गया या घड़ियाल का मुँह जैसी कहानियाँ हों या पृथ्वी जैसी। साम्प्रदायिक अलगाव, भूख, बेकारी, शोषण-दमन, जातिगत भेदभाव, यौन हिंसा से लेकर दलितों के साथ होने वाले दुर्व्यवहारों को उकेरने वाली कई कहानियाँ हैं इस संग्रह में। मुखौटा, दीमक, काँच का गिलास फूट गया आदि कहानियों में बदले हुए समय-समाज का विद्रूप यथार्थ यहाँ-वहाँ एक सा लगता है।

डॉ. विजय राघव रेड्डी भले ही इन कहानियों के माध्यम से आन्ध्रप्रदेश के चारों अंचलों कालीगांध्र, दक्षिणांध्र, तेलंगाना और रायलसीमा के पिछले चालीस वर्षों का समग्र यथार्थ प्रस्तुत करना चाहते हों, पर कतिपय अपवादों के बावजूद यही यथार्थ भारतवर्ष के पिछले चालीस वर्षों का है। वेंकटरामि रेड्डी की कहानी 'नयी चादर' पढ़कर प्रेमचन्द की याद नहीं आए ऐसा नहीं हो सकता। लगता है वेंकटरामि रेड्डी प्रेमचन्द स्कूल के कहानीकार हों। उनकी कई कहानियों का एक कोलाज है इसमें, मसलन 'बूढ़ी काकी', 'पूस की रात' आदि। रामय्या के औदात्य के सामने कितना ओछा है ओबन्ना का विचार? यह ओछापन पहले से अधिक बढ़ा है, वह भी पूरी आक्रामकता और नृशंसता के साथ। कहानी उतनी ही ताकत से ट्रीटमेंट और प्रभाव के स्तर पर अमानवीकरण की इस प्रक्रिया का प्रतिरोध करती है। इतना ही नहीं, इनमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से किसी भी कहानी का अंतरण, किसी भी समय-समाज को जानने के लिए किया जा सकता है। अब, 'वह मुस्कुरायी' कहानी को ही लीजिए, इस कहानी का यथार्थ मर्म को छू जाता है। अमला बिमला कमला..... इन नामों का अगर सामान्यीकरण नहीं भी करें, तो उस दफ्तर से बाहर पैसे के बाजार में आज इन्हें कौन हँसा रहा है? हर चीज के साथ किसकी देह और मुस्कान बिक रही है? कौन इन्हें जिन्स और माल में तब्दील कर रहा है? यह अवमूल्यन किस तरफ नहीं है? काशीनाथ सिंह की कहानी 'इक्कीसवीं सदी के देश का सफर में' जापानी प्रोफेसर कहता है कि मैंने पूरा यूरोप देखा है, अगर बाजार आएगा तो अपनी इन शर्तों पर आएगा। वासि रेड्डी सीतादेवी की इस कहानी की कथा-वस्तु के सहारे, आज के समय-समाज का नया बहुअर्थी पाठ लगाया जा सकता है। जैसे ही कहानी का पाठ-संदर्भ बदलता है, वैसे ही दफ्तर का रंगनाथ भूमंडलीकरण और बाजारीकरण की दुनिया का ताकतवर सांड़ नजर आने लगता है और अमलाएँ प्रतिरोधहीन घास। क्या यह केवल आन्ध्रप्रदेश की अमलाओं की कहानी है या तीसरी दुनिया का सच? सचमुच आन्ध्रप्रदेश की ये कहानियाँ समग्र यथार्थ की कहानियाँ हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठकीय प्रतिक्रिया

'चिन्तन-सृजन' जैसी श्रेष्ठ, स्तरीय पत्रिका का नियमित, सुंदर प्रकाशन प्रणम्य है। मैं स्वयं ऐसे प्रयास कर तीन-तीन बार विफल रहा, अतः मेरी दृष्टि में यह एक स्तुत्य पुरुषार्थ है। जुलाई-सितम्बर 2008 के अंक में छपा श्री रमेश दवे का पत्र सर्वथा उपयुक्त है। इस पत्रिका को विश्वविद्यालयों एवं उच्च विद्या केन्द्रों में पहुँचना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो।

जुलाई-सितम्बर 2008 अंक में डॉ. लोकेश चन्द्र का लेख बहुत अच्छा लगा। शल्यजी वाला आलेख तो भारत भवन में सुना और फिर पढ़ा भी था। वह गम्भीरता से मननीय है। कोसी पर आपका लेख अत्यावश्यक था, सम्पादकीय भी। देवेश जी का भी। **–रामेश्वर मिश्र पंकज, निदेशक, निराला सृजन पीठ, भारत भवन, भोपाल-462002।**

प्रारंभ से ही मैं चिंतन-सृजन का पाठक रहा हूँ। कभी-कभार मैं उस के लिए रचनात्मक सहयोग भी देता रहता हूँ। जुलाई-सितंबर 2008 के अंक में प्रकाशित दो आलेखों ने मेरा ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया। वे हैं- श्री रमेश दवे का *इतिहास और साहित्य: स्मृति और स्वप्न* तथा गुजंन अग्रवाल का *राष्ट्रस्यचक्षु इतिहासमेतत्*। इन दोनों अलेखों में प्रतिपादित कथ्य को बुरंजी ग्रंथों की अवधारणा से तुलना करने की दृष्टिसे यह लिख रहा हूँ।

मैं देश के पूर्वोत्तर राज्यों के इतिहास, समाज, संस्कृति और साहित्य से थोड़ा बहुत परिचित हूँ, हिंदी में उन पर कुछ लिखा भी। तेरहवीं सदी से लगभग छह सौ वर्ष तक ताई भाषी अहोमों ने असम में शासन किया। आज हम जब कि इतिहास, पुराण, साहित्य और उनके पारस्परिक संबंध को लेकर तथा इन विषयों से संबंधित भारतीय एवं पाश्चात्य चिंतन की चर्चा कर रहे हैं, उस पर अहोम शासकों को बड़ी समझ थी। मुझे यह जानकारी देते हुए अमित हर्ष हो रहा है कि अहोमों ने अब से 8-9 शताब्दियों से पहले बुरंजी के नाम से ताई भाषा में जिन रचनाओं की कल्पना कर उन के माध्यम से ताई लिपि में इतिहास लेखन को प्रोत्साहित किया, वे रचनाएँ इतिहास और साहित्य का ऐसा सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करती हैं जिसकी कोई मिसाल नहीं। बुरंजी रचनाओं की मान्यता रही है कि इतिहास और साहित्य दो अलग-अलग शब्द हैं। लेकिन वे एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरे पर आश्रित हैं। एक को छोड़कर दूसरा पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता। बुरंजी ताई भाषा का शब्द है इसका विश्लेषण यों किया जाता है; बुरण्जी; बुन्मूर्ख (अज्ञानी), रणत्रिशिक्षा (ज्ञान), जीत्कोश (भंडार); अर्थात अज्ञानी को ज्ञान देनेवाला भंडार है। यह भी कहा गया है कि अपने इतिहास को न जानना शर्म की बात है। अहोमों के शासन काल में इतिहास की चर्चा आवश्यक काम माना गया है। अहोम लोग मानते थे कि इतिहास में भी साहित्य होता है और साहित्य में भी इतिहास। उनका मानना है कि ऐतिहासिक तथ्य और साहित्य एक दूसरे पर आधरित भी होते हैं। इतिहास की श्रेणी में ग्राह्य साहित्य को वे बुरंजी की संज्ञा देते हैं। बुरंजी ग्रंथ कोरे इतिहास नहीं हैं। केवल राजवंशावली, किस राजा के अधीन कौन से इलाके थे? उसके राज्य काल में कब-कब, कहाँ-कहाँ युद्ध हुए? कौन जीता और कौन परास्त हुआ? केवल ये ही तथ्यात्मक विवरण बुरंजी में नहीं मिलते। राजनैतिक, सामाजिक, प्रशासनिक व सांस्कृतिक विषय भी बुरंजी के उपादान माने जाते थे। और तो और, अहोमों के शासन काल में ऐतिहासिक तथ्य जुटाने एवं उनके रख रखाव के लिए कर्मचारी रखे जाते थे और सरकारी भंडार (ग्रंथालय) की व्यवस्था थी, उसे सरकारी गंधीया भंडार कहते थे।

असम में बुरंजी जो है, उसे साहित्य के नाम से जाना जाता है। इतिहास के साथ साहित्य के भी कुछ लक्षणबुरंजी ग्रंथों में मिलते हैं। साहित्य के कलापक्ष का भी, जैसे उपमा, रूपक आदि अलंकारों का भी, समावेश इनमें हुआ है। साहित्य-धर्मिता इन में देखी जा सकती है। इस दृष्टि से ये काव्य की श्रेणी में भी गिनाये जा सकते हैं।

नीरस घटनाओं का क्रमिक वर्णन बुरंजी ग्रंथों का लक्ष्य नहीं था। बुरंजी ग्रंथों के प्रख्यात विद्वान और अध्येता डॉ सूर्यकुमार भूञां ने अपना अभिमत यों प्रकट किया हैः 'बुरंजी की बातें सूखी अस्ति चर्म भर नहीं हैं, उनमें भावनाओं के आवेग के सुगंध भी हैं। इसलिए बुरंजियों को मात्र इतिहास न मानकर साहित्य के वर्ग में स्थान दिया जाता है।'

जैसे पहले कहा गया बुरंजियों की घटनाएँ कोरी कल्पनाएँ नहीं हैं, वे प्रामाणिक हैं, इनमें सत्य छिपाने की चेष्टा नहीं की गई है; निर्भीक होकर निरपेक्ष दृष्टि से घटनाओं को यथावत अंकित करने की परंपरा इनमें देखी जाती हैं। यदि कोई राजा चरित्रहीन हो, राज-मर्यादाओं के अनुकूल उसका व्यवहार न हो तब निस्संकोच उसका जिक्र किया गया है। बुरंजियों की घटनाओं को अन्य प्रमाणों से मिलान कर सर एडवर्ड गैट ने अपनी पुस्तक The History of Assam में लिखा है कि, 'बुरंजी ग्रंथ सत्य पर आधारित हैं। वे कहते हैं कि मुसलमान इतिहासकारों के लिखेतथ्यों से बुरंजियों के तथ्यों की सच्चाई का सबूत मिलता है। इनमें लिखे वर्ष और तिथियों के समर्थन, ताम्रफलक, मुहर, राजाज्ञा आदि से भी होता है।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत का समाज धर्मपरायण रहा है। इसमें भक्ति, आध्यात्मिकता, त्याग, तपस्या की भावनाओं की प्रधानता रही है। इसलिए बुरंजी साहित्य पर आध्यात्मिकता आदि का पुट होना स्वाभाविक माना जाएगा। इसलिए तत्कालीन लोकजीवन से ओतप्रोत आध्यात्मिक आदर्श आदि कुछ भाव-प्रधान बुनियादी बातें उनमें मिलती हैं। आध्यात्मिकता की बातों के आगार हैं हमारे पुराण। इस नाते बुरंजी ग्रंथों की हम पुराणों से तुलना कर सकते हैं। इतिहास, साहित्य, पुराण आदि भारतीय चिंतन में इस तरह जुड़े हुए हैं कि उनके बीच स्पष्ट विभाजन रेखा खींचना असंभव सा लगता है। पाश्चात्य व्यामोह में प्रवाहित आज के हम अपनी जड़ों सेकट गये हैं। पाश्चात्य चिंतन हमारे ऊपर हावी हैं। पाश्चात्य चिंतन से जनित पारिभाषिक शब्द जैसे भ्पेजवतलए छंजपवदए डनसजपसपदहनंसपेउए मबनसंतपेउए ब्नसजनतमए डलजीवसवहल आदि अनेक हमारी मूल धारणाओं से मेल नहीं खाते। इतिहास, राष्ट्र, भाषिक बहुलता, धर्म निरपेक्षता, संस्कृति, पुराण ये क्रमशः अंग्रेजी के History, Nation, Multilingualism, Secularism, Culture, Mythology के समतुल्य नहीं है।

प्राक् एवं पश्चिम चिंतन के अंतर को स्पष्ट करते हुए दक्षिण पूर्व एशिया के भाषाविद अली सजबाना ने दोनों संस्कृतियों को इस प्रकार की संज्ञा दी; प्राक् संस्कृति अभिव्यक्तिपरक है; त्याग-तपस्या से संबंधित है, सर्वमानव सौभ्रात्व से ओतप्रोत है, यहाँ का चिंतन संश्लेषणात्मक है, जबकि पश्चिम संस्कृति प्रगतिपरक है, भौतिकवाद से संबंधित है, व्यक्तिपरक है और वहाँ का चिंतन विश्लेषणात्मक है।

ये ही कारण हैं कि जहाँ हम पुराण, साहित्य और इतिहास को एक दूसरे से अलग अलग न रखकर सर्वदा एक दूसरे से भिन्न नहीं मानते हैं। इस संदर्भ में नन्नय (611वीं सदी) ने महाभारत को तेलुगु में प्रस्तुत करते हुए भारत कथा प्रस्तानम् में जो कहा है वह यहाँ स्मरणीय है, जिसमें धर्म, आध्यात्म नीति, साहित्य (काव्य), इतिहास एवं पुराण के अभिन्नाभाव संबंध की चर्चा है। पहले देवनागरी लिपि में नन्नय की पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं:

"धर्मतत्वज्ञुलु धम्रशास्त्रम्बनि, याध्यात्म विदुलु वेदांत मनियु
नीतिविचक्षणुलु नीतिशास्तम्बनि, कविवृषभुलु महाकाव्य मनियु
लाक्षणिकुलु सर्वलक्ष्य संग्रहमनि, ऐतिहासिकुलितिहासमनियु
बरम पौराणिकुलुबहु पुराण समुच्चयम्बनि महि गोनियाडु चुंड
विविध वेदतत्व वेदि वेदव्यासुडादिमुनि पराशरात्म जुंडु
विष्णुसन्निभुंडु विश्वजनीनमैं परगुचुंड जेसे भारतम्बु।।"

अर्थात्-

"जिसे धर्मज्ञ धर्म शास्त्र के रूप में, अध्यात्मविद वेदांत के रूप में, नीतिज्ञ नीति शास्त्र के रूप में, कविगण महाकाव्य के रूप में, लाक्षणिक सर्व लक्षण संग्रह के रूप में,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहासकार इतिहास के रूप में और पुराणवेत्ता कई पुराणों के समुच्चय के रूप में गुणगान करते हैं, ऐसे इतिवृत्त को व्यास महर्षि ने महाभारत मेंपरिणत किया है"

स्पष्ट है कि हमारा ही नहीं अपितु दक्षिण पूर्व एशिया ही नहीं पूर्ण एशिया अर्थात् प्राक देशों की चिंतन-सरणी में समानता है जो पश्चिम से भिन्न है। हमारा चिंतन संश्लेषणात्मक है न कि घोर विश्लेषणात्मक। इस संदर्भ में साहित्य के इतिहास लेखन, विशेषकर हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन, पर अपनी बात कहने का मैं लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। हिंदी का देश में विशिष्ट स्थान है, हिंदी साहित्य का भी होना चाहिए। हिंदी साहित्य को भारतीय साहित्य का प्रतिरूप व प्रतिनिधि साहित्य बनना चाहिए। हिंदी में इतर भारतीय साहित्य से पर्याप्त वाङ्मय मौलिक रूप में भी एवं अनूदित होकर भी आ रहा है। हिंदी साहित्य के इतिहास लेखकों से मैं यह नहीं कहता कि वे हिंदीतर भाषाएँ सीखें और उन भाषाओं में लेखन और अनुवादकरें। इतना तो कह सकता हूँ कि जो सामग्री उन भाषाओं से हिंदी में आ रही है, उसका अवलोकन करें जहाँ हिंदीसाहित्य के इतिहास लेखन में उस का समावेश हो सकता है, वहाँ करें, जिससे कि हिंदी साहित्य कोभारत के प्रतिनिधि साहित्य की संज्ञा मिल सके।

—डॉ. विजयराघव रेड्डी, विजयविलासम्, 3-13-1/10, श्रीनिवासपुरम, रामांतपुर, हैदराबाद-500 013.

सृजन में चिन्तन एवं चिन्तनमय सृजन का अभाव चहुँओर मुँह बाए खड़ा है। पत्र-पत्रिकाओं के संपादकीय; उनके कलेवर, मानवोचित आचरण-विचरण के अनुरूप रूपायित होने चाहिए। आस्था भारती दिल्ली की 'चिन्तन-सृजन' त्रैमासिक, जनमानस के मूलभूत संस्कारों में जाकर हिन्दी/हिन्दी साहित्य की गरिमामयी आस्था/थाती का निर्वहन करती है। जबकि अधिकांशतः पत्र/पत्रिकाओं के संपादक चिन्तनयुक्त सृजन को छू तक नहीं पाते। यहाँ तक कि बहुतायत में संपादकीय लिख भी नहीं पाते।

संपादक कुमार नागरिक कर्तव्याकर्तव्य का संज्ञान कराते हैं वहीं सुविज्ञ पाठकों को साहित्योन्मुख विषय वस्तु से साक्षात्कार कराते हैं। वह इसलिए भी है क्योंकि सुधी परामर्शदाताओं का पथ प्रदर्शन उन्हें उपलब्ध है। एक और एक ग्यारह। वाह्य आक्रांताओं ने भारत में सैकड़ो-सैकड़ों वर्ष अपने अधिकारों के बल पर ही राज्य किया और देशवासी अपने केवल कर्त्तव्यों में बँधे पददलित होते रहे। देश स्वतंत्र हुआ, स्वराज हैयहाँ। किन्तु आज देश का जन अपने अधिकारों की गुहार में कर्त्तव्यच्युत हो गया। देश की सम्पत्ति, फौज/ पुलिस जैसे इनके लिए बेमानी हैं; तोड़फोड़ जैसे स्वतन्त्रता की घुट्टी में पी ली इन्होंने। दरअसल देशवासी भौतिक रूप से स्वतंन्त्र हुआ मानसिक रूप से अभी तक परतंन्त्र है।

पत्रिकाओं व पत्रों में, भाषाविदों व चिंतको द्वारा भूत-वर्तमान-भविष्य की सम्यक दृष्टि का सुधी पथ प्रदर्शन, परिपालन अत्यावश्यक है। 'चितन-सृजन' त्रैमासिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह निर्वहन कर रही है। आशा ही नहीं प्रत्युत दृढ़ विश्वास है कि यह सृजन यथावत् बना रहेगा। **—बैनीकृष्ण शर्मा, संपादकः अंजुरि; 'लायक नीड' आर 1/17, (नवादा हाऊसिंग काम्पलैक्स), जैन रोड़, नजफगढ़ रोड, नई दिल्ली-110 059.**

मैं 'चिंतन सृजन' के अंक पढ़ती रही हूँ। प्रकाशित लेखों को पसन्द करती हूँ क्योकि इनके विषय हमारी संस्कृति से जुड़े होते हैं। अ.भा.सा.प. के दिल्ली अधिवेशन में गत वर्ष आपको मैंने सुना भी था, परंतु भेंट नहीं हुई। श्री शत्रुघ्न प्रसाद से अवश्य वहाँ भेंट हुई थी, 'चिंतन-सृजन' पर चर्चा भी हुई थी। **—क्रांति, 203, टॉवर-3, साईनाथ स्क्वेयर, मदर्स स्कूल के पीछे, जलाराम चार रास्ता, वडोदरा-390021.**

'चिन्तन-सृजन' का जुलाई-सितम्बर 2008 अंक प्राप्त हुआ। इस अंक में मेरा आलेख प्रकाशित करने के लिये आपको कोटिशः धन्यवाद।

'चिन्तन-सृजन' में आदरणीय लोकेश चन्द्र के अपने पूज्य पिता प्रातः स्मरणीय आचार्य रघुवीर पर लिखे एक-से-बढ़कर-एक आलेख प्रकाशित हो रहे हैं, यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। शब्दस्रष्टा डॉ. आचार्य रघुवीर (1902-1963) के प्रिय शिष्य और मेरे गुरू पुण्य लोक प्रो. (डॉ.) हरवंशलाल ओबराय (1925-1983) यूरोपीय देशों में 'सेकेन्ड विवेकानन्द' के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं। यह सुसंयोग है कि डॉ. रघुवीर एवं डॉ. ओबराय -दोनों रावलपिण्डी (पश्चिमी पाकिस्तान) के निवासी थे। दोनों ने भारतीय संस्कृति, कला एवं साहेत्येतिहास के अन्वेषण में संसार की प्रदक्षिण की। डॉ. रघुवीर सन् 1962 में भारतीय जनसंघ के राष्ट्रीय अध्यक्ष निवर्सचित हुए तो डॉ. ओवराय सन् 1960 एवं 1961 में लगातार दो बार अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् के राष्ट्रीय अध्यक्ष मनोनीत होने के ठीक बाद यूनेस्को के निमन्त्रण पर यूरोप, अमेरिका, कनाडा औरएशियाई देशों (कुल 126 देशों) के विश्वविद्यालयों में "हिंदू संस्कृतित एवं दर्शन" विषयक व्याख्यानमाला प्रस्तुत करने गये। इसी बीच सन् 1963 में आचार्य रघुबीर के आकस्मिक निधन से डॉ. ओबराय को गहरा आघात लगा था और सन् 1965 में उन्हीं की स्मृति में डॉ. ओबराय ने राँची में 'सरस्वती विहार' के नाम के अनुरूप 'संस्कृति विहार' (एकेडमी ऑफ इण्डियन कल्चर) की नींव डाली जिसके द्वारा तकरीबन ढाई दशकों तक समूचे छोटानागपुर क्षेत्र में भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार, शोध, बनवासी - बन्धुओं के उत्थान एवं ईसाई पादरियों की रोकथाम की दिशा में उल्लेखनीय कार्य संपादित हुआ था।

यह भी एक अजब संयोग है कि दोनों ही महापुरुष अपनी मातृभूमि की सेवा करते हुए दुर्घटनावश असमय ही हमसे दूर चले गये। **—गुंजन अग्रवाल, साहित्य भारती प्रकाशन, गोपी-कृष्ण पैलेस, भिखना पहाडी, पटना-800004 (बिहार)**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

DIALOGUE QUARTERLY

Journal of Astha Bharati, Delhi

Special Numbers:

Illegal Migration from Bangladesh
Central Asia
Fiscal Mismanagement in North East India
Maoist Insurgency in Nepal and India
India: Security Dimensions,
Indian Islands: Andaman & Nicobar Islands and Lakshadwip
South-East Asia
Secularism: India in Labyrinth
India's Neighbourhood
Governance in the North-East
Policing in India
India and Central Asia
Population Issues
Naxalism
Indo-Pakistan Relations & Kashmir
Media in India
India's North East
India: Political Culture, Governance & Growth
Understanding India
India: The Internal Security
Education in India
India's eastern Neighbourhood & 'Look East' Policy
Caste, Community and Social Justice
India's Encounter with the West
Kashmir
Bangladesh

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 6 अंक 3

जनवरी-मार्च 2009

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

12/604 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096
से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।
फोन : 011-22712454
ई.मेल : asthabharati@yahoo.com, asthab@vsnl.net
वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

चुनाव, हिन्द स्वराज एवं डॉ. लोहिया

लोक सभा के चुनाव के दिन नजदीक आते जा रहे हैं। हर तरह के जोड़-तोड़, हर तरह के गठजोड़, तिकड़म, अवसरवादिता, सिद्धान्तहीनता तथा जाति-धर्म के नाम पर व्होटों की लामबन्दी के प्रयास यथावत जारी हैं। बाहुबलियों, अपराधियों से किसी राजनीतिक दल को परहेज नहीं। राष्ट्र एवं समाज की केन्द्रीयता का स्थान नेताओं की केन्द्रीयता ने ले लिया है। निर्लज्जता चरम पर है। ऐसे में राजनीति में छोटे मन के लोगों का लगातार बढ़ता वर्चस्व एवं राष्ट्रीय दलों का बिखराव, उनका कमजोर पड़ना, आश्वस्त नहीं करता।

उल्लेख्य है कि यह चुनाव का वर्ष ही नहीं, महात्मा गांधी के हिन्द स्वराज एवं डॉ. राम मनोहर लोहिया के जन्म की शताब्दी का वर्ष भी है। ऐसे में भारतीय राजनीति की विचलन एवं अस्थिरिकरण की पीड़ा के बीच गांधी, हिन्द स्वराज एवं डॉ. लोहिया की याद कुछ राहत दिलाती है तथा एक विचित्र तरह की 'नास्टैल्जिया", गृह-स्मारिता भी लाती है।

अंग्रेजी राज ने हमारे बौद्धिक वर्ग के बीच एक विचित्र तरह की कुंठा, हीनता की ग्रन्थि एवं आत्म-दया का भाव भर दिया था। हमारी गलत समाज दृष्टि, गलत इतिहास बोध; विदेशी औपनिवेशिक व्याख्याओं, मिथकों को सही मानने से उत्पन्न विभ्रम की स्थिति यथावत जारी है। गांधी एवं लोहिया मौलिक चिन्तक थे जो इन दुष्प्रभावों से मुक्त थे। दोनों की भारतीय राष्ट्र, इसके लोग, जमीन, भाषा एवं संस्कृति से गहरा लगाव था। दोनों की भारतीयता एवं मानवीयता के प्रति समान प्रतिबद्धता थी। उनकी भारतीयता एवं विश्व नागरिकता में कोई द्वैध नहीं था।

जैसा कि धर्मपाल ने लिखा है: "महात्मा गांधी में भी ऐसा हीनता भाव और ग्लानि भाव लेशमात्र नहीं था और उनके नेतृत्व में पूरा देश एक होकर उमड़ पडा। देश के बारे में महात्मा गांधी का विचार नवप्रबुद्ध लोगों से नितान्त भिन्न था। वे मानते थे कि इस देश के वृहत् समाज में भरपूर गुण हैं, और कुप्रवृत्तियों तथा विकृतियों के होते हुए भी आन्तरिक सामर्थ्य है। यदि इन्हें अपनी श्रेयस्कर प्रवृत्तियों को संगठित करने और अभिव्यक्त करने के वैसे ही पर्याप्त साधन स्रोत फिर दे दिये जाएँ तो ये लोग उसी तरह एक श्रेष्ठ सभ्यता पुनः रचने लगेंगे, जैसे कि हजारों साल से रचते रहे हैं। ... यहाँ महत्वपूर्ण मात्र इतना है कि गाँधीजी को भारतीय जन एवं भारतीय धन के सामर्थ्य पर पूरा भरोसा था तथा उसी दृष्टि से उन्होंने अपने अद्वितीय संगठन और सामर्थ्य के बल पर देशव्यापी विराट संगठन और आन्दोलन खड़ा किया था।" हिन्द स्वराज का प्रकाशन आज से सौ वर्ष पूर्व 1909 में हुआ था। यह छोटी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सी पुस्तक गांधीजी द्वारा आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता की समीक्षा है। महात्मा गांधी के सभी मौलिक विचारों के बीज इस पुस्तक में समाहित हैं। विचार के स्तर पर एवं सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन के स्तर पर इस पुस्तक का महत्त्व यथावत है।

लोहिया की बौद्धिक तेजस्विता, वैचारिक गहनता, निर्भीकता तथा ईमानदारी सर्वमान्य थी। उनके विचारों में जड़ता नहीं थी। नेहरु ही की तरह, वे भी मार्क्सवाद या पूँजीवाद को तृतीय विश्व के लिए एकमात्र विकल्प नहीं मानते थे। उनका विश्वास था कि न्यायसंगत व्यवस्था/समाज के निर्माण के लिए उचितसाधन अपनाये जाएँ। लोहिया गरीबों की लड़ाई समान रूप से सड़क एवं संसद में लड़े। वे वर्लिन से पी.एच. डी (1932 में) थे; अंग्रेजी, जर्मन, फ्रांसीसी, हिन्दी एवं बंगला भाषाएँ धारा-प्रवाह बोलते थे।

लोहिया लगातार देश विदेश का परिभ्रमण करते रहे; वे देश के हर छोटे बड़े कोने में गये। अद्‌भूत सूझ-बूझ से क्षेत्रों, जातियों-जनजातियों, भाषाओं, लिपियों, लोक मान्यताओं, शिल्पों, संस्कृति एवं धर्म के विभिन्न पक्षों पर उनकी कलम चलती रही। उनकी निर्भीक मौलिक दृष्टि सदा सुखद आश्चर्य पैदा करती है, उदात्त बनाती है। लोहिया में अपनी बात कहने का साहस था। भारतीय बम एवं समान नागरिक संहिता की बात उन्होंने बिना लाग- लपेट के कही। गांधीजी की ही तरह लोहिया ने इतने अधिक विषयों पर इतनी अधिक मौलिक बातें लिखी हैं कि उनका उल्लेख इस छोटी सी टिप्पणी में देना संभव नहीं। फिर भी उनके विचारों की उदात्ता, गहराई, ईमानदारी, परख, आदि की समझ के लिए मैं कुछ उद्‌धरण देना मैं आवश्यक समझता हूँ।

राम, कृष्ण एवं शिव पर वे लिखते हैं:

"राम, कृष्ण और शिव भारत में पूर्णता के तीन महान स्वप्न हैं। सबका रास्ता अलग-अलग है। राम की पूर्णता मर्यादित व्यक्तित्व में है, कृष्ण की उन्मुक्त या सम्पूर्ण व्यक्तित्व में और शिव की असीमित व्यक्तित्व में, लेकिन हर एक पूर्ण है।"

वे फिर लिखते हैं:

"मैं कोई इलाज सुझाने की धृष्टता नहीं करूँगा और केवल इतना कहूँगाः ए भारतमाता, हमें शिव का मस्तिष्क दो, कृष्ण का हृदय दो तथा राम का कर्म और वचन दो। हमें असीम मस्तिष्क और उन्मुक्त हृदय के साथ-साथ जीवन की मर्यादा से रचो।"

हिमालय एवं तिब्बत उनकी सोच उनकी चिन्ताओं का लगातार विषय बना रहा। उस पर वे लगातार लिखते रहे। उन्होंने लिखा है:

"हिमालय कौन? अगर हमारे दिमाग में वह फितूर बना रह गया तिब्बत वाला, अंग्रेजी साम्राज्यशाही के दस्तावेजों वाला, मंगोल वाला या यह कि एक उधर वाली ताकत के साथ दोस्ती रखने के लिए इन सब सच्चे मामलों के ऊपर पर्दा डाल देना है, तब हम हिमालय पर कुछ भी सोच-समझ नहीं पायेंगे।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार तीर्थ-स्थानों पर उनके विचार देखेः

"मैं रामेश्वरम की ओर ऐसे दौड़ा जैसे गाय की तरफ बछड़ा। कुछ तो इसलिए कि तीर्थ-केन्द्रों में मुझे कौतुक मिलने लगा है। लेकिन ज्यादा इसलिए कि राष्ट्रीयता गलती करने पर उतारू हो जाती है, फाँक डालने और टूट पैदा करने, टूट और जहर बोने और जहाँ एक राष्ट्र था वहाँ दो राष्ट्र बनाने के लिए ओछे और स्वार्थी लोगों की मदद करने में उसकी अद्भुत क्षमता पर मैं आश्चर्य चकित हूँ। तुलनात्मक दृष्टि से हिन्दुस्तान के तीर्थ-केन्द्र बड़ी सान्त्वना देते हैं। किसी भी महान् मन्दिर के एक कोने में आप खड़े हो जाइए,एकाध घण्टे में ही, आप सारे हिन्दुस्तान को वहाँ पर चलते-फिरते देख सकते हैं। हम एक हैं, इतने एक हैं कि उस समय लगता है कि किसी में इतनी शक्ति नहीं है कि वह हमें तोड़ कर दो बना सके।"

भारतीय इतिहास लेखन की विडम्बना-पूर्ण स्थिति की समझ जितनी लोहिया को थी उतनी किसी की नहीं। वे लिखते हैंः

"इतिहास लेखन में भारत का दुर्भाग्य असाधारण रहा है। प्राचीन भारत में इतिहास-लेखन बहुत ही कम था, और जो कुछ था, वह भी मुख्य-रूप में काव्य या दर्शन के रूप में। पिछले एक हजार सालों में भारत का इतिहास-लेखन एक विचित्र प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय इतिहासकारों के हाथ में रहा है। फरिश्ता से विन्सेन्ट स्मिथ तक इतिहास के इन अन्तर्राष्ट्रीय क्रीड़ा-छोकरों की एक लम्बी वंशावली है। उन्होंने तथ्यों को चुना। इसमें उनका एक लक्ष्य था। उनका लक्ष्य था देश में विदेशी शासन को मजबूत करना। जिसका एक अंश, विद्वान अंश, वे स्वयं भी थे।"

इस बात को आगे बढ़ाते हुए वे लिखते हैंः

"अगर अमरीका पर कोई विदेशी अधिकार कर ले, तो न्यूयार्क और शिकागो के ठग और पिंडारी और आत्महत्याएँ तो नहीं, लेकिन हत्याओं के रूप में 'सती' की घटनाओं को इतिहास का सबक बनाया जा सकता है। कुछ समय बाद देशी लोग इस सबक पर यकीन भी करने लगेंगे। हम इससे इन्कार नहीं करते कि अंग्रेज़ी शासन की स्थापना के पहले भारत में ठग थे और सती-प्रथा भी थी। लेकिन अच्छा हो कि देश के सम्पूर्ण जीवन में इनका जो स्थान था, इतिहासकार सचाई के साथ उसका वर्णन करें। अगर किसी एक वर्ष या एक दशक में देश की कुल जनसंख्या की तुलना में ठगी आदि की बड़ी-बड़ी घटनाओं और 'सती' की कुल संख्या के आँकड़े उपलब्ध हों, तो उनको इतिहास की किसी पुस्तक में बताना चाहिए, तब हम जानसकेंगे कि ये घटनाएँ कहाँ तक महत्त्वपूर्ण थीं और कहाँ तक गौण। अभी तक जो होता रहा है वह तो ऐसा ही है जैसे पन्द्रहवीं शताब्दी के लन्दन का इतालवी राजदूत द्वारा किया गया वर्णन इंगलिस्तान का इतिहास मान लिया जाये।"

इतिहास लेखन की अलीगढ़ी धारा एवं मार्क्सवादी सिद्धान्तों के गलत आरोपण, इतिहास लेखन के क्षेत्र में सुनियोजित झूठ को समझने के लिए एतद् विषयक लोहिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विचारों को जानना आवश्यक है। उन्होंने लिखा है:

"एक उप-धारा भी है, जो अलीगढ़ के साथ जोड़ी जाती है। ये प्रगतिशील होने का दावा करते हैं। बाँझ या छिछले मार्क्सवाद के अनुसार इतिहास में निरन्तर प्रगति होती है। इतिहास की यह धारणा उनकी विकृत आत्माओं को शान्ति प्रदान करती है। वे हर मुस्लिम आक्रमण का औचित्य खोजने में लगे रहते हैं, चाहे उसके परिणाम-स्वरूप मुगल मुसलमान द्वारा अफगान मुसलमानों की हत्या हुई हो, और हिन्दू मुसलमानों का नजदीक आना रुका हो या पिछड़ गया हो। कौन नहीं जानता कि अफगान हुकूमत देशी हो चुकी थी, और हिन्दु-मुसलमान भारतमाता की दो आँखों जैसे बनने लगे थे, जब मुगल आक्रमण ने उन्हें फिरअलग कर दिया। बाद में मुगलों ने खुद हिन्दू-मुसलमानों को नजदीक लाने की कोशिश की, लेकिन तब तकवे शक्ति-हीन हो गए थे।"

"मार्क्सवाद सहित, भारत में बाहर से लाए गए हर सिद्धान्त का एक दुर्भाग्यपूर्ण पहलू यह है कि वह निष्प्राण कर दिया जाता है। इतिहास-लेखन बाँझ और नीरस बना रहता है। वह सीधी, या शायद घुमावदार प्रगति की एक परीकथा बन जाता है, थोड़ी-थोड़ी प्रगति, लेकिन प्रगति ही। एक ही कसौटी पर यह परीकथा धुएँ में उड़ जाती है, यह प्रगति अगले आक्रमण को क्यों रोक नहीं पाती?"

यह इस देश के लिए कम दुर्भाग्यपूर्ण नहीं है कि गांधी एवं लोहिया, दोनों ही उस समय इस देश में नहीं रहे, जब उनकी सर्वाधिक आवश्यकता थी। गांधी जीवित होते तो आजाद भारत की राजनीति इतनी संवेदनहीन नहीं हुई होती और न स्वार्थी तत्त्वों का सिद्धान्तहीन वर्चस्व इतना व्यापक होता। लोहिया का गतिशील नेतृत्व कांग्रेस-विरोध की गठजोड़ की राजनीति को सिद्धान्तहीनता एवं अवसरवादिता की इस सीमा तक निर्विरोध नहीं जाने देता और न पिछड़ों-दलितों के मालदार तबके को उन वर्गों के नाम पर असीमित सुविधा भोगने को आँख मूँदकर बर्दास्त करता। दुर्भाग्य है कि गांधी के शिष्यों ने या तो उन्हें पूरी तरह नकार दिया या उनके विचारों का प्रस्तरीकरण (विपसप्रंजपवद) कर दिया। लोहिया के शिष्य उनके विचारों/कार्यक्रमों को असंगत विकृत सीमाओं तक ले गये। समाज के वंचितों का सशक्तिकरण न कराकर वे सफलतापूर्वक अपना, अपने परिवार एवं अपनी जाति के सशक्तिकरण की प्रक्रिया में लगे रहे।

—ब्रज बिहारी कुमार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोक सौन्दर्य और लोकोत्तर ऐश्वर्य का संश्लेषोत्कर्ष-अजन्ता

लोकेशचन्द्र*

हिन्दी रूपांतर : बाबूराम वर्मा**

मन की चिन्तनपरक कल्पनाओं का आवास है अजन्ता, शताब्दियों में विस्तीर्ण हमारी अनन्तता की चमक, हमारी आन्तरिक चेतना के सूत्रों को उधेड़ते-बुनते हुए रूपों का वात्याचक्र, पारमिताओं को जाग्रत करने वाला नयन विस्तार है अजन्ता और जैसे-जैसे हम इस जगत को अपने नेत्रों में पुनरपि बसाते जाते हैं ये गुहाएँ हमें एक अद्भुत प्रशान्तता की धड़कनों में पहुँचा देती हैं। भावनाओं और जीवन की जगमगाती चिनगारियों में ध्यान की प्रतिध्वनियों का आरेखण करती हुई चितवनों के संसार की वास्तविकता का रूपायन करती हुई नौ शताब्दियां हैं अजन्ता की ये गुहाएँ जहाँ संगीत स्वप्नों में खोया है और काव्य चित्रांकन में लीन। चित्रण भी यहाँ रहस्यमयी लय की खोज ही है। संस्कृत की उक्ति है "न अदेवो देवं अर्चयेत्" अर्थात् चित्र आंकना देवत्व का आवाहन है। पृथिवी और अन्तरिक्ष की अनन्तता में नदी और पर्वत के हृदय में सचेत चित्रकर्म का एक चरण यदि गुहा के अन्दर है तो दूसरा चरण मनोदर्शन द्वारा विश्व को रूपायित करने में लगे स्वप्नों में स्थित है। वर्ण की ये धड़कनें तूलिका प्रयोग अथवा जैसे हृदयसूत्र कहता है "शून्यता इव रूपम्" हैं। भारतीय अध्यात्म में मानव सारतः निरन्तर देवत्व की ओर गतिशील यात्री है। मानव किसी एक जगह टिका हुआ स्थितिशील पदार्थ नहीं अपितु गतिशील प्रतिक्षण निर्मित हो रहा तत्व है, जीते हुए उसे पल्लवित होते जाना है, सजीव रहते ही उसे इच्छापूर्वक मार्ग तय करना है। उदात्त मूल्य सदा बने रहें, अधिकाधिक बढ़ते जाएँ उनके विस्तार के लिए प्रयास करता है, ऊर्जा को झकझोरता है, मन को वह स्थिर बनाता है (दीघनिकाय 21)। मन की उन गतियों की ही जाज्वल्यमान अभिव्यक्ति अथवा पालि ग्रन्थों का 'भिव्योभाव' ही अजन्ता है। तथागत की भव और सौन्दर्य दोनों की विषयगत शिक्षाओं का प्राण अजन्ता है।

* डॉ. लोकेशचन्द्र, प्रकाण्ड विद्वान, पूर्व सांसद (राज्य सभा)

** बाबूराम वर्मा, 67 बल्लूपुरा, देहरादून।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अजन्ता भिक्षुओं का आवास था किन्तु चट्टानों को काट-काटकर बनाए गए इन मन्दिरों की दीवारों से नरनारियों के शरीर-सौन्दर्य, पशुओं, पक्षियों और पुष्पों की सजीवता, प्रांगणों और उद्यानों, वनों और समूचे आकाश में विश्वव्यापी प्रकाश में से आनन्द चतुर्दिक प्रवाहित हो रहा प्रतीत होता है। भिक्षुओं पर ध्यान देने के साथ-साथ महायान में उपासकों को उनके बराबर का ही स्थान दिया गया है। कमलसूत्र में भिक्षुओं, भिक्षुणियों, उपासकों और उपासिकाओं को मिलाते हुए ही संघ बनता कहा गया है। विमलकीर्ति सूत्र में विमलकीर्ति वैशाली का धनी व्यपारी है जिसकी पत्नी है, परिवार है, व्यापार में लगा है और कभी-कभार धर्म प्रचारार्थ वह नगर के विलास-भवनों में भी जाया करता है। सूत्र में बताया गया है कि एक बार वह बुद्ध के प्रधान शिष्यों के साथ विवाद करने में उलझ गया और अपने तर्कों और चातुर्य से उन्हें विवाद में हरा दिया। अजन्ता की गुहाएँ प्रधानतया उसके महायान सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं और इस कथन को निरूपित करती हैं कि सभी प्राणी संभावी बुद्ध होते हैं। शाक्यमुनि ने अपना अन्तिम चातुर्मास वैशाली नगर से बाहर स्थित वेणुवन में बिताया। वर्षाकाल समाप्त हो जाने पर एक वृक्ष के नीचे विश्राम करते हुए उन्होंने कहा, "यह दुनिया सुन्दर है, इसमें रहना आनन्ददायक है"। अजन्ता के भित्तिचित्र पीड़ा और आँसुओं सहित जीवन के सम्पूर्ण आनन्द में छिपी ऐसी आध्यात्मिक महानता को परिवर्तित होती घटनाओं द्वारा बताते हैं जिनकी अन्तिम परिणति निर्वाण प्राप्त करने के उदात्त लक्ष्य में होती है। दिखाई पड़ने वाली घटना को अर्थ और गहराई बुद्ध और बोधिसत्वों के जीवन तथा अवदानों के वर्णनों से प्राप्त होती है। प्रो. डीटेर श्लिंगलोफ्फ के अध्ययनों ने प्रमाणित किया है कि इन भित्तिचित्रों की प्रेरणा महायान ग्रन्थ हैं। पालि जातकों की भूमिका इनमें गौण है। ये चित्र सबसे पहले बनी गुहाओं ix और x में बनाए हुए हैं जिन्हें दूसरी शती ई.पू. में निर्मित हुआ माना जाता है।

गुहाएं मानव का आदिमतरीन आवास रही हैं। रहने के लिए उनकी आवश्यकता समाप्त हो जाने के काफी समय उपरान्त इन गुहाओं ने मानवों को अपनी गहराइयों की तरफ खींचा और उसकी आत्मा और आंखों दोनों को उत्तेजित किया। कितना गरिमामय था वह स्वप्न इन गुहाओं की शून्यता और रूपम् में जिन्हें देवताओं ने अपना निवास बनाया, पाषाणों में वे न्याय, मानव विचारों और आदर्शों के रहस्यमय उद्यानों में उठने वाली ऊर्मियों की प्रतीकित स्पर्शरेखाओं में होने का : *धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्* हैं। गुहा क्या है? प्रकाशमान होने का इस संसार से परे निकल पारगामिता प्राप्त करने, प्रकाश बनने का गर्भाशय ही है। संस्कृत शब्द *गुहा* मूलधातु, गुह अर्थात् छिपाना, गुप्त रखना, गुह्य, छिपा हुआ, गुप्त, रहस्यमय से निष्पन्न है। ऋग्वेद 10, 45, 2 में गुहा (लघुकरण-कारक रूप) का अर्थ गेहाइम (geheim), घर (पीटर्सबर्ग वोर्टरबुख) विद्मा ते नामे परमं गुहा यत् दिया गया है। अथर्ववेद 11, 5, 10 में गुहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निधि निहितौ ब्राहमणस्य आया है जिसका अर्थ है कि ब्रह्म की पावन गाथाओं की निधियाँ गुहा में छिपी हुई हैं। शतपथ ब्राह्मण 11, 2, 6, 5 गुहा का मिलान हृदय से करता है "तस्मात् इदं गुहेव हृदयम्"। श्वेताश्वतर उपनिषद् 3, 20 में महत और अणु आत्मा गुहा अथवा मनुष्य के अन्दर गहराई में निवास करती है (अणोरणीयान महतो महीयान आत्मा गुहायाम्)। गुहा में जीवात्मा को वह गुप्त तत्व प्राप्त होता है जो गहरे ध्यान में होने वाले स्वप्न में मुस्कराता है। गुहा इसलिए कहा गया क्योंकि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की विभिन्न श्रेणियाँ उसी में छिपी हुई हैं अथवा आत्मा का गुप्त निवास उसी में है (गूढ़ा ज्ञातृ-ज्ञान, ज्ञेय पदार्थ : अस्यं गुहाते स्यं आत्मा इति वा, वाचस्पत्य कोश)। भागवत पुराण 2, 9, 24 का कथन है परम आत्मा सभी आत्माओं का अधिपति (भगवान सर्वभूतानां अध्यक्षो स्थितो गुहां) ब्रह्म गुहा में निवास करता है जो सर्वोच्च स्थान है (ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, इंडिश्शे स्टुडीन 2. 217)। गुहाराज वराहमिहिर संहिता 56, 18, 25 में सर्वोत्तम मन्दिर रूप है। गुहा व्यक्ति की दैवी संरक्षिका है। इसीलिंए महाव्युत्पत्ति और सद्धर्मपुण्डरीक सूत्रों में बोधिसत्व के लिए गुहागुप्त नाम आया है। देवी-देवताओं को गुहा के अन्दर स्तूप में स्थापित किया जाता है। साधनमाला 2. 394 की साधना 191 में उष्णीषविजय देवी चैत्य गुहा गर्भ में स्थित की गई है। गुहा चिन्तन से परे का एकान्त दर्शन है, वहां समय अनन्त में जाकर विलीन हो जाता है। आदि मौन– गहरा, गाढ़ एकान्तिक और अमापनीय–में ध्यान करने के लिए कितने ही पाठ रहते हैं। उसके अन्दर की केन्द्रिकता से हुआ तादात्म्य हमें क्षितिज से आगे रहने वाले प्रकाश तक ले जाता है। बिना भित्तिचित्रों या उभरवां चित्रों वाली छोटी गुहाएं कठोर ध्यान करने के काम आती थीं। तिब्बत में मठों के निकट ध्यान के आश्रय स्वरूप बनाई हुई गुहाएं होती हैं। इसके विपरीत संपूर्ण मूर्तियों से युक्त उभरवां चित्रों वाली चट्टानों में काटी हुई गुहाएं उपासकों और भिक्षुओं, दोनों के लिए आराधना करने के प्रार्थनालयों का काम देती थीं।

गुहा शरण्यों या मठों में चित्रण या मूर्तियाँ भक्तों को आकर्षित करने के लिए बनाई जाती थीं। मूल सर्वास्तिवाद विनय विभंग का अनुवाद इत्सिङ् ने 17 नवम्बर 703 ईस्वी को पूरा किया। उसमें निर्धारित किया गया है कि मठ के अन्दर सजावट करने के लिए जातकों की घटनाओं की चित्रकारी की जानी चाहिए। यह भी वर्णन किया गया है कि अनाथपिण्डक जेतवन विहार की दीवारों को जिसे वह भगवान बुद्ध को समर्पित करना चाहता था, अलंकृत कराना चाहता था। भिक्षुओं को पता नहीं था कि अलंकरण किस तरह से किया जाए। बुद्ध ने बताया कि मात्र एक ही वर्ण या रंग उपयोग नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि चारों तरह के रंग उपयोग में लाने चाहिएँ। जब अनाथपिण्डक ने चित्रकारों को काम पर नियुक्त कर दिया तो उन्होंने पूछा "हम किस के चित्र बनाएँ?" बुद्ध ने बताया "प्रवेशद्वार पर दण्डधारी यक्ष का चित्र बरसाती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में महाचमत्कार और पांच गतियों वाला भवचक्र तथा मठ के अन्दर जातकमाला और ...." का चित्रण किया जाना चाहिए। जब चित्रकार लोग काम में लगे हुए थे तो भिक्षु लोग भित्तिचित्रों के निकट ही नहाते-धोते थे जिससे पानी के छींटे उन चित्रों पर पड़कर उन्हें विकृत कर डालते थे। उससे उन भिक्षुओं को बुद्ध की फटकार सुननी पड़ी। अन्ततः चित्र बनकर तैयार हो गए लोग-बाग उन्हें देखने आए और उनकी प्रशंसा की जिसके फलस्वरूप ब्राह्मणों में से भी कितने ही लोग बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए। इस वाक्यांश से ठीक-ठाक पता चल जाता है कि मठों की दीवारों पर किन-किन विषयों के चित्र बनाए जाने चाहिए थे। अजन्ता की गुहाओं में कितने ही चित्र विनय के नियमों से प्रेरणा ग्रहण करके बनाए गए हैं उदाहरण स्वरूप भवचक्र से प्रेरित चित्र xvii वीं गुहा के बरामदे में और जातक चित्र जिन्हें आर्यशूर रचित जातकमाला से प्रेरणा लेकर बनाया गया है।

भवचक्र मूलसर्वास्तिवाद विनय से लिया गया है। इसमें मानव अनुभव को न्यूनतम से वांछनीय अधिकतम तक, नरक से स्वर्ग तक की श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया है। छह योनियाँ हैं, 1. निरय / नरक, 2. तिर्यक-योनि पशु; 3. प्रेत-लीक, अपूर्ण इच्छाओं या वासनाओं का प्रतीक, 4. असुर / क्रोध, 5. मनुष्य लोक / मानव, 6. देवलोक देवता अथवा इन्द्रियगत संसार से उच्चतर श्रेणी के व्यक्ति जो मानव खुशियों अर्थात् आनन्द का और अधिक परिमाण में उपभोग करते हैं। स्वर्ग और नरक हैं कहाँ?—वे हमारे ही मन और शरीर में हैं। नरक अत्यधिक कष्ट झेलने की स्थिति है, *पशुता* बलवान से भय करने तथा कमजोरों पर धौल-धप्पा जमाने की दशा है, *प्रेत* ऐसी स्थिति को कहा गया है जिसमें दूर भागती जा रही ऐसी इच्छाओं का साम्राज्य रहता है जिन्हें कभी पूरा ही नहीं किया जा सकता (मृग मरीचिका), *असुर* असंयत क्रोध और अधिकार भोग है। ये चार दुष्ट श्रेणियाँ (दुर्गतियाँ) हैं 'जिनकी विशेषता विनाशकारी नकारात्मकता होती है। मानवता आनन्दमयी स्थिति है जिसकी विशिष्टता तर्कसंगति और संतुलित निर्णय होते हैं। देव या देवत्व परमानन्द की स्थिति है जिसमें इच्छाएँ परिपूर्ण या पीड़ाएँ समाप्त हो जाती हैं। भवचक्र की परिधि में बारह निदान होते हैं। जीवन की पहेली और अस्तित्व की अनित्यता समझने के लिए—

यो हि अस्मिन धर्म विनये अपरमत्तास चरिष्यति।
प्रहाय जाति संसारं दुखस्यांतम् करिष्यति॥

XVII वीं गुहा को श्लिंगलोफ्फ ने पाँचवीं शती का बताया है और भित्तिचित्रों की उसके द्वारा की गई पहचान निश्चयात्मक है क्योंकि वह सही-सही ग्रन्थों से मिल जाती है। इस गुहा में चित्रित किए गए अवदान इस प्रकार हैं— 1. सिंह, 2. अवलोकितेश्वर जो आठ संकटों से रक्षा करता है, 3. भवचक्र, 4. शुद्धोदन, 5. उदायि, 6. धनपाल, 7. राहुल, 8. सुमति, 9. महासमाज, 10. इन्द्र ब्राह्मण, 11. शिवि, 12.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रुरु, 13. ऋक्ष, 14. मृग, 15. षडदन्त, 16. महाकपि, 17. हस्तिन, 18. बोधि, 19. सर्वदद, 20. हंस, 21. विश्वन्तर, 22. इन्द्र, 23. वानर, 24. सुतसोम, 25. देवावतार, 26. राहुल, 27. महाप्रातिहार्य, 28. शरभ, 29. शश, 30. मातृ पोषक, 31. मत्स्य, 32. श्याम, 33. प्रभास, 34. महिष, 35. सिंहल।

गुहा में उनकी स्थिति कैसे रखी गई है, नीचे चित्र में दिखाया गया है–

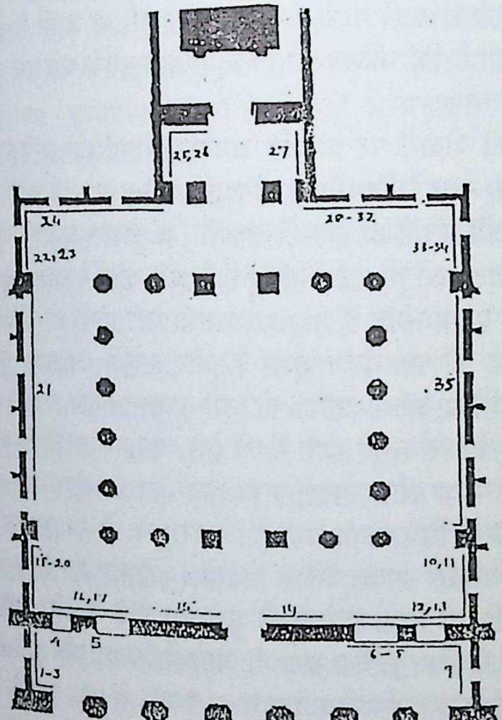

सबसे अधिक चित्र मूल सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के विनय के आधार से लिए गए हैं। (1, 3-7, 13, 20, 21, 25, 26, 32), तदुपरान्त ग्यारह दृश्य आर्यशूर रचित जातक माला से लिए हुए हैं (11, 12, 16-18, 22, 23, 28, 29, 31, 34), बाकी के अवदान चित्र दिव्यावदान (18, 10, 27, 35), कल्पना मण्डीतिका (14, 33), बोधिसत्व अवदान कल्पलता (19), हरिभट्ट रचित जातकमाला (15) और दममूक सूत्र (24) पर आधारित हैं। अभिनिष्क्रमण सूत्र (30) अथवा बुद्ध की जीवनकथा से एक अवदान लिया गया है। महासमाज सूत्र का सम्बन्ध चित्र सं.9 से तथा अष्टभयत्राण अवलोकितेश्वर (2) की तुलना सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र के संगत अध्याय के साथ की जा सकती है। ये अवदान विनय में आए वर्णनों को चित्रित करने तथा जीवन में छह पारमिताओं के उदाहरण बताने के लिए बनाए गए थे।

हमारे पास XVII वीं गुहा में बनाए गए विस्तृत जातक या अवदान इस बात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर जोर देने के लिए उपलब्ध हैं कि प्रो. डीटेर श्लिंगलोफ्फ ने पहले की गई पहचानों को सुधारकर सूक्ष्म बना तथा नये खोजे गए चित्र खण्डों से सम्बन्धित कर अथवा मध्य एशिया या गिलगित में संस्कृत में मिले पूर्णपाठों से मिला नई पहचान जोड़ कर तथा विलुप्त हो चुके संस्कृत ग्रन्थों के चीनी और तिब्बती अनुवादों को उपयोग में लाकर वाङ्मय की महत्त्वपूर्ण सेवा की है। प्रो. श्लिंगलोफ्फ पर पहुँचकर इन भितिचित्रों की पहचान करने वाली लम्बी परम्परा पूरी हो जाती है और यह अत्यधिक आवश्यक हो जाता है कि भविष्य की विद्वत्मण्डली इनके परिश्रम और अन्तर्ज्ञान का पूरा-पूरा लाभ उठाए।

अजन्ता की दीवारों पर प्रदर्शित अवदान सामाजिक प्रतीकवाद जैसे हैं जिन्हें मानव रूप दे दिया गया है जिसमें संभावनापूर्ण नैतिक गहराई पाई जाती है जो किसी निर्वैयक्तिक सृष्टिविज्ञान में हो ही नहीं सकती। ये दृष्टांत कथाएँ जीवन या प्रकृति में घट सकने वाली घटनाओं के ऐसे विवरण हैं जिनसे कोई नैतिक या आध्यात्मिक सत्य निकलता है। यदि घटना संभव है अथवा वह कभी घटी होगी तो कथा को दृष्टान्त-कथा कहेंगे। यदि कार्य कल्पित किया हुआ है और उसके अलावा अवास्तविक भी है (पशुओं का वार्तालाप करना आदि) तो उसे कथा-उपदेश कहेंगे। उपदेश-कथा के चरित पशु अथवा बेजान वस्तुएँ होती हैं जो ऐसे व्यवहार करती हैं मानो वे मनुष्य हों। अजन्ता में दृष्टांत-कथा और उपदेश-कथा दोनों का उपयोग पाठ पढ़ाने या सिखाने अथवा उपदेश देने के लिए किया गया है। अरस्तू ने भी उदाहरण, दृष्टांत-कथा और उपदेश-कथा का विवेचन उपदेश देने के उपायों (*कोइनाइ पिस्तेइस*) के अन्तर्गत किया है। सशरीर आकृति या चित्र उपदेशों के मूर्त रूप होते हैं और हम जानते ही हैं कि नैतिक पाठ पढ़ाने के लिए सचित्र बना दी जाने पर कथा की शक्ति में सदा वृद्धि हो जाती है। विनय के कुछ वर्णन जैसे देवदत्त द्वारा संघ में फूट डालने वाला संघभेदवस्तु से लिया गया है। ऋक्ष और निर्धन व्यक्ति की कथा का सम्बन्ध देवदत्त के पूर्व जीवन से है (ग्नोली 2.106)। इसी प्रकार विश्वन्तर कथा में देवदत्त के विश्वासघात पर प्रकाश डाला गया है (ग्नोली 2.133)। अजातशत्रु के अति भयंकर हाथी धनपाल का सम्बन्ध देवदत्त के इस हाथी द्वारा बुद्ध को मरवाने के प्रयत्न से है परन्तु हाथी विनयपूर्वक बुद्ध के पीछे-पीछे चलने लगा और अन्ततः शोक सन्तप्त हो मर गया और चार महान राजाओं के स्वर्ग में जाकर उसका पुनर्जन्म हुआ (ग्नोली 2.186-191)। हंसाधिपति की कहानी का सम्बन्ध भी आनन्द के पूर्व जन्म से है (ग्नोली 2. 192-194)। कुमारजीव अपने महाप्रज्ञा पारमितोपदेश के अन्त में कहता है कि जातकों और अवदानों में मथुरा के मूलसर्वास्तिवादियों का विनय (पिटक) भरा पड़ा था जबकि कश्मीर का विनय दोनों का परित्याग करता था और उसने केवल मुख्य-मुख्य अंश ही उनके स्वीकार किए थे और उसके दस खण्ड बनाए थे। मूलसर्वास्तिवाद का अधिक प्रचार अपने साहित्यिक गुणों, सरल और स्पष्ट शैली में लिखी गई कथाओं के कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था जिनसे अनुशासनिक कर्तव्यों के शुष्क परिगणन से छुटकारा मिल जाता था। दिव्यावदान, अवदान शतक और अन्य ऐसे ग्रन्थ सभी विनय से प्रेरित हैं जिसे सिल्वां लेवी संस्कृत साहित्य का स्रोतग्रंथ (शेफ दु. व्र.) मानते हैं जो एक के बाद दूसरा करके निर्मित हुई कथाओं से भरा हुआ है जो सुन्दर और रोचक दोनों ही हैं। वह इन्हें भिक्षुओं के लिए एक प्रकार की बृहत्कथा बताता है (यून स्पीस द बृहत्कथा अ लूसाज द म्वान, न.ए. 1932 : 23)। यह व्याख्या संकेत करती है कि मठों के चतुर्दिक विस्तार में ये सुन्दर चित्र विनय से हो प्रोद्भूत हुए थे जो जीवन के उदार प्रतीकवाद में अपना अर्थ खोजना चाहता था। दृश्यमान प्रतीकों में भिक्षुओं के अनुशासन की शक्तिशाली अभिव्यक्ति श्वास-प्रश्वास ले रही थी।

अजन्ता के उनतीस गुहा शरण्य बौद्ध भिक्षु परिसर हैं; कुछ गुहाओं में चित्रों के अवशेष बचे हुए हैं जो अति सम्पन्न हैं जिनमें शास्त्रीय शैली से चित्र समापन किया गया है। X वीं गुहा पूर्वतम यहाँ तक कि दूसरी शती ई.पू. तक की हो सकती है। इसके चित्र एक लम्बी पट्टी के रूप में बनाए हुए हैं और महाभारत में बताए हुए कत्थकों या कहानी सुनाने वालों की स्मृति दिलाते हैं। बाद की शताब्दियों में चित्र दीवार की सतह पर हर जगह बनाए हुए हैं जिनमें जीवन और प्रकृति भरे पड़े हैं। गुहा में जहाँ भी जगह दिखाई पड़ी उसे अलंकृत कर दिया गया है। तेरह गुहाओं में चित्र अवशेष हैं और उनमें से छह गुहाओं (गुहा I, II, IX, X, XIV और XVII) में चित्र बाहुल्य है जिनके विषय पहचाने जा सकते हैं। सजीव प्रतिरूपों की प्रवहमान और प्रगाढ़ जीवन्तता और हार्दिक निष्ठा, दूतावास वाले दृश्य के पारसीक कटे सँवरे समूर वाली नुकीली टोपियों और कशीदा किए विदेशियों के चोगे, धारीदार मोजे और खोपड़ीनुमा टोपी पहने दढ़ियल की आकृति, राजकुमारियों, राजमहिषियों और उनकी दासियों की ठेठ भारतीय आकृतियाँ—ये सभी रूपायन कला के स्वच्छ चित्रों की सम्पूर्ण शृंखला हैं। गुहा XXII में ध्यानी बुद्ध के नीचे अभिलेख में बताया गया है कि "वह जो जिन चित्रों की रचना कराते हैं उन्हें सुदर्शन, सौभाग्य और सद्गुणों की प्राप्ति होती है, जाज्वल्यमान दीप्ति और अन्तर्ज्ञान प्राप्त होता है।" गुहा II में दिए हुए एक अन्य अभिलेख से भी इन गुहाओं के सौन्दर्य और गांभीर्य के बारे में इतना ही सुस्पष्ट है "क्योंकि जहाँ अत्युत्तम गुणों से सुशोभित पवित्र जन अपना निवास बनाते हैं, ऐसी जगहें बहुत अधिक पावन और सुन्दर तीर्थयात्राओं के पवित्र स्थल और आश्रम बन जाया करती हैं।" मेहराबों, चक्रनाभि और स्तम्भयुक्त मार्गवाले चैत्यगृह और भीतर की तरफ भिक्षुओं के रहने के लिए बनी कोठरियों वाले बड़े-बड़े विहार यहाँ मिलने वाले दो प्रमुख वास्तुरूप हैं। विहारों की जगमगाती चित्रकारी ने जो उदारतापूर्वक धन दिए जाने से ही वहाँ कराई जा सकी आम लोगों को आश्चर्य और निष्ठा से प्रेरित किया। बुद्ध और बोधिसत्वों के चित्रों का रेखांकन और रंगकर्म करने में उनके गांभीर्य और करुणा, नारी चित्रों में उनके शरीर संचालन की विशदता प्रदर्शित करने में, नयनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की चितवन, नितम्बों के वक्र और वक्ष की गोलाइयाँ दिखलाने में कला की पराकाष्ठा हमें यहाँ मिलती है। अजन्ता के भित्तिचित्र आनन्द को कहे गए बुद्ध वचनों को चित्रों में कहते प्रतीत होते हैं जो उन्होंने वैशाली के निकट अवस्थित एक पहाड़ी पर क्षणभर विश्राम करते हुए उसे कहे थे ''चित्रं जम्बूद्वीपं मनोरमं जीवितं मनुष्याणाम्'' अर्थात् "जम्बूद्वीप भव्य सुन्दर और आकर्षक है, और वहाँ के लोगों का जीवन मनमोहक है।" जीवन और जगत से विदा लेते हुए उन्होंने दोनों की समरसता का अनुभव किया। उसी तरह अजन्ता भी एक वरदान और आकर्षण, पारमिता का ज्वलन्त रूप तथा ज्ञान और मृगतृष्णा की गतिमयता का अवलोकन सभी कुछ है।

विशालाकृति रचनाएँ गुहा I और XVII में देखने को मिलती हैं जिन्हें वाकाटक युग में चित्रित किया गया। गुहा I में पद्मपाणि बोधिसत्व की उदात्त मुद्रा शोक और आनन्द से परे की, सूक्ष्म और निस्संग आध्यात्मिकता की है, यद्यपि वह दरबारियों, महिलाओं और रक्षकों के मध्य खड़ा हुआ है। उसका मणियुत स्वर्णमुकुट, गलहार, कर्ण कुण्डल, भुजबंध और कलाइबंध, कन्धे से पीठ तक पहुँचती मोतियों की माला (मुक्तामाल) उसका राजकुमार गौरव दिखाती हैं। वानर, सिंह, कपोत, किन्नर गायक जीवन की सर्वांगता प्रकट करते हैं। बौद्ध धर्म सम्पूर्ण विश्व था। इनमें रंग बड़ी चतुराई से भरे गए हैं। गुहा XVII में अपने पिता महा शुद्धोदन के निमंत्रण पर बुद्ध का कपिलवस्तु में पुनरागमन दर्शाते चित्र में सुकोमल तीक्ष्णता प्रदर्शित की गई है। बुद्ध को इसमें लगभग दस फुट ऊँचा बनाया गया है तथा यशोधरा की आकृति उससे अपेक्षतया छोटी बनी है, परन्तु स्त्री सौन्दर्य दृष्टि से वह मनोहर है, उसकी काया लयात्मक ढंग से चित्रित है। कपोल पर आ गए कुन्तल महीन कूंची कर्म से बनाए गए हैं। उसका वर्ण गुलाबीपन लिए श्वेत बनाया गया है तथा वस्त्रों को हल्की छाया वाले रंग का रखा गया है। जब बुद्ध हरितजीर्ण भिक्षापात्र (कमण्डलु) लिए अपना हाथ यशोधरा की ओर बढ़ाते हैं तो वह बड़े ममत्वपूर्वक आशीर्वाद पाने के लिए राहुल को उनकी ओर बढ़ा देती है। बच्चा अपने पिता की ओर ताकने लगता हैं। सांसारिक बन्धनों के प्रति बुद्ध की उदासीनता के कारण मानव दिव्य शांति प्राप्त कर लेता है। सिंहल अवदान वाली सशक्त पट्टिका में सिंहल के जीवन की कई घटनाओं की शृंखला प्रदर्शित की गई है जो अपने पूर्वजन्म में बुद्ध ही था। पोतध्वंस, उसके बाद उस द्वीप पर राक्षसियों के दल से लड़ती हुई सिंहल की सेना, जहाँ उसका पोत ध्वस्त हुआ था, युद्ध दृश्य का बहुत सुन्दर प्रतिनिधान है जिसमें आक्रमण करने की विधियाँ विभिन्न हथियार और मुठभेड़ का आवेशभरा वातावरण दिखाए हुए हैं। यह अतुलनीय शक्ति की रचना है और वाकाटकों की वीरता प्रदर्शित करती है। विंध्यशक्ति का जिससे वाकाटकों का उदय हुआ उल्लेख एक अभिलेख में "जिसकी शक्ति युद्धों में निरन्तर बढ़ती चली गई, जिसके शौर्य का देवता तक सामना करने में असमर्थ थे और जो युद्ध करने तथा दान देने दोनों में महान था" शब्दों से किया गया है। शकों ने विंध्यशक्ति के पुत्र प्रवरसेन के हाथों पराजय खाई थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाकाटकों की उभरती हुई शक्ति ने सभी दिशाओं के कलाकारों को आकर्षित किया और उससे अजन्ता की भव्य कला उपलब्धियों का सृजन हुआ। इसमें आत्मा के आभ्यन्तर सौन्दर्य और सुन्दर स्त्रियों की मादकता के रूप में क्षण-क्षण होते परिवर्तन और लोकोत्तरता की अतुलनीय एकता मिलती है। तृष्णा का लोप और थकी-मांदी ऐन्द्रियता दोनों का रेखांकन करते या उनमें रंग भरते समय सौम्यता और सुरुचि से अंकन किया गया है। उरोजों की मृदु गोलाइयाँ, नितम्बों के वक्र और नेत्रों की कुटिल चितवन को उरेहते समय जैसे चित्रकार की शिराओं में प्राचुर्य और उत्तेजना दौड़ रही थी। इतना होने पर भी उसमें से बुद्धों और बोधिसत्वों की भाँति नारी गरिमा चारों तरफ बिखरती हुई दिखाई देती है।

Xवीं गुहा में वृक्ष परियों को नग्न गोल उरोजों सहित सुन्दरता से ढाला गया है। सिर को सम्मोहक झटका देते अथवा तिरछी चितवन डालते नर्तक की कम्पनशील गतियाँ परियों की कठिनता के विपरीत प्रदर्शित हैं। नारियों का चित्रण करने में अजन्ता का रचनात्मक कलाबोध छिपा है। विश्राम करती सुन्दर स्त्रियाँ, दर्पण में प्रतिकृति देख अपनी प्रशंसा करती स्त्रियाँ, बलि ले जाती, खड़ी, बैठी आ गप्प लड़ाती, प्रेमियों से संभाषण करती, गलियों में भीड़ लगाती, खिड़कियों में खड़ी हो, उसका सौन्दर्य बढ़ाती स्त्रियाँ, हवा में उड़कर जाती अप्सराएँ अथवा मृत्यु मुख में जाने को उद्धत नाविकों को लुभाती जलपरियाँ, केशविन्यास करने की नानाविधि रीतियों में सजी स्त्रियाँ, सभी सुरुचि की पराकाष्ठा हैं और कालिदास रचित कुमारसम्भव की इस पंक्ति की याद दिलाती हैं—"चित्रकृति की तरह जिसकी अन्तिम रूपरेखा सावधानीपूर्वक चतुर चित्रकार कामदेव ने अंगों का चित्रांकन करते समय अभी-अभी अंकित किया है।" विष्णुधर्मोत्तर (पुराण) में बताया गया है कि नारायण ऋषि ने आम्ररस पान किया (जिससे कामोत्तेजना बढ़ती है) और उर्वशी का सृजन किया जो सभी नारियों से बढ़चढ़कर हुई। इस तरह उसी ने नियम-उपनियमों सहित चित्रकर्म का आविष्कार किया और उन्हें विश्वकर्मा को पढ़ाया। इस बोधकथा के मानस दर्शन को वाणी अजन्ता में नारियों के सम्मोहक जादुई चित्रण में प्राप्त हुई है।

अजन्ता के चित्रकारों के अलंकरण बोध ने छतों, दीवारों, दरवाजों, खिड़कियों, पीठों और स्तम्भों पर कोई जगह अलंकरण किए बिना नहीं छोड़ी। आभूषणों के आकल्प, ज्यामितीय सज्जाएँ, काल्पनिक मानव या अर्द्ध-मानव आकृतियाँ, नृत्य करती, ताली बजाती या मदिरापान करती आकृतियाँ, क्रीड़ा करते पशु और पक्षी, पत्तियों की हरियाई में खचित फूल और फल सभी निरन्तर परिवर्तित होती विविधता है जो स्थल के इंच-इंच भाग को आवृत्त कर रही है।

अभिव्यंज्य कुरूपता की वीभत्सता बिना किसी दुर्भावना के बुद्ध को समर्पण कर रहे भक्तों के दासों द्वारा चित्रित की गई है। गुहा II में दो मदिरा पियक्कड़ों को दिखाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया है जिनमें से एक अपने रूपरंग और वस्त्रों से विदेशी लगता है। उसके दबे हुए कपोल और चिबुक, दाढ़ी के बालों का पतला गुच्छा उसे हास्यास्पद बना रहे हैं।

पक्षियों और पशुओं को वास्तविक यथार्थता से दिखाया गया है क्योंकि कलाकार लोग पशुपक्षियों से सम्पन्न वनों में रहते थे और कुछ इसलिए भी कि बौद्ध मत सभी प्राणियों पर दया करना सिखाता है। जातकों में बुद्ध कितने ही पूर्व जन्मों में पक्षियों और पशुओं के रूप में जन्म धारण करते हुए बताए गए हैं।

रक्त गैरिक, पीतगैरिक, मटियाला हरा, कज्जल काला और चूना श्वेत जैसे मृद रंगों से स्तरों पर छायांकन करके उभरवां प्रभाव लाकर चित्रों को जीवन्त बना दिया गया है। विनय पिटक में बुद्ध ने निवासस्थानों की चूना पुताई, काला रंग फेरने और लाल खड़िया से पुताई फेरने की अनुमति दी है। स्वामी ने बाँधने वाले पदार्थों जैसे मिट्टी में चावल की भूसी, मोम का तेल, केंचुओं की विष्ठा मिलाने की भी अनुमति दी है जिसे फिर कपड़े से रगड़कर साफ कराया जाता था। अजन्ता में खनिज रंगों को अधगीली सतह पर फेरा गया है और उन्हें लगभग दो सेंटीमीटर मोटे पलस्तर में समोया गया है। ऐसा करने से रंगों का उभार पक्का हो गया और चित्रों की अभिघट्यता में वृद्धि हुई। सामने पड़ते विषयों को गाढ़े रंग और पृष्ठभूमि में पड़ती वस्तुओं को हल्के रंग में अथवा इसके विपरीत भी चित्रित किया गया। पालि में इन्हें 'वट्टन' (छाया देना) और 'उज्जोतन' (प्रकाशित करना) कहा जाता है। रेखा की मोटाई कूंची को मुक्तहस्तेन चलाकर छाया और प्रकाश विधि से विषय के सुकोमल अंगों को स्पष्ट प्रकट किया गया है। चौथी या पाँचवीं शताब्दी में वैदूर्य का प्रवेश हो जाने पर लाल और बभ्रु (भूरी) आभाओं द्वारा अन्तर प्रकट करने के बजाय दृश्य गहराई दिखाने के लिए वही प्रभावशाली माध्यम बन गया। पारदर्शी ठंडा नीला रंग आभागत दृश्य को गहराई देकर विस्तार का भ्रम उत्पन्न कर देता था। जेन सम्प्रदाय में नीला रंग ध्यान का होता है और ध्यान की विभिन्न अवस्थाएँ या स्तर उसी नीले रंग की विभिन्न छायाएँ हैं। रंगों की बाहरी और शुद्ध श्रेणियों ने अनेक शताब्दियों के मोर्चा लगे हुए समरस पर्दे को सम्पन्न बनाया है।

अजन्ता की मूर्तियों में, यद्यपि वे भारी हैं, आध्यात्मिक प्रभविष्णुता और परिष्कृत निर्माण कौशल दिखाई पड़ता है। XIX वीं गुहा के प्रवेश पर बनी बुद्ध मूर्ति को शिल्पी ने वैराग्य और विश्वप्रेम की अभिव्यक्ति प्रदान कर दी है। XXVI वीं गुहा में दिखाया गया बुद्ध का परिनिर्वाण विशाल-आयामी है। गुहा II में हारीति और पांचिका की मूर्तियों से बच्चों के कल्याण की निश्चयकारक अभिव्यक्ति फूटी पड़ती है। गुहा XIX की मूतियों में वैशाली की गणिका आम्रपालि "श्वेत वस्त्रों में बिना किसी शरीर शृंगार और बिना कोई आभूषण धारण किए आराधना करती किसी कुलीन नारी के समान बुद्ध के सम्मुख उपस्थित होती है।" और "अपनी पतली काया को पुष्पित आम्रलता के समान दण्डवत् लेवाने के बाद पूर्ण पावनता में उठ खड़ी हो जाती है।" (अश्वघोष रचित बुद्ध चरित, 22, 17, 51)। नाग, यक्ष, विधाधर, गन्धर्व,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्नर और अन्य दिव्य प्राणियों को लचीली गतियों से शिल्पित किया गया है। उड़ते मिथुनों के कोमल रूपों में नारियों को अपने पुरुष साथियों पर सुन्दरता से विश्राम करते उत्कीर्ण किया गया है।

अजन्ता ने भारतवर्ष की प्राचीन चित्रण कला को सुरक्षित करके रखा है जो आगे चलकर बौद्धकालीन एशिया का सौन्दर्य और जीवन्तता बनी। चीनी यात्री भारत के यात्री और शिष्य बनकर मध्य एशिया के गहन मरुस्थलों को पार करते हुए यहाँ आए और भारतीय मठों से पाण्डुलिपियाँ, पवित्र मूर्तियाँ और चित्रों को अपने साथ लेकर वापस गए। अजन्ता और अन्य शरण्यों की कला ने चीन की बौद्ध कला को प्रभावित किया। बहुत अधिक संभावना है कि ह्यून-त्सांग के अपने इस कथन में पूर्व महाराष्ट्र में अवस्थित अजन्ता की ओर ही संकेत है : "यहाँ अवस्थित था एक मठ जिसका आधार बना हुआ था एक अँधियारे संकीर्ण दर्रे (या घाटी) में तथा इसके विशाल महाकक्ष और गहरे कमरे चट्टानों को खोद-काट कर बनाए गए थे और शिखर पर स्थित थी महाशालाओं की शृंखला, जिनके पृष्ठ पर थी वह चट्टान और सामने पड़ता था एक खड्ड। यह मठ पश्चिम भारत के अचल ने बनवाया था।" XXVI वीं गुहा का एक अभिलेख बताता है कि भिक्षु अचल ने अजन्ता में गुहा बनवाई थी। नारा (जापान) के निकट होर्युजी मठ के स्वर्णमहाकक्ष में बनाए गए भित्तिचित्रों की शैली जिसे छठी शताब्दी में बनाया गया, अजन्ता की शैली से मिलती-जुलती है। प्रो. हारुयामा का कथन है कि यहाँ के रंग भरने की रीतियों, छाया देने और त्रिआयामिता पर बल दिए जाने की अजन्ता से बहुत अधिक निकटता है। अधिकांश रेखाओं में लाली लिए भूरे रंग (रक्ताभ बभ्रु) का मिलना भी भारतीयता का प्रतिबिम्ब है। प्रो. किड्डर कहते हैं कि होर्युजी की चित्रकला तुङ्-हुआङ् गुफाओं से होती हुई भारत के साथ जुड़ी हुई है।

अजन्ता भौतिक सौन्दर्य और आध्यात्मिक पारगामिता में शरीर धारण किए हुए, गहरे आध्यात्मिक आनन्द, सरलता और राजकुमारों, सन्तों और वीर नायकों, वनों और मैदानों, आकाश में उड़ रहे मिथुनों, देवत्व के साथ समरसता में जिए जा रहे जीवन की अभिव्यक्ति करती बाघोरा नदी में सात छलांग (सप्त कुण्ड) लगा गिरते, प्रपात बनाते पहाड़ी नाले के भव्य प्राकृतिक दृश्यों से शराबोर हुआ मन है। भित्तिचित्रों की मधुर संवादी रेखाएँ और मूर्तियाँ काव्यमयी परिपूर्णता में परिवर्तित हो ऐश्वर्यमयी दीप्ति और प्रशान्ति बन जाती हैं। अजन्ता हमें आश्चर्य और समादर भावना से परिप्लावित कर देता है और हम ऋषितुल्य उन साधुओं के समक्ष पहुँच जाते हैं जो कभी यहाँ रहते और इन गुहाओं में ध्यान किया करते थे और उन प्राचीन कलाकारों को अनुभव करने लगते हैं जिन्होंने बहुत अधिक समय हुए यहाँ उदात्त विचारों को शरीर और आकृति प्रदान की। यह हमें उस जापानी कवि का स्मरण कराता है जिसने लिखा—"और पाषाणों में / जो एक स्वप्न की छायाएँ हैं।" और अपने भव्य समानुपात और उदात्त भावनाओं से युक्त इन गुहाओं की शिल्पकारी के पीछे एक मन है, चेतना का गुणांक है जो साधक को इस विश्व की चेतनता के प्रकाश में विलीन कर सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्लातो के *सिम्पोजियम* में सुन्दर शरीर का चिन्तन करना उस सीढ़ी का एक सोपान मात्र है जो सर्वोत्तम श्रेष्ठ रूप, आदि रूप विचार की ओर ले जाता है। अजन्ता मन का नग्न पादप्रकाश है जो इस संसार और उस अन्य दुनिया के रूपों का द्वार खोलता है जिसकी हमें केवल एक झलक भर मिल पाती है। वह शून्यता का शरण्य है जो नेत्रों और मन से भी परे है और अनन्तों के आर-पार अनन्तों से चतुर्दिक घिरा हुआ है।

अजन्ता की यात्रा करने आया आन्द्रे मालरौ अपने संस्मरणों में लिखता है—"मन क्या है? अज्ञात से छोड़ा हुआ एक वाण। हाथ में कमल धारण किए हम सब बोधिसत्व ही तो हैं, जो इस नदी को देख रहे हैं जो इस खड्ड में से होती हुई बह रही है। करुणा ही संसार की रचना करती है, जैसा धुँधलका दिन की रचना........

"यदि एलोरा मध्यकालीन है तो अजन्ता पुनर्जागरण कालीन। यहाँ मानव पुष्पित है। सच है, वह दुखों से दुखी है, जीवन होते चले जाने का चक्र है। यही कारण है कि प्रत्येक को ये फूल हाथ में रखने चाहिए और दीवार पर बने हंसों पर दृष्टि डालनी चाहिए जिस पर बुद्ध का जीवन इतने वैभवों से संगठित किया गया है कि इस जीवन में मर कर भी जीवित रहा जा सकता है। बुद्ध माता, माया प्रसव पीड़ा में अपना शरीर इतनी मानवीय विश्वजनीनता से ऐंठा रही है कि उससे प्रभावित हो उसके आस-पास के वृक्ष पुष्पित हो उठे हैं।

"बोधिसत्व के अतिरिक्त इन राजकुमारियों, प्रेम से गोलायित हो उठे उनके उरोजों, कूकती ऐन्द्रिकता वाले उनके अंगों, सुपुष्ट नारीत्व के उनके जूड़ों पर दृष्टिपात करो। मानव इन्हें पीछे छोड़ जाता है, क्योंकि वह धुँधलके से भरे जगत की ओर देखता है जो वस्तुतः इस दुनिया का है ही नहीं। संसार है ही नहीं। बस शून्यता है, केवल शून्यता ही है।"

सन्दर्भ

- रैनिरो ग्नोली, दि गिल्गित मैन्युस्क्रिप्ट्स आफ दि संघभेद वास्तु बीइंग दि सेविनटींथ एण्ड लास्ट सेक्शन आफ दि विनय आफ मूल सर्वास्तिवादिंस, भाग I, II रोम (आई.आई.एम.ई.ओ.) 1977, 1978
- जे. एडवर्ड किड्डेर (जूनि.) अजन्ता एण्ड होर्युजी, अन्त. इण्डियाज कंट्रीब्यूशन टु वर्ल्ड थॉट एण्ड कल्चर, पृ. 347-358, मद्रास (विवेकानन्द रॉक मेमोरियल कमिटी) 1970
- आन्द्रे मालरौ, मालरौ एण्ड इण्डिया—ए पैसेज टु वंडरमेंट, नई दिल्ली (एम्बासाद द फ्रांस आँ इन्द), नई दिल्ली
- पी.डब्लू. (= पीटर्सवर्ग वोर्टरबुख) ऑटो बॉटलिंक एण्ड एडोल्फ रॉथ, संस्कृत वोर्टरबुख, सेंट पीटर्सवर्ग (कायजरलिशेन एकेडेमी डेर विस्सेनशाफ्टेन), 1855-1875
- डीटेर श्लिंगलोफ्फ, गाइड टु दि अजन्ता पेंटिंग्स, नई दिल्ली, 1996

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नेपाल में नाटकीय पटाक्षेप : कितने तंत्र : राजतंत्र, प्रजातंत्र या माओतंत्र?

ए. सी. सिन्हा*

विगत वर्षों से नेपाल प्रायः समाचार पत्रों की सुर्खियों में छाया रहा। घटनाक्रम, उनके सूत्रधार, उनके अभिनेता, पर्यवेक्षक या जन-साधारण जब तक एक छवि की पहचान बनाते तब तक कम-से-कम तीन नयी संभावनायें आ खड़ी होती। गौरवशाली हिन्दु राजशाही अपनी विसंगतियों से सीख लेने के स्थान पर अपनी ही प्रजा से कटती जाती है। अपने विशाल जनाधार के बावजूद नेपाल में जनतांत्रिक संघर्ष का प्रणेता, नेपाली कांग्रेस, अपने नेतृत्व के खोखलेपन के कारण नेपाल में राष्ट्रीय स्थायित्व प्रदान नहीं कर पाती है। मनमोहन अधिकारी का साम्यवादी दल और उसके विभिन्न बिखरे घटक जनसाधारण में विश्वास के स्थान पर संशय और आक्रोश पैदा करते हैं। विभिन्न राजतांत्रिक राजकीय घटक भ्रष्ट सामन्तशाही के चाटुकार चाकर के रूप में सामने आते हैं। हथियारबन्द माओवादी गोरिल्ले दूरदराज के दुर्गम क्षेत्रों के सरकारी प्रतिष्ठानों को ध्वस्त करते हैं, लोगों को बन्धक बनाते हैं; हत्या, आगजनी और लूटखसोट के बाद ग्रामीण क्षेत्रों में अराजकता स्थापित करते हैं। राजशाही आरक्षी जन भाग खड़े होते हैं। लड़ाकू गोरखा सेना आंतरिक अराजकता से जूझती तो हैं, परन्तु निर्णायक विजय नहीं प्राप्त कर पाती। इस अराजकता, अव्यवस्था और आक्रोश के बीच नेपाल नरेश और उनकी प्रजा के बीच का परम्परागत सम्वाद टूट जाता है। परिणाम जानते हुये भी नेपाल नरेश अपनी प्रजा से हठधर्मी करते हैं। फलस्वरूप करीब ढाई सौ साल पुरानी गोरखावंशीय राजतंत्र का अन्त होता है। परन्तु प्रशासन एक प्रश्न ही बना रहता है। एक तरफ तो टूटती परम्परा की जंजीरों से स्वतंत्र प्रत्येक समुदाय अलग दिशा का रुख किये हुए हैं; तो दूसरी तरफ, कुछ अन्य एक नये प्रकाश के विवेकरहित राष्ट्रीयता के बुखार से पीड़ित है। नेपाल में सब कुछ बदल रहा है और यह बदलाव आराजक, त्वरित और दिशाहीन दिखता है।

* प्रोफेसर, ए. सी. सिन्हा, पूर्व संकायाध्यक्ष, समाज विज्ञान संकाय, पूर्वोत्तर पार्वत्य विश्वविद्यालय, शिलांग। पताः डी7/7331, बसंत कुंज, नयी दिल्ली-110070

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृष्ठभूमि

आखिर ऐसी स्थिति कैसे आ खड़ी हुई? इस सरल प्रश्न का उत्तर जटिल है। इसके लिए हमें नेपाल की भौगोलिक स्थिति, इसके इतिहास, अर्थव्यवस्था और पिछले छह दशकों की राजनीति को सरसरी नजर से देखना होगा।

मध्य हिमालय के दक्षिणी ढलान पर अवस्थित नेपाल करीब पांच सौ मील लम्बा और 130 मील चौड़ा और 54,000 वर्ग मील में फैला एक छोटा सा आयतकार देश है। नेपाल में उत्तुंग पर्वत चोटियाँ, बर्फीली सदा सलिला नदियाँ, उपजाऊ नदी घाटियाँ, सघन वन और तराई के मैदानी भाग हैं। यहाँ के निवासी गोरखे प्रायः गठीले, ठिगने, हरफनमौला और अत्यन्त परिश्रमी होते हैं। उद्योगों के अभाव में यह कृषकों और पशुपालकों का देश है। विभिन्न पर्वत श्रृंखलाओं, घाटियों में विभिन्न भाषा-भाषी प्रजातियों की आबादी है। इस प्रकार नेपाल में सर्वाधिक जातियाँ जनजातियाँ हैं। काठमांडु घाटी और तराई में कुछ मुसलमान बसते हैं। नेपाल के विभिन्न क्षेत्रों में बौद्ध धर्मावलम्बी बसते हैं। नेपाली, नेवारी, मैथिली और हिन्दी मुख्यभाषायें बोली और लिखी-पढ़ी जाती है। खेती और पशुपालन के अतिरिक्त नेपाली युवक भारत, ब्रिटेन और नेपाल की सेना में गोरखा सैनिकों के रूप में यश कमा चुके हैं। एक जमाने में अंग्रेजी साम्राज्य नेपाल को 'सिपाहियों की खेती' (Soldiers' farm) मानता था। परन्तु स्थिति आज बदल चुकी है। आधुनिक नेपाली अर्थव्यवस्था खेती, विदेशी मनीआर्डर (moneyorder) और पर्यटकों से होने वाली आय पर आश्रित है।

विभिन्न पर्वत श्रृंखलाओं में अवस्थित गणजातियाँ प्राचीनकाल से प्रायः अपने सरदारों, मुखियाओं के अधीन संगठित थीं। एक प्रकार की आदिम अर्थव्यवस्था प्रचलित थी जिसमें वस्तु-विनिमय होता था और कृषक प्रायः अभाव का जीवन व्यतीत करते थे। पर्याप्त बचत के अभाव में केन्द्रीय संगठन का अभाव था। कहते हैं कि मध्य और तराई का अधिकांश भाग मगध साम्राज्य का अंग था। तराई की शाक्य और लिच्छवी गणजातियाँ कालान्तर में मौर्य और गुप्त साम्राज्य में अन्तर्मुक्त हो गयीं। पौराणिक मिथिला नरेश जनक और ऐतिहासिक मिथिला पूर्वी तराई को अलग नहीं किया जा सकता। कालान्तर में गोपाल (गाय पालने वाले) और महिषपाल (भैंस पालने वाले) वंशीय शासकों ने राज्य किया। एक अनुमान के अनुसार नेपाल शब्द की व्युत्पत्ति तिब्बती मूल के 'न्हत' (पशु) + पा (मनुष्य) शब्दों में निहित है, जिसका अर्थ हुआ 'पशुपालक।' स्मरणीय है कि आज भी नेपाल की अर्थव्यवस्था में कृषि और पशुपालन का मुख्य योगदान है। यों तो 'नेपाल' शब्द की व्युत्पत्ति विषयक दो अन्य विचारधारायें भी हैं। कहा जाता है कि प्राचीन काल में काठमांडु घाटी के स्थान पर एक झील हुआ करती थी। परम्परा है कि 'नेति' ऋषि ने दक्षिणी पर्वत-कन्दराओं को काटकर झील के पानी को दक्षिण दिशा में प्रवाहित करा दिया और घाटी में कृषि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवस्था का आरम्भ किया। फलस्वरूप कृतज्ञ कृषकों ने अपनी भूमि को नेति द्वारा पालित - नेपाल - (ने + पाल) - नाम दिया। सदियों तक नेपाल का अर्थ मात्र काठमांडु घाटी होता था। एक अन्य विचार के अनुसार नेपाल शब्द काठमांडु घाटी के मुख्य और प्राचीन निवासियों, नेवारों के नाम पर, नेवार शब्द का ही एक रूप है। शब्द की व्युत्पत्ति जो भी हो, नेपाल शब्द सीमित अर्थों में ही प्रयुक्त होता था। यहाँ तक तक कि जॉन ह्वेल्पटन (John Whelpton) के मुताबिक 1930 के दशक में राणाओं ने 'गोरखा' राज्य और 'गोरखाली' भाषा को 'नेपाल' राज्य और नेपाली भाषा के रूप में नामकरण किया। फिर भी नेवार समुदाय के सदस्य वर्षों तक नेवार भाषा को ही 'नेपाली' की संज्ञा देते रहे।

गोरखा या नेपाली

आज के नेपाल को परिभाषित करने के लिए मध्य काल में कोई शब्द नहीं था। मानवशास्त्री मानते हैं कि प्रतिष्ठान और प्रभुता के भूखे गणजाति सरदार प्रायः निर्बल और निर्धन क्षत्रिककन्याओं से ब्याह रचा कर सामाजिक प्रतिष्ठा पाते रहे हैं। कहा जाता है कि मध्यकाल में नेपाल के 'खस' गणजाति के सरदार इसी प्रक्रिया को अपना कर क्षत्रिय बने। इसी समय तुर्क आक्रमण और मुगल आक्रमणों से आक्रान्त और परास्त पश्चिमी भारत के कुछ क्षत्रिय नेपाल की पहाड़ियों में शरणागत हुये और अपने पराक्रम से कई छोटे-बड़े राज्यों का संगठन किया। गाहे-बगाहे ये रजवाड़े अपने को मुगल बादशाह के अधीन मानते थे। पश्चिमी नेपाल में अवस्थित 'बाइसी' (22) और मध्य नेपाल में अवस्थित 'चौबीसी' (24) राज्यों के संघ ऐसी ही इकाईयाँ थी। स्मरणीय है कि पूर्वी तराई का इतिहास मिथिला का इतिहास था और काठमांडु घाटी में मल्ल वंशियों का राज्य था। गोरखा नामक छोटा राज्य चौबीसी का एक इकाई था तथा अधिकांशतः आधुनिक पूर्वोत्तर नेपाल 'किरात' मूलक गणजातियों के वश में था। उपरोक्त गोरखा राज्य की स्थापना द्रव्यशाह ने 1559 में की थी। गोरखा नरेश अपने को चित्तौड़ (राजस्थान) गढ़ के जुझारू क्षत्रिय परिवार का प्रवासी अंग मानता है। द्रव्यशाह के 10वीं पीढ़ी में इस वंश का सर्वाधिक यशस्वी नरेश, पृथ्वी नारायण शाह, का जन्म 1728 में हुआ। चौदह वर्ष में सिन्हासत्तारूढ़ होने से लेकर मृत्यु पर्यन्त (1775) पृथ्वीनारायण शाह ने अपने अथक प्रयास और अदम्भ युद्ध कौशल से नेपाल का एकीकरण किया। कृतज्ञ राष्ट्र उन्हें नेपाल के राष्ट्रपिता के (Father of the Nation) रूप में याद करता है। उनके बाद तीन उत्तराधिकारियों ने राज्य की सीमा पश्चिम में सतलज नदी से लेकर पूरब में तीस्ता नदी तक तथा उत्तर में हिमालयी शिखरों से लेकर दक्षिण में तराई के मैदानों तक फैला दी। गोरखा सैनिकों को तनख्वाह के स्थान पर विजित राज्यों में लूट-खसोट करने की आजादी थी तथा सेना नायकों को जागीरें और पदवियाँ दी जाती थीं। इस प्रकार गोरखा सेना अनवरत युद्ध करने के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए उद्धत रहती थी। पृथ्वी नारायण शाह ने अपने को "पर्वतों का राजा" तथा गोरखा राज्य को "असली हिन्दुस्तान" बताया और अपने राज्य को "चार वर्णों और छत्तीस जातियों की फुलवारी" की संज्ञा दी। इस अबाध और अनवरत युद्ध एवं राज्य विस्तार की परिणति 1814-15 में भारत की तत्कालीन औपनिवेशिक सरकार, ईस्ट इंडिया कंपनी, और नेपालियों के बीच युद्ध में हुई। आधुनिक हथियारों के अभाव और सीमित साधनों के बावजूद गोरखा सैनिकों ने कम्पनी की सेना का बहादुरी से सामना किया। यही नहीं, चार में से तीन मोर्चों पर अंग्रेजों को परास्त भी किया। परन्तु अन्ततोगत्वा जीत कम्पनी बहादुर की ही हुई और नेपाल को कम्पनी की शर्तों पर शुगौली की संधि करनी पड़ी। इस युद्ध ने अंग्रेजों और गोरखों को एक-दूसरे की सीमाओं और बारीकियों से परिचित कराया। जहाँ अंग्रेजों ने गोरखों को लड़ाकू, निर्भय, विनोदप्रिय और स्वामीभक्त पाया; वहीं गोरखों ने अंग्रेजों को खतरनाक दुश्मन, परन्तु दयालु मित्र पाया। यह दूसरी बात है कि अंग्रेजों की भारतीय साम्राज्य के इर्दगिर्द बफ्फ़र राज्य (Buffer State) की अवधारणा में गोरखा राज्य एक विशेष भूमिका अदा कर रहा था। संधि के अनुसार पश्चिम में काली गंडकी और पूरब में मेची नदी नेपाल की सीमा बनी और उनके पार के विजित क्षेत्र, जिन पर प्रायः 15-45 साल तक नेपाल का कब्जा था, खाली करना पड़ा। स्मरणीय है कि ये क्षेत्र (यानी अल्मोड़ा, गढ़वाल और सिक्कम और दार्जिलिंग) कभी भी परम्परागत रूप से नेपाली राज्य के नहीं थे। परन्तु आज भी नेपाल के कुछ सांस्कृतिक विस्तारवादी बृहद् नेपाल (Greater Nepal) की कल्पना करते नहीं थकते; जिसमें सतलुज से तीस्ता तक की भूमि की भारतवर्ष से वापसी की अपेक्षा की जाती हे।

1816 से अगले तीन दशक नेपाल के इतिहास में लुडविग स्टेलर (Ludwig Steller) के मुताबिक सुसुप्त वर्ष (silent years) माने जाते हैं। परन्तु कहानी कुछ और ही है। गोरखा नरेश राजेन्द्र शाह की माता और विमाता, वरिष्ठ और कनिष्ठ महारानियों, सरदारों, भीमसेन थापा और आतंबर सिंह थापा, के बीच दरबारी षड्यंत्र इतना बढ़ गया कि इसकी परिणति 14 सितम्बर, 1846 की रात में राज्यपरिषद् की जघन्य हत्या (Court or Kot Massacre) में हुई। इस हत्याकांड में तत्कालीन मुखिया फतहजंग समेत 30 सभासदों की हत्या हुई और उनके 6000 परिजनों को नेपाल से निर्वासित कर दिया गया। बताया गया है कि इस हत्या का सूत्रधार राणा जंग बहादुर कुँवर था, जिसे आतंकित नरेश दम्पत्ति ने तत्क्षण प्रधानमंत्री का पद सौंप कर राहत की साँस लेनी चाही। कालान्तर में राणा जंग बहादुर ने नेपाल नरेश को नाममात्र के लिए सार्वभौम नरेश रखा और अंग्रेजों के सह पर दुनिया का अत्यन्त ही खूंखार प्रशासन तंत्र, राणाशाही को प्रचलित किया। जंगबहादुर से मोहन शमशेर तक 105 वर्षों के राजशाही में नव प्रधानमंत्री हुये। यह नेपाल के इतिहास का अत्यन्त ही क्रूर, दकियानूस, प्रतिक्रियावादी और दमनकारी युग माना जाता है। यों कहने को राणाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का वर्चस्व था। पर विडम्बना यह हे कि उनमें भी एक वर्ग ने सारे विशेषाधिकार हथिया लिया था। यहाँ तक कि कालान्तर में राणा जंग बहादुर के वंशजों को भी उन विशेष अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। यह तिकड़म राणाओं को A, B, C तीन वर्गों में बांट कर प्रधानमंत्री एवं सेवाध्यक्ष आदि के मुख्य पद A क्लास के राणाओं के लिए, तथा C वर्ग के राणाओं को दूरदराज के जिलों में छोटे-मोटे पद दे दिये गये थे। कहना न होगा कि राणाओं के इस वंचित वर्ण ने राणाशाही के विरूद्ध प्रजातांत्रिक शक्तियों का साथ दिया।

राणाओं ने नेपाल को एक तरह से अपनी पारिवारिक सम्पत्ति बना डाला था। इन्होंने आँख मूंद भारत में औपनिवेशिक अफसरशाही का समर्थन किया। इसका आरम्भ राणा जंग बहादुर ने खुद 1857 के भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के विरूद्ध अपनी सेना के साथ गोरखपुर की सफर की और अंग्रेजों का पुरजोर समर्थन किया। अंग्रेजों ने पारितोषिक स्वरूप पश्चिमी नेपाल तराई के चार जिले राणा जंग बहादुर को सुपुर्द किया, जिसे उसने अपनी पारिवारिक सम्पत्ति बना ड़ाला। राणाओं ने अपने लिए शिक्षण, प्रशिक्षण, विलास और सुविधाओं का प्रावधान किया। परन्तु नेपाल नरेश का परिवार प्रायः बन्दी का जीवन व्यतीत करता था। उचित शिक्षा, प्रशिक्षण, सम्पर्क आदि के अभाव में नेपाल नरेश मानसिक रूप से पंगु बन कर रहे गये थे। उन पर पकड़ बनाये रखने के लिए उन्हें जबरन राणा कन्याओं से विवाह रचाना पड़ता था। उदाहरणार्थ त्रिलोक विक्रमशाह राणा जंग बहादुर के तीन पुत्रियों के पति थे और उनके पोते महेन्द्र विक्रम शाह राणा युद्ध शमशेर की दो पुत्रियों के पति थे। नेपाल नरेशों को विधिवत शिक्षा नहीं दी जाती थी। फलस्वरूप त्रिभुवनवीर विक्रमशाह (1911-1955) और महेन्द्र विक्रम शाह (1955-1972) का किसी प्रकार की शिक्षा की विधिवत डिग्री नहीं थी। शायद यही कारण था कि ये दोनों नरेश मानसिक ग्रंथी के शिकार वन गये। वे अपने को इतने असुरक्षित समझते थे कि उनका व्यवहार प्रायः सामान्य नहीं हो पाता था। इस संदर्भ में स्मरणीय है कि 6 नवम्बर, 1950 से अपने दिल्ली प्रवास में नेपाल नरेश त्रिभुवन अतिशय शराब पीकर होटलों में नाचने लगते थे, जिसकी चर्चा पंडित जवाहरलाल नेहरू ने विश्वेशर प्रसाद कोइराला से की थी। तत्कालीन प्रधानमंत्री राण मोहन शमशेर को त्रिभुवन वीर बिक्रम शाह पिता तुल्य मानते थे; परन्तु इसके आतंक में जीते थे। अगर उनका वश चलता तो वे अपने प्रधानमंत्री को पदच्युत कर देते (चटर्जी, भोला : 1980:82)। नेपाली प्रशासन पर पकड़ वनाये रखने के लिए राणाओं ने दो दूरगामी कदम उठाये, जो एक-दूसरे के पूरक थे। प्रथमतः राणाओं ने हिन्दु धर्म - सनातन धर्म - को नेपाल का राष्ट्र धर्म घोषित किया। द्वितीय, धर्मशास्त्रों से प्रभावित ऊँच-नीच और छुआछूत आदि सामाजिक विषमता को मजबूत करने के लिए 'मुल्की आईन' (Mulki Ain, ... Civil Code),

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1854 में व्यवस्था दी। इस व्यवस्था के अनुसार सत्ता-सामन्तों ने नेपाल की भूमि पर अवस्थित सभी समुदायों को एक अखिल नेपाल जाति व्यवस्था मूलक शृंखला में पिरो डाला। मुलकी आइन के मुताबिक द्विज जातियां (तागाधारी) को सर्वोपरि और अछूतों (पानी नाचाल्या छोड़-छीतो पालनुपारन्या) को निम्नतम श्रेणी में रखा गया और बीच में अन्य तीन वर्णों की व्यवस्थायें की गयी : नामाशिया अतवाली (वे जातियाँ जो शराब पी सकती थीं, परन्तु उन्हें दास नहीं बनाया जा सकता था), मांशिया मतवाली (जो शराब पी सकती थी, परन्तु उन्हें दास बनाया जा सकता था) तथा अछूत, परन्तु वे जातियाँ, जिनका दिया हुआ पानी द्विज स्वीकृत कर सकते थे (पाणी ना चालान्या छोई-छीटो हालनुनानान्या)। वैवाहिक, सामाजिक असमानता तथा भोजनादि की शुद्धता पर आधारित यह जाति-व्यवस्था पूरे नेपाल में देव-प्रदत्त संविधान के रूप में प्रतिष्ठित की गयी थी। व्यवस्था की अवहेलना करने पर कठोर डढ की मान्यता दी गयी थी। स्मरणीय है कि नेपाल के बाहर भी प्रवासी नेपाली इसी व्यवस्था के द्वारा नियंत्रित होते थे। नेपाल नरेश महेन्द्र ने मुल्की आइन के कुछ प्रावधानों को 1963 में निरस्त कर दिया था। परन्तु यह व्यवस्था जनान्दोलन, 1990 तक लागू रही।

राजनैतिक सुगबुगाहट और पहल

राणाशाही का प्रयास था कि तेजी से बदलती दुनिया से अलग नेपाल को अपनी निजीगत जागीर बनायी रखी जाय। स्वाभाविक है कि वहाँ जन-स्वास्थ्य, आम शिक्षा और आवागमन के साधनों का विकास नहीं किया गया। राणाचन्द शमशेर (1901-1929) ने अपने पूर्ववर्त्ती प्रधानमंत्री, देव शमशेर, द्वारा स्थापित चन्द प्राथमिक पाठशालाओं को भी बन्द कर दिया। यह वही सज्जन थे, जिन्होंने ब्रिटेन के साम्राट पंचम जार्ज को नसीहत दी कि अंग्रेजों ने भारतीयों को शिक्षा देने की गलत की; फलस्वरूप राष्ट्रवादियों की चुनौती उन्हें झेलनी पड़ रही है। अत्यन्त चौकसी के बावजूद नेपाली जनता में राजनैतिक सुगबुगाहट शुरू हो गयी थी। 1930 के दशक में 'नेपाल प्रजा परिषद' नामक गुप्त दल ने राणाशाही के विरूद्ध नेपाल नरेश से सम्पर्क करने की कोशिश की। कुछ उत्साही कार्यकर्त्ताओं ने डुपलेकेटींग (Duplicating) मशीन की सहायता से इश्तहार निकालकर राणाओं के विरूद्ध विद्रोह करने के लिए जनता का आह्वान किया। परन्तु इस प्रकरण में संलग्न व्यक्तियों का सुराग प्रशासन को लग गया। फलस्वरूप चार सदस्यों को फाँसी दे दी गयी और परिषद् अध्यक्ष, टंक प्रसाद आचार्यो को, ब्राह्मण होने के कारण फाँसी न देकर कारावास में डाल दिया गया।

ज्ञात हो कि नेपालियों का एक वर्ग, जो भारत में शिक्षा, व्यवसाय या आजीविका के संदर्भ में निवास करता था, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम से प्रभावित होकर राजनैतिक रूप से सक्रिय था। कुछ समाज सुधारक के रूप में, कुछ साहित्य और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्रकारिता के माध्यम से और अन्य छद्म रूप से राणा विरोधी आयोजन करते थे। स्वाभाविक है अधिकतर की सहानुभूति भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ थी। परन्तु कुछ साम्यवादी भी थे। बिशेश्वर प्रसाद (B.P.) कोइराला, जो कांग्रेस में होते हुए भी कांग्रेस समाजवादी दल के सक्रिय सदस्य थे, को बी.पी. कोइराला सरीखे समाजवादी विचारधारा मानने वाले राजकीय कार्यकर्त्ताओं ने नेपाल की क्रूर राणाशाही के विरूद्ध सशस्त्र क्रांति का रास्ता अपनाया। कालान्तर में सशस्त्र क्रान्ति के लिए धन की व्यवस्था मुख्यतः असंतुष्ट प्रवासी राणाओं ने की। हथियार बर्मा से प्राप्त किये गये और नेपाल के भारतीय पड़ोसी राज्य, बिहार, बंगाल और उत्तर प्रदेश की जनता और सरकारों ने पुरजोर समर्थन किया। कलकत्ता, दार्जिलिंग, पटना, बनारस और नेपाल से आये कार्यकर्त्ताओं ने जनवरी, 1947 में नेपाल कांग्रेस की स्थापना कलकत्ते में की। प्रतीकात्मक रूप से नेपाली जेल में बन्द टंक प्रसाद आचार्य को अध्यक्ष और बी.पी. कार्यकारी अध्यक्ष चुने गये। स्मरणीय है कि बी.पी. और उनके साथी नेपाल की राणा विरोधी मुहिम को भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के संदर्भ में ही देखते थे। वे स्वयं समाजवादी दल के सक्रिय सदस्य के रूप में वे भारतीय स्वतंत्रता सेनानियों के साथ जेल जा चुके थे। फलस्वरूप उनका भारतवर्ष के चोटी के नेताओं - जवाहरलाल, राजेन्द्र प्रसाद, जयप्रकाश नारायण, जगजीवनराम, श्रीकृष्ण सिन्हा आदि से निकट का सम्बन्ध था। बी.पी. के पिता—कृष्ण प्रसाद—एक विलक्षण व्यक्ति थे, जो शिक्षण और रचनात्मक कार्यों में व्यस्त होने के बावजूद, निर्भय समाजसुधारक और छोटे-मोटे उद्यमी थे। अपने आदर्शों के चलते उन्होंने नेपाल से निर्वासित होना पड़ा और उनकी सारी सम्पत्ति जब्त कर ली गयी। इस स्वाभिमानी व्यक्ति ने अत्यन्त गरीबी में अपने परिवार का भरण-पोषण और शिक्षण पूरा किया। संभवतः के.पी. कोइराला दुनिया के एकमात्र पिता हैं, जिनके तीन पुत्र (मातृका, विश्वेश्वर और गिरिजा) कालान्तर में अपने देश के प्रधानमंत्री बने।

नेपाली कांग्रेस ने धन, जन, शस्त्र इकट्ठे किये और 1950 में राणाशाही के विरूद्ध मुक्तिसंग्राम छेड़ दिया। इस संघर्ष में नेपाल की तराई की जनता के साथ उत्तर बिहार के अनगिनत स्वयंसेवकों ने भाग लिया। यह मुक्ति संग्राम मुख्यतः पूर्वी और मध्य तराई में लड़ा गया और उसमें मुक्ति सेना ने पर्याप्त सफलता भी प्राप्त की। (रेणु, फ. न. : 1977)। मुक्ति संग्राम का एक वर्ग महाराजा त्रिभुवन के सम्पर्क में था और राणाशाही से निजात पाने के लिए आतुर नेपाल नरेश ने मौका पाकर नवम्बर 6, 1950 को पिकनिक जाने के बहाने सपरिवार काठमांडु स्थित भारतीय दूतावास में शरण ली। महाराजा की अपील पर भारत सरकार ने उन्हें राजनैतिक शरण दे दी। क्रोध से पागल नेपाल का प्रधानमंत्री राणा मोहन शमशेर नेपाल नरेश के चार वर्षीय पोते को सिंहासनरूढ़ कर विधिवत दरबारियों से रस्म अदा कराकर अंतर्राष्ट्रीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मान्यता की अपील करता है। यह वही सज्जन ज्ञानेन्द्र वीर बिक्रमशाह है, जिनका लगभग पांच दशक बाद अपने बड़े भाई वीरेन्द्र के सपरिवार हत्या के बाद दुबारा सिंहासन सम्पन्न हुआ और उन्हें शाह वंश के अन्तिम नेपाल नरेश होने का गौरव प्राप्त हुआ। परन्तु राणाओं के लाख कोशिश के बावजूद किसी भी विदेशी सरकार ने त्रिभुवन के कठपुतली उत्तराधिकारी को मान्यता नहीं दी।

एक तरफ उपरोक्त कूटनीतिक संघर्ष चल रहा था, तो दूसरी तरफ, नेपाली कांग्रेस की मुक्ति सेना राणा प्रशासन को परास्त कर एक के बाद एक मोर्चों पर विजय पा रही थी। इस दोहरी मार से खोखली राणाशाही ने सुलह की पहल की। फलस्वरूप नेपाल नरेश त्रिभुवन, नेपाली कांग्रेस और राणाओं के बीच दिल्ली के एक त्रिपक्षीय समझौता हुआ, जिसके अनुसार नेपाल नरेश विधिवत काठमांडु राष्ट्राध्यक्ष के रूप में वापस आये; राणा मोहन शमशेर प्रधानमंत्री बने रहे, परन्तु एक साझी सरकार के। यह खिचड़ी सरकार नहीं चलनी थी, सो नहीं चल पायी। इस राजनैतिक उठापटक के बाद नेपाली जनता की उम्मीदें आसमान छू रही थीं। परन्तु अनुभवहीन नेपाल नरेश, प्रतिक्रियावादी राणाओं और उद्धत नेपाली कांग्रेस के बीच किसी प्रकार का समन्वय नहीं बन पाया। नया संविधान, नया चुनाव, प्रशासकीय, आर्थिक और सामाजिक सुधार के वादे किये गये, परन्तु उन्हें भुला दिया गया। नरेश, राणा और राजनैतिक दल सभी आधिकारिक पदों पर बैठने को आतुर थे; परन्तु जनता की समस्यायों की तरफ किसी की नजर नहीं थी। फलस्वरूप अव्यवस्था, अराजकता और अनिश्चियतता बढ़ती गयी। 1950 के दशक में कई सरकारें बनीं और पदच्युत हुई। अंत में एक सीमित संविधान के आधार पर मार्च 1959 को पहला आम चुनाव हुआ। केन्द्रीय प्रतिनिधि सभा की 109 में से 74 स्थानों पर विजय प्राप्त कर नेपाली कांग्रेस के नेता बी.पी. कोइराला प्रधानमंत्री बने। तब तक 1955 में नेपाल नरेश त्रिभुवन की मृत्युपर्यन्त उनके पुत्र महेन्द्र विक्रमशाह नेपाल नरेश थे। कोइराला के समाजवादी रुझान और महेन्द्र के अधिनायकवादी विचारों में शीघ्र ही टकराव होने लगा। दिसम्बर, 1960 को प्रतिनिधि सभा भंग कर दी गयी; मंत्रीगण बन्दी बना लिए गय और प्रशासन की बागडोर नेपाल नरेश ने खुद अपने हाथों में ली। चन्द वर्षों में तथाकथित नेपाली परम्परा सम्मत पंचायती प्रशासन व्यवस्था लागू की गयी। पंचायत प्रणाली में मंत्रीमंडल बनते रहे और बिगड़ते रहे। महाराजा को देशभक्तों की नहीं राजभक्त की तलाश थी। फलस्वरूप मंत्री-परिषद् जनकल्याण के स्थान पर रागदरबारी अलापते रहे। राजनैतिक दल गैरकानूनी करार दे दिये गये। राजनैतिक संगठन और उनसे जुड़ी गतिविधियाँ देशद्रोह करार कर दी गयी। नेपाल को पश्चिमी पर्यटकों की क्रीड़ा स्थली में बदल दिया गया। यह प्रतिगामी प्रकरण 1960 से 1990 तक चला और इसकी परिणति प्रथम जनान्दोलन, 1990 में हुई, जिसने नेपाल की राजनैतिक तस्वीर ही बदल दी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम जनान्दोलन, 1990

नेपाली कांग्रेस के प्रधानमंत्री बी.पी. कोइराला की बरखास्तगी और बन्दी बनाये जाने से लेकर 1990 तक के तीन दशक नेपाल नरेश महेन्द्र और उनके पुत्र बीरेन्द्र के एकछत्र राज्य के वर्ष थे। नेपाल नरेश निर्विवाद रूप से एकमात्र सत्ता सम्पन्न बन गये। राजनैतिक दल तो पहले ही असंवैधानिक करार दे दिये जा चुके थे। परन्तु विभिन्न दलों के अवसरवादी नेता नरेश से क्षमा मांग कर पंचायत पद्धति के समर्थक बन बैठे। फिर तो ऐसे व्यक्तियों को नेपाल नरेश पदासीन करते और पदच्युत करते रहे। भूतपूर्व प्रधानमंत्री बी.पी. कोइराला क्रमशः बन्दीगृह, अस्पताल या निर्वासन में जीवन बिताते रहे। पर्यटन उद्योग तो चमका, परन्तु उसके नकारात्मक परिणाम भी उजागर होने लगे। बड़े पैमाने पर वातावरण प्रदूषण। सामान्य जनता गरीबी की चक्की में पीसती रही। कुछ तो देशी-विदेशी फौजों में जाते; कुछ बोझिल कुली बनते; अन्य काम की तलाश में सरहद पाकर भारतवर्ष में निम्नतम आय वाले कार्यों में लगते। यहाँ तक कि नेपाल की निरक्षर ग्रामीण लड़कियों को वेश्यावृत्ति में लगाया जाने लगा। शिक्षा तो बढ़ी; परनतु उसके साथ शिक्षित बेरोजगार भी बढ़े। राजनैतिक क्रियाकलापों पर नहीं, सम्प्रेषण और संचार माध्यम पर भी पाबन्दी थी। ऐसी स्थिति में असंतोष का बढ़ना स्वाभाविक था। संशय बढ़ रहा था और बढ़ रही थी जन-चेतना। दूरदराज की जनजातियों में सुगबुगाहट और सामाजिक अस्थिरता बढ़ रही थी। धार्मिक बंधन, सामाजिक रूढ़ियाँ, मुल्की आइन की स्थापना बदलते समय में समाज को बांध रखने में अक्षम सिद्ध हो रही थी। ऊपर से नेपाल के सत्ता सामन्त अपने लुभावने नारे 'एक देश, एक नरेश, एक भाषा, एक भेष' की एक रूपल छवि स्थापित करने पर ही तुले थे। इस बार जनता ने अपनी मांगों की फेहरिस्त नहीं बनायी; बल्कि नरेश दम्पत्ति की सार्वजनिक खिल्ली उड़ायी; उनके पुतलों को जूते मारे और राजपरिवार की शाही ऐय्याशी की सार्वजनिक भर्त्सना की। हिन्दू धर्म, नेपाली भाषा और राजशाही के प्रति एक वर्ग ने अपना रोष जताया और जाहिर किया कि यदि ये तीनों नेपाली राष्ट्र के प्रतीक हैं, तो ऐसे राष्ट्र में उनकी कोई साझीदारी सम्भव नहीं है। जनान्दोलन इतना न व्याप्त और उग्र हो चला कि नेपाल नरेश को एक नया संविधान के लिए सहमत होना पड़ा। अब नेपाली जनता और नेपाल नरेश दोनों ही नेपाल के संयुक्त सत्ता-स्तम्भ माने गये। स्वाभाविक है कि प्रजातंत्र की बहाली हुई। चुनाव हुए और मंत्रीमंडलीय व्यवस्था लागू की गयी। नरेश मात्र सवैधानिक राष्ट्राध्यक्ष रह गये। नेपाल को धर्म-निरपेक्ष राज्य माना गया; परन्तु नेपाल को हिन्दू राज्य और हिन्दू धर्म को राजधर्म भी वताया गया।

जनान्दोलन के पहले ही जनजातियों में राजनैतिक सुगबुगाहट आरम्भ हो गयी थी। दूरदराज के पर्वतों और जंगलों में रहने वाली जनजातियाँ नेपाल की स्थापित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृति - पहाड़ी ब्रम्हण - छेत्री - नेवार - संस्लिष्ठ - में उनकी भागीदारी कम थी। उसी प्रकार नेपाल तराई के 'मधेशी' प्रशासनिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और भाषाई भेदभाव से तंग आ चुके थे। नेपाली हिन्दुओं में अछूत समझी जाने वाली जातियाँ भी सामाजिक प्रताड़ना से आक्रांत थी। इन सबों को अपने पड़ोसी देश भारत में व्याप्त संवैधानिक अवधारणायें अपील करती रहीं, यथा अनुसूचित जनजाति, अनुसूचित जाति और विशेष पिछड़े सीमान्तीय क्षेत्र। फिर क्या था? देखते-देखते नेपाल जनजाति महासंघ (Nepal Federation of Nationalities - NEFEN) की स्थापना हुयी और 59 इकाइयों का यह महासंघ अपने मांगों को लेकर आन्दोलित हो उठा। उसी प्रकार दलित वर्ग भी आगे आया और आन्दोलन के रास्ते पर चल पड़ा। ये आन्दोलन चल ही रहे थे कि नेपाल का साम्यवादी दल (माओवादी) अपने 40 सूत्री मांगों को लेकर सरकार को अल्टीमेटम दे बैठा। परन्तु मांगों की पूर्ति की समय-सीमा समाप्त होने के पहले ही दल ने सशस्त्र क्रान्ति का नारा दिया और सुरक्षा सैनिकों को परास्त कर पश्चिमी सीमान्तीय जनपदों में अपने लिये मुक्त क्षेत्र (Liberated zone) की घोषणा कर डाली। माओवादियों ने अपने को चीनी मुक्तिवाहिनी के समान सशस्त्र वर्दीधारी सैनिकों के रूप में संगठित किया और सरकारी प्रतिष्ठानों और तथाकथित सर्वहारा विरोधी परिवारों की सम्पत्ति को ध्वस्त किया, लूटा, जलाया और विरोध करने पर हत्यायें भी कीं। आवागमन के रास्ते, सरकारी कार्यालय, बैंक, स्कूल, अस्पताल और अन्य संस्थान–सभी तोड़फोड़ या जला डाले गये और इन मुक्त क्षेत्रों में मुक्ति अदालतें स्थापित की गयीं।

द्वितीय जनांदोलन, 2006

दूसरी तरफ प्रजातंत्र का यह हाल था कि 20वीं सदी के अंतिम दशक में कितने प्रधानमंत्री बने, इसका हिसाब रखना बेमानी है क्योंक प्रत्येक चुनाव एक भोंडी प्रतिनिधि सभा पेश करता रहा और सरकारें बनती और गिरती रहीं। ऐसी स्थिति में माओवादियों की चुनौती स्वीकार करे तो कौन? इन सभी विकट समस्याओं से क्षणिक निजात पाने के लिए एक अजीबोगरीब घटना जून 1, 2001 को घटी। रात्रिभोज के दौरान नेपाल नरेश बीरेन्द्र विक्रमशाह अपने समस्त परिवार के साथ एक भीषण गोलीवारी में मारे गए। घायल युवराज दीपेन्द्र ने दूसरे दिन दम तोड़ा। ऐसी स्थिति में मृत नेपाल नरेश के छोटे भाई 56 वर्षीय ज्ञानेन्द्र वीर विक्रम शाह की ताजपोशी सनातनी हिन्दू परम्परा के अनुसार की गयी। स्मरणीय है कि यह वही सज्जन है जिन्हें नवम्बर, 1950 में तत्कालीन राणा प्रधानमंत्री मोहन शमशेर ने नेपाल नरेश त्रिभुवन के भारत पलायन के समय सिंहासनारूढ़ किया था, जो कदम अमान्य हुआ और त्रिभुवन बाजाब्ता नेपाल नरेश बने रहे। अपने अग्रज के सौम्य व्यक्तित्व के विपरीत ज्ञानेन्द्र की जनसाधारण में एक उदंड व्यवसायी की छवि रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिंहासनारूढ़ होने के उपरान्त देश की अत्यन्त ही दयनीय स्थिति में ज्वलन्त समस्याओं से जूझने के स्थान पर नये नरेश ने शाही परिवार के वर्चस्व को पुनः प्रतिष्ठापित करने की प्रमुखता दी। एक तरफ तो माओवादी मुक्तक्षेत्र बनाने में व्यस्त थे, तो दूसरी तरफ नरेश ने प्रतिनिधि सभा भंग कर दी; प्रधानमंत्री को निकम्मा बता कर पदच्युत कर दिया और देश का प्रशासन अपने हाथ में ले लिया। महाराजा के इस क़दम का चतुर्दिक विरोध हुआ। प्रजातंत्र में विश्वास करने वाली सात राजनैतिक पार्टियों के गठजोड़ ने महाराजा के विरूद्ध जनान्दोलन छेड़ दिया। इस आंदोलन में राजनैतिक कार्यकर्त्ता ही नहीं, वकील, डाक्टर, अध्यापक, व्यवसायी, इंजीनियर, पत्रकार - आदि सभी वर्ग के लोगों ने भाग लिया। उन दिनों पूरे नेपाल में जनजीवन प्रायः ठप्प था। यातायात कर्मियों के आंदोलन में शामिल होने से नेपाल में उपभोक्ता वस्तुओं का अभाव हो चला। पेट्रोल, गैस और मिट्टी के तेल की आपूर्ति प्रायः ठप्प हो चली। सामान्य जनता का जीवन दूभर हो चला और गृहणियों को घर चलाना मुश्किल हो रहा था। इस विकट समस्या की परिणति अप्रैल, 2006 के जनान्दोलन के रूप में हुई। आक्रोशित जनता ने शाही सैनिकों के घेरेबन्दी के बावजूद राजप्रसाद पर धावा बोला। लाठियां चलीं; आंसू गैस छोड़े गये, गोलियां भी चलीं; परन्तु जनता पीछे नहीं मुड़ी। लाचार नेपाल नरेश को प्रतिनिधि सभा बहाल करनी पड़ी; वयोवृद्ध गिरिजा प्रसाद कोईराला को प्रधानमंत्री बनाकर प्रशासन सौंपना पड़ा। सात राजनैतिक दलों के गठजोड़ ने एक अंतरीय सरकार बनायी। और तो और, माओवादियों को समझाबुझा कर सरकार और संसद में भाग लेने पर राजी किया गया और उनसे हथियार डलवाये गये।

अन्तरिम सरकार, कामचलाऊ संविधान और वंचितों की समस्या

द्वितीय जनान्दोलन ने नेपाल की परम्परागत छवि ही बदलकर रख दी। जनता की मांग पर नयी सरकार ही नहीं बनी, भंग की हुई प्रतिनिधि सभा भी बहाल कर दी गयी। काफी विचार-विमर्श के बाद एक अंतरीय संविधान 15 जनवरी, 2007 को लागू किया गया। नये संविधान के अनुसार नेपाल एक धर्मनिरपेक्ष, सर्वसमावृत्ति और पूर्ण प्रजातांत्रिक राज्य होगा। तत्कालीन एकल और केन्द्रीकृत (Centralized and unitary form) पद्धति को समाप्त कर एक सार्वभौम, प्रजातांत्रिक और प्रगतिशील राज्य (an inclusive, democratic and progressive restructuring of the state) की संरचना करने का भार नयी संविधान निर्मात्री सभा को दिया गया। संविधान सभा के संगठन के लिए एक मिश्रित व्यवस्था की कल्पना की गयी, जिसमें 330 सदस्यों की अंतरिम प्रतिनिधि सभा (पुराने प्रतिनिधि सभा के निर्वाचित सदस्य - 209 नये नामजद माओवादी - 73 विभिन्न नगरीक संस्थाओं के आठ राजनैतिक दलों द्वारा चुने हुये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिनिधि - 48) और अन्य विभिन्न सामाजिक गणकों के आनुपातिक प्रतिनिधि - कुल 330 होंगे। इस व्यवस्था के प्रति तराई निवासी मधेशियों ने सख्त एतराज किया। उनके अनुसार पुरानी प्रतिनिधि सभा यथार्थ सामाजिक अनुपात के अनुसार नहीं है और उसमें तराई की उपेक्षा का पहाड़ियों की प्रमुखता है। उदाहरणस्वरूप 330 सदस्यों की प्रतिनिधि सभा में मात्र 121 सदस्य तराई क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनमें भी मात्र 55 मदेशी हैं। स्वाभाविक है कि ऐसी प्रतिनिधि सभा मदेशियों के हितों की रक्षा नहीं कर पायेगी। ऐसी उथल-पुथल की स्थिति में मदेशी समुदाय अपने भविष्य के प्रति चिन्तित हो अदिग्न हो उठा। मदेशियों का पिछला अनुभव जाहिर करता है कि नेपाल के विभिन्न दलों के नेता नेपाली राष्ट्रीयता को पहाड़ी संस्कृति से जोड़कर देखने के आदी हैं। फलस्वरूप मदेशी हितों की जानबूझकर अनदेखी कर दी जाती हे। इस बार कुछ ऐसी मानसिकता बनी कि 'करो या मरो' की स्थिति आ गयी। प्रायः सभी नेपाली राष्ट्रीय दलों के मदेशी नेताओं ने अपने दलों का त्याग कर मदेशी समुदाय के साथ जुड़ना श्रेयकर समझा।

स्मरणीय है कि नेपाली कांग्रेस का 1950 संग्राम तराई से ही आरम्भ हुआ था और तराई निवासियों के बल पर ही कांग्रेस प्रमुख दल बन पाया। उसी प्रकार विभिन्न साम्यवादी दलों के मुख्य समर्थक मदेशी ही थे। यहां तक 2002 में माओवादियों ने मधेशी राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चो (Madesi National Liberation Front : MNLF) बनाकर मदेशियों का समर्थन पाने का प्रयास किया था। नेपाल नरेश का वर्चस्व तो समाप्त प्राय था; परन्तु इस अनिश्चिय की स्थिति में उपरोक्त राष्ट्रीय दलों के नेता फिर वही पुराने अंदाज में मधेशी हितों को अनदेखी किये जा रहे थे। अपनी उचित आवाज की अपेक्षा होते देख मधेशियों ने शीघ्र ही मधेशी जनाधिकार फोरम (Madeshi Janadhikar Forum - MFJ) के साझा मंच के माध्यम से अपना आन्दोलन जारी रखा। फिर तो तराई मुक्ति मोर्चा (Janatantrik Tarai Mukti Morcha - Jawala Singh and Goit Factions) के हथियारबन्द दो दलों ने मैदान सम्भाला। नेपाल सरकार, विशेषकर उसके गृहमंत्री ने मधेशी जनाक्रोश को असामाजिक तत्वों, प्रतिक्रियावादियों की शरारत, राजशाही के दलालों की साजिश या (भारतीय) राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से संबंधित देशद्रोहियों का षड्यंत्र बताया। माओवादियों ने, जो अब तक सरकार में भागीदार बन चुके थे, पूरे मधेशी आक्रोश को असामाजिक तत्वों की शरारत बताया। फिर तो देखते-देखते मदेशी आक्रोश चिंतनीय हिंसा में बदल गया। सुरक्षा कर्मियों के बल प्रयोग का उल्टा असर हुआ। मार्च, 2007 में माओवादियों और मदेशी जनाधिकार फोरम के बीच भिडंत हुई जिसमें मदेशियों ने लाठियों से अपने प्रतिद्वन्द्वियों का स्वागत किया। फलस्वरूप 27 जनों ने जान गवायीं और 47 बुरी तरह घायल हुये। लाचार प्रधानमंत्री कोइराला को मधेशियों की कुछ मांगों को मानना पड़ा, यथा नागरिकता संवंधी मांग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कई बार स्थगित होने के बाद अप्रैल 10, 2008 को संविधान सभा के लिए चुनाव हुये। परिणाम कुछ ऐसे आये कि सारी दुनिया चौंक उठी। कल के हथियारबन्द हिंसक माओवादी तीस प्रतिशत मत और लगभग आधे निर्वाचित स्थानों पर जीत कर सरकार बनाने के दावेदार बन बैठे। कल तक नेपाली राजनीति की मुख्यधारा के दल - नेपाली कांग्रेस और साम्यवादी पार्टी - 21.14 प्रतिशत और 20.33 प्रतिशत मत पाकर क्रमशः दूसरे और तीसरे स्थान पर आये। परन्तु इन तीनों दलों के बाद मदेशी जनतांत्रिक मोर्चा (MJF) का आना नेपाली राजनीति के परम्परागत खिलाड़ियों को नागवार लगा। ऊपर से तुर्रा ये कि तराई मदेश लोकतांत्रिक पार्टी, नेपाल सद्भावना पार्टी तथा अन्य तत्व भी मदेशी अधिकारों के पक्षधर के रूप में संविधान सभा में उपस्थित होंगे। काफी जदोजहद के बाद माओवादी नेता पुष्प कमल दहान 'प्रचंड' ने दूसरी अन्तरीय सरकार बनायी। इस नयी सरकार को राजशाही से सम्भाविक प्रजातांत्रिक संक्रमण की तैयारी और देश के लिये नये संविधान बनाने की जिम्मेदारी निभानी है।

नयी सरकार के बनते-न-बनते अंतिम नेपाल नरेश ज्ञानेन्द्र को राजप्रसाद छोड़ना पड़ा। राजशाही के अन्त के बाद राष्ट्राध्यक्ष के पद के लिए राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति की परिकल्पना की गयी। माओवादी संवैधानिक सरकार तो बना पाये, परन्तु मुख्य विषयों पर राष्ट्रीय सहमति नहीं बना पाये। दूसरे जनान्दोलन ने जो ज्वलन्त प्रश्न उठाये थे, उनका समाधान पाना कठिन हो रहा है और माओवादी अपनी मान्यताओं और कार्यशैली से सभी राजनैतिक विचारधाराओं को साथ लेकर आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं। समझौते के विपरीत माओवादी युवक मोर्चा (Young Communist League) अभी भी हथियारबन्द है; माओवादियों ने अपने सभी हथियार राष्ट्रसंघ के केन्द्र को नहीं सौंपे हैं; जनता की लूटी हुई सम्पत्ति माओवादियों ने वापस नहीं की है; माओवादी गोरिल्ले नेपाली सेना में विलीन नहीं हुए हैं और मदेशियों और जनजातियों की समस्यायें ज्यों की त्यों पड़ी हुई हैं। इस प्रकार आधुनिक नेपाल में माओवादी खुद ही एक समस्या बने पड़े हैं। फिर भी सभी कुछ स्थिर नहीं है। राणाशाही के अन्त के 6 दशकों में ही शाहवंश का सफाया हो गया। उसी प्रकार छः दशक पुराना संविधान बनाने का सपना पूरा होता दिख रहा है। सत्ता सुख से वंचित जनजातियों के सदस्य मंत्री परिषद के सदस्य हैं। और कल तक के तिरस्कृत मदेशी आज नेपाल के तीन प्रमुख पदों पर आसीन है : राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति और परराष्ट्रमंत्री। परंतु जटिल प्रश्न सामने मुंह बाये खड़ा है : राजतंत्र तो गया, परन्तु अब कौन सा तंत्र आयेगा : प्रजातंत्र या माओतंत्र?

नयी दिशायें और नयी समस्यायें

नेपाल एक अभूतपूर्व संक्रमण काल से गुजर रहा है। पिछले वर्षो में नेपाली पटल पर अभूतपूर्व परिवर्तन हुए हैं। प्राचीन गौरव स्तम्भ एक के बाद धराशायी हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चले हैं और नये राष्ट्रीय प्रतीकों की तलाश जारी है। राणाओं के क्रूर अमानवीय क्रियाकलाप उनके पतन के बाद भुला दिये गये। शाहवंशीय गोरखा नरेशों की गाथाएं उनकी विजय अभियान के किस्से, उनका नेपाल को एकमात्र हिन्दू राजतंत्र थे प्रतिष्ठित करना तथा नरेश का भगवान विष्णु के रूप में सम्मानित होना—सभी राजवंश के अन्त के बाद अनाकर्षक अनर्गल सा लगता है। अब तो जनजातियाँ और तराई के मधेशी नेपाल की राष्ट्रभाषा को भी राष्ट्र प्रतीक रूप में मानने को तत्पर नहीं है। परन्तु पहाड़ी मूल के सत्ता-सामन्तों की परम्परागत धारणायें नहीं बदले पा रही हैं। नयी सरकार के सामने विधान निर्माण निश्चित रूप से अत्यावश्यक हे। साथ ही साथ अन्य विकट समस्यायें टाली नहीं जा सकती : यथा आर्थिक और सामाजिक संरचना; आवागमन के संसाधनों का पुर्ननिर्माण और न्याय और सम्मान से वंचित मदेशियों और जनजातियों को राष्ट्र की मुख्यधारा में सहभागी बनाना। नेपाली राष्ट्र के इन दो समुदायों को पहाड़ी मूल के परम्परागत सत्ता सामंतों के वादों पर विश्वास नहीं होता, क्योंकि पिछले 6 दशकों से इनके साथ वादाखिलाफी की जाती रही है। ऐसा क्यों होता रहा?

स्मरणीय है कि नेपाली राष्ट्रीय मानस जनजातियों और मदेशियों को सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से नेपाली राष्ट्रीयता के पहाड़ी स्वरूप का अपवाद मानता है। स्वाभाविक है कि उपरोक्त समुदाय भी भेष भाषा, व्यवहार और प्रचलन में अपने को पहाड़ी परम्परा से अलग पाते हैं। इस प्रकार एक मानसिक खाई दोनों के बीच उपस्थित है। इस मानसिक दुराव के पीछे इतिहास खड़ा है। पृथ्वी नारायण शाह ने आपके राज्य को "असग हिन्दुस्तान" बताया और भारत को दूषित 'मुगलान'। तीर्थाटन, व्यापार या विवाह आदि अवसरों पर भारत भ्रमण के उपरान्त सनातनी नेपाली अपना शुद्धिकरण करते रहे। गोरखा सैनिकों के बहादुरी के गीत गाये गये; परन्तु वे ही गोरखे स्वतंत्रता सेनानियों पर अंग्रेजों के ढाल बने और इसे भुला दिया गया। नेपाल में प्रजातंत्र की लड़ाई में भारतीयों और भारत सरकार कां योग भुला दिया गया। मदेशियों की अपनी मान्यता है कि वे हिन्दी भाषी है और उन्हें हिन्दी प्रयोग करने के पूरा अधिकार है। परन्तु नेपाल इसकी मान्यता नहीं देता। मदेशियों को परस्पर विभाजन करने के लिए उन्हें मैथिली, अवधी और भोजपुरी भाषी बताया जाता है। भगवान बुद्ध, जनक, राम, कृष्ण, और पौराणिक और ऐतिहासिक विभूतियाँ भारतीय संस्कृति की धरोहर हैं। परन्तु उन पर जितना भारत का हक है, उतना नेपाल का, बर्मा का, श्रीलंका का, तिब्बत, चीन या मंगोलिया आदि का है। उन्हें राष्ट्रीय सीमाओं में बांधना उनकी महता कम करना हुआ। क्या ईसा मसीह इजरायल के हैं या ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका या किसी अन्य देश के? कभी कभी लगता है कि नेपाल का बुद्धिजीवीवर्ग अपने नये राष्ट्रीय प्रतीकों की तलाश में व्यस्त है। कुछ स्वीकारात्मक स्तम्भ नहीं पाकर अपनी खीझ भारत के प्रति नकारात्मक रूप में प्रकट करता रहता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। गाहे-बगाहे बिना किसी वस्तुपरक कारण के भारतविरोधी लहर उठती है। कभी किसी फिल्मी अदाकार के पुतले जलाए जाते हैं और बाद में पता लगता है कि पूरी पहल अफवाह पर आधारित थी। अधकचरे नेपाली बुद्धिजीवी बृहद् नेपाल की परिकल्पना कर हिमाचल से सिक्किम तक के हिमालयी क्षेत्रों को भारतीय संघ से वापस लेना चाहते हैं। भले ही इन क्षेत्रों पर 1779 से 1814 तक नेपाल मात्र 15 से 45 वर्ष ही शासन किया हो। कभी अपने ही निर्वाचित उपराष्ट्रप्रति के हिन्दी उद्बोधन का विरोध करते हैं या किसी फिल्मी मशखरे के भगवान बुद्ध को भारतीय कहने पर हाय-तौबा मचता है। मदेशी समस्या के समाधान के मार्ग में, नेपाली जनमानस की यही मानसिकता रोड़े का काम कर रही है। स्पष्ट है कि राजशाही के पतन के साथ नेपाली मानसिकता नहीं बदल पायी है। नये नेपाल को खुलेपन से अपना चुनाव करना है कि रातजंत्र के अन्त के बाद किस राह पर चलना है : प्रतिगामी तंत्र, लोकतंत्र, माओतंत्र या कोई अन्य अधिनायकतंत्र?

संदर्भ ग्रन्थ

1. Chatterjee, Bhola, A study of Recent Nepalese Politics, The World Press Pvt. Ltd., Calcutta, 1967
2. Chatterjee, Bhola, Palace, People and Politics, Ankur Publishing House, New Delhi, 1980
3. Hofer, Andras, The Caste Hierarchy and the State in Nepal : A study of the Mulki Ain of 1854, Himal Books, Lalitpur, Nepal, 2nd Edition, 2004.
4. Koirala, B.P., Atmabritant : Late Life Recollections, Himal Books, Lalitpur, Nepal, 2001.
5. Stiller, Ludwig, Silent Cry : The People of Nepal, 1816-1846, Kathmandu, Sahyogi, 1973.
6. Renu, Phanishwar Nath, Kranti Katha (Hindi), Raj Kamal Prakashan, New Delhi, 1977.
7. Whelpton, John, A History of Nepal, Cambridge University Press, Cambridge, UK, 2005.

Various Issues of *Himal South Asia*, Monthly Journal, The South Asia Trust, Lalitpur, Nepal.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छुटकारा*

महात्मा गांधी

प्रश्न : आपके विचारों से ऐसा लगता है कि आप एक तीसरा ही पक्ष कायम करना चाहते हैं। आप एक्स्ट्रीमिस्ट भी नहीं हैं और मॉडरेट भी नहीं है।

उत्तर : यहाँ आपकी भूल होती है। मेरे मन में तीसरे पक्ष का कोई खयाल नहीं है। सबके विचार एक से नहीं रहते। मॉडरेटों में भी सब एक ही विचार के हैं, ऐसा नहीं मानना चाहिए। जिसे (लोगों की) सेवा ही करनी है उसके लिए पक्ष कैसा? मैं तो मॉडरेटों की सेवा करूँगा और एक्स्ट्रीमिस्टों की भी करूँगा। जहाँ उनके विचार से मेरी राय अलग पड़ेगी वहाँ मैं उन्हें नम्रता से बताऊँगा और अपना काम करता चलूँगा।

प्रश्न : अगर आप दोनों से कहना चाहें तो क्या कहेंगे?

उत्तर : एक्स्ट्रीमिस्टों से मैं कहूँगा कि आपका हेतु हिन्दुस्तान के लिए स्वराज्य हासिल करने का है। स्वराज्य आपकी कोशिश से मिलने वाला नहीं है। स्वराज्य तो सबको अपने लिए पाना चाहिए—और सबको उसे अपना बनाना चाहिए। दूसरे लोग जो स्वराज्य दिला दें वह स्वराज्य नहीं है, बल्कि परराज्य है। इसलिए सिर्फ अंग्रेजों को बाहर निकाला कि आपने स्वराज्य पा लिया, ऐसा अगर आप मानते हों तो वह ठीक नहीं है। सच्चा स्वराज्य जो मैंने पहले बताया वही होना चाहिए। उसे आप गोला-बारूद से कभी नहीं पायेंगे। गोला-बारूद हिन्दुस्तान को सधेगा नहीं। इसलिए सत्याग्रह पर ही भरोसा रखिये। मन में ऐसा शक भी पैदा न होने दीजिए कि स्वराज्य पाने के लिए हमें गोला-बारूद की जरूरत है।

मॉडरेटों से मैं कहूँगा कि हम खाली आजिजी करना चाहें, यह तो हमारी हीनता होगी। उसमें हम अपना हलकापन कबूल करते हैं। 'अंग्रेजों से सम्बन्ध रखना हमारे लिए जरूरी है', ऐसा कहना हमारे लिए ईश्वर के चोर बनने जैसा हो जाता है। हमें ईश्वर के सिवा और किसी की जरूरत है, ऐसा कहना ठीक नहीं है। और साधारण विचार करने से भी हमें लगेगा कि 'अंग्रेजों के बिना आज तो हमारा काम चलेगा ही नहीं', ऐसा कहना अंग्रेजों को अभिमानी बनाने जैसा होगा।

---

* महात्मा गांधी के 'हिन्द स्वराज' (अमृतलाल ठाकोरदास नाणावटी द्वारा अनुदित 'हिन्द स्वराज्य; सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी) से साभार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग्रेज बोरिया-बिस्तर बाँधकर अगर चले जायेंगे, तो हिन्दुस्तान अनाथ हो जायगा ऐसा नहीं मानना चाहिए। अगर वे गये तो संभव है कि जो लोग उनके दबाव से चुप रहे होंगे वे लड़ेंगे। फोड़े को दबाकर रखने से कोई फायदा नहीं। उसे तो फूटना ही चाहिए। इसलिए अगर हमारे भाग में आपस में लड़ना ही लिखा होगा तो हम लड़ मरेंगे। उसमें कमजोर को बचाने के बहाने किसी दूसरे को बीच में पड़ने की जरूरत नहीं है। इसी से तो हमारा सत्यानाश हुआ है। इस तरह कमजोर को बचाना उसे और भी कमजोर बनाने जैसा है। मॉडरेटों को इस बात पर अच्छी तरह विचार करना चाहिए। इसके बिना स्वराज्य नहीं प्राप्त हो सकता। मैं उन्हें एक अंग्रेज पादरी के शब्दों की याद दिलाऊँगा : "स्वराज्य में अंधाधुंधी बरदाश्त की जा सकती है, लेकिन परराज्य की व्यवस्था हमारी कंगाली को बताती है।" सिर्फ उस पादरी के स्वराज्य का और हिन्दुस्तान के स्वराज्य का अर्थ अलग है। हम किसी का भी जुल्म या दबाव नहीं चाहते—चाहे वह गोरा हो या हिन्दुस्तानी हो। हम सबको तैरना सीखना और सिखाना है।

अगर ऐसा हो तो एक्स्ट्रीमिस्ट और मॉडरेट दोनों मिलेंगे—मिल सकेंगे—दोनों को मिलना चाहिए; दोनों को एक-दूसरे का डर रखने की या अविश्वास करने की जरूरत नहीं है।

प्रश्न : इतना तो आप दोनों पक्षों से कहेंगे। परन्तु अंग्रेजों से क्या कहेंगे?

उत्तर : उनसे मैं विनय से कहूँगा कि आप हमारे राजा जरूर हैं। आप अपनी तलवार से हमारे राजा हैं या हमारी इच्छा से, इस सवाल की चर्चा मुझे करने की जरूरत नहीं। आप हमारे देश में रहें, इसका भी मुझे द्वेष नहीं है। लेकिन राजा होते हुए भी आपको हमारे नौकर बनकर रहना होगा। आपका कहा हमें नहीं, बल्कि हमारा कहा आपको करना होगा। आज तक आप इस देश से जो धन ले गये, वह भले आपने हजम कर लिया। लेकिन अब आगे आपका ऐसा करना हमें पसन्द नहीं होगा। आप हिन्दुस्तान में सिपाहगिरी करना चाहें तो रह सकते हैं। हमारे साथ व्यापार करने का लालच आपको छोड़ना होगा। जिस सभ्यता की आप हिमायत करते हैं उसे हम नुकसानदेह मानते हैं। अपनी सभ्यता को हम आपकी सभ्यता से कहीं ज्यादा ऊँची समझते हैं। आपको भी ऐसा लगे तो उसमें आपका लाभ ही है। लेकिन ऐसा न लगे तो भी आपको, आपकी ही कहावत के मुताबिक, हमारे देश में हिन्दुस्तानी होकर रहना होगा। आपको कुछ ऐसा नहीं करना चाहिए, जिससे हमारे धर्म को बाधा पहुँचे। राजकर्ता होने के नाते आपका फर्ज है कि हिन्दुओं की भावना का आदर करने के लिए आप गाय का मांस खाना छोड़ दें और मुसलमानों के खातिर बुरे जानवर (सूअर) का मांस खाना छोड़ दें। हम दब गये थे इसलिए बोल नहीं सके, लेकिन आप ऐसा न समझें कि आपके इस बरताव से हमारी भावनाओं को चोट नहीं पहुँची है। हम स्वार्थ या दूसरे भय से आजतक कह नहीं सके, लेकिन अब यह कहना हमारा फर्ज हो गया है। हम मानते हैं कि आपकी कायम की हुई शालाएँ और अदालतें हमारे किसी काम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की नहीं है। उनके बजाय हमारी पुरानी असली शालाएँ और अदालतें ही हमें चाहिए।

हिन्दुस्तान की आम भाषा अंग्रेजी नहीं, बल्कि हिन्दी है। वह आपको सीखनी होगी और हम तो आपके साथ अपनी भाषा में ही व्यवहार करेंगे।

आप रेलवे और फौज के लिए बेशुमार रुपये खर्च करते हैं, यह हमसे देखा नहीं जाता। हमें उसकी जरूरत नहीं मालूम होती। रूस का डर आपको होगा, हमें नहीं है। रूसी आयेंगे तब हम उनसे निबट लेंगे; आप होंगे तो हम दोनों मिलकर उनसे निबट लेंगे। हमें विलायती या यूरोपी कपड़ा नहीं चाहिए। इस देश में पैदा होने वाली चीजों से हम अपना काम चला लेंगे। आपकी एक आँख मैन्चेस्टर पर और दूसरी हम पर रहे यह अब नहीं पुसायेगा। आपका और हमारा स्वार्थ एक ही है, इस तरह आप बरतेंगे तभी हमारा साथ बना रह सकता है।

आपसे यह सब हम बेअदबी से नहीं कह रहे हैं। आपके पास हथियार-बल है, भारी जहाजी सेना है। उसके खिलाफ वैसी ही ताकत से हम नहीं लड़ सकते। लेकिन आपको अगर ऊपर कही हुई बात मंजूर न हो, तो आपसे हमारी नहीं बनेगी। आपकी मरजी में आये तो और मुमकिन हो तो आप हमें तलवार से काट सकते हैं, मरजी में आये तो हमें तोप से उड़ा सकते हैं। हमें जो पसंद नहीं है वह अगर आप करेंगे, तो हम आपकी मदद नहीं करेंगे; और बगैर हमारी मदद के आप एक कदम भी नहीं चल सकेंगे।

संभव है कि अपनी सत्ता के मद में हमारी इस बात को आप हँसी में उड़ा दें। आपका हँसना बेकार है, ऐसा आज शायद हम नहीं दिखा सकें। लेकिन अगर हममें कुछ दम होगा तो आप देखेंगे कि आपका मद बेकार है और आपका हँसना (विनाशकाल की) विपरीत बुद्धि की निशानी है।

हम मानते हैं कि आप स्वभाव से धार्मिक राष्ट्र की प्रजा हैं। हम तो धर्मस्थान में ही बसे हुए हैं। आपका और हमारा कैसे साथ हुआ, इसमें उतरना फिजूल है। लेकिन अपने इस सम्बन्ध का हम दोनों अच्छा उपयोग कर सकते हैं।

आप हिन्दुस्तान में आने वाले जो अंग्रेज है वे अंग्रेज प्रजा के सच्चे नमूने नहीं हैं, और हम जो आधे अंग्रेज जैसे बन गये हैं वे भी सच्ची हिन्दुस्तानी प्रजा के नमूने नहीं कहे जा सकते। अंग्रेज प्रजा को अगर आपकी करतूतों के बारे में सब मालूम हो जाय, तो वह आपके कामों के खिलाफ हो जाय। हिन्द की प्रजा ने तो आपके साथ संबंध थोड़ा ही रखा है। आप अपनी सभ्यता को, जो दरअसल बिगाड़ करने वाली है, छोड़कर अपने धर्म की छानबीन करेंगे, तो आपको लगेगा कि हमारी माँग ठीक है। इसी तरह आप हिन्दुस्तान में रह सकते हैं। अगर उस ढंग से आप यहाँ रहेंगे तो आपसे हमें जो थोड़ा सीखना है वह हमें सीखेंगे, और हमसे आपको जो बहुत सीखना है वह आप सीखेंगे। इस तरह हम (एक-दूसरे से) लाभ उठायेंगे और सारी दुनिया को लाभ पहुँचायेंगे। लेकिन यह तो तभी हो सकता है, जब हमारे संबंध की जड़ धर्मक्षेत्र में जमे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न : राष्ट्र से आप क्या कहेंगे?

उत्तर : राष्ट्र कौन?

प्रश्न : अभी तो आप जिस अर्थ में यह शब्द काम में लेते हैं उसी अर्थवाला राष्ट्र, यानी जो लोग यूरोप की सभ्यता में रँगे हुए हैं, जो स्वराज्य की आवाज उठा रहे हैं।

उत्तर : इस राष्ट्र से मैं कहूँगा कि जिस हिन्दुस्तानी को (स्वराज्य की) सच्ची खुमारी यानी मस्ती चढ़ी होगी, वही अंग्रेजों से ऊपर की बात कह सकेगा और उनके रोब से नहीं दबेगा।

सच्ची मस्ती तो उसी को चढ़ सकती है, जो ज्ञानपूर्वक—समझ-बूझकर—यह मानता हो कि हिन्द की सभ्यता सबसे अच्छी है और यूरोप की सभ्यता चार दिन की चाँदनी है। वैसे सभ्यताएँ तो आज तक कई हो गयीं और मिट्टी में मिल गयीं; आगे भी कई होंगी और मिट्टी में मिल जायँगी।

सच्ची खुमारी उसी को हो सकती है, जो आत्मबल अनुभव करके शरीर-बल से नहीं दबेगा और निडर रहेगा तथा सपने में भी तोप-बल का उपयोग करने की बात नहीं सोचेगा।

सच्ची खुमारी उसी हिन्दुस्तानी को रहेगी, जो आज की लाचार हालत से बहुत ऊब गया होगा और जिसने पहले से ही जहर का प्याला पी लिया होगा।

ऐसा हिन्दुस्तानी अगर एक ही होगा, तो वह भी ऊपर की बात अंग्रेजों से कहेगा और अंग्रेजों को उसकी बात सुननी पड़ेगी।

ऊपर की माँग माँग नहीं है, वह हिन्दुस्तानियों के मन की दशा को बताती है। माँगने से कुछ नहीं मिलेगा; वह तो हमें खुद लेना होगा। उसे लेने की हममें ताकत होनी चाहिए। यह ताकत उसी में होगी :

(1) जो अंग्रेजी भाषा का उपयोग लाचारी से ही करेगा।
(2) जो वकील होगा तो अपनी वकालत छोड़ देगा और खुद घर में चरखा चलाकर कपड़े बुन लेगा।
(3) जो वकील होने के कारण अपने ज्ञान का उपयोग सिर्फ लोगों को समझाने और लोगों की आँखें खोलने में करेगा।
(4) जो वकील होकर वादी-प्रतिवादी—मुद्दई और मुद्दालेह—के झगड़ों में नहीं पड़ेगा, अदालतों को छोड़ देगा और अपने अनुभव से दूसरों को अदालतें छोड़ने के लिए समझायेगा।
(5) जो वकील होते हुए भी जैसे वकालत छोड़ेगा वैसे न्यायाधीशपन भी छोड़ेगा।
(6) जो डॉक्टर होते हुए भी अपना पेशा छोड़ेगा और समझेगा कि लोगों की चमड़ी चोंथने के बजाय बेहतर है कि उनकी आत्मा को छुआ जाय और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके बारे में शोध-खोज करके उन्हें तंदुरुस्त बनाया जाय।

(7) जो डॉक्टर होने से समझेगा कि खुद चाहे जिस धर्म का हो, लेकिन अंग्रेजी वैदकशालाओं—फार्मसियों—में जीवों पर जो निर्दयता की जाती है, वैसी निर्दयता से (बनी हुई दवाओं से) शरीर को चंगा करने के बजाय बेहतर है कि शरीर रोगी रहे।

(8) जो डॉक्टर होने पर भी खुद चरखा चलायेगा और जो लोग बीमार होंगे उन्हें उनकी बीमारी का सही कारण बताकर उसे दूर करने के लिए कहेगा; निकम्मी दवाएँ देकर उन्हें गलत लाड़ नहीं लड़ायेगा। वह तो यही समझेगा कि निकम्मी दवाएँ न लेने से बीमार की देह अगर गिर भी जाय, तो उससे दुनिया अनाथ नहीं हो जायगी, और यही मानेगा कि उसने बीमार पर सच्ची दया की है।

(9) जो धनी होने पर भी धन की परवाह किये बिना अपने मन में होगा वही कहेगा और बड़े-से-बड़े सत्ताधीश की भी परवाह न करेगा।

(10) जो धनी होने से अपना रुपया चरखे चालू करने में खरचेगा और खुद सिर्फ स्वदेशी माल का इस्तेमाल करके दूसरों को भी ऐसा करने के लिए बढ़ावा देगा।

(11) दूसरे हर हिन्दुस्तानी की तरह जो यह समझेगा कि यह समय पश्चात्ताप का, प्रायश्चित्त का और शोक का है।

(12) जो दूसरे हर हिन्दुस्तानी की तरह यह समझेगा कि अंग्रेजों का कसूर निकालना बेकार है। हमारे कसूर की वजह से वे हिन्दुस्तान में आये, हमारे कसूर के कारण ही वे यहाँ रहते हैं और हमारा कसूर दूर होगा तब वे यहाँ से चले जायेंगे या बदल जायेंगे।

(13) दूसरे हिन्दुस्तानियों की तरह जो समझेगा कि मातम के वक्त मौज-शौक नहीं हो सकते। जब तक हमें चैन नहीं है तब तक हमारा जेल में रहना या देशनिकाला भोगना ही ठीक है।

(14) जो दूसरे हिन्दुस्तानियों की तरह यह समझेगा कि लोगों को समझाने के बहाने जेल में न जाने की खबरदारी रखना निरा मोह है।

(15) जो दूसरे हिन्दुस्तानियों की तरह यह समझेगा कि कहने से करने का असर अद्भुत होता है; हम निडर होकर जो मन में है वही कहेंगे और इस तरह कहने का जो नतीजा आये उसे सहेंगे, तभी हम अपने कहने का असर दूसरों पर डाल सकेंगे।

(16) जो दूसरे हिन्दुस्तानियों की तरह यह समझेगा कि हम दुख सहन करके ही बंधन यानी गुलामी से छूट सकेंगे।

(17) जो दूसरे हिन्दुस्तानियों की तरह समझेगा कि अंग्रेजों की सभ्यता को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बढ़ावा देकर हमने जो पाप किया है, उसे धो डालने के लिए अगर हमें मरने तक भी अंदमान में रहना पड़े, तो वह कुछ ज्यादा नहीं होगा।

(18) जो दूसरे हिन्दुस्तानियों की तरह समझेगा कि कोई भी राष्ट्र दुख सहन किये बिना ऊपर चढ़ा नहीं है। लड़ाई के मैदान में भी दुख ही कसौटी होता है, न कि दूसरे को मारना। सत्याग्रह के बारे में भी ऐसा ही है।

(19) जो दूसरे हिन्दुस्तानियों की तरह समझेगा कि यह कहना कुछ न करने के लिए एक बहाना भर है कि 'जब सब लोग करेंगे तब हम भी करेंगे।' हमें ठीक लगता है इसलिए हम करें, जब दूसरों को ठीक लगेगा तब वे करेंगे—यही करने का सच्चा रास्ता है। अगर मैं स्वादिष्ट भोजन देखता हूँ, तो उसे खाने के लिए दूसरे की राह नहीं देखता। ऊपर कहे मुताबिक प्रयत्न करना, दुख सहना यह स्वादिष्ट भोजन है। ऊबकर लाचारी से करना या दुख सहना निरी बेगार है।

प्रश्न : सब ऐसा कब करेंगे और कब उसका अंत आयेगा?

उत्तर : आप फिर भूलते हैं। सबकी न तो मुझे परवाह है, न आपको होनी चाहिए। 'आप अपना देख लीजिए, मैं अपना देख लूंगा'—यह स्वार्थ-वचन माना जाता है, लेकिन यह परमार्थ-वचन भी है। मैं अपना उजालूंगा—अपना भला करूँगा, तभी दूसरे का भला कर सकूँगा। अपना कर्तव्य मैं कर लूँ, इसी में काम की सारी सिद्धियाँ समायी हुई हैं।

आपको विदा करने से पहले फिर एक बार मैं यह दोहराने की इजाजत चाहता हूँ कि :

(1) अपने मन का राज्य स्वराज्य है।

(2) उसकी कुंजी सत्याग्रह, आत्मबल या करुणा-बल है।

(3) उस बल को आजमाने के लिए स्वदेशी को पूरी तरह अपनाने की जरूरत है।

(4) हम जो करना चाहते हैं वह अंग्रेजों के लिए (हमारे मन में) द्वेष है इसलिए या उन्हें सजा देने के लिए न करें, बल्कि इसलिए करें कि ऐसा करना हमारा कर्तव्य है। मतलब यह कि अंग्रेज अगर नमक-महसूल रद्द कर दें, लिया हुआ धन वापस कर दें, सब हिन्दुस्तानियों को बड़े-बड़े ओहदे दे दें और अंग्रेजी लश्कर हटा लें, तो हम उनकी मिलों का कपड़ा पहनेंगे, या अंग्रेजी भाषा काम में लायेंगे, या उनकी हुनर-कला का उपयोग करेंगे सो बात नहीं है। हमें यह समझना चाहिए कि वह सब दरअसल न करने जैसा है, इसलिए हम उसे नहीं करेंगे।

मैंने जो कुछ कहा है वह अंग्रेजों के लिए द्वेष होने के कारण नहीं, बल्कि उनकी सभ्यता के लिए द्वेष होने के कारण कहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुझे लगता है कि हमने स्वराज्य का नाम तो लिया, लेकिन उसका स्वरूप हम नहीं समझे हैं। मैंने उसे जैसा समझा है वैसा यहाँ बताने की कोशिश की है।

मेरा मन गवाही देता है कि ऐसा स्वराज्य पाने के लिए मेरा यह शरीर समर्पित है।

चिन्तन-सृजन का स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

फार्म 4

नियम 8

1. प्रकाशन स्थान	:	दिल्ली
2. प्रकाशन अवधि	:	त्रैमासिक
3. स्वामी		आस्था भारती, नई दिल्ली
4. मुद्रक	:	डॉ. बी. बी. कुमार सचिव, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?)		हाँ, भारतीय
पता		27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट मयूर विहार फेस-1 विस्तार दिल्ली-110096
5. प्रकाशक	:	डॉ. बी. बी. कुमार सचिव, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?)		हाँ, भारतीय
पता		27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट मयूर विहार फेस-1 विस्तार दिल्ली-110096
6. सम्पादक	:	डॉ. बी. बी. कुमार सचिव, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?)		हाँ, भारतीय
पता		27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट मयूर विहार फेस-1 विस्तार दिल्ली-110096

मैं डॉ. बी. बी. कुमार घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

(ह.) डॉ. बी. बी. कुमार
प्रकाशक

25.3.2009

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्णमाला, भाषा और शिक्षा*

राम मनोहर लोहिया

6 जून, 1958 को मैंने लिखा : ''काला पहाड़ पर एक लेख तैयार करने के लिए अपने गुरु सेन से कहो। वे न कर सकें, तो आप करो। ऐसा लगता है कि 1. लोगों को खदेड़ देने और उनके पश्चात्ताप करने पर भी उन्हें स्वीकार न करने वाले हिन्दू कट्टरवाद, 2. मुसलिम कट्टरवाद के ये अत्यन्त स्पष्ट चरित्र थे। किसी तात्पर्य को स्पष्ट करने के लिए इतिहास कभी-कभी पात्रों का निर्माण करता है और काला पहाड़ उनमें से एक प्रतीत होता है, हालांकि साधारण इतिहास-लेखक मेरे तरीके को शायद काफी पसंद न करें। लेकिन जो हुआ, उसका वर्णन करने की दृष्टि से वे सामग्री का अध्ययन करें तो मेरे नतीजों पर पहुँचेंगे।

यह साबित करता है कि कोणार्क का मुझ पर और एक दूसरा प्रभाव पड़ा। कई बरसों बाद दुबारा वहाँ जाने पर फिर मैं सोचने लगा हूँ कि स्थापत्य कला के दोषों को छोड़ कर क्या वह हिन्दुस्तान में सर्वश्रेष्ठ नहीं है। इसके बारे में मुझे और जाँच करनी होगी।

भारतीय वर्णमाला पर, इधर मैं विचार कर रहा था। वे सभी नागरी वर्णमाला के भेद हैं, तमिल भी। तमिल वर्णमाला, सिर्फ नागरी वर्णमाला में बूँद भर जोड़-घटाव है।

बिलकुल साफ तौर पर, या तो उपलब्ध सामग्री (उदाहरणार्थ तालपत्र या भोजपत्र) या सभी को, वर्णमाला को भी, सुन्दर बनाने की पूर्वी भारत की आन्तरिक प्रवृत्ति का परिणाम है उड़िया और बंगला। बंगला में नागरी को गोलाई से लिखने और शोभान्वित करने के प्रयत्न का अब तक मैंने मजाक उड़ाया है। उड़िया ने तो मुझे करीब-करीब धक् कर दिया। कुछ कह सकते हैं वाह, बहुत खूब—मैं कहूँगा वाह, कैसा फिजूल! अक्षर या अंक खूबसूरती के लिए नहीं है।

मध्यमवर्ग का काम है ऐसी विषमताओं को सुरक्षित रखना और इस तरह, राष्ट्रीय एकता को कमजोर करना या राष्ट्र के समय को नष्ट करना।

* डॉ. राम मनोहर लोहिया के लेखों के संगह 'भारतमाता-धरती माता' (संपादक—ओंकार शरद) से साभार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे काल की दार्शनिक समस्या का सवाल उठता है। काल विच्छिन्न भी करता है और एकत्र भी करता है। विच्छिन्नता का दर्शन भेद और एकता का दर्शनभेद, दोनों अनिवार्य है। अक्षर समवाय होते हैं और कुछ काल बाद एक केन्द्र से पराङ्मुख होते हैं। महाकाल के इस निराशावाद में तात्त्विक आशावाद का समावेश होना चाहिए।

भारतीय वर्णमाला पर एक लेख तैयार किया जा सकता है–प्रयत्न करो।"

प्रोफेसर रमा मित्रा ने, जिन्हें मैंने यह पत्र लिखा, मुझे निराश किया है और उनके लोगों ने भी। मैं आशा करता हूँ कि वे और दूसरे कालेज अध्यापक समय रहते चेत जाएँगे, नहीं तो इतिहास का झाड़ उन्हें बुहार कर फेंक देगा या, एक असम्भाव्य पर दारुण विकल्प है कि भारत फिर विस्मृति के गर्भ में चला जाए। और किसी की अपेक्षा विश्वविद्यालय अध्यापकों पर जिम्मेदारी है कि वे सारे स्वस्थ ज्ञान का उद्घाटन करें, जिसे क्या देशी क्या विदेशी, दोनों निहित स्वार्थों ने गहरा गाड़े रखा है।

सभी भारतीय वर्णमालाएँ एक ही मूल की हैं। पिछली बार जब मैं उड़ीसा गया था, तब यह तथ्य जैसे मेरी आँखें फाड़ कर घुस गया। इससे पहले भी कई बार मैं उत्कल गया हूँ। लिखावट में उसके अक्षर इतने विचित्र और अपरिचित प्रतीत हुए थे कि मेरे स्वभाव के बावजूद वहाँ के नामपटों को पढ़ने की मेरी अभिरुचि नहीं हुई थी। क्योंकि पिछले महीनों से भाषा और अक्षर के रहस्य के प्रति मेरी बुद्धि कुछ ज्यादा सचेत हो गयी, मैंने एक खोज की। लिखावट में भी, उड़िया अक्षर, भारत की बुनियादी वर्णमाला का एक प्रकारान्तर है। उसके एक-एक अक्षर की आकृति प्रायः नागरी अक्षर जैसी है, पर वह एक प्रकार की गोलाई से, लगभग पूर्णचन्द्र जैसी गोलाई से घिरा है।

उर्दू को छोड़ कर, भारतीय वर्णमालाओं की ध्वनि 99 प्रतिशत और आकृति 80 प्रतिशत के ऊपर समान है। अक्षर को ध्वनि और उसकी आकृति ही किसी वर्णमाला का अपना विशिष्ट रूप देते हैं। भारतीय वर्णमालाओं के अत्यन्त बहुसंख्यक अक्षर ध्वनि में ठीक एक जैसे हैं; बहुत थोड़े अक्षर, जो अन्य अक्षरों से भिन्न हैं, प्रतिभावी ध्वनि को ही व्यक्त करते हैं। दरअसल, यूरोप के विभिन्न देशों में जिस तरह रोमन वर्णमाला का उच्चारण किया जाता है, उसमें कहीं ज्यादा विभेद है। और फिर भी अब तक किसी विद्वान ने यह उक्ति नहीं दी कि रोमन वर्णमाला एक नहीं है। उदाहरण के लिए, जर्मन का 'ए' अंग्रेजी 'ए' की अपेक्षा ध्वनि में नागरी 'अ' के ज्यादा करीब है। भारत की वर्णमालाओं के सभी स्वर 'अ, आ' से और अपने उद्गम के भाषा क्षेत्रों के अनुसार ध्वनि को नियोजि करने वाले उसके व्यञ्जन वर्ग 'क, च, ट, त, प, र' से शुरू होते हैं। तमिल वर्णमाला न सिर्फ अपवाद नहीं है, बल्कि उसकी तीन चौथाई से ज्यादा ध्वनियाँ नागरी और भारत की और किसी वर्णमाला की ध्वनियों के ही समान हैं। जिस तरह महाराष्ट्र में, नागरी लिपि में कुछ और अक्षर जुड़ गये हैं, उसी तरह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तमिल लिपि में कुछ अक्षर अधिक हैं। फिर, तमिल लिपि ने कुछ नागरी अक्षर छोड़ भी दिये हैं।

भारतीय वर्णमालाओं की ध्वनि में समानता का यह चमत्कार बहुत हद तक उसकी आकृति में भी प्रतिबिंबित होता है। किन्तु काल और दूरी ने भी उनके साथ कुछ खेल खेले हैं। उनकी आकृति, खास कर दक्षिण में, पहली बार देखने पर अलग प्रतीत होती है, किन्तु गौर से देखने पर उनमें समानता झट स्पष्ट हो जाती है। रुचि से और उतने ही अध्यवसाय से यह और स्पष्ट होगा। उदाहरण के लिए कन्नड़ अक्षर नागरी से बेहद अलग प्रतीत होते हैं, पर जिस कागज पर वे लिखे गये हैं उसे सिर्फ 90 अंश के समकोण पर घुमा भर दीजिए। इससे काल और दूरी का खेल कुछ-कुछ समझ में आने लगेगा। कन्नड़ और नागरी के कई अक्षर उनकी लिखावट के कोण के कारण विभिन्न प्रतीत होते हैं; कन्नड़ के अक्षर को ऐसे घुमाइए कि उसका बायाँ हिस्सा ऊपर आ जाए, और उसका ऊपरी हिस्सा दायें आ जाए, तो उसके कई अक्षर नागरी अक्षर बन जाएँगे। तमिल के कुछ अक्षरों की आकृति, उत्तर भारत के अक्षरों की आकृति की अपेक्षा नागरी के अक्षरों जैसी ज्यादा है। तमिल के अक्षरों की आकृति बंगला के अक्षरों की अपेक्षा नागरी के अक्षरों से ज्यादा मिलती है। 'क' के बीच की रेखा और उसके दाहिनी तरफ का उभार सभी अक्षरों में लगभग एक जैसा है। बायीं तरफ के उभार में दो तरफ की रेखाएँ मिलती हैं जैसे बंगला या असमी में, जब कि तमिल या नागरी में वह अर्धचन्द्राकार जैसा है। भारतीय अक्षरों की समानता, एक ही भारतीय वर्णमाला के इस तथ्य के प्रति भारतीय विद्वानों की आँखें जो बन्द हैं, उसका कारण सिर्फ उनकी मूढ़मति नहीं है। लगता है कि कुछ पाजी शक्तियाँ क्रियाशील हैं।

जो हो, मेरे पत्र की एक गलती को मैं सुधार देना चाहता हूँ। वह यह कि भारत की दूसरी सभी वर्णमालाएँ नागरी प्रकारान्तर हैं। ऐसा कहना ऐतिहासिक दृष्टि से गलत तो होगा ही, पर इससे ज्यादा भविष्य की दृष्टि से भी गलत होगा। यह कहना ज्यादा सही होगा कि नागरी समेत भारत की सभी वर्णमालाएँ एक-दूसरे की ही प्रकारान्तर हैं। नागरी प्रकार का इस्तेमाल ज्यादा व्यापक और ज्यादा अधिकारपूर्ण हुआ। पूर्वी भारत की भाषाओं के पक्ष में मैं इससे पहले ऐसी ही एक और गलती करता था जिसे सुधारने का मुझे मौका भी मिला। बंगला, उड़िया, असमी और मैथिली सभी एक भाषा की प्रकारान्तर है, जो शायद कभी पूर्वी प्राकृत या मागधी रही हो। उनकी ध्वनियाँ, वाक्य-रचना, शब्द और उच्चारण सभी एक जैसे हैं। पिछले कुछ दिनों से, बंगला दूसरी तीन प्रकारान्तरों से आगे रही है, और कोई यह मानने की गलती कर सकता है कि बंगला के स्रोत से ही ये दूसरी तीन पैदा हुई हैं। वास्तविकता यह है कि ये चारों पूर्वी प्राकृत के स्रोत से पैदा हुईं। ठीक इसी प्रकार भारतीय वर्णमालाओं का जन्म एक ही स्रोत से हुआ है। हाँ, उनमें परिवर्तन का इतिहास जरूर पुराना है। आज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरी का जो रूप है, वह दो हजार बरस पहले के रूप से कुछ भिन्न है। नागरी उसी से तो बनी।

भारतीय अक्षर कितने समान हैं यह 'ठ' श्रेणी से जाहिर होता है। कन्नड़, तेलुगू के अक्षर अपने आधे या पूरे गोलाकार में एक नुक्ता रख देते हैं जब कि मलयालम का यह अक्षर ऊपर की खड़ी पाई को हटा देता है। बस, फिर ये नागरी अक्षर हैं। इसी तरह, नागरी, तमिल और मलयालम के 'व' और 'ल' की तुलना करने पर एक तरह का बच्चों का खेल जैसे दीखेगा जिसमें एक ही चीज को विभिन्न कोणों से देखा गया है।

मलयालम 'ल' और 'व' को 90 अंश पर घुमाने से वे नागरी अक्षर बन जाते हैं।

इन अनेक अक्षरों को बनाये रखना बेकार की बरबादी है। सारी दुनिया के बच्चों में हिन्दुस्तानी बच्चा बहुत ज्यादा सताया हुआ है। उसका देश उस पर इतना बोझ लाद देता है कि उसके पास उपयोगी चीजों के लिए समय, शक्ति या बुद्धि की कमी हो जाती है। उसे क्यों इतनी ज्यादा वर्णमालाएँ और भाषाएँ सीखनी पड़ती हैं? भूगोल या भौतिकशास्त्र जैसे जरूरी विषयों का अध्ययन करने के लिए क्या उसके पास बुद्धि बच रहती है? इसी तरह विभिन्न वर्णमालाओं के निरंतर इस्तेमाल से देश के सभी स्तरों पर समय, शक्ति, धन और बुद्धि का ह्रास होता है।

नागरी लिपि को, जितनी वह है, इससे ज्यादा वैज्ञानिक और कम फिजूली बनाना है। वर्तमान रूप में भी वह दुनिया की सभी लिपियों से ज्यादा वैज्ञानिक है। फिर भी उसकी शीर्ष-रेखा बेकार की बरबादी और सिर्फ सजावट है। नागरी लिपि में सुधार के कुछ बनावटी प्रयत्नों के नतीजे मेरे सामने आये हैं। नतीजे बुरे हैं। किन्तु शीर्ष रेखा को हटा देने के इस सीधे से सुधार से नागरी की दक्षिणी प्रकारान्तरों से समानता कुछ ज्यादा हो जाएगी और साथ ही उसकी उपयोगिता भी बढ़ जाएगी। 'भ' और 'म' या 'ध' और 'घ' में गलतफहमी की संभावना की कठिनाई को आसानी से दूर किया जा सकता है। एक को दूसरे से फर्क करने के लिए इन अक्षरों के किसी एक वर्ग में गाँठ लगायी जा सकती है।

भारत की विभिन्न वर्णमालाओं की जानकारी और ज्ञान के अभाव के कारण ही सुधारकों के एक वर्ग ने समय-समय पर रोमन लिपि की सिफारिश की है। उनकी छलभरी विभिन्नता के कारण विमूढ़ लोग उन्हें पूरी तौर पर खारिज कर देते हैं। सम्पूर्ण ज्ञान के अभाव में ही ऐसे लोग रोमन लिपि का सवाल खड़ा कर देते हैं, उदाहरणार्थ, वे नहीं जानते कि अलग-अलग यूरोपी राष्ट्रों में इस लिपि का उच्चारण अलग-अलग होता है।

यह भयानक राष्ट्रीय बरबादी, जो लिपि के मामले में इतनी स्पष्ट है, एक विदेशी भाषा की जबरन पढ़ाई से पागल कर देने की सीमा पर पहुँच गयी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दुस्तान में मैट्रिक के इम्तहान मे जो लड़के फेल होते हैं, उनमें से दो तिहाई तो सिर्फ अंग्रेजी भाषा में ही फेल होते हैं। इस देश में मैट्रिक की परीक्षा में जो पास होते हैं उनका प्रतिशत बेहद कम है। परीक्षा में बैठने वाले विद्यार्थियों में लगभग आधे फेल हो जाते हैं। इसमें राष्ट्र के समय और धन की जो बरबादी होती है, वह जाहिर है, जो जाहिर नहीं है वह है हर साल पाँच लाख नौजवानों के मन में घर कर जाने वाली कटुता और हीन-भावना। ये पाँच लाख दूसरे सभी विषयों में पास होते हैं पर सिर्फ एक ही में फेल हो जाते हैं। उन्हें क्यों अंग्रेजी लाजमी तौर पर पढ़ायी जाए और फिर क्यों वे असफलता का कलंक भुगतें? शिक्षा का मतलब होता है कि उन्हें आवश्यक ज्ञान दिया जाए, न कि उन्हें विदेशी भाषा पढ़ा कर हैरान किया जाए, जिसे सीख पाना उनके लिए प्रायः असंभव है।

इस देश में सरकार और विश्वविद्यालय के अधिकारी अंग्रेजी की लाजमी पढ़ाई क्यों रखना चाहते हैं इसका एक कारण मेरी समझ में आता है। हो सकता है कि दरअसल वे सचेतन रूप से इस कारण से अनभिज्ञ हों। अंग्रेजी की लाजमी पढ़ाई और परीक्षा के कारण पढ़े-लिखे नौजवान, मर्दों और औरतों की तादाद कम रहती है। इसलिए नौकरियों के लिए होड़ और चाह कम होती है और वर्तमान शासक वर्गों के बच्चों को जीवन की आपाधापी और कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता है, जितना कि जब अंग्रेजी न होती तो करना पड़ता। मुझे बड़ा विस्मय है कि अंग्रेजी की लाजमी पढ़ाई से उत्पन्न अपमानकारी हीन भावना और असमान विवेक के खिलाफ और राष्ट्र को और शिक्षा को बरबादी से बचाने के लिए सभी विद्यार्थी और विशेष रूप से फेल विद्यार्थी उनके पालक और हिन्दुस्तान की साधारण जनता, सभाओं, प्रदर्शनों, जुलूसों और सिविल नाफरमानी के जरिये विरोध क्यों नहीं प्रकट करते?

वर्तमान सरकार या तो पूरी तौर पर मूर्ख है या बेईमान है। उदाहरण के लिए बम्बई के सरकारी स्कूल आठवें दर्जे के बाद अंग्रेजी पढ़ाते हैं। यह बहुत अच्छा है। लेकिन प्राइवेट स्कूलों, विशेष रूप से 'मिशन' स्कूलों, 'कान्वेंटों' और फैंसी स्कूलों को शुरू ही से अंग्रेजी पढ़ाने की छूट है। फिर, लगभग सभी नौकरियों में नियुक्ति के लिए अंग्रेजी की परीक्षा ली जाती है। नतीजे भयानक होते हैं। मिशन और फैंसी स्कूल खूब चलते हैं। सरकारी स्कूल पिछड़ जाते हैं। निम्न मध्य वर्ग के मूर्ख लोग फैंसी स्कूलों को खत्म करने और नौकरियों में लेने के लिए अंग्रेजी की परीक्षा लेना बन्द करने की बात करने के बजाय वे सरकारी स्कूलों में अंग्रेजी पढ़ाई के लिए हल्ला मचाते हैं।

धार्मिक स्कूल देश के लिए इससे कहीं ज्यादा खतरा पैदा कर रहे हैं। इनमें से विदेशी 'मिशनों' द्वारा चलाये जाने वाले स्कूल तो अनुपयुक्त शिक्षा देते हैं। अपने विद्यार्थियों में वे एक हल्का द्रोह पैदा कर देते हैं। अपने विद्यार्थियों में समता की जड़ को वे नुकसान पहुँचाते हैं। साधारण जनता और उसके जो बच्चे ऐसे स्कूलों में नहीं पढ़े, उनके बारे में इनके मन में भी अहंकार के बीज बो दिये जाते हैं। जिसे वे चरित्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहते हैं, उसके बारे में भी उन्हें गलत शिक्षा दी जाती है। केरल की शिक्षा प्रणाली पर ऐसे स्कूल ही हावी हैं। इसके बारे में कुछ करना चाहिए।

मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि क्या जनतन्त्र से किसी समस्या का हल किया जा सकता है। वह हल तैयार करने की हद तक ठीक मालूम होता है और हल हो जाने के बाद भी वह ठीक मालूम होता है। हल तैयार करने और उसका फल भोगने की बीच की अवधि में, लगता है कि हल कर देने के लिए किसी प्रकार की डिक्टेटरी आवश्यक है। यह इतना साफ और वांछनीय, इतना तर्कसंगत, ऐसा कि जिसके बिना और कोई चारा लगभग नहीं है, और इसके साथ-साथ इतना सरल मार्ग है, पर भारत को सभी भाषाओं के लिए एक लिपि का सवाल आजादी के इतने साल बाद भी और विकट हो गया है। जनतंत्र ने कुछ बहुत ही पाजी निहित स्वार्थों को पनपने दिया है। इसके साथ ही मैं झट यह भी कह देना चाहता हूँ कि मैंने अभी तक डिक्टेटरी का उसूल नहीं माना है, न ही मैं समझता हूँ कि मैं कभी उसे मानूँगा। मैंने तो सिर्फ इस तथ्य पर विमर्श किया है कि मेरे जैसे जनतांत्रिक लोग सिर्फ तैयार कर सकते हैं, प्रचार कर सकते हैं और शिक्षित कर सकते हैं, जब कि उसकी प्राप्ति कर आनन्द और श्रेय किसी वहशी को मिलेगा, पर अगर सार्वजनिक मामलों में जनता ज्यादा असरदार तरीके से दखल दे तो बात दूसरी है। श्रेय मिलने के बावजूद मेरा इरादा वहशी या उसका सहयोगी बनने का नहीं है।

यहाँ निरंजन भगत जैसे कवियों की प्रशंसा आवश्यक है, जो लिखते तो गुजराती हैं पर अपने प्रकाशक को नागरी लिपि के अलावा और किसी लिपि का इस्तेमाल नहीं करने देते। वे शीर्ष रेखा हटा देते हैं। इस नयी रीति में कुछ सुधार करने के बाद सभी नागरी लिपि वाले इसे अपना कर बहुत फायदा उठा सकते हैं। वास्तव में, महात्मा गाँधी से मेरी यह भी एक शिकायत है कि उन्होंने अपने गुजराती प्रकाशनों के लिए गुजराती लिपि की इजाजत दी और कवि ठाकुर के खिलाफ भी कि उन्होंने बंगला लिपि की इजाजत दी, जब कि दोनों अपने प्रकाशकों को नागरी लिपि के इस्तेमाल के लिए मजबूर कर सकते थे और उन्हें ऐसा करना चाहिए था। मेरी समझ में नहीं आता कि बंगाली और गुजराती अपनी अलग लिपि क्यों रखना चाहते हैं, चाहे तमिल की ख्वाहिश कुछ ज्यादा पक्की हो और उतनी ही अनुचित भी। अलग-अलग लिपियों के इस्तेमाल करने वालों के संकुचित और निजी स्वार्थ के साथ ही ये लिपियाँ राष्ट्रहित के विपरीत भी पड़ती हैं। फिर भी यह नासमझी बरकरार है।

संस्कृति को नकली बनाने वाले इस नासमझी के पक्ष में दो तर्क पेश करते हैं: एक का सुन्दरता से सम्बन्ध है और दूसरे का भारतीय संस्कृति के विशिष्ट चरित्र से। वे कहते हैं, अनेक में एक, भारतीय संस्कृति का लक्षण है। क्या यह सिद्धान्त मूर्ख, फिजूल, मतिहीन और राष्ट्रीय दुर्गति के विभेद को छिपाने वाला नहीं है? और क्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुन्दरता चित्रों और ऐसी ही दूसरी चीजों में आनी चाहिए या वर्णमाला जैसी जरूरत की असामान्य वस्तु में?

यहाँ मैं उनकी इस कुछ निरर्थक-सी बात की चर्चा नहीं करूँगा! जो कहते हैं कि दुनिया की अब तक की लिपियों में नागरी लिपि सबसे ज्यादा वैज्ञानिक है। सामाजिक उपादान के क्षेत्र में क्या वैज्ञानिक है, वह ज्यादातर मान्यता पर निर्भर करता है, और क्या मान लिया जाता है, यह ज्यादातर शक्ति और सत्ता पर निर्भर करता है। मैं सिर्फ बहुत ज्यादा लिपियों की फिजूली से होने वाली दुर्गति को दुहरा देना चाहता हूँ, जब एक अक्षर, दूसरों के निकट है कि आसानी से काम निकल जाता है तो यह बरबादी क्यों?

अब मैं उन सबको आमंत्रित करता हूँ जो भारतीय इतिहास के या भारतीय वर्णमालाएँ जैसे विषयों पर, महाकाल द्वारा बिछायी गयी अज्ञान और कृत्रिमता की परतों को हटाने के इरादे से, विमर्श करना चाहते हैं।

भारत–जैसे देशों पर, जो एक सुनियोजित झूठ के शिकार बने हैं, जिन्हें आत्म-सम्मान और साहस से रहित जड़ वनस्पति या कीड़ों जैसा बना दिया गया है। ऐसी व्याख्याएँ लादी जाती रहेंगी, जिनमें समर्पण को समन्वय बना दिया गया है, वीरता को मूर्खतापूर्ण साहसिकता, पुनर्जीवन को झूठा विहान और अनेकता को एकता। भारत का इतिहास कई अवधियों में बुरा रहा है। उनका इतिहास-लेखन और भी बुरा रहा है। फलस्वरूप सड़न जम गई है। अरुचिकर अतीत अनिश्चित भविष्य तक फैला दिया गया है।

–डा. लोहिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक पुस्तक के बहाने....

नरेन्द्र कोहली*

पिछले दिनों अंग्रेज़ी-के समाचारपत्र 'हिंदुस्तान टाइम्स' के 'इनर वायस' स्तंभ में गीता के संबंध में एक कथा पढ़ी।

एक व्यक्ति बहुत श्रद्धापूर्वक नित्यप्रति भगवद्गीता पढ़ा करता था। उसके पोते ने अपने दादा के आचरण को देख कर निर्णय किया कि वह भी प्रतिदिन गीता पढ़ेगा। काफी समय तक धैर्यपूर्वक गीता पढ़ने के पश्चात् एक दिन वह एक शिकायत लेकर अपने दादा के पास आया। बोला, "मैं प्रतिदिन गीता पढ़ता हूँ; किन्तु न तो मुझे कुछ समझ में आता है और न ही उसमें से मुझे कुछ स्मरण रहता है। तो फिर गीता पढ़ने का क्या लाभ?"

दादा के हाथ में वह टोकरी थी, जिसमें कोयले उठाए जाते थे। उन्होंने वह टोकरी अपने पोते को पकड़ा दी और कहा, "जाओ, इस टोकरी में नदी से जल ले आओ।"

पोता जा कर नदी से जल ले आया; किन्तु नदी से घर तक आते-आते सारा पानी बह गया। टोकरी खाली की खाली थी।

दादा ने कहा, "तुमने आने में देर कर दी। अब जाओ और पानी भर कर जल्दी लौटो।"

पोता गया और टोकरी में पानी भर कर भागता-भागता घर आया। किन्तु कितनी भी जल्दी करने पर घर तक आते-आते टोकरी का सारा पानी बह गया; और टोकरी खाली हो गई।

पोते ने कहा, "दादा जी। कोई लाभ नहीं है। टोकरी में पानी नहीं भरा जा सकता।"

दादा हँसे, "ठीक कहते हो, टोकरी में पानी संचित नहीं किया जा सकता। किन्तु टोकरी का रूप-रंग देखो। उसमें पानी भरने से कोई अंतर आया है?"

पोते ने टोकरी देखी : कोयलों के संपर्क से वह काली हो गई थी। किन्तु दो ही बार पानी लाने से उसके भीतर-बाहर से कालिमा धुल गई थी; और वह साफ-सुथरी हो गई थी।

---

* 175, वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली–110034

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"गीता तुम्हारी समझ में आए न आए, स्मरण रहे न रहे; किन्तु जो प्रभाव जल का टोकरी पर हुआ है, वही प्रभाव गीता का तुम्हारे मन पर होता है।"

पोता नियमित रूप से गीता पढ़ता रहा।

संयोग ही था कि मैं शास्त्री जी[1] की 'गीता परिक्रमा' के दूसरे खंड संबंधी काम कर रहा था। यह कथा पढ़ कर मेरा ध्यान शास्त्री जी की आस्था पर गया। मैं अनुभव कर रहा था कि अनेक बार गीता पढ़ने और उसके बहुत सारे भाष्य देख जाने के पश्चात् भी वह मेरे लिए एक पुस्तक ही थी, जिसमें अनेक अनमोल सिद्धांतों और सत्यों की चर्चा थी। वह मेरे लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण पुस्तक थी; किन्तु थी एक पुस्तक ही। किन्तु शास्त्री जी की आस्था का प्रभाव मेरे लिए गीता का अर्थ बदल रहा था। वह मात्र पुस्तक नहीं थी, वह स्वयं भगवान् का वक्तव्य था, उनका कथन था, मानवहित के लिए उनका संदेश था। यह प्रक्रिया कुछ ऐसी थी जैसे बचपन से रामकथा सुनते और पढ़ते आए थे। प्रत्येक रामकथा में यह उल्लेख है कि राम जी ने लंका जाने के लिए रामेश्वरम में भगवान् शिव की पूजा कर, समुद्र में एक सेतु बनवाया। उसे कहीं-कहीं नल-सेतु भी कहा गया है। स्वामी विवेकानन्द की जीवनी पढ़ते हुए और 'तोड़ो कारा तोड़ो' लिखते हुए, यह चर्चा भी पढ़ी कि उनके समय में अर्थात् आज से केवल एक शताब्दी-पूर्व, रामेश्वरम जिस रियासत का अंग था, उसका नाम 'रामनाड' अर्थात् 'राम का देश' था। तमिलनाडु का वह जिला आज भी 'रामनाड' ही है। स्वामी जी रामनाड के राजा से मिले। राजा का नाम भास्कर 'सेतुपति' था। 1960 ई. तक तो धनुषकोडि स्टेशन भी था। इतना कुछ होने पर भी कभी राम-सेतु के संबंध में वैसे विचार नहीं उठे, जैसे नासा द्वारा खींचे गए चित्र को देख कर हुए। उस चित्र को देख कर राम-सेतु एक जीवंत अस्तित्व के रूप में मन में बैठ गया। वह ऐतिहासिक निर्माण के रूप में सामने आया। जैसे ताजमहल एक भवन है, जैसे कुतुब मीनार एक मीनार है, वैसे ही रामसेतु समुद्र के बीच में बनाया गया एक सेतु है, जो रामकथा को कथा से इतिहास बना देता है। श्रीराम की कथा पौराणिक कल्पना न हो कर जीवंत इतिहास हो जाती है। ठीक वैसे ही शास्त्री जी की गीता के प्रति आस्था, श्रीकृष्ण की वाणी, सहस्रों वर्षों की धुंध को चीर कर जीवन्त कर देती है। इस आस्था ने मुझे संकुचित ही नहीं, लज्जित भी किया कि मैंने उस वाणी को महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी उसका वह महत्त्व नहीं समझा, जिसकी वह अधिकारिणी है। अपनी इस धरोहर के प्रति एक प्रकार की उपेक्षा का अपराध हम करते ही रहे हैं, कर रहे हैं। शास्त्री जी की आस्था, उनके शब्द, उनकी भंगिमा हमारी उस उपेक्षा को क्षार कर देती है। गीता का अर्थ बदल जाता है, कहना चाहिए कि गीता का कुछ और ही अर्थ प्रकाशित होने लगता है। वह अर्थ या वह आस्था पाठक

1. आचार्य विष्णुकांत शास्त्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को भी एक प्रकार से, एक उच्चतर धरातल पर स्थापित कर देती है। स्वामी विवेकानन्द की एक अमरीकी शिष्या ने लिखा था कि स्वामी जी के व्याख्यान के आरंभिक कुछ वाक्यों तक अपनी चेतना रहती है; और उसके पश्चात् जैसे स्वामी जी की शक्ति श्रोता की चेतना का अधिग्रहण कर लेती है और अपने समकक्ष धरातल तक उठा ले जाती है। व्याख्यान के पश्चात् चाहे हमें यह स्मरण रहे न रहे कि उन्होंने क्या कहा, किन्तु इतना स्पष्ट हो जाता है कि हम वह नहीं रहे, जो हम थे। हम उससे कुछ ऊपर उठ चुके हैं।

यह भी कोयले की टोकरी के धुलने जैसा ही कुछ है।

संयोग ही है कि इधर इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति शंभुनाथ श्रीवास्तव का वह ऐतिहासिक निर्णय आ गया, जिसमें उन्होंने गीता की चर्चा भारत के राष्ट्रीय ग्रन्थ के रूप में की है। उसे राष्ट्रीय धर्मग्रन्थ भी कहा गया है और राष्ट्रीय ग्रन्थ भी। इस संदर्भ में न्यायमूर्ति श्रीवास्तव के विचारों को देखना आवश्यक है। अत्यंत संक्षेप में उनका उल्था इस प्रकार किया जा सकता है....

यद्यपि भारत सांस्कृतिक, धार्मिक तथा राजनीतिक दृष्टि से सदा से एक ही रहा है; और धर्म की अवधारणा से शासित होता रहा है, राज्यों की दृष्टि से वह अनेक राजाओं के अधीन रहा है। महाभारत के युद्ध में भारत के सारे ही राजा सम्मिलित हुए। यह भारत की एकता का ही प्रमाण है। युद्ध को रोकने के सारे प्रयत्नों के बाद भी धर्म और अधिकार की स्थापना के लिए युद्ध हुआ। भगवान् कृष्ण ने इसी युद्ध में मानव जाति को गीता का दान दिया।

श्रीकृष्ण और गीता का महत्त्व इन तथ्यों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि विदेशी मुस्लिम आक्रमणकारी मुहम्मद बिन कासिम (712 ई.) और उसके पश्चात महमूद गजनवी, मुहम्मद गौरी, बाबर, तैमूर, अहमदशाह अब्दाली तथा अंग्रेजों के आक्रमण के पश्चात् भी हिन्दू समाज ने कभी स्वयं को पराजित नहीं माना और 1300 वर्षों तक स्वतंत्रता का अपना संघर्ष जारी रखा। हिन्दू समाज ने इन विदेशी शासकों से सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मोर्चों पर संघर्ष किया। कृष्ण की गीता ने इस संपूर्ण देश को स्वातंत्र्य संघर्ष के लिए निरंतर प्रेरित किया। इसने सारे राष्ट्र को पुनः कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग के आधार पर धर्म (न्याय) की स्थापना के लिए प्रेरित किया। उस संघर्ष में गीता सारे राष्ट्र को एक साथ बाँधने वाली शक्ति थी और आज भी वह पथप्रदर्शक है। भारतीय समाज ने 712 ई. से 1857 ई. तक इन विदेशी शासकों से राजा दाहिर, पृथ्वीराज चौहान, बहराइच के राजा सुहैलदेव, राणा सांगा, महाराणा प्रताप, वीर शिवाजी, गुरु गोविंदसिंह, रानी दुर्गावती, रानी अहल्याबाई, रानी राजमणि, रानी लक्ष्मीवाई, रानी अवंतीबाई, तांत्या टोपो, कुंवर सिंह, मंगल पांडेय और लाखों-लाख योद्धाओं के नेतृत्व में सशस्त्र राजनीतिक युद्ध किया। उसके पश्चात् गोपाल कृष्ण गोखले, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, वीर सावरकर, सरदार वल्लभ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाई पटेल, सुभाषचंद्र बोस, सरदार भगत सिंह, चंद्रशेखर आज़ाद, रामप्रसाद बिस्मिल, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, जवाहरलाल नेहरू, राजगोपालाचारी, और महात्मा गाँधी जैसे लोग भारत के विभिन्न प्रदेशों और क्षेत्रों से आए। वे सब गीता के कर्मयोग से प्रेरित थे। इसलिए वे परिणाम की चिंता के बिना संघर्ष करते रहे।

हिन्दू समाज ने यह स्वतंत्रता संग्राम सशस्त्र विरोध के अतिरिक्त सामाजिक और धार्मिक धरातल पर भी जारी रखा। वे धर्म को स्थापित करने के लिए लड़े और लड़ते रहे। इसमें संतों, बुद्धिजीवियों, चिंतकों, साहित्यकारों और दार्शनिकों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा, जिन्होंने हिन्दू समाज को एकजुट रखा और जो उन्हें विदेशी मुसलमान और ईसाई आक्रमणकारियों से संघर्ष करते रहने की प्रेरणा देते रहे। गणना की जाए तो उनकी संख्या सशस्त्र योद्धाओं से कहीं अधिक निकलती है। राजनीतिक इच्छाशक्ति और सहायता के अभाव में भी वे हिन्दू विरोधी शक्तियों से जूझते रहे। वे आज भी अपना संघर्ष चला रहे हैं, यद्यपि यह भी सत्य है कि आज कई प्रदेशों में हिन्दू अल्पसंख्यक हो चुके हैं।

इन 1300 वर्षों में और आज भी यह संघर्ष धर्म की स्थापना के लिए है और उसकी मूल प्रेरणा भगवद्गीता है। गीता ने धर्म की स्थापना के लिए हमें 'योग' का मंत्र दिया और यह योग तीन प्रकार का है कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, रामप्रसाद बिस्मिल, लाला लाजपत राय, चंद्रशेखर आज़ाद, भगत सिंह, सुभाषचन्द्र बोस, महात्मा गाँधी और विनोबा भावे जैसे सहस्रों लोग गीता से उद्दीप्त हो कर स्वतंत्रता का संग्राम लड़ते रहे। माहत्मा गाँधी और विनोबा भावे गीता पढ़ते रहे, लोगों को पढ़ाते रहे और आजीवन उसपर चलने का प्रयत्न करते रहे।

'गीता रहस्य' की भूमिका में लिखा है : "स्वर्गीय श्री बाल गंगाधर तिलक आध्यात्मिक और बौद्धिक अतिमानव थे। वे भारतीय इतिहास में एक महामानव रहे हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि वे दार्शनिक अधिक थे अथवा राजनीतिज्ञ। उनकी राजनीतिमत्ता का आधार गीता का कर्मयोग ही था। उन्होंने अपने जीवन में जिन नैतिक सिद्धांतों को स्वीकार किया, वे गीता द्वारा ही स्थापित किए गए हैं। वस्तुतः गीता के सिद्धांत ही उनके जीवन के प्रकाशस्तंभ रहे हैं। यदि इस बात की तुलना की जाए कि जो कुछ उन्होंने भारत के लिए किया और जो कुछ उन्होंने 'गीता रहस्य' में स्थापित किया, तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनकी कथनी और करनी में भेद नहीं था। जो कुछ 'गीता रहस्य' में स्थापित किया, उसी का आचरण अपने जीवन में किया। उनकी राजनीतिक गतिविधि उनके सार्वभौमिक लोकमंगल का ही कार्यान्वयन था, जो कि उनके अनुसार गीता द्वारा कर्म-योग के रूप में प्रचारित किया गया है। वे राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के युग में एक महर्षि थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीता के उपदेश को किसी एक चिंतक अथवा चिंतकों की एक परंपरा ने सोच कर किसी तात्विक आध्यात्मिक सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत नहीं किया है। यह उस परंपरा के परिणाम स्वरूप स्थापित किया गया है, जो मानव जाति के आध्यात्मिक जीवन से उत्पन्न हुई है। यह एक ऐसे समर्थ द्रष्टा के द्वारा प्रतिपादित की गई है, जो न केवल सत्य को उसके अनेक पक्षों और आयामों में देखता है, वरन् उसकी रक्षणात्मक शक्ति में विश्वास भी करता है। यह हिन्दुओं के किसी पंथ का प्रतिनिधित्व नहीं करती, वरन् समग्र हिन्दू चिंतन को प्रस्तुत करती है। केवल हिन्दू धर्म को ही नहीं, वरन् देश-कालातीत सार्वभौमिक धर्म को, उसके संष्लेशण को सारे संतों की सर्जनात्मक साक्षी के साथ स्वीकार करती है। गीता में प्रस्तुत किया गया अस्तित्व का स्वरूप, सार्वकालिक आदर्शों की मूल्य-व्यवस्था और संदेश, सृष्टि के रहस्यों को बुद्धि और तर्क से प्रकाशित करने की विधि, हमें वह आधार प्रदान करती है, जिसके संज्ञान से बुद्धि और आत्मा का सामंजस्य होता है। यह सामंजस्य, सभ्यता के विकास से एक हो गए विश्व के सह-अस्तित्व को बनाए रखने के लिए आवश्यक है।

गीता में स्थान-सापेक्ष और सामयिक सामग्री बहुत कम है। इसका प्रतिपाद्य अतिगंभीर, सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। और जो सामयिक और स्थानीय है, उसे भी बड़ी सुविधा से सार्वभौम बनाया जा सकता है। गीता किसी एक पंथ का ग्रन्थ नहीं है। वह किसी एक चिंतन धारा द्वारा प्रसूत नहीं है। कृष्ण का संदेश है कि सारे मार्ग मुझ तक ही आते हैं।....

न्यायमूर्ति शंभुनाथ श्रीवास्तव ने बहुत विस्तार से गंभीरतापूर्वक इस विषय को सप्रमाण प्रस्तुत किया है। यह एक गंभीर विषय है, जिसपर हम सब को विचार करना चाहिए। जो ग्रन्थ पाँच सहस्र वर्षों से इस देश शरीर में रक्त के समान बह रहा है और उसे हर प्रकार की ऊर्जा प्रदान कर रहा है, जो ग्रन्थ इस देश का मस्तिष्क कहा जा सकता है, जो इस देश के अद्वैत सिद्धांत के समान सबको समान मानता है। सबको समान अधिकार, अपनी रुचि के अनुसार धार्मिक विश्वास और धर्म की स्थापना का आग्रह—गीता की ये विशेषताएँ, उसे सर्वाधिक जनवादी और जनतांत्रिक ग्रन्थ बना देती हैं। हमें उसको इन सारे पक्षों से देखना और समझना चाहिए।

मेरा ध्यान इस ओर भी गया कि इतने गंभीर और गहन विषय के होते हुए भी शास्त्री जी का विनोद बीच-बीच में अपना सिर उठाता ही रहता है। वे अपने स्वभाव के अनुसार सहज रहते हैं और पाठक को भी सहज बनाए रखते हैं। किन्तु उनके विनोद में भी कहीं अविनय का भाव नहीं आता; किन्तु फिर भी जब वे अपनी आस्थाओं के विरुद्ध घोषणाएँ पढ़ते और सुनते हैं तो विनोद में ही सही; किन्तु तीखा विरोध करते हैं : नीत्शे ने कहा, 'ईश्वर मर गया। परमात्मा मर गया।' अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए शास्त्री जी पूछते हैं, "अरे भैया, तुमने उसकी लाश देखी? पोस्टमार्टम कर के बताया कि यह परमात्मा ही था कि किसी और को तुम परमात्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझ कर, मृत घोषित कर रहे हो? किसी के मारे परमात्मा मरता नहीं। परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"

इसी प्रकार वे कहते हैं, "समस्त प्राणियों के भीतर प्रभु हैं। तो क्या प्रभु एक गेंद हैं, जिन्हें एक थैली के भीतर रख दिया गया है।" यह परिहास यह समझाने के लिए है कि ईश्वर की व्याप्ति का क्या अर्थ है। वे ऐसा उदाहरण देते हैं, जिसे हम न भूल पाएँ और अप्रभावित हुए बिना भी न रहें। ईश्वर सारी सृष्टि में व्याप्त है, तो "जो कपड़ा हम पहनते हैं, उसी को हम धोते हैं पीट-पीट कर। उस कपड़े में भी राम जी हैं।" इस वाक्य के स्मृति में आते ही कपड़ा धोते हुए हमारे हाथों में एक प्रकार की मृदुलता आ जाएगी। मन में स्नेह जाग उठेगा। इसी प्रकार वे एक गंभीर बात को विनोदी ढंग से कह रहे हैं : "ऋषि तो वही है, जो अपनी बात कहे। सबने अलग-अलग बातें कहीं हैं।" यह विनोद है; किन्तु एक बड़े सत्य को व्यक्त करता है कि ऋषि अथवा बुद्धिजीवी, मौलिक बात कहता है। किसी का अनुकरण मात्र नहीं करता। इसलिए प्रायः वह किसी से सहमत नहीं होता।

उनके प्रवचनों को पढ़ कर शास्त्री जी की कुछ विशेषताएं ध्यान में आती हैं। जहाँ जो विषय आ जाए, वे केवल उसका स्पष्टीकरण ही नहीं करते, उसके संबंध में जो सामग्री जहाँ कहीं भी मिलती है, उसे वहाँ एकत्रित कर देते हैं। 'निमित्त' का प्रसंग आया तो रामचरितमानस में ही नहीं, सारे भक्त कवियों में जहाँ-जहाँ 'निमित्त' की चर्चा है, वह सारी चर्चा शास्त्री जी ने अपने श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत कर दी। मैं इसे महाभारत की शैली मानता हूँ। महाभारतकार को भी किसी विषय पर कुछ कहना होता है तो वह कथा को वहीं रोक कर उस विषय का सारा ज्ञान एकत्रित कर देता है। यही कारण है कि महाभारत में 'श्रीमद्भगवद्गीता' 'अनुगीता' और 'विदुर नीति' ग्रन्थ तैयार हो गए। युद्ध की समाप्ति पर पांडव अपने पितामह के पास गए और धर्मराज ने राजनीति संबंधी कुछ प्रश्न पूछे तो एक विराट ग्रन्थ ही तैयार हो गया। व्यास इस बात से चिंतित नहीं होते कि धर्मराज सम्राट भी रह चुके हैं, उन्हें छोटी-छोटी बातें क्यों बताई जाएँ, या फिर पितामह गंभीर रूप से घायल हैं, अपनी उस शारीरिक पीड़ा में वे इतना सब कैसे बताएँगे और क्या बताना चाहेंगे। उन्हें अपने समय तक का सारा राजनीतिक चिंतन प्रस्तुत करना है। अवसर मिलते ही उन्होंने वह कर दिया।

शास्त्री जी व्याकरण की दृष्टि से भी अर्थ को परखते हैं। रसों और छंदों की ओर भी उनका ध्यान जाता है। उन्होंने बीभत्स रस और करुण रस इत्यादि की चर्चा भी यथास्थान कर दी है। वस्तुतः गीता एक विराट काव्य का अंग है; और स्वयं भी 'गीता' है। वह भगवान् द्वारा गाई गई है। अतः उसमें काव्य और संगीत तत्त्व का होना अनिवार्य है। तो शास्त्री जी उसकी उपेक्षा कैसे कर सकते थे।

'गीता-परिक्रमा' के इस खंड में श्रीमद्भगवद्गीता के सातवें से बारहवें अध्याय तक की सामग्री पर शास्त्री जी के प्रवचनों का संकलन है। सप्तम अध्याय है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ज्ञान-विज्ञान योग'। किन्तु शास्त्री जी ने अपने प्रवचनों के शीर्षक वे ही नहीं रखे हैं, जो गीता के अध्यायों के शीर्षक हैं। वे उसका सार निकाल कर, मूल प्रतिपाद्य को ही शीर्षक के रूप में स्वीकार करते हैं, ताकि वह शास्त्रीय शब्दावली से भिन्न होकर, पाठक और श्रोता के अपने शब्द-भंडार और अनुभव संसार के अंग के रूप में चित्रित हो और उसे समझने में कोई कठिनाई न हो।

इस नीति के अंतर्गत पहले प्रवचन को 'माया और उसके पार जाने के साधन' कहा गया। इसी से प्रश्न उठता है कि माया क्या है? यदि माया को जानना है तो फिर उसके स्वामी को भी जानना होगा। इसी से हम एक प्रकार से सृष्टि के मूल रहस्यों-संबंधी प्रश्नों के आमने-सामने खड़े हो जाते हैं। ब्रह्म का स्वरूप क्या है? वह जब प्रकट होता है तो उसका रूप क्या है? और उसके प्रकट होने की प्रक्रिया का रूप क्या है?

इन प्रश्नों के उत्तरों के संदर्भ में ही भगवान् ने अर्जुन से कहा कि मैं तुम्हें ज्ञान और विज्ञान दोनों के विषय में कहूंगा। ज्ञान और विज्ञान को स्पष्ट करते हुए शास्त्री जी ने अनेक बातों की ओर हमारा ध्यान खींचा है।

(क) जो कुछ हमने जाना है, वह विज्ञान है; और वह हमारे आचरण में उतर आए, वह विज्ञान है।

(ख) उस 'एक' के अनेक होने की प्रक्रिया को जान लेना विज्ञान है; और इस सृष्टि के असंख्य नाम रूपों के भीतर एक ही तत्त्व विद्यमान है, इसका बोध हो जाना ज्ञान है।

(ग) वह जो त्रिगुणातीत है, सर्वव्यापी है, वह कैसे अनेक हो गया। उस एक तत्त्व का अपने जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव कर लेना ही ज्ञान-विज्ञान है। साक्षात् अनुभव कर लेना।

ज्ञान परमात्मा का बोध है। अद्वैत सत्ता, जो सत् है, चित् है, आनन्द है, अद्वै है, उसका बोध—यह तो है ज्ञान। वही सत्ता बहु हो गई है, अनेक रूपों में उसी की अभिव्यक्ति है, और ये सब उसी भगवान् के ही रूप हैं—यह है, विज्ञान।

इसी संदर्भ में उन्होंने अत्यंत विस्तार से स्पष्ट किया है कि अधिष्ठान का ज्ञान होने पर, उस पर आश्रित सबका ज्ञान हो जाता है। ब्रह्म इस प्रकृति का निमित्तोपादान कारण है। वही स्वयं को सृष्टि, प्रकृति अथवा माया के रूप में प्रकट करता है। सांख्य दर्शन और अद्वैत में प्रकृति और पुरुष (ब्रह्म) का संबंध एक जैसा नहीं है। गीता अद्वैत दर्शन के अनुरूप प्रकृति को ब्रह्म के अधीन मानती है। वस्तुतः ब्रह्म स्वयं ही प्रकृति के रूप में प्रकट होते हैं। रामकृष्ण परमहंस ने स्वामी विवेकानन्द से कहा था, "तू जिसे ब्रह्म कहता है, उसे ही मैं माँ कहता हूँ। जब वह निष्क्रिय है तो ब्रह्म है और सक्रिय है तो माता प्रकृति है।" इस रूप में परमात्मा जब अज्ञान का विषय बनता है तो सृष्टि हो जाता है। सारी व्याधियों की जड़ है—मोह। उस मोह को जीतना होगा। मोह को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वही जीत सकता है, जो ईश्वर को प्राप्त कर ले। ईश्वर को प्राप्त कैसे किया जाए? अपने बल पर अथवा ईश्वर के आश्रय में, उनकी शरण में जाकर। अपने बल पर जीतना कठिन है। उनकी शरण में ही जाना होगा। उसी को भक्ति कहते हैं। कृष्ण कहते हैं कि मेरा सबसे प्रिय भक्त वह है, जिसने अपनी अंतरात्मा मुझे दे दी है। वह कैसे होगा। भगवान् कहते हैं : अपना प्रेम मुझे दो। अपनी आसक्ति मुझे दो। अपना मन और बुद्धि मुझ में लगा दो।

मुझे स्वामी विवेकानन्द की एक उक्ति स्मरण हो आती है। उन्होंने कहा था कि केवल किसी सिद्धांत, व्यक्ति अथवा ग्रंथ पर आस्था प्रकट कर देना ही हिन्दुत्व नहीं है। हिन्दू वह है, जो निरंतर ईश्वर की खोज करता है, उन्हें जानने का प्रयत्न करता है, उनके निकट जाने का प्रयत्न करता है और अंततः उनमें समा जाता है। इस रूप में तपस्या अथवा भक्ति क्या है? जिस ब्रह्म से यह जीवात्मा पृथक् हुआ है, वापस उसी के पास पहुँचना और उस अलगाव को समाप्त करना ही भक्ति भी है और मुक्ति भी।

दूसरा प्रवचन "शरणागतों (भक्तों) की कोटियाँ", पहली स्थापना तो यह करता है कि भक्ति और शरणागति में कोई अंतर नहीं है। भगवान् की शरण में जाना ही भक्ति है; और बिना उनकी शरण में जाए, भक्ति हो नहीं सकती। गीता में चार प्रकार के भक्तों की चर्चा है :

पहली कोटि में आर्त भक्त आते हैं। वे अपना दुख दूर करने के लिए प्रभु के सम्मुख रोते और गिड़गिड़ाते हैं। यह सकाम भक्ति है; स्वार्थ-सिद्धि के लिए ईश्वर के सम्मुख याचक के रूप में प्रस्तुत होना। यह श्रेष्ठ भक्ति नहीं मानी जा सकती। विनोबा भावे ने कहा है कि याचना अनुचित है; किन्तु संतोष यही है कि वह भक्त ईश्वर से याचना कर रहा है, किसी और से नहीं। आज याचना के लिए प्रभु के सम्मुख जाता है, कल बिना याचना के भी जाएगा।

किन्तु ऐसे भक्त भी हैं, जो ईश्वर के दर्शनों के लिए रोते-तड़पते हैं। गोपिकाएँ और मीरा, ऐसे ही भक्त हैं। वे आर्त हैं किन्तु उनकी भक्ति निष्काम है। इसका अर्थ यह हुआ कि आर्त भक्त दोनों प्रकार के हो सकते हैं। रामकृष्ण परमहंस अपने शिष्यों को एक कथा सुनाया करते थे :

एक शिष्य ने अपने गुरु से पूछा, "गुरु जी ईश्वर के दर्शन कब होते हैं?"

गुरु ने कहा, चलो बताता हूँ। वे उसे एक सरोवर के तट पर ले आए। आदेश दिया कि वह स्नान के लिए, सरोवर में उतर जाए। शिष्य सरोवर में कूद गया। गुरु भी साथ-साथ आ गए। अकस्मात् ही उन्होंने उसकी गर्दन पकड़ कर उसे पानी में डुबो दिया। शिष्य ने बहुत परिश्रम कर अपने सिर को जल से ऊपर उठाया। गुरु ने पुनः उसकी गर्दन को जल में डुबो दिया। इस बार शिष्य साँस लेने के लिए तड़प उठा। उसने गुरु को जोर का धक्का देकर स्वयं को उनसे मुक्त कर लिया और जल से बाहर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आ गया। श्वास ठीक हुआ तो उसने क्रुद्ध स्वर में गुरु से पूछा, "यह आप क्या कर रहे थे? मुझे मार डालना चाहते थे?"

"क्यों क्या हो गया?" गुरु ने शांत भाव से पूछा।

"श्वास के बिना मेरे प्राण निकल रहे थे।"

गुरु हंसे, "जिस क्षण ईश्वर के विरह में इसी प्रकार तुम्हारे प्राण निकलने लगेंगे, उसी क्षण ईश्वर तुम्हें दर्शन दे देंगे।"

यह आर्त भक्त की ईश्वर के विरह में तड़पने की चरम सीमा है।

दूसरी कोटि 'जिज्ञासु' भक्त की है। वह भगवान् के विषय में जानना चाहता है। अधिक से अधिक जानना चाहता है। उसे जानने के लिए तड़प रहा है। उसे जानने के लिए आकाश पाताल एक कर रहा है। वह पूछता है, तो उनके विषय में, खोजता है तो उनको, निकट जाना चाहता है, तो उनके। वह जिज्ञासु है।

तीसरी कोटि अर्थार्थी भक्त की है। ऐसा भक्त अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए, विभिन्न देवताओं की पूजा, आराधना करता है। यह भी सकाम भक्ति है। आर्त से भिन्न है। आर्त कष्ट में है, केवल अपने कष्ट से मुक्ति चाहता है; किन्तु आवश्यक नहीं कि अर्थार्थी भी कष्ट में हो। वह ऐश्वर्य में रह कर भी अर्थार्थी हो सकता है। जितनी सांसारिक सुख-संपत्ति उसके पास है, वह उससे भी अधिक चाहता है; इसलिए वह विभिन्न देवताओं के द्वार पर माथा टेक कर उनसे याचना करता है। भगवान् किसी भक्त की देवताओं के प्रति श्रद्धा को खंडित नहीं करते।

चौथा वर्ग ज्ञानी भक्तों का है। वे ईश्वर को जान चुके हैं। सांसारिक भोगों की निस्सारता से उनका परिचय हो चुका है। जो सारी कामनाओं को लाँघ कर, सारा ज्ञान प्राप्त कर, भगवान् से प्रेम करते हैं, वे ज्ञानी भक्त हैं। वे पूर्णतः निष्काम भक्त हैं। शास्त्री जी ने अपने गुरु स्वामी अखंडानंद से सुनी एक कथा का उल्लेख किया है। भगवान् ने 'आह' का निर्माण किया। वह सुंदर और आकर्षक थी; किन्तु वह जिसके पास भी गई, उसने उससे विवाह करने से मना कर दिया। वह अत्यंत दुखी हो कर भगवान् के पास आई और बोली, "यदि मुझे कुँवारी ही रखना था तो मेरा निर्माण ही क्यों किया?" भगवान् ने उसके पहले 'च' जोड़ दिया। वह 'आह' से 'चाह' हो गई और उसे पाने वालों की भीड़ जमा हो गई।

निष्काम और सकाम कर्म के संदर्भ में यह कथा बहुत महत्त्वपूर्ण है। सकाम कर्म ऊपर से 'चाह' के समान आकर्षक है; किन्तु उसकी मूल प्रकृति 'आह' की ही है। कामना अंततः कष्ट की ओर ही ले जाती है।

इस प्रकार भगवान् के भक्तों अथवा शरणागतों की चार श्रेणियाँ हैं; किन्तु उनमें पूर्णतः निष्काम तो ज्ञानी भक्त ही है। आर्त और जिज्ञासु भक्त भी निष्काम हो सकते हैं, यदि वे केवल भगवान् को ही चाहते हों, केवल ईश्वर की खोज में ही निकले हों।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवात्मा, परमात्मा से पृथक् हो कर प्रकृति की माया में फँस गया है। वह आत्मा जो स्वयं आनन्दस्वरूपा है, माया के जाल में फँस कर अपने स्वरूप को भूल कर, दुख उठा रही है। उन दुखों से मुक्त होने का एक ही मार्ग है कि वह वापस प्रभु के पास जा पहुँचे। उसके लिए आवश्यक है कि वह माया का जाल काट दे। उसका एकमात्र मार्ग ईश्वर की भक्ति है। तब प्रश्न उठता है कि जीव तो ईश्वर को प्राप्त करने का प्रयत्न करे, किन्तु क्या प्रभु उपलब्ध भी हैं?

'गीता परिक्रमा' का चौथा प्रवचन है, "प्रभु सुलभ हैं।" हमारे आस-पास ऐसे अनेक लोग मिल जाते हैं, जो यह कहते हैं, कि वे ईश्वर में विश्वास नहीं करते। वे ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास नहीं करते। और शास्त्री जी गीता के आधार पर कह रहे हैं कि प्रभु का अस्तित्व ही नहीं है, वे सुलभ भी हैं। हम चाहें तो उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। स्वयं कृष्ण बता रहे हैं कि उन्हें कैसे प्राप्त किया जा सकता है। पहला मंत्र है, "माम् अनुस्मर।" प्रायः भाष्यों में अनुस्मर का अर्थ स्मरण करना ही किया गया है। कृष्ण कहते हैं, "मुझे स्मरण कर।" किन्तु शास्त्री जी ने स्मरण और अनुस्मरण में एक सार्थक अंतर किया है। स्मरण का अर्थ तो स्पष्ट ही है, फिर उसके पहले 'अनु' जोड़ने की सार्थकता क्या है? शास्त्री जी ने इसका अत्यंत सुंदर स्पष्टीकरण किया है। पहले कोई स्मरण करता है, फिर अनुस्मरण किया जाता है। शास्त्री जी कहते हैं कि पहले परमात्मा जीव को स्मरण करता है, इसलिए श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि तुम मेरा अनुस्मरण करो। मैं तुम्हें पुकार रहा हूँ, तुम उसे सुनो और मेरी पुकार का उत्तर दो। परमात्मा प्रतिक्षण आत्मा को पुकार रहा है; और आत्मा अपने मोह में लिपटी उस पुकार को सुन नहीं पा रही है। हम किसी को पुकारते हैं और वह हमारी नहीं सुनता तो हम उसे अशिष्ट और अभद्र मानकर उससे रुष्ट हो जाते हैं। किन्तु कृष्ण अनंत काल से हमें पुकार रहे हैं। और हम हैं कि अपने जन्म-जन्मांतरों में भी उनकी पुकार को अनसुना करते जाते हैं। फिर भी कृष्ण निराश नहीं हैं। प्रभु में निराशा का तत्त्व ही नहीं है। वे हमारी इस उपेक्षा की ओर ध्यान नहीं देते। वे कह रहे हैं, उस पुकार को सुनो ही नहीं, उसका उत्तर भी दो। तभी तो प्रभु से संवाद स्थापित हो पाएगा। जितना संवाद स्थापित होगा, उतना ही संबंध घनिष्ठ होगा; और अंततः प्रेम सघन होगा, इस सीमा तक कि आत्मा परमात्मा में समा जाएगी।

नरेन्द्रनाथ दत्त दक्षिणेश्वर जाया करते थे और रामकृष्ण परमहंस को अपना गुरु भी मानते थे किन्तु अभी ब्राह्म समाज के प्रभाव में थे। अतः मूर्ति पूजा को स्वीकार तो नहीं ही करते थे, प्रतिमा को पुत्तलिका कहा करते थे। उनके कष्टों को देख कर रामकृष्ण परमहंस प्रायः ही उन्हें माँ काली के मंदिर में जाने को कहा करते थे। एक दिन वे यहाँ तक कह बैठे कि तू माँ के राज्य में रहता है और उन्हें मानता नहीं है, तो कष्ट तो पाएगा ही। नरेन्द्रनाथ दत्त बोले, यह नहीं कि मैं माँ को मानता नहीं, मैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो उनको जानता ही नहीं हूँ। तो रामकृष्ण परमहंस ने उत्तर दिया, तो जा जानने का प्रयत्न कर। जान-पहचान बढ़ा।

यही जान-पहचान हमें प्रभु से बढ़ानी है। और गीता ने उसका पहला सूत्र दिया है, "माम अनुस्मर।" दूसरा सूत्र है, "मय्यर्पितमनोबुद्धि।" अपना मन और बुद्धि मुझे अर्पित कर। मन और बुद्धि प्रभु को अर्पित करने का एक अर्थ समर्पण भी है; किन्तु दूसरा स्पष्ट अर्थ है कि मन और बुद्धि कहीं और हों तो प्रभु से जान-पहचान कैसे होगी। शायद इसीलिए तब रामकृष्ण परमहंस से उनके शिष्यों ने कहा कि अपने रोग से मुक्त होने के लिए वे अपना ध्यान अपने कंठ के फोड़े पर केन्द्रित करें तो ठाकुर ने उत्तर दिया था कि जो मन ईश्वर को समर्पित कर चुका, उसे अपने रोग को समर्पित कैसे करूँ। इसके विपरीत सांसारिक जन अपना मन और बुद्धि इंद्रिय भोग को समर्पित किए हुए हैं, वे उसे वहाँ से लौटा कर ईश्वर तक कैसे लाएँ। डोंगरे जी महाराज 'इंद्रिय सुख' शब्द का प्रयोग नहीं करते। वे उसे 'इंद्रिय त्रास' कहते हैं। इंद्रियाँ हमें त्रस्त करती हैं तो हमं उनका चारा ढूँढ़ने निकलते हैं। इंद्रियों को उनका चारा मिलता है, वे प्रसन्न होती हैं तो हम मान लेते हैं कि इंद्रियाँ हमें सुख दे रही हैं। यहाँ कृष्ण कह रहे हैं कि अपने मन और अपनी बुद्धि को अपनी इंद्रियों के पंजे से मुक्त कर और मुझे समर्पित कर। यह तभी संभव होगा, जब हम बार-बार उनका अनुस्मरण करेंगे। जिस आत्मा ने परमात्मा की पुकार सुन ली, उसे फिर न अपने वस्त्रों का बोध रहा, न अपने शरीर का। उसने घनानन्द के समान ईरानी सिपाही के 'जर, जर, जर' (सोना, सोना, सोना) को पलट दिया और 'रज, रज, रज' (धूल, धूल, धूल) कह उठा।

इस अनुस्मरण में एकाग्रता है। विक्षिप्त मन से तो कोई सांसारिक कार्य भी नहीं हो पाता, ईश्वर प्राप्ति कहाँ से होगी। इसलिए पूरे मन से उनका विश्वास करना होगा। उनपर निर्भर रहना होगा। प्रायः ऐसा नहीं होता। हम कहते तो हैं कि हम प्रभु की शरण में हैं किन्तु विश्वास हमें अपने और अपने संबंधियों के बल का ही होता है। एक बार स्वामी विवेकानन्द ने अपने भक्तों से कहा कि बहुत कम लोग ईश्वर को मानते हैं। उनके भक्तों ने प्रबल प्रतिवाद किया कि सत्य यह नहीं है। प्रत्येक मंदिर, तीर्थ और दूसरे धर्मस्थल भक्तों से भरे रहते हैं, तो फिर स्वामी जी के ऐसा कहने का कारण क्या है। स्वामी जी ने कहा, "यदि एक बार अपने मन में ईश्वर को बैठा लोगे, तो फिर झूठ बोल सकोगे क्या? रिश्वत दे सकोगे, ले सकोगे? चोरी कर सकोगे? परस्त्री पर वासना भरी दृष्टि डाल सकोगे? नहीं, ऐसा नहीं कर सकोगे। इसलिए जब तब कोई ऐसा करता है, तब तक यही समझो कि वह ईश्वर पर विश्वास नहीं करता।"

शास्त्री जी गीता के आधार पर यही कह रहे हैं कि पूरे तन मन से, पूरी एकाग्रता से, समग्रता से, पूर्णता से ईश्वर की शरण में जाओ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुझे अपने एक पुराने परिचित का स्मरण हो आ रहा है। वे दार्शनिक थे या नहीं, दर्शन शास्त्र के आचार्य थे। भारत, इंग्लैंड और अमरीका में पर्याप्त ज्ञान अर्जित कर दिल्ली में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में एक विभाग के अध्यक्ष थे। गीता पर मुझ से चर्चा करते हुए, उन्होंने कहा था कि गीता में है क्या? एक अहंकारी मनुष्य कह रहा है कि सब कुछ छोड़ कर मेरी शरण में आ जाओ।

यह उनका दृष्टिकोण था। उनकी समझ थी। और मुझे भगवान् कृष्ण की वे उक्तियाँ स्मरण हो आ रही थीं, जहाँ उन्होंने कहा है, कि सामान्य जन मुझे इस शरीर में देख कर पहचान नहीं पाते। वे मुझ वासुदेव को साधारण मनुष्य ही मानते हैं।

ठीक कह रहे हैं कृष्ण। दर्शनशास्त्र के वे वामपंथी पंडित उन्हें अपने जैसा पार्टीबंद, संगठन खड़ा करने वाला, अपनी पार्टी की सदस्यता बेचने वाला, अपना नेतृत्व खड़ा करने वाला व्यक्ति ही समझ रहे हैं। वे जीवात्मा, आत्मा और परमात्मा के स्तर का अंतर नहीं पहचान पाते, या पहचानना नहीं चाहते। और मैं तब से अपने मस्तिष्क में एक प्रश्न लिए घूम रहा हूँ कि पूजा, प्रार्थना, अर्चना, उपासना हम करते हैं, तपस्या हम करते हैं, माथा हम टेकते हैं, तीर्थ-यात्रा कर अपने जूतों के तलुवे हम घिसते हैं, चढ़ावा हम चढ़ाते हैं। आज तक कोई प्रमाण नहीं मिला कि हमारे चढ़ावे का लोभ है प्रभु को। उससे वह अधिक धनी हो जाता है। वह हम से माँगता है। हमारे चढ़ावे से प्रसन्न होकर वह पक्षपात करने लगता है। हम तो जानते हैं कि सब कुछ उसका ही है। हम उसके नाम का जप एक लाख बार कर लें तो क्या उसका यश फैल जाएगा। उसे नोबेल पुरस्कार मिल जाएगा? वह अमर हो जाएगा?

हम जो कुछ करते हैं, अपने लिए करते हैं, या उसके लिए करते हैं? और उसे स्मरण कर, उसके नाम पर तपस्या कर, हम स्वयं को स्वच्छ करते हैं, या उसकी पार्टी की सीटें बढ़ाते हैं। हमें यह सोचना होगा, भवसागर में हम फँसे हैं, या वह फँसा है। जन्म-मरण का चक्कर हमारे लिए कष्टकारी है, या उसके लिए। कर्मबंधन में हम बँधे हैं, या वह बँधा है। हम उसे कुछ दे सकते हैं, या वह हमें कुछ दे सकता है? लेना हम को है या उसे?

अर्जुन के माध्यम से गीता सुधी भोक्ता के लिए कही गई। हमारे लिए कही गई है। हमारी सहायता के लिए, हमें मार्ग दिखाने के लिए। हम कुरुक्षेत्र में खड़े नहीं हैं; किन्तु जीवन के कुरुक्षेत्र में अवश्य खड़े हैं। शास्त्री जी ने दो पंक्तियाँ उद्धृत की हैं :

"सबको लड़ने ही पड़े अपने अपने युद्ध।
चाहे राजा राम हों, चाहे गौतम बुद्ध ॥"

प्रभु के आश्रय में जाने के अनेक मार्ग हैं। भक्ति की भी चर्चा है, कर्म की भी और ज्ञान की भी। इन सबको कृष्ण ने योग की सीमा तक पहुँचा दिया है। वे भक्ति और योग में न अंतर मानते हैं, न विरोध। बात केवल एकाग्रता की है। वह एकाग्रता, भाव से हो, कर्म से हो, ध्यान से हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"बनै तो रघुबर से बने, कै बिगरै भरपूर।
तुलसी बने जो और तें, ता बनिबे सिर धूर ॥"

इसलिए शास्त्री जी अपने अगले प्रवचन के शीर्षक के रूप में हमें परामर्श दे रहे हैं, "अपना मार्ग चुनिए।"

सामान्यतः भारतीय-अभारतीय सभी धर्मों में कुछ लोक-मान्यताएँ हैं, जो जीवन से अधिक मृत्यूपरांत काल के संबंध में हैं। देहांत के पश्चात् मनुष्य की आत्मा कहाँ जाती है? इस प्रश्न के उत्तर में एक से एक सुखद और एक से बढ़कर एक कष्टदायक लोकों की कल्पना की गई है। अधिकांश लोग धर्म पर चलना चाहते हैं, ताकि वे इस लोक में सुखी रह सकें और मृत्यु के पश्चात् वे स्वर्ग जैसे किसी लोक में सुख भोग सकें। इसी संदर्भ में शास्त्री जी ने गोस्वामी तुलसीदास का एक दोहा उद्धृत किया है:

"को जाने को जमपुर जइहैं, को सुरपुर परधाम को।
तुलसिहि बहुत भलो लागत है, जगजीवन रामगुलाम को ॥"

इस दोहे से हम यह भाव भी ग्रहण कर सकते हैं कि तुलसी मृत्यूपरांत विभिन्न लोकों के प्रति यह कह कर अविश्वास प्रकट कर रहे हैं "को जाने", और दूसरी ओर यह भाव भी हो सकता है कि तुलसी ने राम की भक्ति को इस प्रकार आत्मसात् किया है कि अब उनको किसी अन्य लोक, चाहे वह स्वर्ग ही क्यों न हो, की चिंता ही नहीं है। यह शरणागति, भक्ति या नित्ययुक्तता उनके जीवन का अंतिम लक्ष्य है। ऐसी अनन्यता की ही कामना भक्त करता है। यही भक्ति का चरम आदर्श है। शास्त्री जी ने इसी संदर्भ में दो और पंक्तियाँ उद्धृत की हैं :

"तभी सफल आराधन होता, जब आराधक अपना रूप!
धीरे धीरे तजता जाता, बन जाता आराध्य स्वरूप ॥"

यह स्वामी विवेकानन्द द्वारा की गई हिन्दू धर्म की परिभाषा के अत्यंत निकट ही नहीं, वही है। जो उसमें लय हो जाता है अथवा आत्मसाक्षात्कार कर लेता है, उसके लिए फिर दूसरी कोई सत्ता ही नहीं रह जाती। शास्त्री जी ने कहा है, "जो अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानता है, उसके लिए दूसरी कोई सत्ता नहीं रह जाती। अनन्यता के होते ही शेष सारी सत्ताओं का लोप हो जाता है। यह अनन्या भक्ति तभी सिद्ध होती है।" अद्वैत वेदांत मानता है कि अस्तित्व केवल ब्रह्म का ही है। रामकृष्ण परमहंस ने कहा था कि "वे ही सब कुछ हुए हैं।" दत्तात्रेय ने अवधूत गीता में कहा है :

"सबकुछ आत्मा ही है। भेदाभेद विद्यमान नहीं हैं। मैं कैसे कह सकता हूँ कि इसका अस्तित्व है, इसका नहीं है। मैं विस्मय से भरा हुआ हूँ।" 4/1 अवधूत गीता।

"संपूर्ण अद्वैत का सार यह ज्ञान-विज्ञान है कि मैं स्वभाव से ही निराकार, सर्वव्यापी आत्मा हूँ।" 5/1 वही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"इसमें कोई संदेह ही नहीं है कि मैं वह परमात्मा हूँ, जो सबकी निर्मल और शुद्ध आत्मा है आकाश के समान।" 6/1 वही

"वस्तुतः मैं अव्यय, अनन्त, शुद्ध विज्ञान-विग्रह हूँ।" 7/1 वही

"मैं, केवल अकेला मैं ही, यह सब कुछ हूँ आकाश और उसके परे। मैं आत्मा को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में कैसे देख सकता हूँ।" 10/1 वही

स्वामी विवेकानन्द ने भी सहस्त्रद्वीपोद्यान में अपने शिष्यों से कहा था कि आँख सबको देख सकती है किन्तु स्वयं अपने आप को नहीं देख सकती। इसलिए ब्रह्म को देख पाना संभव नहीं है।

तो गीता में ईश्वर तक जाने के दो मार्ग स्पष्ट हैं : पहला शुक्ल मार्ग और दूसरा कृष्ण मार्ग। उनके बहुत सारे लक्षण हैं। लोगों ने उसकी बहुत काल गणना की है; किन्तु शास्त्री जी ने उन्हें स्पष्ट रूप से शुद्ध भक्ति का मार्ग और दूसरा भोग का मार्ग माना है। भक्ति का मार्ग शुक्ल मार्ग है; और भोग का मार्ग कृष्ण मार्ग है। इन दो मार्गों की चर्चा एक लंबी यात्रा के समान है। मार्ग में बहुत सारे सहायक और कठिनाइयाँ हैं।

किन्तु एक छोटा मार्ग भी है, वह सरल भी है। उसपर चलने के लिए कृष्ण कह रहे हैं। वह एक प्रकार से उनका आदेश ही है : "हे अर्जुन, सब समय योगयुक्त रहो। सीमित पुण्य कर्मों से असीम प्रभु की प्राप्ति नहीं होती, अतः इन सीमाओं से ऊपर उठकर असीम प्रभु से युक्त हो जाओ।" इस में सकाम कर्मों की निस्सारता की ध्वनि भी है। बात तो कार्य-कारण की है। असीम कार्य या असीम फल प्राप्त करना है, तो असीम कारण या कर्म भी करना होगा। असीम प्रभु को प्राप्त करने के लिए असीम भक्ति की आवश्यकता होगी। और वह तभी संभव है, जब हम उनके आदेश के अनुसार सदा योगयुक्त रहें। सदा प्रभु में अनुरक्त रहें।

इस सोपान पर आकर एक जिज्ञासा होती है कि जिस प्रभु को प्राप्त करना है, उसका स्वरूप क्या है? शास्त्री जी का अगला प्रवचन ही, "प्रभु का स्वरूप।" ईश्वर के स्वरूप के संदर्भ में हिन्दुओं में एक सामान्य सी उक्ति है कि ईश्वर कण-कण में व्याप्त हैं। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि प्रभु कण-कण के भीतर घुसे हुए हैं और कण को तोड़ कर उनको बाहर निकाला जा सकता है। वस्तुतः अद्वैत वेदांत की मान्यता यह है कि प्रभु किसी वस्तु या पदार्थ के भीतर नहीं हैं। प्रभु ही उस वस्तु या पदार्थ के रूप में प्रकट हुए हैं। किन्तु उनके स्वरूप को जानने के लिए यह जानना भी आवश्यक है कि हमारी जानी हुई सृष्टि में ही प्रभु सीमित नहीं हैं। सत्य यह है कि उनके एक अंश मात्र में यह जगत् स्थित है। कबीर ने इस सारी अवधारणा को अत्यंत स्पष्टता से कहा है :

"जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ, जल जलहिं समाना, यह तत कथों ज्ञानी ॥"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः जब तक हम रूप और स्वरूप का अंतर स्पष्ट नहीं करेंगे, सत्य प्रकट नहीं होगा। जो भक्त है, जिज्ञासु है, वह रूप को देखता है, अतः वह कहेगा।

(क) मया ततमिदं सर्वं (ख) ईशावास्यमिदं सर्वम् और (ग) सर्वं खल्विदं ब्रह्म

उनके स्वरूप को या तो वे स्वयं जानते हैं, या तत्त्वज्ञ ज्ञानी। परमात्मा या तत्त्वज्ञ की दृष्टि से यह सब है ही नहीं। सब माया है। न तो वे प्रकट हुए हैं। न उन्होंने अपना रूप बदला है। यह सब तो जीव की दृष्टि का भ्रम मात्र है। स्वामी विवेकानन्द ने अमरीका में सहस्रद्वीपोद्यान में अपने शिष्यों से कहा था :

"संपूर्ण इंद्रिय ज्ञान एक भ्रांति है। इस तथ्य को भौतिक विज्ञान भी प्रमाणित करता है। हम किसी वस्तु को जिस प्रकार देखते या सुनते हैं, वह वैसी ही नहीं होती। एक विशेष प्रकार का स्पंदन, विशेष प्रकार के परिणाम को उत्पन्न करता है। वह परिणाम इंद्रियों पर अपना प्रभाव डालता है। वही हमारा इंद्रिय ज्ञान है। अतः हम केवल सापेक्षित सत्य जान पाते हैं।"

"सत्य के लिए संस्कृत शब्द है 'सत्'। हमारी वर्तमान दृष्टि से जगत्प्रपंच, इच्छा और ज्ञानशक्ति के प्रकाश के रूप में प्रतीत होता है। सगुण ईश्वर स्वयं अपने लिए, उतना ही सत्य है, जितने हम अपने लिए हैं, इससे अधिक नहीं। ईश्वर को भी उसी प्रकार साकार भाव में देखा जा सकता है, जैसे हमें देखा जा सकता है। जब तक हम मनुष्य हैं, तब तक हमें ईश्वर का प्रयोजन है; हम जब स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाएँगे। तब हमें ईश्वर का प्रयोजन नहीं रह जाएगा। इसलिए श्री रामकृष्ण परमहंस देव उस जगज्जननी को सदां-सर्वदा वर्तमान देखते थे। वे अपने आसपास की सभी वस्तुओं की अपेक्षा, उन्हें अधिक सत्य रूप में देखते थे। किन्तु समाधि की अवस्था में उन्हें आत्मा के अतिरिक्त, और किसी वस्तु का अनुभव नहीं होता था। सगुण ईश्वर क्रमशः हमारी ओर अधिकाधिक आता जाता है, अंत में मानो वह गल जाता है। उस समय न ईश्वर रह जाता है, न 'अंह'। सब उसी आत्मा में लय हो जाता है।"

गोस्वामी तुलसीदास ने इसे इस रूप में कहा है :

"कोउ कह सत्य, झूठ कह कोउ, जुगल प्रबल कर कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम, सो आपौ पहचाने ॥"

अनासक्त भक्ति से ईश्वर के साथ एक हो जाने के पश्चात् द्रष्टा, दृष्टि और दृश्य सब एक हो जाते हैं। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का तादात्म्य हो जाता है। किन्तु जब तक मनुष्य उस स्थिति तक विकसित नहीं होता, तब तक भक्ति का रूप है परम प्रेम। भक्त, ईश्वर पर इतना निर्भर है कि वह मानता है कि वह स्वयं अपने बल पर ईश्वर को नहीं जान सकता। उसके लिए ईश्वर की कृपा आवश्यक है : "सोई जानत, जेहू देहि जनाई।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब प्रभु की कृपा से ही उसको जानना है, तो उसको भजने की विधियों का ज्ञान प्राप्त करना होगा। शास्त्री जी के अगले प्रवचन का शीर्षक है : "प्रभु भजन की विधियाँ।" विधियों से भी पहले वे गीता में बताए गए दैवी और दानवी गुणों की चर्चा करते हैं। भक्त दैवी गुणों से युक्त होता है। दानवी गुण भक्ति की ओर प्रेरित नहीं करते। शास्त्री जी भक्ति के लिए अनिवार्य—अभय से विनय तक—छब्बीस दैवी गुणों की चर्चा करते हैं। ईश्वर भक्ति में दैवी संपदा 'अनन्यता' अत्यंत महत्त्वपूर्ण ही नहीं, प्रायः अनिवार्य है। अनन्य भक्त वह है, जो सारे संसार को अपने प्रभु के रूप में देखता है। अनन्य चित्त तो वही हो सकता है, जो प्रभु के अतिरिक्त और किसी की सत्ता को स्वीकार ही नहीं करता। वह नित्ययुक्त है। नित्ययुक्त रहने की अनेक विधियाँ हैं। पहले कीर्तन की चर्चा आती है। फिर ज्ञान-यज्ञ है। श्रेष्ठ ग्रन्थों का अध्ययन और उनका प्रवचन भी तप है। यह वाणी की तपस्या है। भगवान् का भजन एक ही प्रकार से किया जाए, इसकी बाध्यता सनातन धर्म में नहीं है। भक्ति हो या ज्ञान-यज्ञ, दोनों के द्वारा ही अभेद की प्राप्ति होती है। कबीर ने कहा है :

"मेरा मन सुमिरै राम कूं, मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहि है रहा, सीस नवावौं काहि ॥"

कुछ इसी प्रकार की उक्तियाँ दत्तात्रेय की 'अंवधूत गीता' में मिल जाती हैं, जहाँ वे कहते हैं कि मेरे सिवाय यहाँ और है ही कौन? मैं किसको नमन करूँ? रामकृष्ण परमहंस भी पूजा करते हुए अनेक बार माँ को पुष्प अर्पित करते हुए, उन पुष्पों को अपने ही शीश पर डाल लेते थे। माँ को अर्पित किया जाने वाला प्रसाद भी स्वयं खा लेते थे।

किन्तु उस स्थिति तक पहुँचने से पहले भक्ति की आवश्यकता को गीता भी रेखांकित करती है और शास्त्री जी भी उस पर बल देते हैं। प्रभु से कोई भी संबंध जोड़ कर उनकी भक्ति की जा सकती है। वे कहते हैं, "जो संबंध तुम राम से जोड़ना चाहो, जोड़ो; किन्तु फिर उसपर अटल रहो।" अंततः सारे रास्ते वहीं ले जाते हैं।

किन्तु फिर भी शास्त्री जी का कहना है कि समर्पण के बिना भक्ति नहीं होती। ध्यातव्य है कि गीता के सिद्धांतों को स्पष्ट करने के लिए शास्त्री जी, प्रायः उदाहरण रामचरितमानस से देते हैं। उससे वह सिद्धांत तो स्पष्ट होता ही है, साथ में यह बात भी ध्यान में आती है, गीता और रामचरितमानस के प्रतिपाद्य में कोई विशेष अंतर नहीं है। जिन भी सिद्धांतों की चर्चा दोनों में है, वहाँ बिंब-प्रतिबिंब भाव है, या पूर्ण तादात्म्य है। प्रायः समर्पण के लिए भी शास्त्री जी ने रामचरितमानस से ही उदाहरण दिए हैं :

1. गुरु पितु मातु न जानउँ काहू, कहहूँ सुभाउ नाथ पतिआहू।
जहँ लगि जगत् सनेह सगाई, प्रतीति प्रीति निगम निज गाई।
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी, दीनबंधु उर अंतरयामी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2. सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामी भगवंत ॥

और गीता में श्रीकृष्ण उस भक्त के विषय में अपनी ओर से आश्वासन दे रहे हैं : "तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।"

भक्ति को एक प्रकार का कर्म मान लिया जाए तो वह भी कर्म के समान ही सकाम और निष्काम हो जाती है। सांसारिक सुख की कामना सकाम भक्ति है; और स्वयं ईश्वर को पाने की कामना, निष्काम भक्ति है। सकाम भक्ति के लिए, लोग प्रतिदिन नए से नए देवता की खोज करते रहते हैं। विभिन्न देवी-देवताओं, संतों-फकीरों की अपने-अपने प्रकार की प्रसिद्धि है। लोग उनसे उसी प्रकार की कामनाएँ करते हैं। उनके मन में यह विचार नहीं आता कि जब वे अपनी कामनापूर्ति के लिए नए से नए देवता के द्वार पर माथा टेकते हैं तो वे अब तक पूजे गए देवताओं का तिरस्कार भी करते हैं। शास्त्री जी इस बात को रेखांकित करते हैं कि श्रीकृष्ण स्वयं यह कहते हैं कि वे किसी भी भक्त की उसके अपने प्रिय देवता के प्रति आस्था को न तो निर्बल करते हैं न नष्ट। वे उसे पुष्ट ही करते हैं, क्योंकि उस देवता के माध्यम से वह भक्ति पुनः स्वयं श्रीकृष्ण तक ही पहुँचती है। फिर भी शास्त्री जी भक्ति की अनन्यता के उदाहरण स्वरूप तुलसीदास की पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं : "देहि मा मोहि पन प्रेम यह नेम निज, राम-घनश्याम तुलसी-पपीहा।" तथा, "माँगत तुलसीदास कर जोरे, बसहिं रामसिय मानस मोरे।" इन तथा ऐसी ही अन्य पंक्तियों में तुलसीदास किसी भी देवी-देवता की स्तुति करें, किन्तु वे उनसे रामभक्ति ही माँगते हैं।

अगला प्रवचन अविकंप योग है। श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में, ब्रह्मविद्या के परिधान में योगशास्त्र ही प्रकट हुआ है। इस प्रसंग में शास्त्री जी 'योग' का अर्थ 'भगवान् से जोड़ने की युक्ति' स्वीकार करते हैं।

यहाँ शास्त्री जी ने एक महत्त्वपूर्ण अर्थ को उद्घाटित किया है। गीता के 'विभूति योग' में भगवान् ने कहा है कि मैं वृक्षों में अश्वत्थ हूँ तो हम लोग पीपल की पूजा करने लगते हैं : किन्तु शास्त्री जी ने इस सारे विभूति-योग को एक मौलिक रूप में प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं, "विभूति अर्थात् विशेष भावना। इस संसार में जो विभूतियाँ हैं, उन्हें हम समझ लें। भगवान् के विशेष रूप का अनुभव कर लें। भगवान् की क्षमता, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य इत्यादि का जहाँ विशेष रूप से अनुभव होता है, वह विभूति है। योग भगवान् का स्वरूप है, विभूति भगवान् का रूप है। जल योग है और बर्फ विभूति है।" स्पष्ट है कि पीपल की पूजा करने से हम भगवान् के शब्दों को ठीक नहीं समझ रहे। ब्रह्म प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त ही नहीं है, ब्रह्म ही उस रूप में हमारे सम्मुख हैं। वृक्षों में वे ही हैं; किन्तु जहाँ विशेष शक्ति दिखाई देती है, और उसका रूप सात्विक है, वह ब्रह्म की विभूति है। इस तर्क को हम समझ जाएँ तो इस सृष्टि में ब्रह्म को देख पाने की हमारी क्षमता बढ़ जाएगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ मुझे हरिद्वार के स्वामी दयानन्द सरस्वती की एक बात स्मरण हो आती है। वे कहते हैं कि यदि हम भौतिकशास्त्र का अध्ययन करते हैं, तो हम कोई सांसारिक विज्ञान नहीं पढ़ रहे, हम ब्रह्म का मस्तिष्क ही पढ़ रहे हैं। यह इसलिए है, क्योंकि ब्रह्म ही इस सृष्टि के निमित्तोपादान कारण हैं। निमित्त और उपादान कारण–वे दोनों ही हैं। जब अधिष्ठान कारण भी वे ही हैं, तो सारे वृक्षों के रूप में वे ही हैं; किन्तु अश्वत्थ में उनकी विशेष विभूति प्रकट हुई है। शास्त्री जी ने गुरु गोविंदसिंह के संदर्भ में उनके एक शिष्य की असाधारण रूप से सुंदरी कन्या की कथा दी है। गुरु ने उस कन्या को देखा और कहा कि भगवान् कितने सुंदर हैं। वह भगवान् का सौन्दर्य है, भगवान् की विभूति है। इस प्रकार हम संसार की प्रत्येक श्रेष्ठ वस्तु में भगवान् के दर्शन कर सकते हैं। जब सब ओर वह ही है, सारा रूप और सारी शक्ति उसी की है तो भगवान् का कहना उचित ही है, "तुम अपना मन मुझ में लगा दो, अपना प्रेम मुझे दो, मेरा यजन करो, मुझको नमस्कार करो। तुम निश्चय ही मुझे प्राप्त करोगे।"

इसी समर्पण को 'अविकंप योग' भी कहा गया है। वह योग जो किसी भी स्थिति में, किसी भी प्रलोभन, भय, घृणा-क्रोध की स्थिति में विचलित न हो। मृत्यु के समय भी। गीता की मान्यता है कि 'भक्ति' और 'ज्ञान' में कोई भेद नहीं है। इसलिए इस प्रकार के समर्पण और अविकंप योग की स्थिति में भक्त को ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है। यह भक्ति के मार्ग से ज्ञान तक पहुँचना है।

अगला प्रवचन विभूतियोग का पहला खंड है। यह प्रवचन ज्ञान-मार्ग से प्रभु-प्राप्ति की चर्चा करता है। ज्ञानप्राप्ति के लिए श्रद्धा, उद्यम, और इंद्रिय संयम अनिवार्य शर्तें हैं। केनोपनिषद् का समापन प्रसंग है : गुरु सारा उपनिषद् कह चुके तो शिष्य कहता है, "गुरुवर! मुझ से उपनिषद् कहिए।" गुरु हंस कर कहते हैं, "वत्स! तुम से उपनिषद् ही कहा है; किन्तु इसको समझने का आधार है तप, दम, और निष्काम कर्म। उसका आयतन है, सत्य। यदि सत्य का ही पालन नहीं होगा तो वह ब्रह्म विद्या कैसे समझ में आएगी।" इसी संदर्भ में शास्त्री जी की स्थापना है कि गुरु के प्रति विनय, परिप्रश्न का अधिकार, सेवा का भाव आवश्यक तत्त्व हैं। गीता में अर्जुन ने पहली बार यहाँ कृष्ण को ब्रह्म कहा है : "परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।" भक्ति में भी ऐसा ही समर्पण है और ज्ञान प्राप्ति के लिए भी गुरु के प्रति वैसा ही समर्पण है। और यहाँ तो स्वयं भगवान् ही गुरु हैं। इसीलिए कृष्ण को परम गुरु कहा जाता है। कृष्ण कहते हैं : "जो मेरी विभूति को, जो मेरे योग को तत्त्वतः जान जाएगा, वह अविकंप योग से मुझ से युक्त हो जाएगा।" यही तो भक्ति का भी परिणाम है। विभूति-योग कहता है कि इस संसार में जो कुछ भी जड़-चेतन है, उसको परमात्मा से आच्छादित कर दो। परमात्मा उसमें है, यह समझ लो। और कृष्ण अर्जुन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से कहते हैं कि तुमने पूछा है कि मैं किस रूप में चिंतन करूँ। तुम्हारे ही अंतःकरण में जो प्रत्यगात्मा (सबसे भीतर आत्मा) है, वही मैं हूँ। तुम्हारे भीतर आत्मा के रूप में मैं स्थित हूँ। उसी के रूप में मेरा चिंतन हो तो अच्छा है।

शास्त्री जी ने योग और विभूति को कई प्रकार से परिभाषित किया है। एकता में विविधता को प्रकट कर देना, विभूति है; और सारी विविधता में एकता को देख लेना योग है। एक अनेक बन जाता है, और उस अनेक में एक को देखने की क्षमता योग है। जुड़ने की क्षमता योग है और उस अनेक रूपों में उस एक को पहचानने की क्षमता विभूति है। गीता में 73 विभूतियाँ बताई गई हैं।

अगला प्रवचन विभूति योग का दूसरा खंड है। शास्त्री जी कहते हैं, "हम बातें कर रहे हैं, इस कमरे में। यहाँ भी राम जी हैं। इस बात को निरूपित करना अलग बात है और उसे हृदय से ग्रहण करना और बात है। हमारे पुरखों ने उसे ग्राह्य बनाने के लिए, कैसी-कैसी युक्तियाँ खोजी हैं, पहले उसको समझें तो फिर विभूतियोग ठीक से समझ सकेंगे।"

केवल यह वक्तव्य दे देने से कि कण-कण में ईश्वर है, साधारणतः हम उसके सत्य को ग्रहण नहीं कर पाते। अतः आवश्यक हो जाता है कि कुछ ऐसी विधियाँ अपनाई जाएँ कि यह सत्य कुछ मुखर हो कर सामने आए और हम उसे ग्रहण कर पाएँ। इसका पहला उदाहरण तो मंदिर ही है। प्रभु सारी सृष्टि में व्याप्त हैं। हमें उनका कहीं आभास हो न हो; मंदिर में प्रवेश करते ही हम सावधान हो जाते हैं कि यह प्रभु का घर है। वैसे ही तीर्थों का निर्माण हुआ। कभी-कभी उसके पीछे कोई विशेष घटना भी होती है। जगन्नाथपुरी में समुद्र को लहराता देख चैतन्य महाप्रभु को आभास हुआ कि यह तो मेरे कृष्ण हैं और वे उसमें कूद पड़े। उसी प्रकार किसी विशिष्ट दिवस को महत्त्वपूर्ण बनाया जाता है। दिन तो सामान्य ही होता है, किन्तु वह किसी का जन्मदिवस होता है, तो वह उसके लिए विशिष्ट हो जाता है। प्रभु स्मरण की दृष्टि से रामनवमी, जन्माष्टमी, शिवरात्रि, एकादशी, पूर्णिमा इत्यादि महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। उन विशिष्ट दिनों में प्रभु का स्मरण न हो, ऐसा संभव ही नहीं है।

अर्जुन का प्रश्न है कि मैं किस-किस रूप में तुम्हारा चिंतन करूँ। भगवान् ने विभूति के रूप में प्रायः प्रत्येक स्थान, वनस्पति, जीव-जंतु, देवी-देवता के रूप में अपना परिचय दे दिया। भक्त तो प्रकृति का सुंदर रूप देखते ही भगवान् को स्मरण करने लगता है। हमारी प्रवृत्ति भगवान् की ओर हो तो श्यामल मेघ देखते ही उनका स्मरण हो आता है। हिमालय के शिखरों को देखते ही प्रभु की महिमा साक्षात् होने लगती है। गंगा की धारा का स्पर्श होते ही, जैसे दिव्यता हमारे सामने आ खड़ी होती है। तभी समझ में आता है कि प्रभु हमारी प्यास बुझाने को मेघ बनकर बरसते हैं। हमारी भूख मिटाने को अन्न के रूप में धरती फोड़ कर उगते हैं। सृष्टि को ऊर्जा देने को सूर्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनकर तपते हैं। इसी संदर्भ में शास्त्री जी स्पष्ट करते हैं, "मेरे इष्टदेव राम हैं, उनके साथ सहज ही मेरा तादात्म्य होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि और रूपों में ईश्वर नहीं हैं जहाँ भी जो कुछ भी श्रेष्ठ है, उसके माध्यम से हमें प्रभु से जुड़ना चाहिए।"

एकेश्वरवाद इस सत्य को स्वीकार नहीं कर सकता। यही कारण है कि शास्त्री जी ने यहाँ एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद का अंतर भी स्पष्ट कर दिया है।

विभूतियों की चर्चा के पश्चात् विश्वरूप दर्शन का उल्लेख स्वतः आ जाता है। भगवान् ने कहा कि जो मेरे योग और मेरी विभूति को तत्त्वतः समझ लेता है, उसको अविकंप भक्तियोग की प्राप्ति होती है। अपने स्वरूप की चर्चा करते हुए उन्होंने बताया कि मैंने इस सारे संसार को नियंत्रित कर अपने एक अंश द्वारा यह स्वरूप धारण कर रखा है। स्वभावतः यह जानने के पश्चात् अर्जुन ने उस रूप को देखने की इच्छा प्रकट कर दी। इस संदर्भ में शास्त्री जी ने दो शब्दों का विशेष रूप से विश्लेषण किया है– 'कृपा' और 'अनुग्रह'। कृपा अहेतुकी होती है; और अनुग्रह, किसी ग्रहण के पश्चात् होता है। जिसने मुझ को ग्रहण किया है, उसपर मैं अनुग्रह करता हूँ। वे अपने मित्र पर कृपा तो कर ही रहे थे। अब अपने भक्त पर अनुग्रह भी कर दिया।

यहाँ शास्त्री जी ने एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अवधारणा को स्पष्ट किया। "भगवान् का विश्वरूप, उनका निर्विकल्प निराकार रूप नहीं है। यह मायामय जगत्-रचयिता का समग्र रूप है।" भगवान् ने कहा, "मैं सारी सृष्टि में जिस रूप में व्यक्त हूँ, उसको एकत्र, एक स्थान पर देखो।" यह चर्चा वेदों के 'पुरुष सूक्त' के ही अनुरूप है। इस रूप को देखने के लिए भगवान् ने अर्जुन को दिव्य चक्षु दिए।

'चर्म चक्षु' और 'दिव्य चक्षु' हमारे लिए परिचित संज्ञाएँ हैं। शास्त्री जी ने यहाँ 'ब्रह्म चक्षु' अथवा 'ब्रह्म दृष्टि' की चर्चा भी की है। उन तीनों का अंतर स्पष्ट करते हुए, उन्होंने कहा है कि चर्म चक्षु वे हैं, जिनसे हम स्वाभाविक संसार में अनेक को देखते हैं। पृथक्-पृथक् देखते हैं। दिव्य चक्षु वे हैं, जिनसे अनेक, एक ही स्थान पर दिखाई देते हैं। संसार की यह अनेकता एक ही में दिखाई देती है। ब्रह्म दृष्टि अथवा ब्रह्म चक्षु वे हैं, जिनसे दिखता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जीव की दृष्टि से यह सारा सृष्टि का ही पसारा है। दिव्य दृष्टि होती है, तो सब को, अलग-अलग को, एक ही में देख लेती है, प्रत्यक्ष। अनुमान या ज्ञान से समझ लेना कि वही प्रभु सभी में व्यक्त हो रहे हैं, यह एक प्रकार का विकसित बुद्धि-वैभव है। किन्तु उसको प्रत्यक्ष देख लेना कि एक ही में सब कुछ है, दिव्य दृष्टि है। ब्रह्म दृष्टि अथवा आत्म दृष्टि से देखने पर, ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी प्रकार का कोई अस्तित्व है ही नहीं।

यह सारा जगत् ब्रह्म के एकांश में ही स्थित है। इस ब्रह्मांड के बाहर भी ब्रह्म है। वह सारा का सारा यहीं व्यय नहीं हो गया है।

अर्जुन ने जो माँगा, प्रभु ने उसे दिखा दिया। इसलिए शास्त्री जी का अगला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवचन है : 'विश्वरूप दर्शन की अनुभूति।' उस विश्वरूप को देख कर अर्जुन प्रसन्न नहीं हुआ। उसकी व्यथा और व्याकुलता स्पष्ट है। वह व्यथित क्यों है, का स्पष्टीकरण करते हुए शास्त्री जी ने कहा है, "अर्जुन ने जो माँग लिया और भगवान् ने जो उसे दे दिया, वह उसकी क्षमता से अधिक था। वह उसे सहन नहीं कर सका।" शास्त्री जी ने यह चेतावनी भी दी है कि अपनी क्षमता से अधिक नहीं माँगना चाहिए। उस विश्वरूप की जो विशेषताएँ शास्त्री जी ने स्पष्ट की हैं, उनका समाहार संक्षेप में करें तो वह अद्भुत है। एक ही समय में अर्जुन 'निर्गुण-निराकार', 'सगुण-निराकार' तथा 'सगुण-साकार' को प्रत्यक्ष देख रहा है। इन तीनों रूपों के साथ वह तीनों लोकों और तीनों कालों को भी एक साथ देख रहा है। वर्तमान में खड़ी हुई सेनाओं और भविष्य में महाकाल के चबाए जाते हुए भीष्म और द्रोण को भी देख रहा है। वह विस्मय के पश्चात् भय प्रकट करता है। भगवान् से प्रार्थना करता है कि वे अपना मधुर रूप दिखाएँ।

मधुर रूप दिखाने से पहले भगवान् कुछ अवधारणाओं को स्पष्ट करते हैं। वे अर्जुन को निमित्त भर बनने को कहते हैं। इसी संदर्भ में शास्त्री जी ने निमित्त की धारणा और प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। वस्तुतः चर्चा किए बिना ही भगवान ने यहाँ ऋत् के नियम की प्रक्रिया को स्पष्ट कर दिया है। कर्म सिद्धांत भी उसका एक अंग है। आतताई अपने पाप से मारा जाता है। हमारा जन्म, मृत्यु और जीवन की परिस्थितियाँ और घटनाएँ हमारे अपने कर्मों के परिणाम-स्वरूप निर्धारित होती हैं। यहाँ भी सामने खड़े योद्धा महाकाल द्वारा नष्ट किए जा चुके हैं। अब स्थूल रूप से उस कार्य को संपादित करने का निमित्त कोई भी बन जाए। भगवान् ने कहा, "मैं महाकाल हूँ और इस समय इस लोक के विनाश की ओर अग्रसर हूँ।" तो वह विनाश तो होना ही है, अर्जुन युद्ध करे या न करे। "तुम युद्ध करो न करो, दोनों सेनाओं के वीर काल-कवलित हो चुके हैं। मैं उनका वध कर चुका हूँ। तुम निमित्त मात्र बनो और यश पाओ।"

यहाँ भगवान् अर्जुन से यह नहीं कह रहे कि तुम इन्हें मारो या यह कर्म करो। वे कह रहे हैं कि तुम स्वयं को कर्ता मत मानो, तुम निमित्त बनो। स्वयं को कर्ता मानोगे तो निमित्त नहीं बन पाओगे। निमित्त और कारण में अंतर है। निमित्त अर्थात् भगवान् के हाथ का यंत्र। रामकृष्ण परमहंस ने कहा, "आमि जंत्र, तुमि जंत्री।" अतः हमें निमित्त बनने की योग्यता अर्जित करनी होगी। निमित्त की योग्यता साधारण नहीं है। उसके लिए कर्ता के अहंकार, स्वतंत्रता के अहंकार का त्याग करना पड़ता है, जो सरल नहीं है। उसके लिए संपूर्ण समर्पण करना पड़ता है। जब हम समर्पण करते हैं तो प्रभु अपनी इच्छानुसार हम से काम लेते हैं :

"उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत रामु गोसाईं ॥"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक उदाहरण उन्होंने और भी दिया है कि जब भक्त पूर्णरूपेण समर्पित हो जाता है, तो ईश्वर उसकी सारी पीड़ा भी स्वयं ही सहन करते हैं। मेघनाद के शक्तिप्रहार के पश्चात् जब लक्ष्मण की मूर्च्छा टूटती है, तो वे अपने घाव की पीड़ा के विषय में कहते हैं : "घाव हृदय मेरे, पीर रघुबीरे।" इसी संदर्भ में एक और महत्त्वपूर्ण बात की ओर शास्त्री जी ने संकेत किया है। "निमित्त बनने का अर्थ निकम्मा बनना नहीं है। निमित्त का अर्थ है, कर्ता का अहंकार छोड़ कर अपने चरम पौरुष का प्रदर्शन करना।" सचमुच यह बड़ा संकट है। स्वयं को निमित्त मानकर अथवा स्वयं को ईश्वर पर आश्रित मान कर यदि व्यक्ति निष्क्रिय हो कर बैठ जाए, तो गीता का सारा कर्म का उपदेश ही व्यर्थ हो जाएगा। आरम्भ में ही कृष्ण ने कहा है, "अकर्म में तेरी प्रीति न हो।" इसीलिए शास्त्री जी कहते हैं कि व्यक्ति अपना चरम पौरुष प्रदर्शित करे। बस, कर्ता का अहंकार उसके मन में न आए। शास्त्री जी कहते हैं, "भगवान् की शक्ति हम पर, आप पर उतरे; किन्तु यह तभी संभव है, जब हम अपनी शक्ति का अहंकार छोड़ दें।" कर्म छोड़ दें, ऐसा वे नहीं कहते।

अर्जुन ने एक प्रकार से भगवान् को प्राप्त कर लिया; अतः यह आवश्यक हो जाता है कि भगवत्प्राप्ति के साधनों पर विचार कर लिया जाए। शास्त्री जी आरम्भ में ही कह देते हैं कि "अपनी पात्रता से अधिक नहीं माँगना चाहिए।" कारण स्पष्ट है। एक तो पात्रता से अधिक मिलता नहीं, मिल जाए तो अर्जुन के समान भगवान् से प्रार्थना करनी पड़ती है कि वे उसे लौटा लें। इसी संदर्भ में उन्होंने विराट रूप संबंधी कुछ चर्चा भी की है। वे कहते हैं कि "भगवान् ने अपने विराट रूप के दर्शन कुछ और अवसरों पर भी दिए हैं; किन्तु कहीं भी इस प्रकार दोनों सेनाओं के काल के गाल में समाते नहीं दिखाया है। और पहली बार अर्जुन को ही यह प्रतीति हुई कि यह भगवान् का विराट रूप है।" अर्जुन को ही यह प्रतीति क्यों हुई? "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।" आत्मा बलहीन के द्वारा प्राप्त नहीं होती। अर्थात् बलहीन को आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। स्वामी विवेकानन्द ने भी बार-बार कहा कि हमें बल की आवश्यकता है। हमें सशक्त शरीर चाहिए; सशक्त मस्तिष्क चाहिए और सशक्त आत्मा चाहिए। निर्बल को कुछ भी प्राप्त नहीं होता। हम कैसे शाक्त हैं, यदि हम शक्ति का महत्त्व ही न पहचानें। वह गीता का ही संदेश है। स्वामी जी के विषय में एक घटना प्रायः सुनाई जाती है। शारीरिक रूप से दुर्बल एक युवक उनके पास गीता पढ़ने की अभिलाषा ले कर गया। स्वामी जी ने उससे कहा कि गीता पढ़ने से अच्छा है कि वह फुटबॉल खेले। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि गीता पढ़ने से फुटबॉल खेलना श्रेयस्कर है, वरन् इसका अर्थ इतना ही है कि शक्तिविहीन युवक को गीता पढ़ने का कोई लाभ नहीं है। पहले वह सशक्त बने, तब गीता का अध्ययन करे, ताकि उसके संदेश को आत्मसात करने में समर्थ हो सके।

तो बात ईश्वर प्राप्ति के साधनों की थी। स्वामी विवेकानन्द, आदि शंकराचार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की एक उक्ति को प्रायः स्मरण करते थे कि ईश्वर को प्राप्त करने के लिए तीन सुयोग आवश्यक हैं–मनुष्य का जीवन। ईश्वर प्राप्ति की तीव्र इच्छा। किसी सक्षम गुरु का संपर्क। शास्त्री जी ने इस तीनों बातों को ठीक उसी रूप में स्वीकार कर लिया है। ईश्वर प्राप्ति के लिए सामान्य जन प्रायः जिन साधनों को आवश्यक मानता है, भगवान् ने स्वयं ही उसका निषेध कर दिया है, "न वेद से, न तपस्या से, न दान से, न यज्ञ से, मुझे देखा जा सकता है।" वस्तुतः कहा यह जा रहा है कि ये सारे साधन सकाम हैं। सकाम क्रिया से सीमित फल होता है; अतः सकाम क्रिया से असीमित ईश्वर को प्राप्त नहीं किया जा सकता। अंततः वे अर्जुन को ईश्वर-प्राप्ति का मूल मंत्र बताते हैं, "हे परंतप अर्जुन, केवल अनन्य भक्ति से ही इस प्रकार मुझ को जानना, मुझ को देखना और मुझ में प्रवेश कर जाना संभव है।" और अनन्य भक्ति का अर्थ है : अपनी क्षमता से प्रभु को प्राप्त करने के अहंकार का त्याग। वे कहते हैं, "मुझ को परम मानो। मेरे आश्रय में आओ। मुझ पर निर्भर करो। अपनी क्रिया, अपनी बुद्धि और अपना प्रेम मुझ को दे दो।"

इस सोपान–भक्ति-योग–तक आने के लिए कुछ विधियाँ होनी चाहिए। उन विधियों के रूप में वे संगवर्जितः–अनासक्त होने, सारे जीवों के प्रति निर्वैर होने, ज्ञान से अपने पापों–कर्म बंधन को धो डालने का उल्लेख करते हैं। ऐसे लोग निर्गुण, निराकार ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं। वे सतत युक्त हैं। उनकी श्रद्धा में किसी भी स्थिति में, कभी भी दरार नहीं पड़ती।

उपासना की विधियों में सबसे बड़ा प्रश्न सगुण उपासना और निर्गुण उपासना का है। गीता का कहना है कि विधियाँ चाहे भिन्न हों किन्तु उनका लक्ष्य एक ही है; और परिणाम भी एक ही होता है। वस्तुतः हिन्दू धर्म का मूल मंत्र ही यह है कि ईश्वर को प्राप्त करने का कोई एक ही मार्ग नहीं है। शिकागो की धर्म संसद में अपना परिचय देते हुए स्वामी विवेकानन्द ने शिव महिम्न स्तोत्र का पाठ किया था, "विभिन्न स्रोतों से निकल कर अंततः समुद्र में मिलने वाली नदियों के समान हे प्रभो, भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न कुटिल अथवा सरल मार्गों से जाने वाले लोग अंत में आकर तुझ में ही मिल जाते हैं।" गीता में कृष्ण इसी के समकक्ष कहते हैं, "हे अर्जुन, जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ; क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं।"

मुझे लगता है कि भक्ति की विधि से अधिक महत्त्वपूर्ण है, भक्त के लक्षण। शास्त्री जी ने भी उसे पूरा महत्त्व दिया है। उनका अगला प्रवचन है–भक्तों के लक्षण। उसमें सब से चौंकाने वाली बात यह है कि वे भक्त और भगवान् में एक प्रकार का पूर्ण साम्य बता रहे हैं, "संत में और भगवान् में तनिक सा भी अंतर नहीं है। भगवान् और भक्तों के लक्षणों का साम्य, इस बात को रेखांकित करता है कि वे संत भगवन्मय हो चुके हैं। तो संत भगवन्मय नहीं हैं, उनके ऐसे लक्षण नहीं होंगे।" वे यह भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकार करते हैं कि ये लक्षण स्थितिप्रज्ञ और त्रिगुणातीत ज्ञानी के लक्षणों से बहुत मिलते हैं। इसका अर्थ है कि भगवन्मय हुए बिना कोई स्थितप्रज्ञ और त्रिगुणातीत ज्ञानी हो ही नहीं सकता। ये चार प्रकार के भक्तों में से केवल ज्ञानी भक्तों के लक्षण हैं। किन्तु साथ ही साथ वे यह भी स्वीकार करते हैं कि अपनी पराकाष्ठा में कर्म-योग, ज्ञान-योग और भक्ति-योग एक ही हो जाते हैं। इसका अर्थ है कि उस सोपान तक पहुँचते-पहुँचते सारे भक्त ज्ञानी भक्त हो जाते हैं। यह सिद्धांत साधक भक्तों पर लागू नहीं होता, केवल सिद्ध भक्तों के विषय में ही यह कहा जा सकता है। जब भक्त, भगवन्मय हो गया, वह भगवान् में प्रवेश कर गया, तब ही भक्त और भगवान् के लक्षण एक हो सकते हैं।

पहला लक्षण अद्वेष्टा होने का है। भक्त किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष नहीं रखता। हम जानते हैं कि भगवान् भी किसी से द्वेष नहीं करते। यदि ईश्वर के विषय में कहा जाए कि वह उक्त-उक्त प्रकार के लोगों से द्वेष करता है, तो निश्चित रूप से यह भगवान् के लक्षणों को ले कर भ्रम की स्थिति है। सर्वभूतानाम मैत्रः। भक्त सब प्राणियों का मित्र है। यह लक्षण भी भगवान् का ही है, और पहले लक्षण का पूरक ही है। जो मित्र है, वह द्वेष नहीं करेगा और जो द्वेष नहीं करेगा, वही मित्र हो सकता है। भगवन्मय हो जाने के पश्चात् भक्त दुखी नहीं रहता। वह स्वयं को दुखी नहीं मानता। इसलिए अन्य लोगों को स्वयं से अधिक दुखी मानकर, करुणा से प्रेरित होकर उनके दुख का निवारण करने का प्रयत्न करता है। उसकी करुणा में आसक्ति का भाव नहीं है। वह पूर्णतः निर्भय होता है : भय काहू को देत नहीं, नहिं भय मानत आप। न संसार से उद्विग्न होता है, न संसार को उद्विग्न करता है। वह असंग, अनासक्त, निर्वैर, निर्मम, निरहंकार, सुख-दुख में समान, क्षमी, निर्लोभ, यतात्मा दृढ़निश्चय, संयमी, तितिक्षु, अनपेक्ष होता है। शास्त्री जी ने इस संदर्भ में दो सुंदर पंक्तियों को उद्धृत किया है :

"चाह गई, चिंता मिटी, मनुवा बेपरवाह। जिनको कछू न चाहिए, सोई शाहंशाह।"

भक्त का एक बड़ा गुण शुचिता भी है। किन्तु शास्त्री जी ने 'अर्थ-शुचिता' पर विशेष वल दिया है। शरीर की शुचिता तो अपने स्वास्थ्य अथवा बाहरी प्रदर्शन के लिए है। प्रायः देखा जाता है कि अर्थ का लोभ मन की शुचिता का तत्काल हरण कर लेता है। दक्ष, उदासीन, सर्वारंभपरित्यागी, तुल्यनिंदास्तुति, मौनी, अनिकेत, स्थिरमति आदि भी उसके गुण हैं। यदि इन सब का विश्लेषण किया जाए, तो हम पाएँगे कि ये सब प्रायः एक-दूसरे पर निर्भर हैं; और एक ही गुण के विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करते हैं। मूल बात इतनी ही है कि यदि मन प्रभु से युक्त हो गया तो सांसारिकता का तनिक भी मोह नहीं रह जाता और मनुष्य इन गुणों को अर्जित करता जाता है।

शास्त्री जी ने 'अहं' और 'अहंकार' का भेद करना भी आवश्यक समझा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अहं', अमर्त्य, शुद्ध-बुद्ध आत्मस्वरूप है। इसीलिए कहा गया 'अहं ब्रह्मास्मि।' व्यक्ति का अहंकार ब्रह्म नहीं है। प्रकृति के कारण जिसमें अहं-बुद्धि आई है, वही अहंकार है। अहंकार के शास्त्री जी ने सात कारण गिनाए हैं– कुल, धन, ज्ञान, सौन्दर्य, शौर्य, दान, और तपस्या। ये सब अच्छे गुण हैं; किन्तु अहंकार इनका भी नहीं होना चाहिए। अहंकार इन सारे गुणों को नष्ट कर देता है।

एक महत्त्वपूर्ण बात और है। ये गुण ऐसे महिमावान हैं कि वह व्यक्ति भगवान् को माने या न माने, किन्तु उसमें ये गुण हैं तो वह भक्त है। भक्त है, अर्थात् वह भगवन्मय है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिकतावादी भारतीय बौद्धिकों की बौद्धिक भ्रान्ति की पराकाष्ठा : दर्शन के क्षेत्र में फैला अज्ञान

रामेश्वर मिश्र पंकज*

किसी समाज में यदि दर्शन के क्षेत्र में प्रतिष्ठित लोगों में भी बौद्धिक भ्रान्ति की प्रधानता दिखे तो यह इस तथ्य का सूचक है कि उस समाज के प्रतिष्ठित वर्ग में बौद्धिक भ्रान्ति की पराकाष्ठा हो चुकी है और जिन लोगों में बौद्धिक तेजस है, उन्हें यह प्रतिष्ठित वर्ग योजनापूर्वक अथवा स्वभाव विवश होकर उचित महत्त्व पाने से वंचित रखता है। क्योंकि यदि किसी तेजस्वी बौद्धिक को उचित महत्त्व मिल जाए तो वह अपनी प्रखरता और प्रशान्त तेजस्विता से बौद्धिक तमस को उड़ा देगा। उससे अन्ततः सभी का कल्याण होगा। परन्तु भ्रान्त लोग भ्रांति के विलोप की सम्भाव्यता से भी भयभीत होते हैं क्योंकि बौद्धिक होने के नाते कहीं उन्हें इतनी बोध प्रतीति तो होती ही है कि भ्रान्ति का यह ताना-बाना ही उन्हें सुख-सुविधाएँ दे रहा है, इसके हटने पर अभी के पोषक समर्थ जन अपना संरक्षण हटा सकते हैं। तब पुरस्कार-सम्मान, पद-प्रतिष्ठा, विदेश-भ्रमण, दरस-परस, स्वाद, गंध, भोग आदि जो सुलभ है, वह दुर्लभ हो जाने का शायद भय हो। अस्तु।

यहाँ हम दर्शन के क्षेत्र के दो लेखकों का उल्लेख करेंगे। एक वृद्ध एवं अतिप्रतिष्ठित थे—कुछ समय पूर्व देहान्तपूर्वक लोकान्तर या जन्मातर को प्राप्त हुए। दूसरे उत्साही युवा हैं, दार्शनिक तो हैं ही, दर्शन की एक श्रेष्ठ पत्रिका के प्रबन्ध-सम्पादन से भी जुड़े हैं और हाल ही में अखिल भारतीय दर्शन परिषद की स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष में स्वातन्त्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण पर प्रकाशित तीन समृद्धखंडों के सम्पादक भी हैं। ये तीन खण्ड विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर ने छपे हैं। इस युवा सम्पादक दार्शनिक का नाम है—श्री अम्बिकादत्त शर्मा और दिवंगत वृद्ध दार्शनिक का नाम

* प्रो. रामेश्वर मिश्र पंकज, भारत के एक दर्शन-अध्येता; भारत भवन, भोपाल के पूर्व न्यासी सचिव; भारत सरकार के संस्कृति विभाग के पूर्व परामर्शदाता; वर्तमान में मध्यप्रदेश शासन की निराला सृजनपीठ के निदेशक हैं। *पता : सी-165, प्रोफेसर कॉलोनी, भोपाल-462002*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है—श्री दयाकृष्ण। श्री दयाकृष्ण भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद के पदाधिकारी रहे थे, विश्वविद्यालयों में दर्शन के पाठ्यक्रमों के निर्धारण में उनका प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रभाव रहा था और भारत के दार्शनिक अध्यापकों की मण्डली में वे समादृत थे।

प्रारम्भ वयोवृद्ध दार्शनिक से करना उचित होगा। उक्त तीनों खण्डों में से प्रथम खण्ड का पहला ही लेख श्री दयाकृष्ण का है जिसका शीर्षक है—'भारतीय सभ्यता के योग्य पुरुषार्थ : बौद्धिक परम्पराओं का भविष्य।' पाठकों से पुनः मेरा निवेदन पूर्वक स्पष्टीकरण है कि इस लेख में उक्त पुस्तकों की यहाँ समीक्षा नहीं की जा रही है अपितु उनके माध्यम से दो दार्शनिकों के विचारों में व्याप्त बौद्धिक भ्रान्ति को स्पष्ट किया जा रहा है ताकि दर्शन के क्षेत्र में प्रतिष्ठित वर्ग में व्याप्त भ्रान्ति का पर्याप्त संकेत हो सके। हमने उनके वे ही विचार यहाँ लिए हैं जो उन दोनों दार्शनिकों के लगभग स्थायी विचार हैं तथा जो उनके द्वारा बारम्बार अभिव्यक्ति पाते रहे हैं।

दयाकृष्ण जी निश्चय ही मेधावी दार्शनिक हैं परन्तु एक तो दर्शन के क्षेत्र में 'भारतीय सभ्यता' से उनका आशय क्या है, यह उनके समक्ष बिलकुल स्पष्ट नहीं है। 'सभ्यता' से 'दर्शन' का क्या सम्बन्ध होता है, होना भी चाहिए या नहीं, इस पर भी उन्होंने कभी स्पष्ट विचार नहीं किया। काश! वे इन मूलभूत प्रश्नों को कभी उठाते। तथापि यह लेख मननीय है, इस लेख में वे कहते हैं—"अगर हम अमेरिका में या किसी भी पश्चिमी यूरोपीय देश में जन्मे होते तो हम अपनी सभ्यता के भविष्य के बारे में एकदम निश्चिंत और आश्वत होते।" ये पंक्तियाँ कब लिखी गईं, यह इस खण्ड में दर्शाया नहीं है, पर जब भी लिखी गई हों, दार्शनिक को कुछ दूर तक और गहरे तक तो देखने में समर्थ होना ही चाहिए। अमेरिका और पश्चिमी यूरोपीय देश हमसे कहीं अधिक गहरे संशय में हैं—यह सत्य शायद दयाकृष्ण जी को तब तक ज्ञात नहीं था। अमेरिका में तो खासी बहस ही छिड़ी है कि हम कौन हैं? गोरे कैथोलिक क्रिश्चियन पुरुष? या कुछ अन्य। पादरी सेमुएल पी हन्टिंगटन की 'वी' पुस्तक इस प्रश्न को ज्यादा मुखरता से उठा रही है, पर चिन्ता तो वहाँ व्यापक और गहरी है। पश्चिमी यूरोप के अत्यन्त मेधावी लोग 'प्रि-क्रिश्चियन यूरोप'—'पेगन यूरोप' के पुनराविष्कार के लिए विकल हैं क्योंकि 'पॉलीन क्रिश्चिएनिटी' तो वहाँ 11वीं शती ईस्वी के बाद ही प्रभावी हुई है और 18 वीं के बाद से बिखरने लगी है। 'रेनेसां' में 'प्रिक्रिश्चियन यूरोप' के ही पुनर्जन्म की छटपटाहट थी, जिसे चर्च-तन्त्र ने अपने ढंग से अनुकूलित कर लिया पर जो स्त्री-आंदोलनों, पर्यावरण आन्दोलनों, न्यू-सांइस मूवमेण्ट आदि के द्वारा एक गहरी छटपटाहट के साथ बार-बार मार्ग खोज रही है। प्रचण्ड यन्त्रणा सहते हुए। वस्तुतः आधुनिक भारतीयों में तो वैसी कोई चिंता या छटपटाहट दूर-दूर तक नजर ही नहीं आती—यहाँ तो वैसी चिन्ता का अभिनय जरूर किया जा रहा है—फैशन-वश। यह अभिनय वे ही आधुनिकतावादी लोग कर रहे हैं जिन्होंने भारतीय प्रज्ञा को दबा रखा है, दमित कर रखा है, और जो उसके नवोन्मेष की सम्भावना मात्र से घबड़ा रहे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, भयभीत हैं कि कहीं ऐन्द्रिक सुख-सुविधाओं के व्यसन की रुग्ण दशा का अभ्यस्त मन वह सब घटाने को, संयम को, संयमित जीवन को विवश न कर दिया जाए। इन भारतीयों की यह चिंता ऐन्द्रिक और मनोमय है, बौद्धिक या बोधमय नहीं। दार्शनिक तो कथमपि नहीं।

इस प्रकार एक गहरी बौद्धिक शून्यता से, 'नथिंगनेस' में से, दयाकृष्ण अपना बौद्धिक संसार रचते हैं। जहाँ न सनातन सत्य की कोई स्मृति या दीप्ति या झलक है, न विश्व के बौद्धिक वर्तमान की, न ऐतिहासिक अतीत की। वस्तुशून्य विकल्प ही उनकी इस मनोमय रचना का आधार-द्रव्य है। इस लेख में आगे वे लिखते हैं—"पृथ्वी का बहुत बड़ा हिस्सा पश्चिम के द्वारा पराजित और उपनिवेशीकृत हुआ, जिसके फलस्वरूप विगत कुछ ही शताब्दियों के भीतर उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया और अन्य देशों के आदिवासियों का बहुलांश एकदम विलुप्त हो चुका है।" अच्छा, परन्तु यह पूरी शब्दावली तो राजनैतिक है, दार्शनिक नहीं। एक तो यह पश्चिम क्या होता है? यूरोप के ये देश भारत के उत्तर में हैं और अधिकांशतः शून्य देशांतर रेखा के पूर्व में हैं। क्या श्री दयाकृष्ण यूरोपीय व्यक्ति है, जो वे पश्चिमी यूरोप को 'पश्चिम' कह रहे हैं? (अन्य भी बहुतरे यही करते हैं—अविचारित रीति से)। फिर यह 'पराजय' क्या होती है? अचानक आप एक ही घटना को कभी पराजय कहते हैं, कभी आधुनिकीकरण कहते हैं, कभी नव-जागरण या उद्धार कहते हैं। अंग्रेजीजीवी 'आधुनिक' भारतीय बौद्धिकता ऐसे ही विभ्रम में जीती है। ये पश्चिमी यूरोप के क्रिश्चियन क्या युद्ध की घोषणा कर वहाँ उन क्षेत्रों में लड़ने गए थे जो वहाँ के लोग पराजित हुए? छल, वंचना, कायरतापूर्ण क्रूरता, घोर हिंसा, पैशाचिक बर्बरता को पश्चिमी यूरोप के क्रिश्चियनों का अमानुषिक पापाचार क्यों नहीं कह जाए? 'विजय' कैसे कहा जाए? इसलिए कि वे 150-200 वर्षों से वहाँ प्रभावी है? कहा यह जाना चाहिए कि ईसाइयों ने वहाँ बर्बरतम नृशंसता की, पापाचार किया जो मानवता के लिए लज्जास्पद दुष्कृत्य है। वे एशिया-अफ्रीका-अमेरिका के लोग पराजित नहीं किए गए। छले गए। ऐसी पापपूर्ण क्रियाएँ मनुष्यों को करते देख वे स्तब्ध रह गए। 150-200 वर्षों का यह काल उनका स्तब्धता का काल है। इनमें से कुछेक हिस्से पुनः बलशाली भी हो सकते हैं। तब वे यदि उसी प्रकार का, वैसे ही स्तर का पापाचार इन क्रिश्चियनों के साथ करें तो उसे श्री दयाकृष्ण जैसे लोग क्या कहेंगे : विजय ? प्रतिशोध? या बर्बरता? दार्शनिक को तो दूर तक देखकर पदावली स्थिर करनी चाहिए। अगर वह 'विजय' है तो फिर मुस्लिम उग्रवादी आज यूरोप अमेरिका में जो कर रहे हैं, उसे भी क्या 'विजय-अभियान' ही नहीं कहा जाएगा? 100-150 साल में पश्चिमी यूरोपीय क्रिश्चियनों ने जो कुछ किया है, उसे टिकाऊ, स्थिर, अन्तिम मानना तो काल-प्रवाह का मानो अज्ञान ही है। इतने अधीर-आतुर निर्णय और निष्कर्ष उचित नहीं। इनकी 100-200 साल की 'विजय' से यह तथ्य भूलना नहीं चाहिए कि यूरोप में ईसाइयों के बड़े-बड़े

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इलाके शताब्दियों इस्लाम की अधीनता में रहे हैं। तब भी, दयाकृष्ण जी की अध्ययनशीलता इस लेख में प्रकट है। वे याद दिलाते हैं कि 'अलबरूनी भारत आया था, गणित, खगोल, औषधि-विज्ञान और अन्य व्यावहारिक उपयोगी ज्ञान विज्ञान का पता लगाने।' वे यह भी स्मरण दिलाते हैं कि सोमनाथ मंदिर को ध्वंस के बाद शीघ्र ही फिर से बना लिया गया था और उसके बाद भारत में भुवनेश्वर और खजुराहो के भव्य मन्दिर समूह रचे गए। नालन्दा का महान विश्वविद्यालय भी दो सौ बरस आगे तक फलता-फूलता रहा जब तक बख्तियार खिलजी ने वहाँ रह रहे और पढ़ा रहे समस्त आचार्यों और स्थविरों की हत्या कर विहारों को धूल में नहीं मिला दिया। इतिहास में इतने सारे बुद्धिजीवियों का इतने कम समय के भीतर इतनी तेजी और आकस्मिकता के साथ कत्लेआम शायद ही कभी हुआ होगा। 1000 ई. से 1200 ई. के बीच बड़ी संख्या में बौद्ध विचारक भारत में थे परन्तु इस कत्लेआम के बाद कोई बौद्ध विचारक प्रकट हुआ नहीं दीखता। वे उचित ही यह भी याद दिलाते हैं कि शंकराचार्य के बाद तो शताब्दियों तक भारत में बौद्ध धर्म एवं बौद्ध विचारक फलते-फूलते रहे, शंकर द्वारा बौद्ध दर्शन के उन्मूलन की बात अप्रमाणित है और उग्रवादी इस्लाम ने ही भारत से बौद्ध धर्म का उन्मूलन किया है। दार्शनिक क्षेत्र में शंकर मतवालों ने बौद्धों को परास्त मानकर जो आत्मसन्तोष पाया या परिकल्पित किया, उसे उन्मूलन नहीं कहा जाता, वह तो पारस्परिक विमर्श मात्र है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि शंकर वेदान्त को चुनौती तो आगम-प्रामाण्य के प्रतिष्ठाता यामुनाचार्य तथा शैव सम्प्रदायों द्वारा मिली। तार्किकों और नैयायिकों की भी बिहार-बंगाल में शंकर के बाद के युग में अत्यधिक प्रगति दिखती है। यह उस दौर की बात है जिसे केवल इसलिए 'मुस्लिम काल' कह दिया जाता है क्योंकि दिल्ली-आगरा के आसपास की रियासतों में मुस्लिम शासक प्रभावी थे। पर देश तो बहुत बड़ा है। अतः उसे भारत में 'मुस्लिम काल' बताना झूठ है। दयाकृष्ण जी ने उचित ही प्रश्न उठाया है कि यह किस तरह का इतिहास लेखन है जो दिल्ली-आगरा के राजवंशों तक सिमटा है और चोल राजवंश की चार सौ वर्षों की सफलताएँ जिसे दिखती ही नहीं। चोलों के बाद भी दो सौ वर्षों तक हिन्दू सभ्यता भारत के बड़े हिस्सों में राज्य-संचालन में भी प्रभावी रही। दयाकृष्ण जी बहुत सुन्दर एवं स्पष्ट ढंग से कहते हैं कि वस्तुतः 16वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही भारत में इस्लामी शासन की कुछ उपलब्धियाँ रही हैं—कुल 250 वर्ष के करीब। वह भी सम्पूर्ण भारत में कभी नहीं। 16वीं से 18वीं शती ईस्वी का उक्त काल भी भारतवर्ष में उत्कृष्टतम काव्य-रचना, चैतन्य महाप्रभु के द्वारा कृष्ण-चेतना के नवोन्मेष, गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रामचरित की उत्कृष्टतम प्रस्तुति से उपजे सांस्कृतिक नवतारुण्य, कबीर-रैदास के नेतृत्व में पंद्रहवीं शती से ही प्रवर्तित अद्वैत ज्ञान-प्रवाह की सुगन्ध की व्याप्ति तथा छत्रपति शिवाजी महाराज और महाराज छत्रसाल के शौर्य की दीप्ति का भी काल है। यहाँ दयाकृष्ण जी की दृष्टि अकुंद है। उन मन्दबुद्धि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिकतावादी 'बुद्धिजीवियों' से दयाकृष्ण जी सर्वथा अलग हैं जो भारत में अंग्रेजों का राज 200 वर्षों का बताते हैं। उनकी जगह दयाकृष्ण जी इतना तो स्पष्ट देख पाते हैं कि अंग्रेजों के वास्तविक आधिपत्य की अवधि 1857 से 1947 तक कुल 90 वर्ष की ही है। वे स्पष्ट लिखते हैं–''सारी नई टेक्नालॉजी और शक्ति के साथ समूचे देश पर अपना आधिपत्य कायम करने में अंग्रेजों को सौ साल लगे और यहाँ से जाने के लिए मजबूर किए जाने में सिर्फ 90 साल।'' यानी भारत में जमने के लिए अंग्रेज 100 साल जूझे और उन जमे हुओं को उखाड़ फेंकने के लिए भारतीय 90 वर्ष जूझे। यह तो दयाकृष्ण जी के समक्ष स्पष्ट है।

आगे दयाकृष्ण जी याद दिलाते हैं कि 1857 में अंग्रेजों ने भारत में 'अपने' (यानी प्रोटेस्टेंट ईसाइयत के–लेखक) विश्वविद्यालय स्थापित किए थे, तब से वे बाढ़ की तरह फैलते रहे हैं। संयोगवश, इन पंक्तियों को जब मैं लिख रहा हूँ, तब समूचे बिहार में कोसी की बाढ़ का ताण्डव मचा है। इन विश्वविद्यालयों की कृपा से ''हमारी सभ्यता का यह सर्वग्रासी स्मृतिभ्रंश हमारे भीतर इतनी गहरी जड़ें जमा चुका है कि हममें से अधिकांश इस तथ्य से बिलकुल भी अवगत नहीं होते कि हम अपने इतिहास के हजारों वर्षों के दौरान इन सब ज्ञानात्मक अभियानों से गुजर चुके हैं।'' आगे पुनः वैसे ही सुन्दर ढंग से दयाकृष्ण जी बताते हैं कि ''तरह-तरह के कोश तैयार करते हुए हस्तलिखित ग्रंथों की खोज करते हुए, उन्हें वातानुकूलित पुस्तकालयों-अभिलेखागारों में सँजोते हुए, सम्पादित कर छापते हुए'' बहुतेरे बुद्धिजीवी शव-साधना वाली बुद्धि से प्रवृत्त हैं। मानों अतीत शव हो। इस विडम्बनापूर्ण कर्म को परम्परा का *संरक्षण* कहा जाता है परन्तु यह तो मात्र 'मेण्टेनेन्स' है। आगे वे उचित ही कहते हैं कि परम्परा का संरक्षण पुनर्नवीकरण से भिन्न नहीं हो सकता और ये दोनों वहीं साथ-साथ होंगे जहाँ परम्परा की सतत साधना का नित नूतन पुरुषार्थ चल रहा है। (*जिसे दयाकृष्ण जी आलोचना-प्रवण, गुण-ग्राही, सृजनशील आत्मचेतना के साथ भावना एवं कर्म में फलित हो रहा पुरुषार्थ कहते हैं।*) ठीक ही वे कहते हैं कि एक विपुल सभ्यता की धरोहर का हम पर यह ऋण है कि हम अपनी-अपनी योग्यता एवं अन्तर्दृष्टियों के अनुसार इस सभ्यता के योग्य पुरुषार्थ करें। वे यह भी सुझाते हैं कि पश्चिमी क्रिश्चियन सभ्यता से आक्रान्त जो अन्य तमाम सभ्यताएँ हैं, उनके पुरुषार्थों के प्रति भी हम अपने आपको खोलें और उनके प्रकाश में भी अपने पुरुषार्थों का निश्चय करें।

इस सम्पूर्ण विवरण से अनेक निष्कर्ष भी निकलते हैं और प्रश्न भी उभरते हैं। पहला प्रश्न तो यही है कि हजारों वर्षों से प्रवहमान इस प्रज्ञा-परम्परा को अतीत मात्र की वस्तु माननेवाले नमूने भारत में आए कहाँ से? और उन्हें इस दुस्साहस की शक्ति कहाँ से प्राप्त हुई? पूर्वार्ध का स्पष्ट उत्तर स्वयं दयाकृष्ण जी ने दे दिया है कि कुल 90-60=150 वर्षों में यूरोक्रिश्चियन विश्वविद्यालय में उत्पादित यह बुद्धि है जो स्वाधीन भारत के औपचारिक तौर पर शिक्षित जनों में प्रकट है परन्तु प्रारम्भ के 90

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्षों में तो यह स्थिति ऐसी दयनीय नहीं हुई थी, यह भी दयाकृष्ण जी बताते हैं। अतः यह कुल 60 वर्षों का खेल है। इसी में यह निहित है कि इसका प्रभाव वस्तुतः उतना गहरा हो नहीं सकता जैसा ऊपर-ऊपर दिखता है। जो इसी कीचड़ में धँसे दिखते हैं, उनमें से ही सर्वाधिक प्रतिभाशाली इसकी पर्याप्तता पर गहरी शंका भी करते दिखते हैं—दिल्ली से चेन्नै तक और जयपुर-जोधपुर से कोलकाता-भुवनेश्वर तक सर्वत्र। अतः यह स्मृति भ्रंशता न तो सर्वग्रासी है, न इसकी जड़ें गहरी हैं। तब? तब प्रश्न के उत्तरार्ध की ओर बढ़ें। जवाहरलाल जी से मनमोहन सिंह जी तक के (अटल जी सहित) सभी प्रधानमन्त्रियों को और उनके शिक्षा-संस्कृति मन्त्रालयों को, यानी वस्तुतः भारत के प्रशासकों को यह शक्ति कहाँ से प्राप्त हुई?' क्योंकि मतदाताओं से तो उन्होंने यह कहकर कभी वोट नहीं माँगा था कि हम भारत की हजारों वर्षों से प्रवाहित प्रज्ञा-परंपरा को केवल अतीत की वस्तु बना डालेंगे। अतः उत्तर है—यह शक्ति प्राप्त हुई ब्रिटिश भारतीय प्रशासनतन्त्र को स्वाधीन भारत में यथावत् स्वीकार करने की चारित्रिक एवं बौद्धिक निर्बलता से। क्रान्तिकारी मार डाले गए या तोड़ डाले गए। सत्याग्रही शान्तिपूर्ण और संवादपूर्ण बौद्धिक युद्ध लड़ते-लड़ते बुद्धि से थक गए तथा शत्रु की बौद्धिक आभा से प्रभावित भी होते गए। पुराने राजा पहले ही मुस्लिम आक्रमणों से लड़ते-लड़ते थक गए थे। विद्या की परम्परा को अंग्रेजों ने सोख लिया। सो थकेहारे नेताओं ने पहले सोचा—ये फिरंगी जाएँ तो। फिर वे जाने लगे तो सोचा—अभी जो बना-बनाया ढाँचा है, वही चलने दो। पर यह ढाँचा तो था इंग्लैण्ड जैसे छोटे से देश के लिए निर्मित जहाँ लोकमानस क्रिश्चियन चर्च में बलपूर्वक दीक्षित कर शताब्दियों से अनुकूलित, प्रशिक्षित एवं नियन्त्रित किया जा चुका था। इसे चलने दिया। आपने विशाल राष्ट्र में वह भी हिन्दुत्व को वैसा अधिकृत राजकीय संरक्षण दिए बिना ही, जैसा राजकीय संरक्षण इंग्लैण्ड में प्रोटेस्टेंट क्रिश्चियनिटी को प्राप्त है, जिसका अधिकृत संरक्षक ब्रिटिश ताज है। भारतीय राष्ट्रपति तो हिन्दुत्व के घोषित संरक्षक नहीं हैं। ऊपर से, मार्क्सवाद से प्रेरित प्रभावित नेहरू जी आदि ने इस ढाँचे को वह शक्ति भी दे दी जो सोवियत संघ और चीन में कम्युनिस्ट ब्यूरोक्रेसी तथा तानाशाही तन्त्र को प्राप्त थी ताकि हिन्दुत्व के विनाश/रूपान्तरण की प्रक्रिया बलपूर्वक चलाई जा सके। साथ ही, विधायिकाओं के लिए चयन वयस्क मताधिकार से करने की वह लोकतांत्रिक प्रक्रिया भी जारी रही जिसके चलते विधानसभाओं में काँग्रेस 1934 में ही आ गई थी और जहाँ के वैचारिक विचलन, भ्रष्टाचार तथा जालसाजी देखकर गाँधी जी 1934 में ही सक्रिय दलीय राजनीति से अलग हो गए थे। सो, ब्रिटिश प्रशासनिक ढाँचा उसका सोवियत तानाशाही तंत्र की तरह इस्तेमाल, सोवियत रूस एवं कम्युनिस्ट चीन द्वारा विशाल वित्तीय निवेश के साथ आक्रामक प्रचारतन्त्र द्वारा तैयार हिन्दुत्वद्रोही और भारतद्रोही बुद्धिजीवी वर्ग का एक निर्णायक हिस्सा—इस सबने मिलकर वह बौद्धिक शून्यता रची जिसमें यूरोक्रिश्चियन ज्ञान के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सतही अनुकरण एवं अनुशीलन को भारत के लिए एकमात्र अधिकृत ज्ञान मान लिया गया दिखता है। परन्तु यह मान लेना एक नौटंकी मात्र है। पद, प्रतिष्ठा, धन, सुविधा (जिसमें विदेश-भ्रमण की सुविधा भी शामिल है) इन्हें पाने का एकमात्र उपाय चूँकि यही रह गया, अतः यह सारी नौटंकी रची गई। इसकी जड़ें बेहद खोखली हैं। गहरी नहीं। लेकिन तब भी समस्त शिक्षित जनों की सम्पूर्ण बौद्धिक क्रियाशीलता नियोजित तो इसी में है। अन्य क्रियाशीलताओं के लिए अवकाश, अवसर, साधन तो बहुत कम हैं। यही स्थिति जारी रही तो भारत बौद्धिक दृष्टि से तो 'बनाना-रिपब्लिक' बन ही चुका दिखता है। परन्तु क्या इतनी विराट, समृद्ध ज्ञान-परम्पराओं के बीज भी नष्ट हो चुके हैं? ये जो योग और धर्म के क्षेत्र में हज़ारों हज़ार प्रतिभाएँ उमड़ रही हैं, ये भी क्या स्मृतिभ्रंशता का लक्षण है? जहाँ तक शिक्षा-तन्त्र की बात है, इसकी केन्द्रीय शक्ति तो थोड़े से अफसर और उनके सहचर प्रोफेसर आदि ही हैं। अभी इन्हें बदल सकने, रूपान्तरित कर सकनेवाला कोई राजपुरुष भारत में दिखता नहीं। परन्तु क्या वह कभी भी होगा ही नहीं। प्रोटेस्टेण्ट क्रिश्चिएनिटी के विस्तारक ब्रिटेन द्वारा भारत को अपना उपनिवेश बनाए रखने के लिए रचे गए प्रशासन तन्त्र को स्वाधीन भारत में भी जारी रखने की यह नौटंकी राजनीति ने जारी रखी है, राजनीति ही इसे तोड़ सकती है। इसकी जड़ें बौद्धिक नहीं हैं। कोई भी बौद्धिक इतना खोखला हो भी कैसे सकता है?

यहाँ आकर, बात थोड़ी स्पष्ट हो जाती है। ये सारे संकट तो एक सर्वग्रासी राज्यतन्त्र के तथा उस पर बैठे वैसी की चित्तवृत्तियों वाले लोगों के द्वारा सम्पूर्ण देश को बलपूर्वक स्मृतिभ्रंशता की दिशा में झोंक दिए जाने से उत्पन्न संकट हैं। इसका समाधान तो श्रेयस्कर राज्यतन्त्र की अभीप्सा जगाना और फिर तदनुरूप पुरुषार्थ का चरितार्थन है। इसका अभी के दार्शनिक विमर्श से सम्बन्ध क्या है? और स्वयं दार्शनिक विमर्श अभी जिन रूपों में चल रहे हैं, उनके स्वरूप का निर्धारण कौन करता है? कौन कर रहा है?

युगाब्ध 5040 (ईस्वी सन् 1938) तक भारत में जो दार्शनिक विमर्श पूरे वैभव के साथ भारत की 425 से अधिक रियासतों में चल रहे थे, वे 1947 ईस्वी आते-आते बंद क्यों हो गए? क्या ऐसा किसी दार्शनिक विमर्श से प्राप्त निगमन के उपरान्त किया गया? या नेहरू जी के प्रधानमंत्रित्व एवं मौलाना आजाद के शिक्षामंत्रित्व काल में उच्च शिक्षा सचिवों एवं अन्य अफसरों द्वारा बनाई गई विश्वविद्यालय नीति के अन्तर्गत निर्धारित पाठ्यक्रमों के द्वारा किया गया? आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से पोस्ट डाक्टोरल उपाधि पाना दार्शनिक क्षेत्र में अधिकारी विद्वान होता है और किसी महान सिद्ध पुरुष का अन्तेवासी बनकर दर्शन-चिन्तन करनेवाला दर्शन-विषय में अनधिकारी ही माना जाएगा—विश्वविद्यालयों में, यह निर्णय किसने किया? और किस आधार पर? किसी भी स्थिति में उन निर्णयों के मूल में कोई दार्शनिक विमर्श नहीं था। यहाँ तक कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योगशास्त्र के विश्वविद्यालयीन अध्यापन में स्वामी हरिहरानन्द आरण्य या स्वामी ओमानन्द सरस्वती के प्रतिपादनों को पाठ्यक्रम में किस आधार पर नहीं रखा गया? प्राध्यापक डॉ. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव ने यदि योगसिद्धि हिन्दी टीका सहित पातंजल योगदर्शन लिखा भी तो वह किसी विश्वविद्यालय के द्वारा नहीं लिखाया गया, ऐसा क्यों? वे निजी स्तर पर ही ऐसा करने को क्यों विवश हुए? वे तो विश्वविद्यालय के व्यक्ति थे। अद्वैत वेदांत के पाठ्यक्रम में भी शंकर मठ के किन्हीं आचार्यों के विचार समकालीन दार्शनिकों के नाते क्यों अधिकृत प्राथमिक स्रोत के रूप में सम्मिलित नहीं किए गए? उधर विभिन्न यूरोपीय दर्शनों के अधिकारी विद्वानों के रूप में यूरोप में चर्च के विद्यमान अथवा पूर्व पादरियों को क्यों पढ़ाया जाता है? अधिकांश आधुनिक यूरोपीय दार्शनिक भी निष्ठावान क्रिश्चियन क्यों हैं? और अधिकांश आधुनिक भारतीय दार्शनिक निष्ठावान हिन्दू होने या कहलाने में क्यों शर्माते हैं? याकि नैष्ठिक वेदान्ती अथवा नैष्ठिक योग-साधक अथवा नैष्ठिक सांख्याचार्य या निष्ठावान भक्त होने में भी क्यों कतराते हैं? इनमें से सामान्यतः किसी भी प्रश्न का उत्तर किसी दार्शनिक आधार अथवा दार्शनिक विमर्शजन्य निर्णय में नहीं है। अतः भारत में दार्शनिक चिन्तन की प्रस्थिति के रूप पर जो भी दुःख बौद्धिक जन व्यक्त कर रहे हैं, उसका आधार वस्तुतः दार्शनिक प्रस्थिति में नहीं है, राजनैतिक प्रस्थिति में है। परन्तु तीनों खंडों में इस राजनैतिक प्रस्थिति के दार्शनिक हेतुओं पर तो स्वल्प चिन्तन ही हुआ है। हमारे राजनैतिक निर्णय इतने भारत-निरपेक्ष क्यों हैं? और वे इसके बाद भी कैसे चल पा रहे हैं? उनके पीछे किसका बल है? इस पर कोई दार्शनिक विमर्श आज हमारे सम्मुख नहीं है। यह बौद्धिक भ्रान्ति की पराकाष्ठा का लक्षण है।

श्री दयाकृष्ण ने जीवनकाल में सैकड़ों दाशर्निक संगोष्ठियाँ भी कराईं। भाँति-भाँति के प्रश्न उठाए। परन्तु ये आधारभूत प्रश्न तो कभी भी किसी भारतीय दार्शनिक ने इन संगोष्ठियों में विगत 50-60 वर्षों में नहीं उठाए। आखिर क्यों? प्रमाद, भय, बौद्धिक स्तब्धता या बौद्धिक भ्रान्ति? क्या कारण रहे इनके?

अब हम श्री दयाकृष्ण जी की मूल चिन्ताओं को लें। श्री दयाकृष्ण बारम्बार कहते हैं कि भारत की विलुप्त विराट सभ्यता की धरोहर हमारे पास है जिसके प्रति हम ऋणी हैं और यह ऋण हमें यह कर्तव्य देता है कि हम अपनी योग्यता और अपनी अन्तर्दृष्टियों के अनुसार उस विराट सभ्यता को ही आगे बढ़ाने वाले कार्य करें। अपनी सभ्यता के अन्तर्निहित और प्रेरक पुरुषार्थ को विश्व की अन्य उन सभ्यताओं के प्रकाश में समझें जिन्हें यूरोपीय क्रिश्चियन सभ्यता ने विगत शताब्दियों में आक्रान्त कर डाला—हमारी ही भाँति। परन्तु आखिर क्यों स्वयं श्री दयाकृष्ण ने जीवन भर यह कार्य कभी नहीं किया? अच्छा कोई बात नहीं। परन्तु उन्होंने स्वयं भारतीय समाज के विषय में जो दार्शनिक विमर्श किया, क्या वह उनकी उक्त प्रतिज्ञा के अनुरूप रहा? क्या कभी उन्होंने इस विराट विपुल सभ्यता के महत्त्व को सामने लाने वाला कोई कार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया? कभी भी नहीं। वे तो मौके-बेमौके इस सभ्यता पर दुलत्तियाँ ही झाड़ते रहे। वह भी एक बौद्धिक नौसिखुए की ही भाँति। यह तो बौद्धिक भ्रान्ति की पराकाष्ठा का ही द्योतक है।

यहाँ हम उनके समाज-दार्शनिक विमर्श पर उनके समसामयिक भारत के एक शीर्ष दर्शनवेत्ता श्री यशदेव शल्य की ऐसी टिप्पणियाँ उद्धृत करेंगे जो स्वयं में श्री दयाकृष्ण की भारतीय समाज सम्बन्धी मूल मान्यताओं को स्पष्ट कर देती हैं। भारतीय समाज का जो निरूपण दयाकृष्ण जी ने किया, उस पर शल्य जी की 18 टिप्पणियाँ मैं छाँटकर पाठकों के सम्मुख रख रहा हूँ जो उक्त तीन में से तीसरे खण्ड में छपे शल्य जी के लेख में से छाँटी गई हैं। लेख का शीर्षक है—'दयाकृष्ण का समाज-दार्शनिक विमर्श।' शल्य जी जैसे अति गम्भीर दार्शनिक का उस विषय पर क्या अभिमत है, पाठक स्वयं पढ़ें देखें। निवेदन है कि दयाकृष्ण जी ने समाज-दर्शन पर दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं—1.सोशलफिलॉसफीः पास्ट एण्ड फ्यूचर, तथा 2. कन्सीडरेशन्स टुवर्ड्स थियरी ऑफ चेंज।

दयाजी ने प्रश्न उठाया है कि 1. क्या समाज मनुष्य के एतद्विषयक अवधारणा प्रकार से पूर्णतः स्वतन्त्र सत्य है? याकि 2. इससे गहाराई तक प्रभावित होनेवाला सत्व है? अथवा 3. वह समाज इस विचार का ही फल होता है? इस पर दया जी का उत्तर है कि "समाज व्यक्तियों के आत्मचेतन चयनों का फल होता है," 'चयन का फल' होने से समाज 'प्रकृति' से विपरीत हो जाता है क्योंकि प्रकृति ऐसा सत्व है जो मनुष्य के विचार और अवधारणा के लिए प्रदत्त है, वह उनसे प्रभावित या रचित नहीं होता। समाज विचार-स्रष्ट है। अतः यह वही रूप ले लेता है, जैसा इसका अवधारण होता है। यदि दया जी अपनी इस मान्यता पर श्रद्धावान हैं, तब स्वयं वे भारतीय समाज के प्रति प्रायः निषेधात्मक, निन्दात्मक अवधारण ही क्यों करते हैं? यह प्रश्न अवश्य उठता है। क्या वे चाहते हैं कि भविष्य में भारतीय समाज वे रूप ले ले जो वे अवधारित कर रहे हैं? 'कंसीडरेशन्स' में वे कहते हैं—"समाज महान कलाकृतियों के समान भी है जिनका सम्बन्ध मूल्यों और आदर्शों से होता है। जिनके बिना ये निःसत्व होती हैं। वह शिल्प के समान भी है। परन्तु समाज इन दोनों से भिन्न भी है। समाज प्रकृति के कारण-कार्य सन्दर्भ में प्रतिष्ठित, अपने सदस्यों की जीवन-रक्षा और सम्वृद्धि के प्रति चिन्तित तथा आदर्श के अनुसरण में गर्वित अग्रसर सन्ततियों की आत्मचेतन कृति होता है जो इससे प्रेम भी करती हैं और इससे भिन्न भी होती हैं।"

दयाकृष्ण जी के समाज-दर्शन का सार इस रूप में स्वयं शल्यजी ने प्रस्तुत किया है और बताया है कि दया जी समाज को शिल्पकृति और कलाकृति से इस आधार पर भिन्न कहते हैं कि वह आदि-अन्तयुक्त नहीं होता और स्वयं को भी अन्तवंत के रूप में नहीं देखता। साथ ही वे समाज को मानव-व्यक्तियों के विचारों, अवधारणाओं या चयनों का संयुक्त फल भी कहते हैं। इस विषय पर तथा दयाजी की पुस्तकों के समाज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषयक प्रतिपादनों पर शल्यजी का अभिमत मननीय है। आगे शल्य जी की टिप्पणियाँ उद्धृत हैं :

1. दया जी द्वारा समाज का यह निरूपण अयुक्त और आत्म-असंगत है (खंड 3, पृष्ठ 183)।
2. दया जी द्वारा समाज को आत्मचेतन चयनों का फल कहना भोले भाव की पराकाष्ठा ही कही जा सकती है। 'आत्मचेतन चयन का फल' आत्म-सर्जन नहीं है और 'अवधारणाओं का फल' को 'चयन का फल' नहीं कहा जा सकता है (वही, पृष्ठ 184)।
3. समाज को आत्मचेतन कर्म की कृति कहने की अयुक्तता स्पष्ट है। (पृष्ठ 184)।
4. दया जी ने समाज को 'अप्राकृतिक' बताया है किन्तु प्रकृति के स्वरूप पर वे कहीं भी गहराई से विचार नहीं करते (वही, पृष्ठ 185)।
5. दया जी ने 'मैन' शब्द बड़े 'एम' अक्षर के साथ लिखा है, पर कहीं यह स्पष्ट नहीं किया है कि इससे उनका अर्थ क्या है—व्यक्ति, जाति, चेतना का स्तर-विशेष या कुछ और? (पृष्ठ 185)।
6. वे समाज और प्रकृति की विपरीतता पर ही बल देते हैं, यह भूल जाते हैं कि आधुनिक वैज्ञानिक की प्रकृति एक विशेष पूर्वग्रहमूलक प्रकृति है (पृष्ठ 187)।
7. दया जी पाश्चात्य समाज और भारतीय समाज के दो भिन्न-भिन्न अतिवादों का निरूपण करते हैं, पर वे निरूपण बहुत सतही हैं (पृष्ठ 188)।
8. सुकरात असत्य पर आधारित न्यायिक निर्णय द्वारा कारागार भेजा गया, पर भागने का अवसर पाकर भी भागा नहीं, यह दया जी के अनुसार सामाजिकता को परमता का स्थान देना था, परन्तु यह सही नहीं है, यह तो आत्मा को सर्वोपरि मानने से उत्पन्न उच्च नैतिक कर्म है (पृष्ठ 188)।
9. दया जी मानते हैं कि व्यक्ति को समाज के प्रति उत्तरदायी मानने का विचार भारत में नहीं मिलता, मार्क्सवाद आदि यूरोपीय समाज-चिंतनों में ही मिलता है, परन्तु हमारे यहाँ ऋणों के रूप में यह प्रतिष्ठित मिलता है (पृष्ठ 190-191)।
10. भारतीय सभ्यता और संस्कृति को दया जी ने समाज-केंद्रक के विपरीत आत्म-केंद्रक माना है, जिसका मुख्य लक्ष्य उनके अनुसार "अन्य के प्रति चिन्ता' का अधिकतम अवमूल्यन है परन्तु यह लक्षण या वैशिष्ट्य ऐसा ही है जैसा मनुष्य को उसकी 'हँसने की योग्यता' से परिभाषित करना (पृष्ठ 191)।
11. दया जी अवतार और बोधिसत्व की अवधारणाओं को अपवाद कहते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जबकि वास्तव में ये अवधारणाएँ काव्य, पुराण और सामान्य जन-जीवन की प्राण हैं। साथ ही, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र इसी जीवन्त ब्राह्मण-मानस की उपज हैं (पृष्ठ 191)।

12. दया जी का निष्कर्ष है कि "भारतीय संस्कृति नैतिक नहीं होकर, अतिनैतिक है", परन्तु हम इस निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं। भारतीय संस्कृति में नीति की अवहेलना नहीं होकर, उससे उच्चतर भूमि पर आरोहण की दृष्टि है। नीति की परिभाषा 'परहित चिन्ता' नहीं की जा सकती, यह परिभाषा 'आत्मसिद्धि' करना अधिक उपयुक्त है (पृष्ठ 192)।

13. कांट के नीति विषयक सभी सूत्र संस्कृत के नीति विषयक सुभाषित-संग्रहों में मिल जाएँगे (अतः "भारतीय संस्कृति को नैतिक नहीं बताना गलत है") (पृष्ठ 192)।

14. भारत के दार्शनिक नीति को केवल स्मृतिकारों का विषय मानते थे। वे नैतिक आचरण को सामाजिक परम्परा द्वारा निर्धार्य मानते थे और नीति का तत्त्व आत्म-साधना में मानते थे। जहाँ तक दार्शनिकों द्वारा नैतिक चिन्तन का प्रश्न है, अनुभववाद ने नैतिक बोध को निराधार अथवा 'अविचार्य' माना है और मनोविश्लेषण, अस्तित्ववाद, फिनॉमिनालाजी आदि में नैतिक बोध के प्रति असहानुभूति की कोई कमी नहीं है—(पृष्ठ 193)।

15. दया जी का तीसरा व्याख्यान कर्म पर है, कर्म-विषयक हिन्दू दृष्टि पर। किन्तु उस दृष्टि का भी यह नितांत अपर्याप्त और कुछ स्थलों पर अयुक्त, निरूपण है (पृष्ठ 193)।

16. गीता में 'निष्कामता' का अर्थ 'निष्प्रयोजन' है, ऐसा दयाजी ने पता नहीं किस आधार पर समझा है। इसका अर्थ केवल प्रयोजन सिद्धि के प्रति निरुद्विग्नता है। एक साधारण स्तर पर 'स्पोर्ट्समैन्स् स्पिरिट' में भी यह स्पष्ट है। अन्यथा कोई कर्म निरुद्देश्य किया ही कैसे जा सकता है। हम उठकर चलेंगे भी तो या तो कहीं पहुँचने के लिए चलेंगे या फिर भ्रमण के लिए चलेंगे, जब तक इतने विक्षिप्त नहीं हों कि बस यों ही उठकर चल दें। इस यों ही चलने को तब 'कर्म' नहीं कहा जाएगा। निष्कामता का ही दूसरा नाम भगवत्समर्पण भाव है—कर्म को ईश्वर का आदेश मानकर करना और परिणाम को प्रयत्न के विरुद्ध पाकर उद्विग्न नहीं होना। इस प्रकार 'ईश्वरार्थता' 'निष्कामता' की व्याख्या मात्र है (पृष्ठ 194-195)।

17. गीता में कृष्ण द्वारा अर्जुन के शोक को अशोचनीय के लिए शोक कहे जाने पर दया जी ने तीखी आलोचना की है, उस पर शल्य जी लिखते हैं—
"अर्जुन का विषाद बन्धु-बान्धवों के तथा समाज के दुःख के प्रति उपजी परदुःखकातरता थी, दया जी का यह तर्क सही है, परन्तु परदुःखकातर होना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उससे प्रेरित होकर कुछ करना मानवीय है। अकातर भाव से अपने को निमित्त मानकर करना अतिमानवीय।''

अतः कर्म-फल को वैश्व-व्यवस्था या प्रभु की लीला मानकर दुःखी लोगों के दुःख निवारण के लिए निरुद्विग्न भाव से अग्रसर होना उच्चतर नैतिकता है, बनिस्बत परदुःखकातर भाव से कर्म-प्रवृत्ति के (पृष्ठ 195-196)।

18. दया जी के चौथे व्याख्यान का शीर्षक है—'स्वातंत्र्य के परिप्रेक्ष्य'। स्वातन्त्र्य का स्वरूप वे अन्य के पराभव में देखते हैं। उनके अनुसार वेदान्तीय स्वातन्त्र्य अन्य के निषेध में है और फाउस्तीय (पाश्चात्य) स्वातन्त्र्य अन्य के नाशन में है। इनका औचित्य दया जी ने नहीं बताया। स्वातन्त्र्य की इस अवधारणा के अनुसार समाज की विद्यमानता स्वातन्त्र्य में बाधा की विद्यमानता होगी।...यदि पश्चिम का इतिहास ''एक पक्ष द्वारा दूसरे को निरन्तर पराभूत करने के प्रयत्न का इतिहास है, तब भारत का इतिहास संघर्ष से बचने के प्रयत्न का इतिहास होगा। किन्तु ऐसा है नहीं।'' (पृष्ठ 197)।

''दया जी के अनुसार भारतीय इतिहास में युद्ध ''चाहे कितने भी उग्र और सुदीर्घ रहे हों, पर ये कभी सिद्धान्तों के आधार पर नहीं लड़े गए, जैसे पश्चिम में।'' किन्तु इसके लिए प्रमाण?...भारत में रामायण और महाभारत के युद्ध आदर्शों और मूल्यों के लिए लड़े गए थे। रामायण का युद्ध सामाजिक मर्यादा की रक्षा के लिए मर्यादा-ध्वंसकों के विरुद्ध लड़ा गया था, महाभारत का युद्ध न्यायसंगत अधिकारों की रक्षा के लिए। निकटवर्ती इतिहास में गुरु गोविन्दसिंह, शिवाजी और महाराणा प्रताप शुद्ध रूप से विचार और आदर्श के लिए युद्ध लड़े।'' (पृष्ठ 197-198)।

दया जी के भारतीय समाज सम्बन्धी विवेचन पर उनके समसामयिक दार्शनिक तथा मित्र श्री यशदेव शल्य की ये 18 टिप्पणियाँ स्वतः स्पष्ट हैं। मुख्य बात यह है कि यदि दयाकृष्ण के अनुसार, ''समाज विचार-स्रष्ट है, प्रकृत नहीं, यह वही रूप ले लेता है, जैसा उसका अवधारण किया जाए,'' तो फिर दयाकृष्ण जी जो भारतीय समाज का इस रूप में अवधारण कर रहे हैं कि—

1. भारत में व्यक्ति को समाज के प्रति उत्तरदायी मानने का विचार नहीं मिलता।
2. भारतीय सभ्यता आत्म-केन्द्रक है और वह अन्यों की चिन्ता करना व्यक्ति को नहीं सिखाती।
3. भारतीय संस्कृति नैतिक नहीं है।
4. गीता निष्प्रयोजन जीवन की प्रेरणा देती है।
5. भारत का इतिहास सिद्धान्त विहीन युद्धों का इतिहास है।
6. भारत में कभी भी सिद्धान्तों के आधार पर युद्ध नहीं लड़े गए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

7. भारतीय सभ्यता लोगों को कभी पर हित की, परोपकार की चिन्ता करना नहीं सिखाती। साथ ही, गीता कर्म-फल की चिन्ता करने से रोकती है। इस प्रकार भारतीय व्यक्ति आत्मकेन्द्रित एवं प्रयोजन-विहीन जीवन का संदेश ही अपनी सभ्यता से पाते हैं।

तो ये अवधारण भी क्या भारतीय समाज को एक विशेष रूप लेने को प्रेरित करने के लिए ही दया जी अवधारित और प्रस्तुत कर रहे हैं? यदि दयाजी इस विषय में स्पष्ट हैं कि अपने अवधारणों द्वारा वे भारतीय समाज को स्वकेन्द्रित, प्रयोजनशून्य, गैरजिम्मेदार, नैतिकता-निरपेक्ष, जीवन-संघर्ष से बचने की जुगत में जुटे व्यक्तियों का समूह बनाना चाह रहे हैं, तब कुछ नहीं कहना। पर यदि वे इस विषय में स्पष्ट नहीं हैं, तब उनकी बौद्धिक भ्रान्ति स्वतः स्पष्ट है। वे ऐसा अवधारण कर रहे हैं जो समाज को इस प्रकार बनने की प्रेरणा देगा, यह उन्हें स्वयं स्पष्ट नहीं तब क्या कहें? क्या इसी सभ्यता का संरक्षण करते हुए और इसी सभ्यता के योग्य, अपनी क्षमतानुरूप पुरुषार्थ करने को सबका कर्तव्य श्री दयाकृष्ण मानते हैं?

यह तो हुई इन वृद्ध दार्शनिक (अब स्वर्गीय) श्री दयाकृष्ण की स्थिति। अब युवा दार्शनिक श्री अम्बिकादत्त शर्मा के कथनों को देखें।

अम्बिकादत्त कह रहे हैं कि स्वतन्त्र भारत में, यानी 1947 के बाद अवशिष्ट भारत में, एकात्मक राजनीतिक अस्मिता है। अम्बिकादत्त वस्तुतः वही कह रहे हैं जो यूरोइण्डियन बुद्धि वाले बहुतेरे लोग कहते हैं। परन्तु इसका प्रमाण क्या है? यहाँ ऐसे सभी लोगों का निश्चय ही विविध राजनैतिक दलों से आशय नहीं है। अतः उन सबका आशय एक शासनतन्त्र से होगा जो एक सुदृढ़ सैन्यतन्त्र से रक्षित एवं पोषित है। परन्तु यह शासनतन्त्र एक तो भारत को राज्यों का संघ मानता है, राष्ट्र नहीं। राज्य (स्टेट) से इतर राष्ट्र की कोई भी अवधारणा इस शासनतन्त्र एवं संविधान में नहीं है। वहाँ राज्य है, राज्य के विविध अंग हैं एवं नागरिक व्यक्ति हैं तथा नागरिकों के विविध संघ भी अनुमति प्राप्त हैं। इन घटकों की ही परिभाषा संविधान में है। तो इसे एकात्म–राजनैतिक अस्मिता किस आधार पर कहेंगे? वस्तुतः संविधान तो 'इंडिया दैट इज़ भारत' को एक सम्प्रभु सार्वभौम (और अब सेकुलर सोशलिस्ट भी) गणतन्त्र अवश्य घोषित करता है परन्तु इस गणतन्त्र का जो विवरण वहाँ है, जो परिभाषाएँ दी गई हैं, वे केवल राज्य एवं व्यक्ति को ही आधारभूत प्रत्यय मानकर की गई हैं। फिर वहाँ यह भी स्पष्ट परिभाषित नहीं है कि राज्य, राज्यतन्त्र (गवर्नमेण्ट) से अभिन्न है या भिन्न। क्या भारतीय राज्य भारत के सभी नागरिकों की राजनैतिक शक्ति का प्रतिनिधि है? या वह मात्र शासनतंत्र का पर्यायं है? यों लिखा तो यह है कि, "हम भारत के लोग इसे आत्मार्पित करते हैं।" पर वहाँ भारत के लोगों को संस्कृति-सम्पन्न, धर्म-चेतना सम्पन्न, बुद्धि-सम्पन्न, ज्ञान-सम्पन्न मानव नहीं समझा गया है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो उसे संविधान की रचना में भारतीय ज्ञान-परम्पराओं, संस्कृति-परम्पराओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और स्मृति-परम्पराओं के सन्दर्भ ही प्रधान होते। वहाँ तो भारत के लोगों को मतदान नामक एक विशेष राजनैतिक क्रिया या कर्म कर रहे व्यक्ति मात्र माना गया है, जिन्होंने काँग्रेस आदि को वोट दिया है और वोट प्राप्त नेताओं ने एक संविधान सभा बनाई है, जो संविधान को तैयार और पारित कर रही है। संविधान सभा के किसी भी सदस्य ने भारतीय समाज से या मतदाताओं से यह सत्य नहीं बोला था कि हम भारत की धर्म-परम्पराओं एवं शास्त्र-परम्पराओं को शासन का कोई भी सन्दर्भ नहीं बनाएँगे, केवल 'एंग्लो-सेक्सन लॉ' को ही शासन का सन्दर्भ बनाएँगे। ऐसा करने के लिए उन्होंने मतदाताओं की स्वीकृति या अनुमति भी नहीं ली थी। इस प्रकार विराट ज्ञानराशि की भव्य परम्पराओं की वाहक बुद्धि के प्रतिनिधि भारतीयों को इस राजनीतिक बुद्धि ने कुछ गुना ही नहीं था। वे तो अंग्रेजों को भगाने के श्रेष्ठ पुरुषार्थ को स्वयं में पर्याप्त, इतना बड़ा एवं व्यापक पुरुषार्थ मान रहे थे और इतनी बड़ी वीरता मान रहे थे कि उसके बाद उन्हें भारत के करोड़ों लोगों के बौद्धिक एवं आध्यात्मिक पुरुषार्थ को, हजारों सालों की वीरता की परम्पराओं को, जिसमें से ही उनकी यह वीरता भी जन्मी थी, तथा उनकी भावभरी आत्मीयता को, नगण्य मानने का मानो स्वयंसिद्ध अधिकार प्राप्त हो गया। इस प्रकार यह संविधान किसी भी अर्थ में एकात्मक राजनैतिक अस्मिता की रचना नहीं है और यह राजतन्त्र किसी भी अर्थ में एकात्मक राजनैतिक अस्मिता की अभिव्यक्ति नहीं है। इसके अधिक प्रकट उदाहरण लें—भारत के जनगण मतदाता के रूप में केवल विधायिकाओं के लिए प्रतिनिधि चुनते हैं, परन्तु संविधान के आधारों के बारे में कभी कोई जनमत नहीं लिया गया है। संविधान रचना के समय भारत के जनगण को, विराट हिन्दू समाज को, यह कभी भी बताया नहीं गया था और इस विषय पर जनमत या जनादेश नहीं लिया गया था कि स्वतन्त्र भारत समस्त हिन्दू शास्त्रों, संस्कृति एवं परम्पराओं को तज देगा। एक यूरोप-भारतीय समूह ने स्वयं का मत ही सभी भारतीयों के लिए निर्णायक और कल्याणकारी मान लिया है। कार्यपालिका और न्यायपालिका के सैद्धान्तिक आधारों और व्यवहार रूपों तथा न्याय की मान्यताओं एवं परम्पराओं के निर्धारण के लिए भी मतदाता की कोई भूमिका नहीं है। शिक्षा-संस्कृति का सम्पूर्ण तन्त्र व्यवहारतः कार्यपालिका ने ही रचा है, रचती है और निर्धारित करती है। इसमें भारतीय मतदाता की कोई भूमिका नहीं है। इन अंगों के लिए प्रतिनिधियों के चयन का आधार कतिपय एंग्लो-सेक्सन विधियाँ एवं ज्ञान-परम्पराएँ हैं, भारतीय ज्ञानपरम्परा नहीं। इसीलिए भारत के विद्या-प्रतिष्ठानों में चल रहा एवं प्रतिष्ठित-दार्शनिक विमर्श भी राज्यतन्त्र के निर्णयों एवं रचनाओं का फल है, भारतीय ज्ञान-परम्पराओं के भीतर से निकला परिणाम वह नहीं है। इन यूरो-भारतीय बुद्धि के प्रतिनिधियों के द्वारा सृजित बौद्धिक परिवेश की न्यूनता या दारिद्र्य को भारतीयों की बुद्धि की न्यूनता या द्रारिद्र्य बताना इसीलिए समुचित नहीं है। वस्तुतः हमारे ब्यूरोक्रेट्स ने भी कभी ऐसा कोई सर्वसम्मत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्णय नहीं लिया कि हम भारतीय विधि-परम्परा को तजकर केवल एंग्लो-सेक्सन लॉ को मानेंगे।

अतः भारत की राजनैतिक स्वतन्त्रता कथमपि सभ्यता और संस्कृति विषयक भारतीय दृष्टिकोण की स्वाधीनता की परिचायक नहीं रह पाई है अपितु वह यूरो-भारतीय दृष्टिकोण के बर्बर एकाधिपत्य का एक अवसर बन गई है। सत्तारूढ़ राजनीतिज्ञों ने किसी दुरभिसंधि के कारण यह किया या फिर प्रमादवश होने दिया, यह पृथक विषय है। नौकरशाहों ने भी यह सब अविचारित ही चलने दिया– अभ्यासवश। सजग होकर वे ऐसे भारत-निरपेक्ष नहीं हो सकते थे।

अपने उक्त लेख में शर्मा ने जो कहा है, उसका सार यह है कि "भारत के अधिकांश मुसलमानों ने मजहब के आधार पर बलपूर्वक अपना एक अलग राष्ट्र माँगा, लड़े और पाया। शेष भारत में फिर भी मुसलमानों का समान अधिकार ही मान्य रहा तो यह भारत की सांस्कृतिक प्रकृति के अनुकूल ही है," ऐसा उनका मानना है। यहाँ सम्पादक ने अपने कथन के पक्ष में कोई भी प्रमाण-संकेत नहीं दिया है। क्या आततायियों के समक्ष झुकना भारत की सांस्कृतिक प्रकृति के अनुरूप है? आखिर कितने हिन्दुओं की हत्या करते उग्रवादी मुसलमान? उतने हिन्दुओं की हत्या क्या विभाजन के दौरान वैसे भी नहीं हो गई? क्या उस भीषण हिंसा को कारित एवं अनुमोदित करने का दोष गाँधी जी सहित समस्त नेतृत्व पर नहीं है? उस नृशंस हत्या का प्रतिकार राजधर्म नहीं है क्या? नहीं था क्या? स्पष्टतः *भारत के भाग रह चुके हिस्सों से हिन्दुत्व को देश निकाला दे दिया गया। अतः न्याय यह था कि शेष भारत में उसकी क्षतिपूर्ति की जाती। फिर जो निर्णय केवल कायरता, भय एवं सत्ता लोभ से उपजा था, उसे सांस्कृतिक प्रकृति के अनुकूल निर्णय कहना या मानना सम्यक् नहीं है। पूर्णतः बौद्धिक भ्रान्ति है यह।* यहाँ बात केवल दार्शनिक तर्क की है। *गहरी लज्जा के विषय को गर्व का विषय बताना आश्चर्यजनक है।* प्रायः सभी युरो-भारतीय बौद्धिक ऐसे ही आश्चर्यप्रद जीव हैं। इसी प्रकार 'अनेक मतावलम्बी केवल 'हिन्दुत्व संस्कृति' में समान रूप से समादृत और भागीदार होते हैं', इस कथन का आधार क्या है? ईसाइयत से पूर्व की सभी यूरोपीय संस्कृतियों में 1000 ई. के लगभग तक यही स्थिति थी। इस्लाम के पहले के अरब, ईरान, इराक, अफगानिस्तान में यही स्थिति थी। पाकिस्तान और बांग्लादेश में भी हाल तक 1947 तक तो, यही स्थिति थी, पर चलिए तब उसे तथा अफगानिस्तान को हिन्दुत्व का क्षेत्र कहेंगे परन्तु रेनेसाँ के बाद से अनेक प्रबुद्ध क्रिश्चियन देशों में भी सिद्धान्ततः सेकुलर मामलों में समान भागीदारी मान्य है। उसका ही लाभ उठाकर तो उग्रवादी मुसलमान आतंकी हमले कर पा रहे हैं। मय संस्कृति, इंका संस्कृति, एज़टेक संस्कृति, घना संस्कृति आदि शताधिक संस्कृतियों में विश्व भर में यही स्थिति रही है। बौद्ध संस्कृति के वाहक देशों में भी यही स्थिति है। पर कोई देश वहाँ के मुसलमानों के लिए अपने भीतर से एक अलग राष्ट्र देकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर शेष हिस्से में उनके समान अधिकार मान्य नहीं करने वाला। क्योंकि यह दर्शन या सांस्कृतिक बोध एवं मान्यता भर का प्रश्न नहीं है। यह तो आततायी प्रवृत्तियों के प्रति भाव, व्यवहार और दृष्टि का विषय है। व्यवहार में आततायियों के प्रति उदारता वस्तुतः श्रेष्ठ जनों के प्रति क्रूरता होती है। किसी भी शासन को तो ऐसी उदारता यानी श्रेष्ठजनों के प्रति क्रूरता का अधिकार ही नहीं है। इस क्रूरता का अनुमोदन गाँधी जी ने भी किया तो उससे वह सही नहीं हो जाती। गाँधी जी स्वयं एक श्रेष्ठ जन थे। पर उन्हें अन्य श्रेष्ठ जनों के प्रति क्रूर-कठोर होने का कोई भी अधिकार नहीं था।

पंथ-निरपेक्षता तो भारत का सनातन स्वभाव है। ऐसे सनातन पंथ-निरपेक्ष भारत में किसी भी समूह को अल्पसंख्यक किस आधार पर माना जा सकता है? फिर अल्पसंख्यक कह कर कतिपय समूहों को विशेष सांस्कृतिक अधिकार एवं विशेष सांस्कृतिक अवसर देना गलत तो है ही, उस बृहद् समाज के साथ घोर अन्याय है जिससे कर-ग्रहण पूर्वक बने राजकोष से ये विशेष अनुदान दिए एवं अनुग्रह किए जाते हैं।

यदि पाप-प्रवृत्तियों पर अंकुश ही नहीं लगाना है तो भारतीय दण्ड संहिता आदि तत्काल समाप्त कर देनी चाहिए और करुणा के उपदेश मात्र पर अडिग श्रद्धा रखकर दण्ड के समस्त विधान विसर्जित कर देने चाहिए। उत्तम तो यह है कि भारत के शीर्ष राजपुरुष आत्मरक्षा के लिए तैनात सिपाहियों और सैनिकों को तत्काल हटाकर इसका शुभारम्भ करें। राज्यारूढ़ एवं राज्यस्पर्धी व्यक्तियों के लिए तो सम्भावित आततायियों के दण्ड की ऐसी व्यवस्था और राष्ट्र के प्रति स्पष्ट आततायी भाव रखने वालों के प्रति उदासीनता, यह राजधर्म के विलोप का प्रमाण है।

जहाँ तक 'वैजात्य' या पाश्चात्य या विदेशी प्रहारों के पद-प्रयोग की बात है, अद्वैत की दार्शनिक दृष्टि से कोई भी विजातीय नहीं है। उसे आततायी एवं आसुरी भाव से भरा पापपूर्ण प्रहार कहना ही सम्यक है। विजातीय या सजातीय होने का सन्दर्भ वहाँ अप्रासंगिक है। भारत ने 'वैजात्य या विदेशी प्रहारों' को कभी मूक होकर नहीं सहा, निरंतर उसका वीरतापूर्ण उत्तर दिया, प्रतिकार किया। हम सहकर नहीं बचे हैं, दुष्टताओं का संहार करके बचे हैं। भारतीय वीरता अनुपम है, अद्वितीय है, स्तुत्य है। हमारे सभी देवी-देवता शस्त्रधारी हैं। सहेंगे तो समाप्त हो जाएँगे। 1947 से सह रहे हैं तो सिकुड़ते जा रहे हैं, दबते जा रहे हैं। कब तक?

हम सबको आत्मवत् देखते हैं अतः यदि अपने भीतर की पाप-प्रवृत्तियों का संहार कर्त्तव्य है तो बाहर की हमारी पाप-पुण्य की कसौटियाँ भी सार्वभौम हैं, साम्प्रदायिक या एकदैशिक नहीं। भिन्न पन्थ वालों का विनाश हिंसा है, पापाचार है तो विश्व में सभी के लिए वह वैसा ही है। इस्लाम या ईसाइयत या कम्युनिज्म या किसी भी नाम से वैसा करने को पुण्य नहीं माना जा सकता। जबकि आज भारत का शिक्षित आधुनिक हिन्दू इन तीनों प्रकार की हिंसा का समर्थक है, उसे वैधता देता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और इस वैधता के कारण-मीमांसा करते हुए गरीबी, अल्पसंख्यकों की असुरक्षा भावना आदि के तर्क गढ़ता है। इन तीनों के द्वारा अन्यों के विनाश की सार्वजनिक घोषणा को उनका नागरिक अधिकार बताया जाता है, हिंसा नहीं। जबकि योगसूत्र का स्पष्ट प्रतिपादन है—"सर्वदा सर्वथा सर्वभूतेषु अनभिद्रोहः अहिंसा।" और इस प्रकार भिन्न पंथी मनुष्यों के प्रति अद्रोह का न होना और विद्वेष का होना स्पष्ट हिंसा है। इस्लाम, ईसाइयत या कम्युनिज्म के प्रति विद्वेष शून्य रहना तो आवश्यक एवं उचित है। परन्तु उन तीनों को या किसी भी अन्य पंथ को शेष मनुष्यों एवं प्राणियों के प्रति द्रोह भाव की छूट देना हिंसा की अनुमति देने का पाप है। यह स्वयं में हिंसा ही है। जहाँ तक भारतीयों के विशेष सांस्कृतिक प्राणी होनें और पूर्वजों की स्मृतियों को दुहराने की बात है, पूर्वज रूप में स्मृतियों के स्तर पर उन्हें, जीवन्त रखने का कार्य तो हिन्दू, क्रिश्चियन, मुसलमान सभी करते हैं। जीजस, पैगम्बर मुहम्मद आदि भी सम्बन्धित पंथानुयायियों के पूर्वज ही तो हैं, वे एक सीमा तक तो उन पूर्वजों की स्मृतियों से ही प्रेरित संस्कृतियाँ हैं। उनमें प्राचीनतम अतीत की स्मृति वहाँ वर्जित है पर आधुनिक शिक्षित भारतीयों ने तो निकट अतीत की स्मृति भी खो दी है अन्यथा वह दार्शनिक दारिद्र्य ही क्यों होता, जिससे सभी दुःखी हैं। अतः वृथा भारताभिमान का कोई आधार यह नहीं बनता। वृथा भारत निन्दा और वृथा भारताभिमान दोनों अनुचित हैं। वस्तुतः हमारे प्रतिभाशाली युवा बौद्धिक यूरंडपंथी शिक्षा के प्रभाव में देख नहीं पा रहे कि वे उग्रवादी इस्लामी साम्प्रदायिकता तथा सत्तारूढ़ यूरो-भारतीय साम्प्रदायिकता के पक्ष में अकारण ही भक्ति-भाव दर्शाकर राजनैतिक क्लैव्य एवं कायरता को दार्शनिक या बौद्धिक शब्दजाल से ढँकने का दयनीय प्रयास कर रहे हैं।

विभाजन को स्वीकार करना स्वयं गाँधीजी की भी एक बड़ी कमजोरी और आत्म-विरोध है। पर उनके पास शाश्वत बड़प्पन की अनेक चीजें हैं।

जहाँ तक मजहबी राष्ट्र के रूप में पाकिस्तान की (और फिर बांग्लादेश की) स्थापना का प्रश्न है—वह किसी साम्प्रदायिक दुराग्रह रूपी दार्शनिक कुविचार या मतिभ्रम का फल नहीं है। अपितु एक पापपूर्ण राजनैतिक इच्छा से भपूर आसुरी शक्ति की प्रचण्डता का फल है। शेष भारत के साथ किया गया वह इतना स्पष्ट अन्याय है कि दार्शनिक या बौद्धिक बड़बोलेपन से अथवा झूठी भावुकता से उस अन्याय को कातर भाव से सहने का क्लैव्य गरिमामण्डित नहीं किया जा सकता। जो कुतर्क आज इस कायरता को ढँक रहा है, वही कल फिर हिन्दुओं से कहेगा कि मुसलमान अपने घरों में गीता या भागवत या रामायण या त्रिपिष्टक या साखी या आदिग्रन्थ रखें—न रखें, हिन्दू तो कुरान को अपनी गीता-रामायण के साथ नित्य रखना और पूजना शुरू ही कर दें क्योंकि ऐसा करना ही हमारी सांस्कृतिक प्रकृति के अनुकूल होगा। 'आत्मघात में कातरता पूर्वक अद्वितीय' बनने की होड़ को गौरवास्पद मानना शोचनीय है। भले ही इसे आत्मबलिदान की भ्रामक संज्ञा दी जाए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय संस्कृति एक अवयवी है तो भारतीय मुस्लिम उसके सहज अवयव हैं। इस आधार पर वे इस्लामी उपासना-पद्धति यानी अल्लाह की इबादत के सहज अधिकारी हैं। पर भारतीय संस्कृति के बहुलांश को हिन्दू संस्कृति कह कर उसे 'जाहिलिया' या 'कुफ्र' कहने के अधिकारी वे नहीं हैं। इसे 'कुफ्र' बताकर इसके विरुद्ध 'जेहाद' के अधिकारी भी वे नहीं हैं। अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थानों के नाम पर 'कुफ्र' या 'जेहाद' के इन अर्थों की शिक्षा की छूट देना अवयवी भारत को खण्डित करना और उसके अवयव विशेष को विषाक्त होने देना या रहने देना है। किसी अंश की स्वायत्तता का अर्थ उसको विषाक्त होने की छूट देना या उसके प्रति उदासीन रहना अथवा उसका विष दूर करने के लिए दत्तचित्त नहीं होना, नहीं है। फिर अम्बिकादत्त जी तथा शल्य जी आदि अनेक तटस्थ बौद्धिकों को बिना किसी जानकारी के यह कहने का क्या आधार है कि रा. स्व. संघ या विहिप आदि मात्र राणा प्रताप और शिवाजी को आदर्श मानते हैं, राम, कृष्ण, बुद्ध, वाल्मीकि, व्यास, वशिष्ठ, कालिदास अथवा कपिल, कणाद, गौतम, याज्ञवल्क्य, विश्वामित्र, भृगु, च्यवन, भारद्वाज, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, बसवाचार्य, कबीर, तुलसी, रविदास, गाँधी आदि को नहीं? वे नित्य जिस प्रातः स्मरणं का पाठ करते हैं, उसकी आपको जानकारी नहीं है तो यह अज्ञान आपका है, उनका नहीं। हो सकता है, आपकी भेंट किसी कम जानकार साधारण स्वयंसेवक से हुई हो तो उसे ही आप रा. स्व. संघ का शीर्ष प्रतिनिधि मान बैठें? या मान लेंगे? और ईसाइयत का प्रतिनिधि उनके शीर्ष दार्शनिकों को तथा कम्युनिज्म का प्रतिनिधि शीर्षस्थ कम्युनिस्ट चिन्तकों को मानें? राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वारा प्रकाशित किस पुस्तक में वह लिखा है जो सेक्युलरिस्टों द्वारा संघ का विचार बताया जाता है? या संघ और विहिप का कौन-सा बड़ा मुखिया वह सब विचार रखता है जिसे वे उनका विचार बताते रहे हैं? अन्य विचारधाराओं की सर्वोत्तम एवं शीर्ष विभूतियों को ध्यान में रखकर उनका विश्लेषण करना तथा हिन्दुत्वनिष्ठ संगठनों के किसी अति सामान्य ओर अल्पज्ञ परन्तु उत्साही समूह को ध्यान में रखकर इन संगठनों एवं प्रवाहों का विश्लेषण करना दार्शनिक जनोचित नहीं है। किस हिन्दूवादी चेतना की जन्मस्थली राजनीतिक इस्लाम है? इस तर्क के पक्ष में क्या प्रमाण हैं?

रा. स्व. संघ से कई गुना तेजस्वी हिन्दुत्व की आज आवश्यकता है परन्तु जिन्हें संघ ही नहीं पच रहा, वे तेजस्वी हिन्दुत्व को तो खा ही डालना चाहेंगे। या शायद जब कभी वैसा हिन्दुत्व आएगा तो ये डर कर उसकी भी वैसी ही चाटुकारिता करेगें जैसी अभी इस्लाम, कम्युनिज्म और खीस्तपंथ की करते हैं। मेरा एक प्रश्न है, सेक्युलरवादियों से। यदि आप वर्तमान अवशिष्ट भारत की सांस्कृतिक चेतना में राजनैतिक एवं मजहबी इस्लाम के लिए समान अवसर के पक्षधर हैं, तो फिर इस्लाम से प्रेरित हिन्दुत्व (जो अभी कहीं नहीं है पर हो जाए तो संतुलन के लिए उत्तम होगा) को भी यथोचित स्थान मिलने के पक्षधर आप क्यों नहीं हैं? सांस्कृतिक चेतना के महासागर की अनेक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरंगों में एक तरंग वह भी सही। जब आप ईसाइयत और कम्युनिज्म से प्रेरित सेकुलरिस्ट भारतीयों के प्रबल पक्षधर हैं तो इस्लाम से प्रेरित प्रचण्ड हिन्दुओं के सैद्धांतिक पक्षधर होने में आपको परेशानी क्या है? और आपको ऐसी परेशानी का क्या अधिकार है? क्या हिन्दुओं में राजनैतिक इस्लाम से प्रेरणा लेकर एक प्रबल हिन्दुत्वनिष्ठ संगठन खड़ा नहीं हो सकता? यद्यपि अभी तो इसके दूर-दूर तक लक्षण नहीं दिखते। अभी तो सम्पन्न और शिक्षित हिन्दुओं का बड़ा वर्ग क्रिश्चिएनिटी से प्रेरित है और उसे इसका दम्भ भी है। अम्बिकादत्त जी को विदित हो कि गाँधी जी ने बल देकर कहा था कि, "प्रत्येक धर्म विश्व में अपनी राजनैतिक सत्ता बनाकर ही टिक पाता है और टिक सकता है।" इसका आशय क्या है?

वस्तुतः संस्कारी एवं सदाशयी हिन्दू बौद्धिकों में भी यूरंडपंथी शिक्षा एवं संचार-माध्यमों के घटाटोप के कारण एक गहरी आत्मग्लानि, आत्मनिन्दा और आत्मधिक्कार की वृत्ति बलवती है। इसके मूल में है वह दयनीय बौद्धिक भ्रान्ति जो भारतीय आधुनिक बौद्धिक परिवेश में व्यापक है। भारत के अधिकांश आधुनिक बौद्धिक किसी भी विषय के मूल स्रोतों को नहीं पढ़ते, न भारतीय या हिन्दू शास्त्रों को वे पढ़ते, न कुरान-हदीस को, न ओल्ड तथा न्यू टेस्टामेण्ट और चर्चतन्त्र के इतिहास को, न कम्युनिज्म के मूल स्रोतों को। इसी प्रकार, न तो उन्हें यूरोप के उन देशों-समाजों का इतिहास ज्ञात है, जिसके वे भक्त हैं, न भारत का इतिहास ज्ञात है, न इस्लाम और ईसाइयत का। इस विराट विश्व में कैसी-कैसी श्रेष्ठ समुन्नत सभ्यताएँ हुई हैं? आस्थावान क्रिश्चिएनिटी और उग्रवादी इस्लाम ने उन सभ्यताओं के साथ कैसे व्यवहार किए हैं, स्वयं यूरोप पर क्रिश्चिएनिटी ने कैसे नृशंस अत्याचार किए हैं, स्वयं अरब, मिस्र, सुमेर, बाबुल व पारसीक देश की संस्कृति इस्लामी उग्रवाद ने किस प्रकार से नष्ट किये हैं, तेरह करोड़ निर्दोष व्यक्तियों की हत्या किस प्रकार कम्युनिस्टों के पैशाचिक तन्त्र ने 75 वर्षों के भीतर की है, तेजस्वी हिन्दुओं द्वारा भारत में एक भी दिन मुस्लिम शासन सम्पूर्ण देश पर कैसे नहीं रहने दिया गया, कैसे दिल्ली की छोटी रियासत का मालिक बनने का मतलब भारत का बादशाह होना बताना वैसा ही कथन है, जैसा रीवा-नरेश या पन्ना-नरेश का पृथ्वीपति होना;—इन सब आधारभूत तथ्यों तक से भारतीय बौद्धिकों का बहुलांश अनजान है। हिन्दुओं के तेजस्वी वीरतापूर्ण गौरवशाली इतिहास का कुछ ज्ञान दयाकृष्ण जी को था पर अम्बिकादत्त जी को तो तनिक भी ज्ञान नहीं है। आज भी भारतीय संचार माध्यमों का एजेण्डा कौन तय करता है सामान्यतः भारतीय बौद्धिक नहीं जानते। न तो इन लोगों ने 'मास्कोज हैण्ड इन इण्डिया' जैसे दस्तावेज़ पढ़े हैं, न ही 'मित्रोखिन पेपर्स।' भारतीय दर्शन के मूल स्रोतों की पढ़ाई तो शायद ही कोई एकाध आधुनिक भारतीय बौद्धिक करता हो। हमारी जानकारी में तो एक ने भी नहीं की है। आत्ममुग्ध गुणगान की प्रवृत्ति अवश्य है। पर विवेक के अभाव में जब स्वयं आत्म का ज्ञान नहीं हो और गुण-दोष का भेद-विवेक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही नहीं हो, तब वह गुणगान वस्तुतः गुणगान है या दोषगान, यह कैसे तय हो? आपात्काल में छल-बल से घुसेड़े गए 'सेकुलरिज्म' और 'सोशलिज्म' जैसे प्रत्ययों को भारत की सनातन प्रकृति से जोड़कर देखना-बताना इसी विवेकशून्यता का परिणाम है। जो भी शुभ शक्तियाँ भारत में जगें, उनकी निन्दा करने लगना, भारतीय तेज और वीरता की अभिव्यक्ति के विषय में कभी कोई विचार ही नहीं करना तथा तेज और वीरता के क्रूर दमन का जोश भरा समर्थन करना इसी विवेकशून्यता के अंग हैं। दर्शन के क्षेत्र में भी बौद्धिक अराजकता की व्याप्ति हो जाना इस बौद्धिक भ्रान्ति की पराकाष्ठा है। इसकी समाप्ति की सम्भाव्यताएँ क्या हैं? इस पर विचार के लिए एक स्वतन्त्र लेख की आवश्यकता होगी। वह फिर कभी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलबेला फकीर था–साई बुल्लेशाह

महीप सिंह*

इस देश में धार्मिक उदारता और सहष्णुता की लम्बी परम्परा की लहर सभी प्रकार की संकीर्णताओं और विग्रहों के बीच सदा ही प्रवाहित होती रही है। इस प्रकार की भावना के निर्माण करने में सूफी संतों का बहुत बड़ा योगदान रहा है। ये सूफी फकीर न धर्मान्धता के शिकार थे, न किसी भाषा के व्यामोह से पीड़ित थे। यही कारण था कि अवधी, पंजाबी, सिंधी, उर्दू आदि अनेक भाषाओं में इन फकीरों ने रचना की, जो अत्यन्त लोकप्रिय हुई। सूफी संतों के पास जाने वाले श्रद्धालु भी कभी एक धर्म अथवा सम्प्रदाय तक सीमित नहीं रहे। आज भी इनकी दरगाहों पर मुसलमानों के साथ ही गैर मुसलमान श्रद्धालुओं की संख्या भी बड़ी मात्रा में दिखाई देती है।

बुल्लेशाह अठारहवीं शती के पंजाब के सुप्रसिद्ध सूफी संत कवि थे। वे कसूर (अब पाकिस्तान में) के रहने वाले थे। उनका जीवन काल सन् 1680 से 1752 ई. तक माना जाता है।

बुल्लेशाह अपने समय के उन कवियों में से थे जिन्होंने धार्मिक कट्टरता, रुढ़िवाद, साम्प्रदायिक संकीर्णता का तीखा विरोध करते हुए मानवीय एकता और उसकी प्रेरक शक्ति 'प्रेम भावना' का खुलकर प्रचार किया। धर्म या मजहब मानव मात्र में प्रेम और भाई-चारे की भावना को जाग्रत करने और उसे बढ़ाने के लिए अपनी सार्थक भूमिका नहीं निभाता है, जब वह संकीर्ण सीमाओं में घिर कर भेदभाव और आपसी विद्वेष का साधन बनने लगता है, तो बुल्लेशाह जैसे सूफी फकीर बागी हो उठते हैं। बुल्लेशाह इसी मानसिकता को अपनी एक 'काफी' में व्यक्त करते हुए कहते हैं–मैं नहीं जानता कि मैं कौन हूँ, न मैं मस्जिद में जाने वाला मुसलमान हूँ, न मैं काफिरों के रीति-रिवाजों में हूँ, न मैं पवित्र धामों को भ्रष्ट करनेवाला हूँ...मैं तो एक ही बात जानता हूँ कि अपने दिल की करो... बस इसी एक नुकते पर बात खत्म हो जाती है–

बुल्ला की जाणा मैं कौण
ना मैं मोमन विच मसीतां

* डॉ. महीप सिंह, एच-108, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली-110026

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ना मैं विच कुफर दीआं रीतां
ना मैं पाकां विच पलीतां।
× × ×
इक पुकते विच गल्ल मुकदी ए
फड़ नुकता छोड़ हिसाबां नूं
कर दूर कुफर दिआं बाबा नूं
लाह दोजख गोर अजाबां नूं
गल ऐसे घर विच ढुकती ए
इक नुकते बिच गल्ल मुकदी ए

बुल्लेशाह धार्मिक कर्मकांड और दिखावे का खंडन करते थे और इस बात पर आग्रह करते थे कि बाह्याडंबर करने से अंदर की बात नहीं छिपती–

ऐवे मत्था जमीं घसाईदा
लम्मा पा महिराब दिखाई दा
पड़ कलमा लोक हसाई दा
दिल अंदर समझ ना लिआई दा
कदी बात सची वी लुकदी ए
इक नुकते विच गल मुकदी ए

साधक के मन में जब ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित हो जाती है तो न वह हिन्दू रहता है न मुसलमान। प्रेम उसका धर्म बन जाता है। बुल्लेशाह ने इस भाव को व्यक्त करते हुए कहा था–

ऐसा जागिआ ज्ञान पलीता
ना हम हिन्दू ना तुरक जरूरी
नाम इश्क दी है मंजूरी
आशिक ने हर जीता
ऐसा जागिंआ ज्ञान पलीता

पंजाब के लोक जीवन में हीर रांझा की प्रेम कथा जहाँ एक ओर लौकिक जीवन के अनूठे प्रेम को प्रकट करती है, वहीं उसमें अनेक आध्यात्मिक और पारलौकिक संकेत भी छिपे हुए हैं। सूफी कवियों ने इहलोक की प्रेम कथाओं का पारलौकिक ईश्वरीय प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए सहज सहारा लिया। उनकी मान्यता थी कि व्यक्ति इहलौकिक प्रेम की तीव्र अनुभूति पाकर ही पारलौकिक प्रेम की ओर बढ़ता है। इसी को सूफी कवि इश्क मजाजी (भौतिक प्रेम) से इश्क हकीकी (आध्यात्मिक प्रेम) की ओर अग्रसित होना कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुल्लेशाह के लिए इश्क हकीकी का सबसे बड़ा प्रतीक रांझा है और उसका जन्म स्थान तख्त हजारा उसके लिए मक्के से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। वे कहते हैं कि हाजी लोग मक्के की यात्रा करते हैं, परन्तु मेरा मक्का तो रांझा और तख्त हजारा है—

हाजी लोक मक्के नू जांदे
मेरा रांझा माही मक्का
मै तां मंग रांझे दी होई आं
मेरा बाबल करदा धक्का
हाजी लोक मक्के नूं जांदे
मेरे घर विच नौ सहु मक्का
विच्चे हाजी विच्चे गाजी
विच्चे चोर उचक्का
हाजी लोक मक्के नूं जांदे
असां जाना तख्त हजारे
जिस वल यार उसे वल काबा
भावें फोल किताबां चारे॥

व्यक्ति को जब इस अलौकिक प्रेम की लगन लग जाती है तो उसे अपने प्रेम में नित्य नई बहार दिखाई देती है। उस समय वह अपना-पराया सब कुछ भूल जाता है। उसकी अपनी धार्मिक सीमाएँ भी उसके सामने छोटी हो जाती हैं। वह सभी का हो जाता है। बुल्लेशाह के शब्दों में—

इश्क की नवीओं नवीं बहार
जा मैं सबक इश्क दा पढ़िआ
मसजिद कोलो जी उड़ा डरिआ
डेरे जा ठाकर दे वड़िया
जित्थे वजदे नाद हज़ार
इश्क दी नवीओं नवीं बहार
× × ×
वेद कुरानां पढ़ पढ़ थक्के
सजदे कर दिआं घस गए मत्थे।
ना रब तीरथ ना रब मक्के,
जिस पाया तिस नूर अनवार
इश्क दी नवीओं नवीं बहार॥

बुल्लेशाह धार्मिक संकीर्णता और कर्मकांड के विरुद्ध एक विद्रोही कवि थे। ऐसे विद्रोही कवियों को अपने समय में धर्म और समाज के कट्टरपंथियों का तीखा विरोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहना पड़ता है। परन्तु बुल्लेशाह जैसे फकीर सच्ची बात कहने से कभी नहीं झिझकते—यह जानते हुए भी कि सच बात कहने से चारों ओर तूफान मच जाता है—

मुंह आई ब़ात न रहिंदी ए
झूठ आखां ते कुछ बचदा ए
सच आखिआं भांबड़ मचदा ए
जी दोहां गल्लां तो जच्चदा ए
जच जच के जिहबा कहिंदी ए
मुंह आई बात ना रहिंदी ए

बुल्लेशाह के शब्दों में दुनिया में तो झूठ का अंधेरा छाया हुआ है। इसमें चारों ओर माया की फिसलन है। मनुष्य सब कुछ बाहर-बाहर ढूँढ़ता है, अंदर की ओर झाँकता नहीं—

एथे दुनिया विच हनेरा ए
इह तिलकण बाजी विहड़ा ए
वड़ अंदर देखो किहड़ा ए
किउं खफतण बाहर ढुँडेदी ए
मुंह आई बात ना रहिंदी ए

धार्मिक बाह्याडंबर करने वाले लोग अपने आप को कर्मकांडों की आड़ में छिपा लेते हैं। बुल्लेशाह कहते हैं— तुम अपने आप को किससे छिपा रहे हो। कहीं तुम मुल्ला हो कर बोलते हो, कहीं राम की दुहाई देते हो, कहीं सुन्नत को अपना मजहब बताते हो, कहीं माथे पर तिलक लगाते हो, कहीं चोर बनते हो, कहीं काजी बनते हो—

कहु किस थों आप छिपाई दा,
कहु किस थों आप छिपाई दा,
कहु मुल्ला होए बुलेंदे हो,
कहूँ राम दुहाई दें दे हो,
कहूँ सुन्नत मजब दसेंदे हो
कहूँ माथे तिलक लगाई दा,
किते चोर बने किते काजी हो
कहु किस थों आप छिपाई दा।

परन्तु हमारे संसार का चलन तो निराला है। लोगों ने अपने चारों ओर झूठ का इतना पसारा कर रखा है कि सच को सुनना नहीं चाहते। इसलिए इसके अतिरिक्त और क्या उपाय रह जाता है कि व्यक्ति चुप रह कर अपने दिन काट ले। संसारी लोग सच सुन कर लड़ने पर आमादा हो जाते हैं, वे सच कहने वाले के पास बैठना भी नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहते। परन्तु ईश्वर के प्रेमी के लिए तो सच ही सबसे मीठी चीज़ है। बुल्लेशाह कहते हैं–

चुप करके करीं गुजारे नूँ।
सच सुण के लोक न सहिंदे नी,
सच आखीएं तां गल पेंदे नी,
फिर सचे पास ना बहिंदी नी
सच मिट्ठा आशक प्यारे नूँ
चुप करके करीं गुजारे नूँ।

बुल्लेशाह सूफी फकीर थे। उन पर भारतीय अद्वैतवाद, गुरुमत और मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। अपने प्रियतम से बिछुड़ी हुई और सांसारिक मोह माया में सोई हुई जीवात्मा को जगाने और उसे आत्मबोध देने की उनकी शैली लगभग वैसी ही है जैसी उस युग के अन्य भारतीय संतों की थी। जीवात्मा को झझकोरते हुए वे कहते हैं–

उठ जाग घुराड़े मार नहीं
इह सौण तेरे दरबार नहीं
इक रोज़ जहानो जाणा ए
जा कबरे विच समाणा ए
तेरा गोश्त कीड़ियां खाणा ए
कर चेता मरण विसार नहीं

वे आत्मा रूपी नारी से कहते हैं–प्रभु से तुम्हारे विवाह की वेला निकट आ गई है। परन्तु तुमने तो कोई तैयारी नहीं की है। तुम सो कर उम्र गंवा रही हो। तुमने अपने चर्खे पर अभी तो ताना भी नहीं चढ़ाया। तुम मिलन के अवसर पर क्या करोगी? तुम्हारा दहेज तो अभी तैयार नहीं है।

तेरा साहा नेड़े आया ए।
कुझ चोली दाज रंगाया ए।
किऊं आपणा आप वजाया ए।
ऐ गफलत तैनू सार नहीं
उठ जाग घुराड़े मार नहीं
× × ×
तूं सुतिआ उमर वजाई ए
तू चर्खे तंद न पाई ए
की करसैं? दाज तिआर नहीं
उठ जाग घुराड़े मार नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुल्लेशाह पंजाबी भाषा के कवि थे, परन्तु उस युग के संत कवि किसी एक भाषा से बंधे हुए नहीं थे। उन्हें समाज के विभिन्न वर्गों में अपनी बात पहुँचानी होती थी, इसलिए जब जैसी ज़रूरत होती थी वे अपनी भाषा में नया रंग भर लेते थे। भाषा का यह खुला रूप बुल्लेशाह की इस कविता में दिखाई देता है–

अब लगन लगी किह करीए।
ना जी सकीए ते न मरीए
तुम सुनो हमारी बैना
मोहे रात दिने नहीं चैना
हुए पी बिन पलक न सरीए
अब लगन लगी किह करीए
इह अगन बिरहों की जारी
कोई हमरी प्रीत निवारी
बिन दरसन कैसे तरीए
अब लगन लगी किह करीए
बुल्ले पई मुसीबत भारी
कोई करो हमारी कारी
इक अजिहे दुख कैसी जरीए
अब लगन लगी किह करीए॥

सूफी परम्परा में बुल्लेशाह जैसा मतवाला और फक्कड़-मिजाज, धर्म/मजहब की तंगदिली को पूरी तरह नकार देने वाला सहिष्णुता से भरपूर व्यक्तित्व दूसरा नहीं दिखाई देता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रचार

शंकर पुणतांबेकर*

एक नूर आदमी, दस नूर कपड़ा तो हजार नूर प्रचार।

सालों पुरानी बात है, इंदौर में हुकुमचंद सेठ का कांच-महल देखा था। एक स्थान पर उसमें ऐसे आईने लगे थे कि एक मैं की लम्बी कतार मैं देख रहा था। जिस दिशा में देखता उधर।

प्रचार में भी ऐसा ही होता है। आईने में तो बिम्ब की जरूरत होती है प्रतिबिम्बों के लिए। प्रचार तो ऐसा जादू है कि बिना बिम्ब के ही प्रतिबिम्ब खड़े हो जाते हैं, सर्वत्र।

आईने में तो मैं ही अपना प्रतिबिम्ब देखता हूँ, दूसरे नहीं देख पाते। प्रचार में मेरा प्रतिबिंब दूसरे देखते हैं, और दूसरे देखें इसीलिए यह होता है। इस मायने में कह सकते हैं प्रचार तस्वीर है।

अब आप देखिए, तस्वीर में मैं हूँ और सीधे मैं नहीं हूँ जैसे आईने में होता हूँ।

इससे भी आगे और देखिए, प्रचार में मैं हूँ और सीधे मैं नहीं हूँ जैसे तस्वीर में होता है।

आईने में और तस्वीर (या मूर्ति) में भी मैं आकार हूँ जबकि प्रचार में मैं निराकार हूँ।

निराकार में शरीर नहीं रह जाता केवल गुण या तत्त्व रह जाते हैं, यही बात प्रचार में है। इस तरह गुण और तत्त्व युक्त प्रचार विचार का ही वहन करता है। इसमें मैं निमित्त हूँ। गुण और तत्त्व के पोषण में भगवान भी तो निमित्त होता है, ऐसे ही जैसे पेड़ा कुनैन के पोषण में। हम कुनैन कड़वी है सो फेंक देते हैं, मीठा पेड़ा चाव से खा लेते हैं। हम आशय फेंक देते हैं और मीठी कथा का बड़े भक्तिभाव से पाठ करते हैं।

आईने से प्रचार तक की विकास यात्रा वास्तव में स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा है रूप से गंध की।

* 2, मायादेवी नगर, जलगांव-425002

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रचार में गंध ही पहुँचाया जाता है। बुद्ध के अनुयायी देश-विदेश में प्रचार के लिए बुद्ध की गंध को ही ले गये थे। रूप तो बाद में पहुँचा जब ग्राही गंध की मादकता में उसके लिए तड़प उठे।

विवेकानंद शिकागो में गंध के साथ ही तो पहुँचे थे।

बुद्ध या विवेकानंद के प्रचार में इनके अपने लाभ नहीं जनहित की बात थी। इस तरह इनके अनुयायियों का प्रचारकार्य अपने आप में पुण्यकर्म था। पुण्यकर्म इसलिए कि अनुयायी गंध बेचते नहीं थे बाँटते थे।

धर्म बाँटने के लिए ही होता है। और बाँटने की इस क्रिया में सीख और प्रचार में भेद नहीं रह जाता। धर्म बड़ों की सीख का विषय है जिसकी पाठशाला मंदिर-मस्जिद है।

सीख और प्रचार में यदि फर्क करना ही चाहें तो कह सकते हैं कि सीख में हम स्वेच्छा से गुरु के पास जाते हैं, प्रचार में स्वयं गुरु हमारे दरवाजे पर आता है। साधु-संत, पीर-फकीर हमारे दरवाजे पर भिक्षा के बहाने यही कार्य करते हैं। हाँ, ये सच्चे न हों तो प्रचार के बहाने भिक्षा बटोर ले जाते हैं।

धर्म बाँटने की क्रिया में दरवाजे पर अब ऐसा भी दिख पड़ता है कि प्रचारक सीख भी देता है और भिक्षा भी।

भारत में विदेशी मिशनरी क्या यही कार्य नहीं कर रहे हैं! ये लोग चुन-चुनकर ऐसे लोगों के पास पहुँचते हैं जिनके मकानों की दीवारें ही नहीं हैं। और इनके प्रचार-अभियान में, इसे अभियान क्या युद्ध ही कहा जाये, शीतयुद्ध, देशी सीख परास्त हो जाती है। प्रचारवालों की सीख से नहीं भीख से।

अब प्रचार में गंध नहीं रह गयी, गंधाभास आ गया है जो रूप में से पेश किया जाता है। गंध की परख रूप से होने लगी और प्रचार की मार कि हम रूप को ही गंध मानने लगे। और भी, जितनी गंधहीनता उतनी प्रचार-प्रचुरता। कहना न होगा कि प्रचार-प्रचुरता के पीछे लक्ष्य जनहित का इतना नहीं जितना स्वहित का। विकास के साथ प्रचार धर्म रहा ही नहीं वह अर्थ और काम बन गया। धर्म में भी।

प्रचार अब राजनीति और वाणिज्य का अंग बन गया है, बल्कि इनका प्राण।

प्रचार का जब मैं विचार करता हूँ तो मुझे अंग्रेजी के पब्लिसिटी, प्रोपेगंडा और एडवरटाइज़मेंट तीनों एक ही थैली के चट्टेबट्टे लगते हैं। हिंदी में इन्हें क्रमशः प्रकाशन, प्रचार और विज्ञापन कह लें, पर प्रकाशन में प्रचार-विज्ञापन नहीं है, प्रचार में विज्ञापन-प्रकाशन नहीं है अथवा विज्ञापन में प्रकाशन-प्रचार नहीं है ऐसा हम कह नहीं सकते। मुझे तो ये समान चेहरे और कद-काठीवाले तिड़वाँ भाई लगते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीनों के बारे में मैं ऐसा गुत्थी भरा था कि फरक समझने के लिए मैं अपने दोस्त राजाराम के पास पहुँचा।

मैंने अपनी बात जब उसके सामने रखी तो वह बोला, तुम क्या सारी दुनिया कन्फ्यूज्ड है इन तीनों धूर्त शब्दों को लेकर। और उसने मुझे बड़े मनोयोग से और पूरे विस्तार के साथ फरक समझाया। इसके लिए उसने एक शब्द पकड़ा—संविधान। कहा पब्लिसिटी—सूचना या प्रकाशन अफसरी शब्द है, प्रोपेगंडा—प्रचार-प्रसार नेताई शब्द है तो एडवरटाइज़मेंट—विज्ञापन—ढोल व्यापारी शब्द है।

संविधान को लेकर अफसर कहेगा—सुनो, संविधान बना है। यह 'बना' पर जोर देगा।

संविधान को लेकर नेता कहेगा—देखो, संविधान हमारा है। यह 'हमारा' पर जोर देगा।

संविधान को लेकर व्यापारी कहेगा - रुको, संविधान यहाँ है। यह 'यहाँ' पर जोर देगा।

राजाराम के विस्तार को आगे मैं अपने शब्दों में पेश कर रहा हूँ।

ऊपर के तीनों उदाहरण में 'संविधान' तो है पर जोर संविधान पर नहीं है। पब्लिसिटी हो, प्रोपेगंडा या विज्ञापन इसमें बात मूल मुद्दे की नहीं होती, होती है संकलनत्रय में से किसी या किन्हीं तत्त्वों की। पहले उदाहरण 'बना है' में मुद्दा प्रसंग (व्यक्ति) का है; दूसरे 'हमारा है' में मुद्दा नेता और जनता के आपसी सम्बन्ध का जरूर है, पर चुनाव के समय का, तीसरे 'यहाँ है' में तो सीधे-सीधे स्थल-दुकान की बात है।

मैं किसी बात की मजबूरी से सरकारी दफ्तर जाता हूँ। मैं अपनी बात अफसर के सामने पेश करता हूँ तो वह बड़ी रुखाई से कहता है, सुनो संविधान बना है। बाहर नोटिस बोर्ड पर देख लो, अखबारों में साया हुआ हैं नहीं देखा क्या! 'बना है' पर जोर होने से ध्वनित होता था कि शिकायत पैदा करने के लिए संविधान बना है, सो सरकार या किसी के खिलाफ शिकायत करना गैर सवैधानिक है।

मैं नोटिसबोर्ड पर जाता हूँ। वहाँ पब्लिसिटी के चेहरे में मुझे प्रोपेगंडा का चेहरा भी दिखा और एडवरटाइज़मेंट का भी।

मैं लौटकर अफसर के पास जाता हूँ। वह तब तक कुर्सी में ऊँघने लगा था। कहता हूँ, संविधान की प्रति है कहाँ, मुझे संविधान दिखाइए।

चुप! मेरी बात सुनकर वह चिल्लाता है, कह दिया न तुमसे संविधान बना है!

मेरे कहने पर कि वही तो मुझे देखना है, अफसर ने मेरा नाम पूछा, जाति पूछी, ओहदा-व्यवसाय पूछा!

मैं चिढ़कर कहता हूँ, क्या अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग संविधान हैं?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अफसर चपरासी के लिए घंटी बजाता है। चपरासी के आने पर उसे कहता है —इस आदमी को बाहर निकाल दो।

क्रुद्ध होकर मैं प्रतिक्रिया व्यक्त करता हूँ, क्या संविधान में लिखा है कि संविधान की बात करने वाले को बाहर खदेड़ दो? बाहर ब्लैकबोर्ड पर संविधान में मैं हूँ, पर अंदर केबिन में मैं देख रहा हूँ मैं कहीं नहीं हूँ।

पब्लिसिटी कहती है मैं स्वतंत्रता, समानता, न्याय का हकदार हूँ पर इन्हीं से मैं वंचित हूँ।

चपरासी मुझे बाहर सड़क तक खदेड़ देता है। मैं अनुभव करता हूँ पब्लिसिटी कैसी मगरूर है। उसे अपने अधिकार की तो चिंता है कर्तव्य की नहीं। पब्लिसिटी अपनी 'सुनो' तो खूब सुनाती है, जनता की 'सुनो' जरा नहीं सुनती। अपनी सुना दी, काम खत्म। लोगों ने सुनी या नहीं सुनी, सुनकर क्या प्रतिक्रिया हुई इससे उसे कुछ लेना-देना नहीं है। पब्लिसिटी को विज्ञापन की भाँति बेचने-वेचने का काम जो नहीं कि वह प्रतिक्रिया की चिंता करे। 'कोऊ मृत होऊ हमें का हानी' की ब्यूरोक्रेटी चमड़ी में और गैंडे की चमड़ी में कोई फर्क नहीं होता। पब्लिसिटी प्रगति के ऊँचे आँकड़े नोटिसबोर्ड पर और दुनिया-भर के अखबारों में पेश कर रही है, इसके बावजूद भी मैं यदि भूखा-नंगा बेघर हूँ तो कोई क्या करे।

मैं भूखा-नंगा-बेघर हूँ की कभी पब्लिसिटी नहीं होती! इसलिए कि पब्लिसिटी ब्यूरोक्रेट है। संविधान ब्यूरोक्रेट न हो, पर ब्यूरोक्रेट के हाथों में पड़ ब्यूरोक्रेट बन जाता है।

भूखे नंगे-बेघर को संविधान ने उठाने के लिए आवाज तो दी है, लेकिन ब्यूरोक्रेट की पब्लिसिटी अपने ऊँचे ढोल में उसे दबा देती है। यह हाथी भूखों को रोटी लेकर निकलता है, इस बात की बड़ी पब्लिसिटी होती है, किंतु हाथी के पैरों तले कितने भूखे चींटियों की तरह कुचल जाते हैं, इस बारे में वह मौन रहती है।

मैं बाजार जा रहा हूँ सौदा खरीदने कि मेरे कानों में आवाज आ पड़ती है, देखो, इधर देखो। संविधान देखो।

यह संविधान हमारा है। मेरा भी आपका भी।

आवाज नयी नहीं थी और न संदेश ही। संदेश जता रहा था कि चुनाव का समय आ गया है।

आगे बढ़ने पर सड़क के किनारे मुझे नेता खड़ा हुआ दिखायी देता है उस विक्रेता की तरह जो मजमा इकट्ठा कर शिलाजीत जैसी जड़ीबूटी, सांडे का तेल, बजरबट्टू आदि बेचता है। विक्रेता चीजों के गुण गाता है, यह अपने ही गुण गा रहा था। गुण गाता है अपने ही नाना मुद्रा के चित्रों को पॉइंटर से दिखाकर जिन्हें उसने सड़क के किनारे खड़े किये होर्डिंग पर चिपका दिया था। गुण गाते बीच में ही वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संविधान की बात करता जिसे वह स्टूल पर रखे हुए था। संविधान भी वह पॉइंटर से दिखाता।

देखो, संविधान देखो। इस संविधान ने जो मुझे दिया है वही आपको दिया है। यह संविधान हमारा है। इसे ज्यादा से ज्यादा आपका बनाने का काम मैंने किया है। मेरी मुद्रा चित्र–तीन में देखो। मैं मुस्करा रहा हूँ। मुस्करा रहा हूँ, इस बात पर कि आप लोगों की खुशहाली के लिए मैं विदेश से अरबों का कर्ज लाने में सफल हुआ हूँ। आँखे देखों, आँखों में सपने तैर रहे हैं जिसमें आप लोग नाच रहे हैं, गा रहे हैं, उछलकूद कर रहे हैं। चित्र दो की मुद्रा की रेखाओं पर गौर करो। मुद्रा जैसे मेरी नहीं है देश की है देश की। अब क्या बताऊँ आपको। मुझ जैसा देशभक्त और दूसरा नहीं मिलेगा आपको। यह संविधान है–हमारा संविधान है। होर्डिंग पर मेरे जितने भी चित्र लगे हुए हैं, विदेशों में सभी खूब सराहे गये हैं। ये ऊँचे चित्रकार की कूची से जो उतरे हैं। चित्रकार ऊँचा हो पर मैं स्वयं कम ऊँचा नहीं हूँ। देश के लिए मैंने क्या-क्या नहीं किया! अंग्रेजी को बनाये रखा, देश का विदेशी चीजों के लिए दरवाजा खोल दिया, विदेशी शासन और न्याय प्रणाली को बरकरार रखा। चित्र नंबर आठ की मेरी मुद्रा देखो। इसमें से दृढ़ संकल्प झलकता है देशी-विदेशी के फर्क को ख़त्म करने का। चित्र में मुद्रा की नाक देखो। ऐसी उठी हुई नाक बता दो किसी और की हो। कटु पराजयों में भी यह ऐसी ही उठी हुई रहती है। यह संविधान है–हमारा संविधान है। इसे ज्यादा से ज्यादा आपका बनाने का काम मैंने किया है। मुझ जैसा देशभक्त और दूसरा नहीं मिलेगा आपको।...

मैं देखता हूँ नेता सांडे के तेल की तरह अपनी घोषणा बेच रहा हूँ। इसकी बनायी यह घोषणा-दवा जनता के सारे दुखदर्द को देखते-देखते दूर कर देगी। दुखदर्द बेरोजगारी का, महँगाई का, अन्याय-शोषण का, अशिक्षा-अभाव का। होर्डिंग पर आँख गड़ा कर देखता हूँ तो वहाँ चित्रों में बैठे प्रोपेगंडा में मुझे विज्ञापन की मुद्रा झलकती है जो हमें ठगने की ताक में रहती है। प्रोपेगंडा हो या विज्ञापन ये अपना सर्टिफिकेट आप लिखते हैं–मैं नेता हीरालाल / साबुन लक्स प्रमाणित करता हूँ कि मुझ-जैसा मैं ही हूँ। आजमाकर देखिए आपको विश्वास हो जाएगा। मैं बार-बार जोर देकर कहता हूँ कि मुझ-जैसा शुद्ध, प्रामाणिक, विश्वसनीय और बेहतर अन्यत्र दुर्लभ है। अतः आप मुझे ही चुनें।

यहाँ से कुछ कदम आगे बढ़ने पर 'देखो, इधर देखो। संविधान देखो' की आवाज फिर कानों पर आ टकराती है। इस बार नेता सड़क के विरुद्ध किनारे पर है। मजमा यहाँ भी है और होर्डिंग पर लगे नेता के चित्र भी। स्टूल पर संविधान की प्रति है, नेता के हाथ में पॉइंटर है। सब-कुछ वैसा ही सिर्फ दशा विरुद्ध की है। नेता के भाषण में भी विशेष फर्क नहीं है। यह भी दावा करता है कि संविधान को ज्यादा-से-ज्यादा जनता का बनाने का काम उसने किया है। कहता है उस-जैसा देशभक्त जनता को और कोई नहीं मिलेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों नेता ऊपर दी गयी सभ्य भाषा का ही प्रयोग नहीं करते असभ्य और गाली-गलौज की भाषा पर भी आ जाते हैं। गाली-गलौज की भाषा से सूरज की चमक-सा स्पष्ट है कि देश में लोग संविधान-प्रदत्त अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार का पूर्णरूपेण उपभोग कर रहे हैं।

प्रतिकार में प्रचार धारदार बनता है। प्रचार को विज्ञापन के विपरीत सीधे-सीधे हमला बोलने का अधिकार प्राप्त है। इस मायने में प्रचार एक प्रकार से तलवार ही है। इस तलवार का मुकाबला भी प्रचार से किया जाता है। इस तरह प्रचार तलवार भी है ढाल भी है। यह देखते हुए हम कह सकते हैं आज हम नित्य युद्ध में रहते हैं–शांति फेल होने पर शस्त्र-युद्ध में, युद्ध फेल होने पर प्रचार-युद्ध में। शांतिकाल तो प्रचार युद्ध-काल ही है क्या देश-देश में और क्या अकेले अपने ही देश में। जिसे लोकतंत्र कहा जाता है वह प्रचारतंत्र का ही सभ्य नाम है।

यहाँ एक बात और। विचार-विचार टकराते हैं तो वे उतने ही गहरे बनते हैं, इसके विपरीत प्रचार-प्रचार टकराते हैं तो वे उतने ही छिछले।

अब तीसरे भाई विज्ञापन पर आता हूँ जो कहता है–रुको, संविधान यहाँ है। संविधान तो सर्वत्र देश-भर में है, पर व्यंजना में, किंतु वह यहाँ–दुकान में अभिधा में है। यहाँ संविधान की प्रति है जिसे आप खरीद सकते हैं।

मैं संविधान के लिए दुकान में जाता हूँ। दुकानदार ने उसे भव्य और बड़ा आकार देकर ऊँचे शोरूम में रखा है। पब्लिसिटी का जैसा नोटिसबोर्ड, प्रोपेगंडा का होर्डिंग वैसा एडवरटाइज़मेंट का शोरूम। शोरूम देखकर वह मुझे विज्ञापन का अमूर्त विज्ञापन का मूर्त अवतार लगता है। और क्या कहूँ, शोरूम में मुझे चूहे का पिंजरा नज़र आता है।

हाँ, तो मैं दुकान में जाता हूँ। ओह, आइए आइए! दुकानदार मेरा स्वागत करता है।

कितनी अच्छी बात है कि आपके यहाँ संविधान है! मैं कहता हूँ और आश्चर्य कि मेरी बात सुन दुकानदार चौंकता है।

मैं अपने मंतव्य पर आता हूँ और दुकानदार को बताता हूँ कि मुझे संविधान चाहिए। यह सुन वह नौकर को कोकाकोला का ऑर्डर देता है और मेरे सामने ब्रिटिश शर्ट, अमरीकी पैंट और स्विडिश टाई पेश करता है।

इन विदेशी चीजों में मुझे लक्स, कोलगेट, जान्सन, व्हर्लपूल, फिलिप्स, क्रॉम्प्टन खड़े दिखायी देते हैं और चीख-चीखकर अपनी गाथा मुझ पर मार रहे हैं।

मुझे संविधान चाहिए। दुकानदार से मैं यह बात ऐसे कह जाता हूँ जैसे सुरेंद्र वर्मा की नायिका वर्षा कहती है, मुझे चाँद चाहिए। मुझे लगता है संविधान यहाँ केवल शोकेस में है, केवल विज्ञापन के लिए। संविधान के नाम और ही चीजें मत्थे मारी जा रही हैं। मिशनरी जो काम गरीबों के बीच कर रहे हैं वही काम क्या बहुराष्ट्रीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कंपनियाँ संपन्नों के बीच नहीं कर रही हैं? मिशनरियाँ प्रचार से मार रही हैं, बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ विज्ञापन से। संपन्न और सुख-सुविधाओं से युक्त कितने लोग हैं जो कहते हैं—मुझे संविधान चाहिए। दुख की बात तो यह है कि ऐसी हठ हमारे जिम्मेदार नेता भी नहीं करते।

नौकर कोकाकोला ले आता है, पर उससे मुँह मोड़ मैं दुकान से चल देता हूँ। शोरूम की ओर हठात् निगाह जाती है तो मुझे लगता है संविधान उस भव्यता में रो रहा है। विज्ञापन में मूल्य रोते ही हैं।

मैं देखता हूँ कि आज प्रचार-रोग के बिना वाणिज्य-राजनीति तो क्या साहित्य-कला शिक्षा-संस्कृति भी स्वस्थ और हृष्टपुष्ट नहीं बन सकते। इसके बिना अस्तित्व अस्तित्वहीन बना रहता है।

दोस्त राजाराम ने जब मुझे यह बताया तो मुझमें एकदम अस्तित्वहीनता का अहसास जागा। मैं लिख रहा था, लिख रहा था, ढेर सारा लिख चुका था—तब भी साहित्य-जगत् में मैं अस्तित्वहीन था।

रोग के अभाव में मैं जर्जर था। प्रचार-रोग के अभाव में अस्तित्वहीनता से जर्जर। रोग उत्तम जर्जरता नहीं।

जर्जरता से मुक्ति के एक उपाय के रूप में मैंने प्रचार-रोग के एक मार्ग विमोचन-समारोह को पकड़ा। यह मार्ग मुझे राजाराम ने ही सुझाया। भारी से भारी प्रचार की दृष्टि से इसके आयोजन में क्या किया जाये, क्या न किया जाये, किन्हें बुलाया जाये, उनसे अपना मतलब कैसे साध्य किया जाये, उन्हें किस ढंग से प्रसन्न रखा जाये आदि बातों के ब्यौरे पूरी बारीकियों और चालाकियों के साथ उसी ने मुझे बताये। कहा, पैसे जरूर ज्यादा खर्च होंगे, पर जितना गुड़ डालोगे उतना मीठा नतीजा हाथ आयेगा। यह भी बताया कि इस बात से न डरो कि बड़े लोग बुलाने पर आयेंगे या नहीं, जरूर आयेंगे। अरे भाई, ऊँचा खिलाओगे-पिलाओगे तो क्यों नहीं आयेंगे! फिर प्रचार करने के पीछे ये भी तो प्रचारित होते हैं। विद्वान सत्यनारायण की पूजा कराने वाले पंडित की तरह होते हैं। पूजा वही, सिर्फ कथा बाँचते हुए सत्यनारायण की जगह उसका नाम होता है जो इन्हें बुलाता है।

जिस हॉल में समारोह था उसे मैंने खूब सजाया। बाहर भी ऐसी सजावट की कि जैसे शादी हो। आये हुए विद्वानों को मैंने उनके मंच पर आसीन होने से पहले साफ-साफ बता दिया कि उन्हें मेरे संदर्भ में क्या कहना है और यह भी कि मेरे पूर्व के नामी लेखकों का उल्लेख अपने वक्तव्यों में न करें। यदि करें ही तो मुझे उनसे बढ़चढ़ कर दिखायें। मुझे कालजयी लेखक कहते न अघायें। बतायें कि मैं हिंदी ही नहीं समस्त भारतीय भाषाओं के श्रेष्ठ लेखकों में से हूँ। समारोह वैसा ही हुआ जैसा मैंने चाहा था। राजाराम ने कहा है, इस रोग के असर का लंबा कोर्स है। सो उपाधि, पारितोषिक, पद आदि के लिए मैं इसे जारी रखूँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक-चर्चा

गहन अध्ययन, चिन्तन एवं मनन पर आधारित विवेचन*

ब्रज बिहारी कुमार

'चिन्तन, मनन और विवेचन' में इस देश की मुख्य धारा के प्रतिष्ठित चिन्तक, लेखक एवं समीक्षक डा. कुमार विमल के सम्पूर्ण आलोचनात्मक साहित्य का सर्वोत्तम संग्रहित है, जिसे उन्होंने अपने सतहत्तरवें जन्मदिन के अवसर पर अपने स्नेही, सुधी और विवेकी पाठक-वृन्द को समर्पित किया है। जैसा कि लेखक का मत है, "इसे एक ऐसा 'सम्पुट' कहा जा सकता है जो उनके 'आलोचना-साहित्य के 'सर्वसंग्रह' का भी काम करता है।"

चिन्तन, मनन और विवेचन के साढ़े चार सौ पृष्ठों के कलेवर में चौदह लेख शामिल हैं, जिनमें कुछ लेख तो पुस्तकाकार ही हैं, जैसे 'ललित कला में कल्पना-तत्त्व' शीर्षक 95 पृष्ठों का लेख। पुस्तक के प्रारंभिक पाँच लेख (दूसरे लेख–'भारतीय संस्कृति और हिन्दी साहित्य' को छोड़कर) सौंदर्यशास्त्रीय आलोचना के विभिन्न पक्षों पर लिखे गये हैं। इस संग्रह के लेख–सौंदर्यशास्त्रीय आलोचना के नये आयाम–में विषय से जुड़े विभिन्न पक्षों का विद्वत्तापूर्ण विवेचन विस्तारपूर्वक किया गया है। इसमें स्त्रीवादी सौन्दर्यशास्त्र, अश्वेत सौन्दर्यशास्त्र, अभिग्रहण सौन्दर्यशास्त्र, सांस्कृतिक सौन्दर्यशास्त्र, पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र आदि तथा भारतीय काव्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र, शैव दर्शन से संदर्भित सौन्दर्यशास्त्र की चर्चा विशेष महत्त्व की है। सांस्कृतिक सौन्दर्यशास्त्र प्रवासी लेखन के संदर्भ में नाटकों के अन्तर-सांस्कृतिक अपील एवं अन्तर-सांस्कृतिक पर्युत्सुकता पर भी विचार करता है। ऐसे में संग्रह का दूसरा–भारतीय संस्कृति और हिन्दी साहित्य–एवं अन्तिम लेख–प्रवासी साहित्य और सांस्कृतिक संवाद–विषय-विमर्श में अपेक्षित गहराई एवं सघनता लाते हैं। हिन्दी साहित्य में भारतीय संस्कृति-विषयक अनेकों पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है जिसकी चर्चा उल्लिखित लेख में की गयी है। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि अंग्रेजी में लिखे गये भारतीय संस्कृति विषयक अध्ययनों से भी अधिक इन पुस्तकों में मौलिकता की कमी

* चिन्तन, मनन और विवेचन, डा. कुमार विमल, सद्विचार प्रकाशन, 96-ए, एम. आई. जी. एच., लोहिया नगर, पटना-800020

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इनमें से अधिकांश पुस्तकों में विदेशियों तथा मार्क्सवादियों द्वारा निर्मित मिथकों की भरमार है।

अगले लेख में संस्कृत काव्यशास्त्र और आधुनिक सौंदर्यशास्त्र की पारस्परिकता, उनके बीच के साम्य एवं विभेद का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस विषय में पाश्चात्य एवं कुछ भारत के विद्वान भारतीय काव्य शास्त्र तथा सौन्दर्यशास्त्र के विभेद को रेखांकित करते हुए सौन्दर्यशास्त्र को एक पाश्चात्य शास्त्र के रूप में मान्य करते हैं। के. एस. रामस्वामी शास्त्री जैसे विद्वान इसका खण्डन करते हैं। वे भारतीय काव्यशास्त्र को सौन्दर्यशास्त्र की संज्ञा देते हैं और सौन्दर्यशास्त्र के बीज चिन्तन की खोज भारतीय काव्यशास्त्र में करते हैं। यहाँ क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त को विशेष महत्त्व दिया गया है। लेख में संस्कृत काव्यशास्त्र में कल्पना-तत्त्व की विचारणाओं को उचित स्थान नहीं मिलने, उसमें पाँच के स्थान पर केवल तीन कलाओं (स्थापत्य, संगीत, काव्य) संबंधी विचारों के विवेचन आदि की सविस्तार चर्चा है। यहाँ लेखक का विचार महत्त्वपूर्ण है कि "...संस्कृत काव्य शास्त्र में आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र की तरह सभी ललित कलाओं पर इसलिए विचार नहीं किया जा सका कि संस्कृत काव्यशास्त्र में 'उक्ति प्रधान' काव्य की गणना विद्या में की जाती रही है और कलाओं की गणना उपविद्या में। वैसे काव्य एवं कलाओं के अन्तःसंबंधों की चर्चा भरत के नाट्यशास्त्र, अभिनवगुप्त की कृतियों और विशेषतः राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में हुई है।" भारतीय चिन्तन में सौन्दर्यशास्त्र की प्रायः सभी आधुनिक एवं अत्याधुनिक विचारणाओं के बीज सुरक्षित हैं, इस बात की पुष्टि के लिए लेखक ने क्रोचे के नूतन अभिव्यंजनावाद एवं बुद्धघोष के कला-सिद्धान्त के साम्य की तरफ ध्यान दिलाया है।

पुस्तक के चौथे अध्याय 'अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र' में लेखक ने अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के स्वरूप-निर्माण के अनेक बिखरे सूत्रों की चर्चा, कीर्कगार्ड और नीत्शे की कृतियों में उपलब्ध संकेतों, कामू, हाइडेगर, यास्पर्स, मार्सल एवं सार्त्र के विभावनों की चर्चा से प्रारंभ करके कीर्कगार्ड एवं सार्त्र के विचारों पर लम्बी चर्चा की है। लेखक ने अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की कमियों, सीमाओं के रूप में 'स्वरचित विशिष्ट शब्दावली' (जार्गन) का प्रयोग, उसमें 'न्यस्त विरोधाभास' एवं 'खाँटी आत्मनिष्ठता' को भी रेखांकित किया है।

'ललित कला में कल्पना-तत्त्व' शीर्षक 94 पृष्ठों के लम्बे आलेख में देश-विदेश के एतद् विषयक सभी प्रमुख विद्वानों के विचारों का विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने सौंदर्यशास्त्रीय कल्पना (इमेजिनेशन) पर पाश्चात्य विद्वानों के विचारों के साथ मनोविज्ञान एवं जीव विज्ञान के अध्येताओं के विचारों के सार-संक्षेप को भी इस आलेख में स्थान दिया है। कल्पना पर पाश्चात्य विद्वानों ने अलग-अलग दृष्टि से तथा अलग-अलग नामों से विवेचन किया है। प्लेटो की 'फैंटेसिया', हाब्स की 'डिकेयिंग सेन्स (ध्वंसात्मक सोच), ब्लेक की 'इमेजिनेशन : द डिवाइन विजन'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(कल्पना : आध्यात्मिक विभावना), कांट की मानसिक संस्थिति विशेष (एटिट्यूड आफ माइंड), उत्पादक कल्पना एवं विचारणा (आइडिएसन), कोलरिज की 'प्राइमरी इमेजिनेशन' कल्पना के विभिन्न पक्षों पर विभिन्न दृष्टिकोण से प्रकाश डालते हैं। वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स आदि के लेखन/कविताओं से भी कल्पना का अलग-अलग प्रकार्य/अर्थ उद्घाटित होता है। लेखक ने कोलरिज के कल्पना सिद्धान्त, उनकी विचारधाराओं एवं एडिसन के विचारों की सविस्तार चर्चा की है।

भारतीय काव्यशास्त्र एवं संस्कृत साहित्य में 'कल्पना' शब्द के अनेक प्रयोग मिलते हैं, जिसका उल्लेख इस लेख में किया गया है। इस संदर्भ में भामह द्वारा 'प्रतिभा' एवं रुद्रट द्वारा 'शक्ति' का प्रयोग उल्लेखनीय है। प्रतिभा पर विचार करने वाले आचार्यों में राजशेखर तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं ही, साथ ही भट्टतोल, अभिनवगुप्त, मम्मट, पण्डितराज जगन्नाथ के विचार कम उल्लेखनीय नहीं हैं। ध्यातव्य है कि भट्टतोल प्रभावित अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिभा का स्वरूप निर्धारण, कोलरिज की कल्पना के सर्वाधिक निकट पड़ता है।

हिन्दी के आधुनिक आलोचकों के कल्पना-विवेचन में अधिकांश ने पाश्चात्य, विशेषतः अंग्रेजी, विचारकों का ही अनुगमन किया है। किन्तु आचार्य शुक्ल जैसे एकाध मनीषी हैं, जिन्होंने पश्चिम की बातों को यथावत न रखकर उसे पचाकर और समीकृत कर अपने मौलिक चिन्तन द्वारा एक नया रूप दिया। लेख में आचार्य शुक्ल के कल्पना-निरूपण को यथेष्ट जगह दी गयी है। हिन्दी तथा संस्कृत के कई कवियों ने कल्पना से अधिक 'फैंसी' का सहारा लिया है, जिसे इस लेख में रामचरित मानस, प्रसाद के आँसू एवं कामायनी, भारवि के काव्य, अभिज्ञान शाकुंतलम, नैषध चरितम् आदि से उदाहरण लेकर व्याख्यायित किया गया है। प्रत्यभिकाश्रित कल्पना, विदग्ध कल्पना या चित्र प्रगल्भ कल्पना, संकल्पित एवं असंकल्पित कल्पना, पुनरावृत्यात्मक और सृजनात्मक कल्पना, विधायक और ग्राहक कल्पना, पूरक कल्पना, मुक्तयादृच्छिकी कल्पना, तिर्यक कल्पना, सावयव कल्पना, विभाव विधायक कल्पना, तद्भव कल्पना, अतिशयमूलक कल्पना, उत्प्रेक्षामूलक कल्पना, गाणितिक कल्पना आदि की सोदाहरण चर्चा ने पुस्तक के महत्त्व को बढ़ाया है। अगले आलेख 'छायावादी सौन्दर्य-चेतना' में प्रमुख छायावादी कवियों के काव्य से उदाहरण देकर विषय को आगे बढ़ाया गया है। छायावादी सौंदर्य-चेतना के मुख्य आधार प्रकृति और नारी के सौंदर्य-चित्रण को हम अलग-अलग तथा दोनों के मिश्रण या तादात्म्य, इन दोनों रूपों में पाते हैं। उनका नारी सौंदर्य का स्वतंत्र अंकन कभी सूक्ष्म तो कभी मांसल हो जाता है। ऐसा होने पर भी "छायावादी कवियों ने नारी-सौन्दर्य को मध्यकालीन मूल्यों से ऊपर उठाने की चेष्टा की है ..." उनके इस मानसिक परिमार्जन का श्रेय, जैसा कि प्रोफेसर कुमार विमल ने लिखा है, कुछ अंशों में उनकी रहस्यात्मक सौन्दर्य चेतना को है।

पुस्तक के अगले छह लेखों—प्रसाद और उनकी 'कामायनी', 'राम की शक्ति-पूजा',

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पन्त का प्रकृति-काव्य, महादेवी की वेदना, करुणा और दुःखानुभूति, दिनकर की उर्वशी के विविध पक्ष, तथा भारती की 'कनुप्रिया'—में क्रमशः प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी, दिनकर एवं धर्मवीर भारती की सशक्त कृतियों/काव्यों की पैनी समालोचना की गयी है। पुस्तक के अन्तिम दो लेख—'साहित्य में विधा-वैविध्य और साहित्येतरता' तथा 'प्रवासी साहित्य और सांस्कृतिक संवाद' पुस्तक के मुख्य विषय से हटकर, किन्तु रोचक एवं ज्ञानवर्द्धक हैं।

डा. कुमार विमल सफल प्रशासक, शिक्षाविद, चिन्तक एवं लेखक रहे हैं। वे विभिन्न संवैधानिक एवं सांविधिक पदों—सदस्य एवं अध्यक्ष, बिहार लोकसेवा आयोग; अध्यक्ष, बिहार अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड; अध्यक्ष, बिहार इण्टरमीडिएट शिक्षा परिषद्, संस्थापक कुलपति, नालन्दा मुक्त विश्वविद्यालय; निदेशक, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद; प्रथम अध्यक्ष, बिहार बाल श्रमिक आयोग, इत्यादि पर कार्यरत रहने की व्यस्तता के बावजूद गहन अध्ययन एवं लेखन का समय निकाल पाते रहे हैं। उनके चिन्तन-मनन-विवेचन की मौलिकता, पारदर्शिता, अवगाहन कुशलता एवं नूतन उद्भावनाओं के दर्शन हम इस प्रकाशन के पृष्ठों पर कर पाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी भाषा के विकास में मराठी भाषी पत्रकारों का योगदान

(विशेष सन्दर्भ स्वातन्त्र्य पूर्वकाल)

तुकाराम दौड*

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 343 के अनुसार हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा एवं राजभाषा का सम्मान प्राप्त हुआ है। हम भारत के किसी भी प्रदेश के निवासी हों, हिन्दी भाषा राष्ट्रीय भाषा हमारी मानवीय चेतना का विषय है। स्वातंत्र्यपूर्व तथा स्वातंत्र्योत्तर काल में हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ लगातार प्रकाशित हुईं। "भारतीय पत्रकारिता के तीन चरण हैं। प्रथम अंग्रेजी पत्रकारिता, द्वितीय बंगाली पत्रकारिता एवं तृतीय हिन्दी पत्रकारिता"[1] भारत के पत्रकरिता के इतिहास में हिन्दी पत्रकारिता महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। स्वतंत्रता आंदोलन को राष्ट्रीय आंदोलन में परिवर्तन का कार्य हिन्दी पत्रकारिता द्वारा किया गया है। यह स्वातंत्र्यपूर्ण पत्रकारिता का गौरवपूर्ण इतिहास हमें प्रेरित करता है। विशेष रूप से आजादी को राष्ट्रीय आंदोलन में रूपांतरित करने के लिए राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित महाराष्ट्र प्रदेश में रहनेवाले तथा महाराष्ट्र भूमि में जन्मे मराठी भाषी पंत्रकारों ने महाराष्ट्र में और देश के अन्य प्रदेशों में रह कर हिन्दी भाषा के विकास में सहयोग दिया। "हिन्दी भाषा का साप्ताहिक उदन्त मार्तण्ड के माध्यम से पंडित जुगल किशोर शुक्ल ने प्रारम्भ किया।"[2] इसे मूलतः महाराष्ट्र के निवासी बाबूराव विष्णु पराडकरजी ने आरम्भ किया। इस परम्परा का विकास महाराष्ट्र में हो रहा है। आज महाराष्ट्र में नवभारत, प्रांतकाल, जनसत्ता, यशोभूमि, हिंदमाता, तेजस्वी भारत, लोकमत समाचार, आपका महानगर, महाविदर्भ, राष्ट्रदूत, भंडारा दर्शन, चंद्रपुर समाचार, खबरबात (चंद्रपुर), सिटीजन्स (औरंगाबाद), आदि दैनिक एवं अन्य पत्रिकाएँ प्रकाशित होते हैं। अहिन्दी प्रदेशों में इन पत्र-पत्रिकाओं का योगदान हिन्दी भाषा के विकास में लक्षणीय है।

---

*प्रो. डॉ. तुकाराम दौड़, माईर पुना द्वारा संचालित एम. आय. टी., जनसंचार एवं पत्रकारिता महाविद्यालय, लातूर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा संवाद का माध्यम है। "भाषा एक ऐसी शक्ति है जो मानव को मानवता प्रदान करती है"[3] भावों को प्रकट करने, विचारों को बोधगम्य बनाने तथा परस्पर व्यवहार बढ़ाने का यही एक विश्वव्यापी और सशक्त माध्यम है। भाषा के कारण मानव सुसंस्कृत होता है। सम्मान और यश का भागी बनता है। "विश्व में बोलचाल के लिए लगभग 3500 भाषाओं और बोलियों का प्रयोग होता है। चीनी और अंग्रेजी भाषा के बाद हिन्दी विश्व की प्रमुख भाषा है। जो स्वतंत्रता तथा सम्प्रभुता की अमरवाणी है।"[4] हिन्दी मानव के बुद्धि कौशल, विवेक, चिंतन, आचार-विचार, व्यवहार तथा संस्कृति की भाषा है। राजा राममोहन राय एवं केशवचन्द सेन ने हिन्दी भाषा को ही भारत की राष्ट्रभाषा माना है। अहिन्दी-भाषी पत्रकारों ने भारत वर्ष की एकमात्र मुक्तिदायिनी भाषा के रूप में अंगीकार किया है।

साहित्य और पत्रकारिता : साहित्य मनुष्य जाति के ज्ञान और अनुभव का लिपिबद्ध रूप है। "अपने पास होने वाली वाक्-शक्ति के सहारे मनुष्य अतीत की स्मृतियों, वर्तमान की योजनाओं और भविष्य के स्वप्नों को साहित्य में उतारता है।"[5] हिन्दी साहित्य कोश में साहित्य का अर्थ दिया है—"शब्द और अर्थ का यथावत सहभाग, अर्थात साथ होना। इस प्रकार सार्थक शब्द मात्र का नाम साहित्य है। साहित्य की यह परिभाषा अत्यंत व्यापक है। इसमें मनुष्य की सारी बोधन और भावना चेष्टा समाविष्ट हो जाती है। तब समस्त ग्रंथ समूह साहित्य के अंतर्गत आ जाते हैं।"[6] साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं स्मरणीयता, संक्रमणशीलता और प्रगतिशीलता। अपने तत्त्वों के आधार पर (विचार, भाव, कल्पना और शैली) साहित्य निरंतर अपने और मनुष्य जाति के विकास के रास्ते खोजता है। साहित्य एवं भाषा के माध्यम से पत्रकारिता का व्यक्तित्व साकार हो रहा है। "आधुनिक पत्रकारिता के प्रवाह में साहित्यिक सांस्कृतिक पत्रकारिता और साहित्यिक पत्रकारिता यह दो महत्त्वपूर्ण हैं।"[7] साहित्य और पत्रकारिता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों के उद्देश्यों में भी काफी समानता है। समाज को जाग्रत, जिज्ञासु, प्रबोधन के माध्यम से लोककल्याण को प्रेरित करने का मूलभूत कार्य साहित्य एवं पत्रकारिता का है। इस निबंध में हिन्दी साहित्य स्वतंत्रतापूर्वकाल में मराठी भाषी पत्रकारों एवं मराठी संपादकों ने उसका विकास किस प्रकार किया है इसका विश्लेषण किया है। सुपरिचित 'आज' अखबार के सम्पादक बाबूराव विष्णु पराडकरजी का शब्द सामर्थ्य तथा लेखन शैली पाठकों में आजादी के आंदोलन की चेतना जाग्रत करती है। पत्रकारिता एवं साहित्य का मानवीय मूल्यनिर्मिति की प्रक्रिया में निर्णायक योगदान रहा है। सत्य प्रतिपादन, अन्याय का विरोध, राष्ट्रप्रेम, धर्मनिरपेक्षता, जन कल्याण आदि मूल्य स्वातंत्र्य पूर्व पत्रकारिता में प्रतिबिंदित थे।

मराठी भाषी पराडकर हिन्दी के सम्पादक : स्वतंत्रतापूर्व हिन्दी पत्रकारिता के जागरण काल में (1885-1919) हिन्दी भाषा के अग्रगण्य सम्पादक तथा पत्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रूप में "पं. बाबूराव विष्णु पराडकर उभरे, जिनका जन्म 1883 में हुआ था, उनके मामा सखाराम गणेश देउस्कर बंगला भाषा के लेखक और पत्रकार थे।"[8] 'हिन्दी बंगवासी' की पत्रकारिता के माध्यम से पराडकरजी ने पत्रकारिता में प्रवेश किया। इस बीच महाराष्ट्र के मराठी दैनिक केसरी का उनपर विशेष प्रभाव पड़ा। हितवार्ता नामक पत्र की नीति उन्हें अनुकूल लगी और उन्होंने सम्पादक का पद स्वीकार किया। कुछ दिनों तक पराडकरजी ने भारत मित्र के सम्पादक के रूप में अपनी अलग पहचान बना ली। इस बीच ब्रिटिश साम्राज्य विरोधी गतिविधियों के कारण उन्हें तीन वर्ष का कारावास दंड मिला। जेल से मुक्त होकर ज्ञानमंडल (1920) में काम किया। तिलक और मालवीयजी की प्रेरणा से निकलनेवाले राष्ट्रीय दैनिक *आज* के (1920) वे सम्पादक नियुक्त हुए और जीवन के अंत तक इसका सम्पादन करते रहे। इनके सम्पादन में 'आज' ने राष्ट्रीय पत्रकारिता का नेतृत्व किया। विभिन्न आंदोलनों के दौरान ब्रिटिश सरकार द्वारा 'आज' के बंद कर दिये जाने पर ये 'रणभेरी' नाम से भूमिगत पत्र निकालते रहे। सम्पादकाचार्य पंडित बाबूराव विष्णु पराडकरजी की दृष्टि में पत्रकारिता तलवार की धार पर धावना थां। उन्होंने कहा कि "समाज के जीवन में जिन प्रश्नों पर उचित निर्णय की आवश्यकता होती है। और जिन निर्णयों पर समाज का जीवन अंत में निर्भर रहता है, उनके बारे में जनता को योग्य जानकारी करना, उनके संबंध में जनमत का निर्माण करना, उस मत को प्रकट करना तथा उससे अधिक से अधिक लाभ जनता को पहुँचाना एक आदर्श पत्रकार का कर्त्तव्य है।"[9] पं. पराडकरजी की इस वैचारिक भावना से लोककल्याण पत्रकारिता की आत्मा बनी। हिन्दी भाषा के क्षेत्र में उनका योगदान उल्लेखनीय था। पं. पराडकरजी को 1925 में आयोजित प्रथम सम्पादक सम्मेलन के सभापति का पद देकर उनका गौरव किया गया। सन् 1938 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता दी गयी। हिन्दी भाषा, साहित्य एवं पत्रकारिता में पराडकरजी के उल्लेखनीय योगदान के लिए सन् 1953 में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने हिन्दी सेवा के लिए उन्हें महात्मा गाँधी पुरस्कार से सम्मानित किया। 1955 में पराडकरजी ने सम्पादक के पचास साल पूरे किये। हिन्दी के पत्रकार बनारसीदास चतुर्वेदी लिखते हैं कि "पूरे पचास वर्ष तक पत्र-जगत की निरंतर सेवा करनेवाले किसी हिन्दी पत्रकार का हमें पता नहीं। पराडकरजी ने पूरे पचास वर्ष से भी अधिक राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा की है।"[10] ऐसा उदाहरण हिन्दी भाषा के इतिहास में नहीं है। पराडकरजी ने हिन्दी भाषा का गौरव बढ़ाकर मौलिक कार्य किया।

मराठी भाषी पत्रकारों का योगदान : हिन्दी भाषाई पत्रकारिता के पितामह (सम्पादकाचार्य) बाबूराव विष्णु पराडकरजी के साथ और भी ऐसे पत्रकार हैं जिन्होंने राष्ट्रभाषा के विकास में अपना योगदान दिया। "लोकमान्य तिलक के राजनीतिक विचार देश के हिन्दी पाठकों तक पहुँचाने के उद्देश से पत्रकार माधवराव सप्रे ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागपुर (1907) में *हिन्दी केसरी* साप्ताहिक प्रकाशित किया"[11] मराठी के केसरी पत्र में प्रसिद्ध लेख, अग्रलेख और तिलक के भाषण मराठी से अनुवाद करने का कार्य माधवराव सप्रेजी ने किया। आधुनिक काल में हिन्दी पत्रकारिता में योगदान देने का कार्य माधवराव सप्रेजी ने किया। "सन् 1845 में काशी से *बनारस अखबार* नामक हिन्दी पत्र मराठी भाषिक सम्पादक गोविंदराव थत्ते ने प्रकाशित किया। *परोपकार* पत्रिका का प्रकाशन धर्मवीर पंडित ने किया।"[12] बॅ. वि. दा. सावरकर के छोटे भाई डॉ. ना. दा. सावरकर ने साप्ताहिक श्रद्धानंद (1927) बम्बई से शुरू किया। "मराठी श्रद्धानंद की हिन्दी आवृत्ति डॉ. सावरकर प्रकाशित करते रहे।"[13] महाराष्ट्र के अहमदनगर और कोल्हापुर से हरि सखाराम तुंगार ने 1914 तक *आर्यभानु* पत्रिका प्रकाशित करने का मौलिक कार्य किया। "1961 से 1966 इन पाँच वर्षों में तुंगारजी ने नांदेड (महाराष्ट्र) से *आर्यभास्कर* साप्ताहिक प्रकाशित किया।"[14] तुंगार घराने की परंपरा प्रा. देवदत्त तुंगारजी ने *हिन्दी मिलाप* समाचार पत्रों द्वारा आगे बढ़ाई है। सम्पादक हरि तुंगारजी ने 50 वर्ष तक आर्यसमाज की हिन्दी पत्रिका का सम्पादन भी किया। तुंगारजी ने आर्यभानु और आर्य भास्कर पत्रिकाओं द्वारा सामाजिक अंधश्रद्धा एवं सामाजिक विषयों पर वैचारिक मंथन कर पाठकों में सामाजिक उत्तरदायित्व की चेतना जाग्रत की। साथ में ब्रिटिश सरकार के विरोध में प्रभावी रूप से लेखन किया। देशभक्ति से प्रेरित होकर उन्होंने राष्ट्रज्योति की शक्ति लेखन द्वारा बढ़ाई। हिन्दी भाषा एवं पत्रकारिता को समृद्ध करने में महाराष्ट्र में जन्मे मराठी भाषी पत्रकारों का हिन्दी भाषा विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

ध्यातव्य है कि मराठी भाषी पत्रकारों ने हिन्दी निष्ठा एवं स्वदेश भक्ति का पाठ पढ़ाया, जिससे भारत में स्वतंत्रता की लहर दौड़ी। महाराष्ट्र में जन्मे मराठी भाषी सम्पादक बाबूराव विष्णु पराडकर, माधवराव सप्रे, राहुल सातपुते, गोविंदराव थत्ते, काकासाहेब कालेलकर, विनायकराव विद्यालंकार, सिद्धनाथ आगरकर, हरि तुंगार, पंडित धर्मवीर, कुशल देव कापसे, वेदकुमार वेदालंकार, डॉ. ना.वि. सावरकर आदि सम्पादकों एवं पत्रकारों ने अपने पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी भाषा, साहित्य तथा पत्रकारिता सैद्धांतिक रूप से विकसित की। पत्रकार सप्रेजीने विदर्भ में हिन्दी भाषा का प्रचार-प्रसार किया। डॉ. ना.वि. सावरकरजी ने बम्बई से पत्रिका प्रकाशित करके कोंकण एवं परिसर में हिन्दी भाषा अनुवाद के द्वारा हिन्दी भाषा का प्रचार-प्रसार किया। कोल्हापुर, अहमदपुर, औरंगाबाद और नांदेड जैसे पश्चिम महाराष्ट्र एवं मराठवाड़ा प्रदेश में हिन्दी भाषा के विकास का कार्य राष्ट्रीय दायित्व के नाते किया गया। महाराष्ट्र में जन्मे इन सम्पादकों तथा पत्रकारों ने राष्ट्रभाषा हिन्दी के विकास में ऐतिहासिक कार्य किया है।

सारांश : स्वातंत्र्यपूर्वकाल में इन सम्पादकाचार्य एवं पत्रकारों ने राष्ट्रीय सुधार एवं स्वतंत्रता की तरफ ध्यान दिया। मराठी पत्रकारों ने मराठी सामग्री हिन्दी में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनूदित करके हिन्दी भाषा का प्रचार-प्रसार किया और आजादी के आंदोलन को व्यापक बनाया। स्वातंत्र्यपूर्व काल में मानव मूल्य निर्मिति की प्रक्रिया निर्णायक रही है। स्वातंत्र्यपूर्व जागरण काल (1885-1919) और क्रांतिकाल (1920-1947) में मराठी भाषी सम्पादक एवं पत्रकारों ने राष्ट्रीय भावना जाग्रत करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई और सामाजिक परिवर्तन लाए। स्पष्टतः स्वतंत्रता संग्राम को गति देने का मराठी भाषी पत्रकारों एवं हिन्दी भाषी पत्रकारों ने कार्य किया। हिन्दी भाषा के विकास में स्वातंत्र्यपूर्व काल में मराठी भाषी पत्रकारों एवं सम्पादकों का योगदान लक्षणीय है। इसमें कोई संदेह नहीं है।

संदर्भ

1. गोदरे विनोद, 'हिन्दी पत्रकारिताः स्वरूप एवं संदर्भ', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2000, पृ. 45.
2. वही, पृ. 49.
3. तिवारी डॉ. अर्जुन—हिन्दी पत्रकारिता का बृहद्इतिहास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1997, पृ. 17.
4. वही, पृ. 17.
5. वर्मा डॉ. मृदुला—हिन्दी की सर्वोदय पत्रकारिता, विद्या प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण, 1993, पृ. 9.
6. वर्मा डॉ. धीरेन्द्र (संपा)—हिन्दी साहित्य कोश, पृ. 846.
7. गोदरे विनोद—हिन्दी पत्रकारिताः स्वरूप एवं संदर्भ, पृ. 30.
8. डॉ. रामप्रकाश डॉ. सुधीन्द्र कुमार—पत्रकारिता संदर्भकोश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991, पृ. 167.
9. वर्मा डॉ. मृदुला—हिन्दी की सर्वोदय पत्रकारिता, पृ. 16.
10. वही, पृ. 168.
11. तुंगार, क्रांति प्रकाशन, औरंगाबाद, प्रथम आवृत्ति 2007, पृ. 57.
12. वही, पृ. 58.
13. वही, पृ. 73.
14. वही, पृ. 116, 117.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठकीय प्रतिक्रिया

आपका फोन आया, उसके अगले दिन 'चिन्तन-सृजन' का अंक भी मिल गया। अनुपम मिश्र की पुस्तक को आपने स्वयं पढ़कर इतने उत्साह और समझबूझ से स्थान दिया इस अंक में - यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने यह पुस्तक पढ़ी है - अनुपम ने स्वयं हमें दी थी। हमारी पत्रिका ऐसी घटनाओं को दर्ज करें - यह उसकी पहचान है, अभिप्रेत है।

शंकर शरण का सहयोग आपको मिल रहा है, यह भी बहुत उत्साहित करने वाली बात है। इस अंक में प्रकाशित उनका लेख भी बहुत काम का है। प्रो. राममूर्ति त्रिपाठी का लेख भी उत्कृष्ट है। डॉ. लोकेश चंद्र का लेख अभी पढ़ना है: अन्य सामग्री भी। ...

सदा की तरह आपका सम्पादकीय इस अंक में अत्यन्त समयोजित और सटीक है। इसने हमारी जिन दुर्वलताओं को सूचीबद्ध रेखांकित किया है, वे युक्तियुक्त हैं सर्वथा। कोई भी भविष्यदर्शी देख सकता है। किन्तु जैसा कि कहा है – 'अन्धों का क्या कीजे जी' –**(प्रो.) रमेश चन्द्र शाह, भोपाल।**

'चिन्तन-सृजन' त्रैमासिक का अक्टूबर-दिसम्बर 2008 का अंक प्राप्त हुआ। साहित्य के चिन्तन और सृजन को अन्वर्थ करने वाले आलेखों से अलंकृत यह अंक पठनीय और संग्रहणीय बन गया है। अधुना सर्व सामान्य पाठकों में ब्रह्माण्ड, रामायण, तन्त्रागम, इण्टरनेट आदि के सम्बन्ध में सहज जिज्ञासा रहती है। इस अंक में पाठकों की उसी जिज्ञासा का पूर्ति के लिए जिन आलेखों को सम्मिलित किया गया है, वे प्रामाणिक तो हैं ही, विश्वसनीय भी हैं; क्योकि उनके लेखक अपने विषय के अधिकारी विद्वान हैं। एतद्विषयक सभी आलेख एक साथ मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक हैं। यद्यपि ब्रह्माण्ड सम्बन्धी वैचारिकी के पल्लवन के क्रम में पाश्चात्य सन्दर्भों को अधिक मूल्य दिया है और पौरस्त्य सन्दर्भों की चर्चा अपेक्षित रह गई है। भारतीय चिन्तन में ब्राण्ड का वर्णन ततोऽधिक प्रामाणिकता से हुआ है। अन्तर-राष्ट्रीय ख्याति के धनी लेखक लोकेशचन्द्रजी ब्रह्माण्ड के पौरस्त्य चिन्तन से अवश्य ही परिचित होंगे। जैन चिन्तन में 'गोम्मटसार', 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' जैसे ग्रन्थ ब्रह्माण्डीय अध्ययन के महनीय उपजीव्य हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुझे अनुपम मिश्र का आलेख 'आज भी खरे हैं तालाब' ने अधिक आवर्जित किया है। जैसलमेर के जिस 'गड़ीसर' की चर्चा की गई है, उसे मैंने जैसलमेर की यात्रा के क्रम में स्वयं देखा है। अब वह अपने अस्तित्व को खोता जा रहा है। उसके घाट पर और मध्य में बने स्थापत्य आज भी उसकी शाही भव्यता का स्मरण दिखाते हैं। जयपुर के जलमहल की भी यही दुस्थिति है।

आज नदियों को परस्पर मिलाने की साग्रह चर्चा की जा रही है, किन्तु तालाबों की नामशेष हो रही अस्मिता का लेखा-जोखा लेनेवाला कोई नहीं है। आपने सर्वथा उपेक्षित विषय को अपेक्षित मूल्य दिया है, इस सामयिक उद्भवन के लिए आप हार्दिक बधाई के पात्र हैं।

पुनः पुण्यश्लोक पं. हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' ने जिस प्रकार 'बिहार की नदियाँ' शोध-पुस्तक में नदियों की स्थिति का वर्णन किया है, उसी प्रकार आज 'भारत के तालाब' नामक शोध-ग्रन्थ का प्रणयन आवश्यक है। पर्यावरण रक्षा की दृष्टि से भी तालाबों पर शोध-अनुसन्धानपरक अध्ययन-अनुशीलन अपेक्षित है। **—साहित्यवाचस्पति डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, 37, भा. स्टेट बैंक ऑफिसर्स कॉलोनी, काली-मन्दिर मार्ग, हनुमाननगर, कंकड़बाग, पटना-800020.**

'चिन्तन-सृजन' बराबर मिल रही है। इसके स्तर को बनाये रखने के लिए धन्यवाद। साथ ही आपने डायरी विधा की शुरूआत प्रो. रमेशचन्द्र शाह की डायरी से करके एक उपेक्षित विधा की ओर साहित्य बिरादरी का ध्यान आकृष्ट किया है। 'साहित्य और भारतीय मानस' पर महाश्वेता देवी के भाषण के हवाले से प्रो. शाह ने एक प्रकार से भारतीय मानस का कम, अपने प्रगतिवादी मानस का परिचय अधिक दिया है। उन्हीं के हवाले से हम भी सवाल उठाना चाहते हैं कि 'क्या भारतीय समाज सदा से दमन-उत्पीड़न शोषण- विषमता वाला रहा है? (पृ. 38) (2) क्या साहित्य का काम केवल उपेक्षितों के जीवन के बारे में लिखना है?जैसा कि महाश्वेता जी का मन्तव्य छपा है।

मेरे विचार से ऐसा हमेशा नहीं रहा है। यदि ऐसा होता तो भारतीय संस्कृति दफन हो गई होती। संस्कृति-रक्षा में पुरुषों की अपेक्षा नारियों का अधिक योगदान रहता है। यदि भारतीय समाज नारियों के प्रतिअसहिष्णु रहा होता तो 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' का उद्घोष नहीं हो पाता। नारी को हमेशा मातृवत देखा गया है और माता भूमि से भी अधिक श्रेष्ठ मानी गई है। आर्थिक सामाजिक विषमताएँ थोड़ी-बहुत हर काल, देश और समाज में देखी जा सकती हैं। अतएव विषमताओं को फोकस करने के बजाय समता विधान के लिए प्रयास हर स्तर पर किया जाना चाहिए।

दूसरी बात साहित्य सब का हित साधता है। सुरसरिता के समान सभी का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंगल विधान उसकी आत्मा है। केवल दलितों-उपेक्षितों के बारे में लिखना साहित्य को सीमित करना है। साहित्य की सहानुभूति केपात्र उत्पीड़ित-उपेक्षित तो होते ही हैं। क्रौंच वध की पीड़ा से ही तो रामायण रची गई है। - **शोभाकान्त झा, संपादकः लोक मंगल (साहित्य), कुशालपुर, रायपुर-492001(छत्तीसगढ़)।**

आप द्वारा संपादित 'चिन्तन-सृजन' के अंक निरंतर मिल रहे हैं। यह अपने किस्म की अकेली पत्रिका है, जो दर्शन-विषयक लेखों को छाप रही है। दूसरी बात यह है कि ये कोरे दार्शनिक लेख नहीं लगते, बल्कि समाजशात्रीय दृष्टिकोण की छाप व पृष्ठभूमि इन आलेखों को महत्त्वपूर्ण बनाती है। यशदेव शल्य का आलेख 'स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन', नंदकिशोर आचार्य का आलेख 'साहित्य है सत्याग्रह का स्वराज' ... अच्छे लगे। रमेश दवे जी को बीच बीच में पढ़ना सुखकर लग रहा है। कुछ लेखों में तात्कालिकता और सरलीकरण से बचना जरूरी लगता है। दूसरी तरफ, कुछ लेख अगर सिर्फ पृष्ठपोषण के लिए न लिखे-छापे जाएं, तो इस पत्रिका और सृजनात्मक साहित्य का थोड़ा ज्यादा भला हो सकता है। **—प्रो. मीरा सरीन, विभागाध्यक्ष, अनुसंधान एवं भाषा विकास विभाग एवं संपादक - 'गवेषणा', केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा।**

चिंतन-सृजन, जुलाई-सितम्बर 2008 में डॉ शीतांशु का लेख शोधपरक, दृगोन्मीलक और विचारोत्तेजक है। लोग नारी-विमर्श पर लगातार लिख रहे हैं। नारी-समस्या और पीड़ा से उनका सरोकार कम आत्म विज्ञापन से अधिक है। शीतांशु जी का यह लेख नारी-विमर्श की आवश्यकता, परंपरा, विकाश, प्रगति, उपलब्धि पर प्रकाश डालना है, जो तुलनानमक अध्ययन को भी गति और दिशा देता है। सिमोथ द बउवा ने 'सेकेंड सेक्स' लिखकर इस दिशा में क्रांति कर दी। स्त्रीवादी विमर्श की जरुरत पर लेखक की टिप्पणी है:

"हेलेन सिक्सस ने वैसी कृति को स्त्रीवादी स्त्री-पाठ कहा है, जिसमे दमित नारी-जाति का शक्तिपूर्ण, अतिकामी और आह्लादात्मक प्रत्यागमन निरुपित हो पाता है। स्त्रीवादी लेखन (Feminst Writing) स्त्री की जैविक (biological) हीनता को खारिज करता है। ... स्त्रीवादी लेखन किसी भी रूप में नारी कोउपसंस्कृति (sub-culture) के रुप में देखने का प्रबल विरोध करता है।"

इतने छोटे लेख में नारी-विमर्श की सारी संभावनाएँ, कमियाँ, उजागार हूई हैं। बिहार में कोसी द्वारा ढाए प्रलय पर ब्रज बिहारी कुमार का आलेख मानों आँखों देखा हाल कहता है। सिक्किमी संघर्ष सामंतवाद और साम्राज्यवाद की जड़ हिला देना चाहता है, अपनी इयत्ता, सत्ता, आजादी के लिए, वही समाज विज्ञान (NEHU) के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रो. सिन्हा ने इस पर सम्यक प्रकाश डाला है। भगवान सिंह की समीक्षा कृति की अंतरात्मा से साक्षात्कार कराती है। सभी लेखकों को बधाइयाँ।

अक्टूबर-सितंबर 08 अंक में आपका संपादकीय विचारात्मक और समस्याओं के समाधान का प्रयासलगता है। इतनी गहराई में समस्या में उतरना गहना अध यन-शोध की परिणति है। आंतकवादी हमले के पीछे हमारी अपनी ही कमजोरियाँ (जिसका विस्तृत वर्णन है) हैं, उनसे निजात पाए बिना उसका (आंतकवाद) सामना नहीं हो सकता है। डॉ. रमानाथ त्रिपाठी की लगभग सभी कृतियों पर मुझे लिखने का अवसर मिला है। आपने 'शंख सिंदूर' का सुंदर व संतुलित विवेचन किया है। यह एक मानक निदर्शन है समीक्षा का। डॉ. सिन्हा ने पाँचवे भूटान नरेश के राज्यभिषेक के बहाने वहाँ धर्मतंत्र, राजतंत्र और प्रजातंत्र की दुर्बोध पहेली सुलझाई है। डॉ. सिन्हा इस विषय के अधिकारी विद्वान हैं। श्रीराम परिहार ललित निबंध केआचार्य हैं और आध ुनिकता के संदर्भ में ललित निबंध की महती भूमिका का मूल्यांकन यहाँ अभीष्ट है। उनकी स्थापना युक्ति संगत हैः "आधुनिकता की दुनिया में आज प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को अकेला और अधूराअनुभव कर रहा है। ललित निबंध उसे व्यक्ति-व्यक्ति, व्यक्ति-समाज, व्यक्ति-प्रकृति और व्यक्ति-विश्व की पारस्परिकता की व्यावहारिकता और भावनात्मकता के द्वारा पूरा करना चाहता है" (पृ. 83)। सभी लेखों पर टिप्पणी की जाए, तो प्रबंध लिखना पड़े। साधुवाद के शब्द नहीं मिलते।

—प्रो. मृत्युजय उपाध्याय, पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, बिनोवा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग, संपादकः संबुद्ध (मासिक), धनबाद, संपर्कः वृन्दावन, मनोरम नगर, लूबी सर्कुलर रोड, धनबाद-826001 (झारखंड)।

'चिन्तन-सृजन' निरंतर मिल रही है। कृतज्ञ हूँ। आप जिन विचारों को जन-जन तक पहुँचाना चाह रहे हैं उसके लिये आवश्यक है कि पत्रिका मासिक हो, तथा कुछ जानकारी या लेख ऐसे भी दिये जायँ जो जनोपयोगी हों, सरल भी। आपकी सम्पादकीय चिंता समूची मानवता व देश की चिंता है, जिसमें सबकी भागीदारी जरूरी है। 'चिन्तन-सृजन' केवल विद्वानों व अधीतों की पत्रिका बनकर रह गई है जबकि इसे देश के आम-आदमी की पत्रिका बनाने की जरुरत है। मैं तो आपके सम्पादकीय की हर बार 20 छाया प्रतियाँ लोगों को बांट देता हूँ। सूचनार्थ निवेदन है कि में डॉ. नहीं हूँ। साधारण शिक्षक व लेखक हूँ।

—राम स्वरुप दीक्षित, सिद्धबाबा कालोनी, टीकमगढ़-472091.

'चिन्तन-सृजन' लगातार प्राप्त हो रहा है। वर्ष-6 का पहला अंक अभी प्राप्त हुआ। संपादकीय पढ़ी। आतंकवाद जैसे मुद्दे पर राजनेताओं की संकीर्ण सोच ने देश का बड़ा अहित किया है। पूर्वाग्रह युक्त सोच व वोट की राजनीति से देश के सामने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समस्या ने विकराल रूप धारण कर लिया है। मीडिया भी अपने उद्देश्यों में सफल नहीं हो रही है। वह TRP के चक्कर में बड़ी ऊल-जुलूल बातों को प्रसारित कर रही है। देश को एक ऐसे वातावरण की आवश्यकता है जहाँ देश हित के साथ मानव कल्याण व बेहतरी की बात सोची जाए। हम एक अंधी सुरंग की ओर बढ़ रहे हैं। समाज में जातियों, धर्मों, व अन्य आधारों पर अविश्वास पनप रहा है। इसे घटाने व खत्म करने हेतु हम सबको आगे आना होगा। **—डॉ. बहादुर सिंह परमार, छतरपुर (म.प्र.)**

अक्टूबर-दिसम्बर का अंक मिला। सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य बडा ही प्रभावशाली व सुचिन्त्य हैं। जेहादी आतंकवाद की शुरूआत जम्मू काश्मीर से नहीं होती। उसके पहले शुरू हो जाती है। इस्लामी प्रवृत्ति में जेहाद है। वे लोग प्रजातंत्र में, मानवीय मूल्यों में विश्वास नहीं रखते। उन्होंने सारे विश्व को दो भागों में विभाजित कर रखा हैः दारूल इस्लाम एवं दारूल-हरब। अब सारे दारूल हरब को इस्लाम में बदलने का प्रयत्न ही जेहाद है। बंगलादेश से करोड़ों आतंकी भारत में घुसपैठ कर चुके हैं। ... उन लोगों ने आसाम, त्रिपुरा, मेघालय आदि की जनसंख्या को बदल दिया है। उ. प्र. में तेईस जिले मुस्लिम बहुल हैं। ये लोग अपने से बाहर निकलते ही नहीं। अभी स्वात घाटी में क्या हो रहा है? लड़कियों के सारे स्कूल गिराये जा चुके हैं। लडकियों का घर से निकलना बंद। संगीत, साहित्य बंद। पाँच बार नमाज पढ़ो। हैदराबाद में 27 प्रशिक्षण केन्द्र हैं। इसका इशारा कर चुका हूँ। पर सरकार के कान पर जूँ नहीं रेंगती। आंतरिक दुश्मन ज्यादा खतरनाक हैं। **—डॉ. के. एल व्यास, हैदराबाद।**

विश्वविद्यालय प्रकाशन की मासिक पत्रिका 'भारतीय वाङ्मय' (फरवरी, 2009) से ज्ञात हुआ कि मध्यप्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का नरेश मेहता स्मृति वाङ्मय सम्मान आपको मिला है। इसके लिए हार्दिक बधाई!

इधर कई पुस्तकों के कार्य में सतत् व्यस्त रहा हूँ। 'चिन्तन-सृजन' के अंक प्राप्त हो रहे हैं। मध्यकाल में लिखित 'पादशाह बुरंजी' पर एक लेख पत्रिका के लिए भेजने की इच्छा है। **—(प्रो.) भूपेन्द्र राय चौधरी, 58, गौहाटी विश्वविद्यालय परिसर, गुवाहटी-781014.**

आपकी पत्रिका (अंक जुलाई-सितंबर 2008) प्राप्त हुई। आभार! प्रथम दृष्टि आपके संपादकीय पर पड़ी, जिसमें आंतकबाद व इस्लाम पर आपने अपने विचार लिखे, अच्छा लगा। आगे पढ़ने पर कुछ लेखकों के लेखों ने मुझे अपनी ओर आकर्षित किया। आपकी पत्रिका के आधारस्तंभित लेखकों ने समाज, इतिहास, स्त्रीवाद, राष्ट्र, स्वातंत्र्य की अभीप्सा आदि विषयों पर लिखा, जिसे पढ़कर अच्छा लगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आशा है कि आपके द्वारा आगे भी विभिन्न विषयों, तथ्यों को लेकर आलेख प्रकाशित होते रहेंगे।

—शिवम् शांडिल्य, "कथायन", यादव कॉलोनी (पटेल का बगीचा), सागर-470001 (म.प्र.).

... हरेक अंक में हिन्दी पुस्तकों के बारे में विस्तृत जानकारी 2-3 की लिखा करें जो आप चाहते हैं कि हर एक भारतीय को पढ़ने अध्ययन के लिए जरुरी है। हम से कहां चूक हुई? क्या कारण सब होते सुनते पढ़ते, आंखे बंद कर लेते हैं। ... चिंतन-सृजन नियमित प्रकाशित होता रहे, हमें मिलता रहे।

—अशोक कुमार, पी.एस.ई.बी., मुडकी, पंजाब।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ

पुस्तकें

समृद्धि अहिंसक भी हो सकती है; प्रो. कुसुमलता केडिया एवं प्रो. रामेश्वर मिश्र पंकज; प्रकाशकः समग्र शोध संस्थान एच-103, अशोक नगर, वजीरा नाका, बोरावली पश्चिम, मुम्बई-91 के लिए तारा बुक, एजेन्सी वाराणसी, प्रथम संस्करणः 2009; पृष्ठः 384; मूल्यः 500 रुपये।

जन नायक टन्ट्या मामा, जगदीश जोशीला, प्रकाशकः स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन, रवीन्द्र भवन परिसर, भोपाल-462002, द्वितीय संस्करणः2008; पृष्ठः 226; मूल्यः 100 रुपये।

छमटीवाला दोरहा, निमाड़ी दोहा संग्रहः जगदीश 'जोशीला', प्रकाशकः नवीन प्रकाशन अंबिकापुरी, गोगावां, जिला खरगोन (म.प्र.), प्रथम संस्करणः 2009; पृष्ठः 68; मूल्यः 50/- रुपये।

पंखों पर आकाश, गोविन्द कुमार ''गुजन'' प्रकाशकः मोनिका पब्लिकेशन, दु. न. 1-2, अरिहन्त कॉम्पलेक्स, माहेश्वरी सेवा सदन के पीछे, चाँदपोल बाजार, जयपुर-1; संस्करणः 2007; पृष्ठः 206; मूल्यः 125/- रुपये।

राष्ट्रीय अस्मिता और हिन्दी साहित्य, सदानन्दप्रसाद गुप्त, प्रकाशकः नील कमल प्रकाशन, ए-119 आवास विकास कालोनी, शाहपुर, गोरखपुर; संस्करणः 2008; पृष्ठः 96; मूल्यः 100 रुपये।

आहुति (उपन्यास)ः श्रीधर पान्डेय, प्रकाशकः नन्द किशोर सिंह, जानकी प्रकाशन, अशोक राजपथ, चौहट्टा, पटना-800004., प्रथम संस्करणः 2008; पृष्ठः 144; मूल्यः 300 रुपये।

महामनीषी डॉ. हरवंशलाल ओबराय रचनावली खण्डः एक : संपादकद्वयः गुजंन अग्रवाल एवं राजकुमार उपाध्याय 'मणि', प्रकाशकः साहित्य भारती प्रकाशन, गोपी-कृष्ण पैलेस, भिखना पहाड़ी, पटना-800 004, बिहार; प्रथम संस्करणः 2008; पृष्ठः 202; मूल्यः 200 रुपये।

हरित रहे वसुंधरा (गीति नाटय)ः किशोरी लाल व्यास 'नीलकंठ', प्रकाशकः डॉ. किशोरी लाल व्यास, एफ-1, रत्ना रेसिडेंसी, महेश्वरी नगर, हब्शीगुड़ा, हैदराबाद-500007.; प्रथम संस्करणः 2008; पृष्ठः 30; मूल्यः 100 रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्रिकाएँ

पूर्वग्रह, साहित्य और कलाओं की अलोचना त्रैमासिकी, अंक 124, जनवरी-मार्च, 2009; प्रधान संपादकः प्रभाकर श्रोत्रिय; प्रकाशकः भारत भवन न्यास, ज. स्वामीनाथन मार्ग, शामला हिल्स, भोपाल-462002; पृष्ठः 156; मूल्यः 30 रुपये।

वर्तिका, पुपरी महोत्सव विशेषांक; समकालीन साहित्य, कला एवं सांस्कृतिक चेतना की पत्रिका, अंकः11 वर्षः 10; संपादकः रामेश्वर पाण्डेय 'पतंग' द्वारा समता ऑफसेट प्रिन्टर्स, जनकपुर रोड (पुपरी) से मुद्रित कराकर, एवं ग्राम-पोस्टः बघाड़ी, सीतामढ़ी से प्रकाशित; पृष्ठः 148; मूल्यः 20 रुपये।

पुष्पक-9, 'कादम्बिनी क्लब, हैदराबाद' साहित्यिक यात्रा का दसवाँ उद्घोष 2008; प्रधान संपादकः डॉ. अहिल्या मिश्र; प्रकाशकः कादम्बिनी क्लब, हैदराबाद, 93/सी, राजसदन, वेंगलराव नगर, हैदराबाद-500038; पृष्ठः 164; मूल्यः 75 रुपये।

शब्दयोग, साहित्य, संस्कृति और कला की त्रैमासिकी पत्रिका; स्त्री लेखन विशेषांक, अंकः1, मार्च 2009; संपादकः सुभाष पंत; प्रकाशक एवं मुद्रकः राजेन्द्र कुमार अग्रवाल द्वारा योगदान संस्था के लिए 922-23, फैज रोड, करोल बाग, दिल्ली-110 005; पृष्ठः 180; मूल्यः 20 रुपये।.

नवलय अनुबोध, कब आयेगा बंसत हमारे देश में?, वर्षः1 अंकः 11, फरवरी 2009; संपादकः राकेश दुबे; प्रकाशन स्थलः नवलय 54, झोन-2, महाराणा प्रताप नगर, भोपाल-462011; पृष्ठः 32; वार्षिक शुल्कः 100 रुपये।

व्यंग्य यात्रा, सार्थक व्यंग्य की रचनात्मक त्रैमासिकी, वर्षः 5 अंकः17 अक्टूबर-दिसंबर 2008; संपादकः प्रेम जनमेजय; प्रकाशकः 73, साक्षर अपार्टमेंट्स, ए-3, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063; पृष्ठः 192; मूल्यः 20 रुपये।

आकलन - 20, कवि भगवत लाल उत्पल स्मृति, अनियतकालिक, मार्च 2009; संपादकः हरजिंदर सिंह सेठी, सम्पर्कः 75/3, गुरु अर्जुन देव मार्ग, मुलुंड कालोनी, मुम्बई-400082; पृष्ठः 32; मूल्यः पांच रुपये।

पाँचवाँ स्तंभ सकारात्मक चिंतन एवं विकास की संवाहिका वर्ष-3 अंक-29, मार्च-2009, संपादकः मृदुला सिन्हा, प्रकाशकः श्रीमती मृदुला सिन्हा द्वारा, पी.टी. 62/20 कालकाजी, नई दिल्ली-110 009; पृष्ठः 36; मूल्यः 10/- रु. मात्र।

विश्वा, अमेरिका से प्रकाशित, अंतरराष्ट्रीय हिंदी समिति की त्रैमासिक मुख पत्रिका, वर्ष : 25 अंकः1, जनवरी-मार्च 2009, संपादकः रेणु 'राजवंशी' गुप्ता, पृष्ठः 64, वार्षिक मूल्यः ꠸ 25 मात्र।

THE FIFTH PILLAR Promoting positive ideas and Democratic Values, Volume 1, Issue 1, July-September, 2008, Editor: Mridula Sinha, Published from PT 62/20, DD Block, Kalkaji, New Delhi-110019; pages: 24; Rs. 15/-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

We Strive
to Satisfy
Our Customers

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080
☎ 3277883 (Off.)

Regd. Office
1/ 3575, Netaji Subhash Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

With Best Compliments
from
VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.

Administrative Office
LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office
1/3575, Netaji Subhash Marg, Darya Ganj,
New Delhi-110002 Phone Off. 3277883, 3711848

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आस्था भारती, दिल्ली

अध्यक्ष : **डॉ. जयन्त माधब**
अर्थशास्त्री, पूर्व निदेशक, एशियन विकास बैंक,
पूर्व अध्यक्ष, पूर्वोत्तर विकास वित्त निगम.

सचिव : **डॉ. ब्रज बिहारी कुमार**

कोषाध्यक्ष : **श्री जे.एन. राय**
भारतीय आरक्षी सेवा (सेवा निवृत्त)
पूर्व आयुक्त, नागरिक उड्डयन सुरक्षा, नयी दिल्ली

सदस्य, शासी परिषद :

1. **प्रोफेसर मृणाल मिरी**
   पूर्व कुलपति, पूर्वोत्तर पार्वत्य विश्वविद्यालय, शिलौंग
2. **प्रोफेसर के. के. नारायण कुरुप**
   पूर्व कुलपति, कालिकट विश्वविद्यालय
3. **प्रोफेसर कमलेश्वर बोरा**
   पूर्व कुलपति, डिब्रूगढ़ विश्वविद्यालय
4. **प्रोफेसर अरविन्द कुमार शर्मा**
   पूर्व कुलपति, मिजोरम विश्वविद्यालय
5. **प्रोफेसर व्ही. सूर्यनारायण**
   पूर्व प्रोफेसर एवं निदेशक,
   दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व एशिया अध्ययन केन्द्र,
   मद्रास विश्वविद्यालय
6. **श्री प्रकाश सिंह**
   भारतीय आरक्षी सेवा (सेवा निवृत्त)
   पूर्व महानिदेशक, सीमा सुरक्षा बल,
   पूर्व आरक्षी महा निदेशक, उत्तर-प्रदेश, असम
7. **श्री राजेश भार्गव**
   इंजीनियर, व्यवसाय

Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar 249404 (U.A.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Dialogue
Quarterly English Journal of
Astha Bharati, Delhi

38 issues published uptil now

Special Numbers:
Illegal Migration from Bangladesh
Central Asia
Fiscal Mismanagement in North East India
Maoist Insurgency in Nepal and India
India: Security Dimensions,
Indian Islands: Andaman & Nicobar Islands and Lakshadwip
South-East Asia
Secularism: India in Labyrinth
India's Neighbourhood
Governance in the North-East
Policing in India
India and Central Asia
Population Issues
Naxalism
Indo-Pakistan Relations & Kashmir
Media in India
India's North East
India: Political Culture, Governance & Growth
Understanding India
India: The Internal Security
Education in India
India's eastern Neighbourhood & 'Look East' Policy
Caste, Community and Social Justice
India's Encounter with the West
India: Security Scene
Kashmir
Bangladesh

Forthcoming Issue:
Himalayan Region

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 6 अंक 4 अप्रैल-जून 2009

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

12/604 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096
से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।

फोन : 011-22712454
ई.मेल : asthabharati@yahoo.com, asthab@vsnl.net
वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

2009 संसदीय चुनावी परिदृष्य एवं जनादेश

आज से तीन दशक पहले 1979 में मोरारजी देसाई सरकार के पतन के बाद जब यशवन्त राव चव्हाण ने राष्ट्रपति रेड्डी से प्रधानमंत्री बनने की अपनी ईच्छा व्यक्त की थी तो राष्ट्रपति ने उनसे पूछा था कि मात्र कांग्रेस (संगठन) के सांसदों के बल पर आप कैसे प्रधानमंत्री बनेंगे? उसके बाद ऐसे प्रश्न कभी नहीं पूछे गये, स्थिति लगातार खराब होती चली गयी। चरण सिंह ने संसद का सामना किए बिना ही त्यागपत्र दे दिया। चन्द्रशेखर लाल किले पर झंडा तक नहीं फहरा सके। विश्वनाथ प्रताप सिंह, अटल बिहारी वाजपेयी (अपने पहले प्रधानमंत्रित्व काल में), देवे गौड़ा एवं इन्द्र कुमार गुजराल साल भंर भी प्रधानमंत्री पद पर बने नहीं रह सके थे। इनमें अन्तिम तीन का कुल कार्यकाल मात्र दो साल ही रहा। वाजपेयी जी की 13 दिन की सरकार के पतन के बाद तीन मुख्यमंत्रियों—लालू प्रसाद यादव, देवे गौड़ा एवं चन्द्रबाबू नायडू—ने विश्वनाथ प्रताप सिंह का नाम प्रधानमंत्री पद के लिए प्रस्तावित किया जिसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया। फिर ज्योति बसु का नाम आया, जिन्होंने सरकार नहीं बनाया। फिर जनता दल के, 545 के सदन में मात्र 40 सांसद होने पर भी, दो प्रधान-मंत्री देवे गौड़ा एवं गुजराल बने। इनमें देवे गौड़ा अन्तर्राष्ट्रीय समारोहों में अपने कुनबे के बीसों सदस्यों को ले जाने के लिए प्रसिद्ध हुए। गुजराल ने जासूसी संगठन रॉ के पाकिस्तान में चलनेवाली गुप्त जासूसी कार्रवाइयों पर रोक लगवाकर जैसे भारत में पाकिस्तान के आई.एस. आई. के लिए खुला मैदान ही छुड़वा दिया जिससे इस देश में जिहादी आतंकवादी गतिविधियाँ बढ़ीं। गुजराल के विषय में हरिकिशन सिंह सुरजीत ने कहा था कि उनकी पार्टी, जनता दल, के 40 सांसदों में कोई भी उनके प्रति निष्ठावान नहीं था।

इस चुनाव के पहले की स्थिति तो और भी भयावह थी। कांग्रेस एवं भारतीय जनता दल संचालित मोर्चों के अतिरिक्त दो अन्य मोर्चे भी वाम-दलों के नेतृत्व में तीसरा एवं मुलायम सिंह यादव, लालू प्रसाद यादव एवं राम विलास पासवान का चौथा मोर्चा चुनाव के मैदान में थे। तीसरे मोर्चे का घोषित उद्देश्य था कांग्रेस एवं भारतीय जनता पार्टी विहीन सरकार का गठन। इसके अगुवा कम्युनिस्ट थे तथा इन्होंने मायावती को प्रधान-मंत्री बनाने की घोषणा कर रखी थी। चौथे मोर्चे का उद्देश्य था अधिक से अधिक स्थानों से चुनाव जीत कर नयी सरकार बनते समय सशक्त होकर सौदागिरी कर पाना।

इस चुनाव के पहले ऐसा लग रहा था कि किसी भी चुनाव-पूर्व गठबंधन को पूर्ण बहुमत के नंजदीक पहुँचना कठिन होगा। जहाँ एक तरफ भारतीय राजनीति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बढ़ते विखराव से जनता चिन्तित थी, ठीक इसके विपरीत छोटे क्षेत्रीय राजनीतिक दल तथा उनके नेता इससे खुश थे। उन्हें इसमें असीम संभावनाएँ, प्रधानमंत्री बनने तक की, नजर आ रही थी। भारतीय राजनीति में ऐसी विडम्बना, ऐसा विद्रुप, पहली बार सामने आया था कि प्रधनमंत्री पद की कामना रखनेवाले/ प्रधानमंत्री बनने को प्रतीक्षारत लोगों की बाढ़ सी आ गयी।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, अस्पष्ट विसृंखल जनादेश एवं भारतीय राजनीति की सिद्धान्तहीन दिशाहीनता के फलस्वरूप मात्र 40 सांसदों वाले जनता दल के इस देश में दो प्रधानमंत्री बने। अन्ततः इस प्रक्रिया की चरम परिणति झारखण्ड में हुई जहाँ एक अकेले निर्दलीय विधायक मधु कोड़ा भी सरकार बनाने में सक्षम हो सके। ऐसा लगता है कि मधु कोड़ा संलक्षण (syndrome) में विश्वास करनेवालों की संख्या इस देश में लगातार बढ़ती रही। तभी तो प्रधनमंत्री पद के लिए ऐसे लोगों के भी नाम उछले या उछाले गये, जिनमें एक के दल का कोई भी सांसद चुनकर संसद में नहीं पहुँचा और स्वयं उसका नेता भी चुनाव हार गया; दूसरे एक पूर्व-प्रधानमंत्री के दल के तीन, तीसरे के चार तथा चौथे के मात्र नौ सांसद ही चुने जा सके। बसपा के मात्र बीस सदस्य ही संसद पहुँच सके।

तीसरे मोर्चे में शामिल बहुजन समाज पार्टी तथा जनता दल (सेक्युलर) ने कांग्रेस एवं भारतीय जनता पार्टी विहीन सरकार में सहभागिता की चुनाव-पूर्व घोषणा कर रखी थी। चुनाव परिणाम आते ही उन्होंने मनमोहन सिंह सरकार को बिना किसी शर्त के समर्थन देने की घोषणा कर डाली। उन्हें इस बात की आवश्यकता तक नजर नहीं आयी कि ऐसा करने के पहले वे तीसरे मोर्चे के घटक दलों, विशेष रूप से वाम-दलों से सलाह ले लें। ऐसे में तीसरे मोर्चे की विफलता की बात उसके पुरोधा, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) को भी स्वीकार करनी पड़ी। चौथे मोर्चे की स्थिति तो ऐसी रही कि उसके घटक दल चुनाव परिणाम के दो दिन बाद ही, बिना एक दूसरे की सलाह लिए, अलग-अलग भाषा बोलने लगे।

खण्डित जनादेश की संभावना को दृष्टिगत कर मतों की गिनती के पहले ही जोड़-तोड़ की राजनीति शुरू हो चुकी थी। ऐसे में बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार का वक्तव्य आया जिसमें उन्होंने बिहार के राजनीतिक दलों से किसी भी गठबंधन/मोर्चे को सरकार बनाने में सहायता देने की यह शर्त रखने को कहा कि वे बिहार को विशेष राज्य का दर्जा एवं एक मुश्त सहायता या पैकेज दें। इस बात को स्वीकार करते हुए भी कि बिहार जैसे पिछड़े राज्य को विशेष सहायता की आवश्यकता है, नीतीश कुमार की माँग/सलाह की अनैतिकता में संदेह की गुंजायस नहीं है। इस विषय में कई प्रश्न उठते हैं: क्या नीतीश कुमार ने बिहार में जनादेश माँगते समय बिहार की जनता से किसी भी गठबंधन/मोर्चे को समर्थन देने की बात बतायी थी? क्या उन्होंने इस बात पर ध्यान दिया था कि ऐसी या इससे बढ़कर अन्य माँगे दूसरे प्रदेशों या दलों द्वारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी की जा सकती हैं? स्पष्टतः नीतीश कुमार उन संभावनाओं पर भी ध्यान नहीं दे रहे थे कि पूरी तरह से बाहरी सहायता पर आधारित प्रतीक्षारत संभावित प्रधानमंत्रिओं के सामने समर्थन मूल्य के रूप में कई प्रदेशों या धर्मविशेष के लोगों के लिए पैकेज की माँग, राम विलास पासवान जैसों द्वारा बंगलादेशियों को भारतीय नागरिकता दिए जाने की माँग, कुछ दलों द्वारा राज्य विशेष में धारा 356 लागू करने आदि जैसी असंभव माँगों के माँगे या स्वीकार किए जाने की स्थिति में देश का क्या होगा? इसमें कोई संदेह नहीं कि नीतीश कुमार एक ईमानदार तथा स्वच्छ छवि के व्यक्ति हैं। उनकी पहल पर बिहार में विकास भी हो रहा है; अपराध में कमी भी आयी है। लेकिन अभी बहुत कुछ होना है। अभी भी कई क्षेत्रों में अपराधी खुले घूमते हैं। भ्रष्टाचार बना हुआ है; सरकारी कामकाज में अपेक्षित कार्य-क्षमता एवं दक्षता का अभाव है। ऐसे में क्या बिहार की नौकरशाही अधिक मात्रा में केन्द्र द्वारा उपलब्ध कराये जानेवाले आर्थिक संसाधनों के बिना भ्रष्ट क्षरण के समयवद्ध उपयोग में सक्षम है?

2009 के जनादेश से कुछ शुभ संकेत उभरे हैं। देश की जनता ने सार्थक पहल करते हुए हमारी राजनीति को अस्थिर करने वाले तरल तत्त्वों को नकारा है। जनादेश की दिशा एक हद तक द्विदलीय व्यवस्था को मजबूत करने की तरफ रही है, यद्यपि भारतीय जनता पार्टी को कुछ क्षति हुई है। 18 वर्षों के बाद पहली बार कांग्रेस, या किसी भी दल, को संसद में 200 से अधिक स्थान मिले हैं; नेहरूजी के बाद पहली बार कोई प्रधान मंत्री लगातार दूसरी बार प्रधानमंत्री बना है। इस चुनाव में लोगों ने एक सीमा तक जाति एवं धर्म के विचारों से अपने को अलग करते हुए मतदान किया है; अच्छा काम करनेवाले स्वच्छ छवि के नेताओं, मुख्य मंत्रियों को पुरष्कृत किया है। लेकिन जीतनेवालों को अपने विरोधियों की गलतियों का भी लाभ मिला है।

पिछले जनादेश में भारतीय जनता पार्टी कमजोर होकर उभरी है। वैसे पार्टी की आन्तरिक कमजोरियों पर ध्यान दिया जाय तो क्षति उतनी नहीं हुई है। पिछली लोकसभा में यह पार्टी मुख्य विरोधी दल थी, लेकिन विरोधी दल की सार्थक भूमिका न निभा सकी। वस्तुतः वामपंथी दल, जो बाहर से सरकार को मदद दे रहे थे और इसका लाभ भी ले रहे थे, प्रमुख विरोधी दल की भूमिका में संलग्न रहे। आन्तरिक फूट, अपने घोषित नीतियों/कार्यक्रमों की अवसरवादी अनदेखी, दल का कांग्रेसीकरण, आडवानीजी का वाजपेयीकरण, पार्टी नेतृत्व एवं कार्यकत्ताओं के बीच की बढ़ती दूरी से उपजी कार्यकत्ताओं की उदासीनता, बंगलादेशियों की घुसपैठ जैसी विकट राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति केवल मौखिक जुड़ाव, आदि बातें मतदाताओं की नजर से छिपी न रह सकीं। अपनी निष्ठा, ईमानदारी, विद्वता, सादगी आदि गुणों के कारण मनमोहन सिंह के प्रति लोगों का लगाव है। ऐसे में आडवानीजी द्वारा उन्हें 'दुर्बलतम प्रधानमंत्री' कहा जाना लोगों को ठीक नहीं लगा था।

वामपंथी पिछली सरकार के काम में लगातार बाधा पहुँचात रहे। उनका अनावश्यक अमेरिका—विरोध, भारत के हितों की अनदेखी कर चीन, ईरान जैसे देशों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के हितों को वरीयता देना, सरकार पर लगातार दबाव देकर उसे अस्थिर करने का प्रयत्न आदि राष्ट्र के हित में नहीं था। ऐसे में भारतीय कम्युनिस्टपार्टी (मार्क्सवादी) सांसदों की संख्या का 35 से घटकर 15 तथा वामपंथियों के कुल 64 सांसदों के स्थान पर 24 का ही चुनकर आना, आश्चर्यजनक नहीं है। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के लिए तो यह अबतक का सबसे बुरा जनादेश था। उल्लेख्य है कि उन दलों की स्थिति तो वामपंथियों से भी बुरी रही, जिनके नेताओं के नाम किसी न किसी रूप में प्रधानमंत्री पद के लिए उछाले गये थे। इनमें, जैसा कि ऊपर कहा गया है, लोजपा का एक भी सांसद चुनकर नहीं आया; लालू प्रसाद यादव के दल के मात्र चार, देवेगौड़ा के तीन तथा शरद पवार के दल के मात्र नौ सांसद ही चुनकर आये। मायावती को, जिनका नाम वामपंथियों द्वारा प्रधानमंत्री पद के लिए प्रस्तावित था, उत्तर प्रदेश की जनता ने पिछले विधान सभा के चुनाव में इस उम्मीद से भारी बहुमत से जिताया था कि वे अपराधियों पर लगाम लगायेंगी; भ्रष्टाचार पर काबू पायेंगी। हुआ उल्टा। भ्रष्टाचार बढा; पिछले चुनाव में उनकी पार्टी ने खुंख्वार अपराधियों को टिकट दिए। फलतः उनकी पार्टी के मात्र 20 लोगों को संसद में बैठने का जनादेश मिला। चुनाव के पहले जयललिता ने अपना पत्ता नहीं खोला था; उम्मीद के विपरीत उन्हें अपेक्षित सफलता नहीं मिली।

2009 के जनादेश के एक अन्य सार्थक पक्ष का उल्लेख आवश्यक है। जनता ने इस चुनाव में आतिक अहमद, विनय शुक्ल, डी.पी. यादव, मुख्तार अंसारी जैसे 23 भीषण अपराधियों को बिहार में तो सभी अपराधियों को चुनाव में हरा दिए। इसके बावजूत अपराधी रिकार्ड के लोग सभी दलों से सांसद तो बने ही। इस चुनाव में कांग्रेस के नेतृत्व वाले गठबंधन के (कांगेस की 206 सांसदों को मिलाकर) कुल 261 सांसद चुने गये, जो पूर्ण बहुमत से मात्र 11 स्थान कम था। फिर बिना माँगे दिए गये समर्थन से यह संख्या बढ़कर 323 हो गयी। मत्रिमंडल बनाते समय तृणमूल कांग्रेस के 19, द्रविड़ मुनेत्र कजगम के 18, शरद पवार के दल के 9 तथा फारूक अब्दुल्ला के दल के चार लोगों में से प्रत्येक दल के सात सांसदो पर एक मंत्री तथा एक राज्यमंत्री का पद देना था। लेकिन सहयोगी दल विशेषतः द्रमुक के नेता करुणानिधि–खुश नहीं थे। उनकी माँगे अधिक स्थान तथा मलायीदार मंत्रालयों की थी। फारूक अब्दुल्ला भी रूठे। मान-मनौवल का दौर चला। फिर भी बात यहीं खत्म नहीं हुई। सहयोगियों एवं स्वयं कांगेस के आन्तरिक दबाब से मंत्रालय बँटवारे का काम विलम्बित हुआ। स्पष्टतः जनता की सार्थक पहल का कोई सार्थक प्रभाव इन दलों पर नहीं पड़ा था।

कई कारणों से उत्तर प्रदेश एवं बिहार में कांग्रेस ने अकेले चुनाव लड़ने का निर्णय लिया था। इसके सार्थक परिणाम भी निकले। कांग्रेस जनता से कटती जा रही थी, वह नेताओं की पार्टी बनती जा रही थी। उल्लिखित बदलाव से पार्टी जमीन से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जुड़ेगी, सशक्त होगी। फिर भी पिछले चुनाव में कांग्रेस ने जिस प्रकार से और जिस तरह के लोगों/दलबदलुओं को टिकट दिया वह शुभ नहीं था। फिर पार्टी को अनुभवहीन लोगों को देश पर लादने, युवा-गैर-युवा के द्विविभाजकता के मिथक आदि से तो बचना ही चाहिए।

आज से लगभग एक दशक पूर्व भाजपा की अलग छवि (party with a difference) हुआ करती थी। अब तो सत्ता से हटते ही या अपेक्षित पद न पाते ही इसके नेता बगावत करने लगे हैं। स्पष्टतः पार्टी के सिद्धान्तों, उसके मूल्यों की पैठ नेताओं तक में गहरी न थी। पार्टी का संगठन कई राज्यों में या तो नहीं है या अत्यन्त कमजोर है, जिसकी पूर्ति यह पार्टी गठजोड़ से करती रही है। और भी कई बाते हैं जिसका उल्लेख फिर कभी।

जनादेश 2009 से एक बात साफ हुई है कि जनता राष्ट्रीय दलों को सशक्त देखना चाहती है। यदि भविष्य में ऐसा नहीं होता है तो दोषी कांग्रेस एवं भाजपा को ही माना जाएगा। आज पश्चिम बंगाल जल रहा है। माओवादी हिंसा चालू है। स्पष्टतः यह समस्या केवल पश्चिम बंगाल की या मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी की नहीं है। ऐसी ही अन्य समस्याएँ हैं, जिनका समाधान सभी दलों को विशेषतः कांग्रेस एवं भाजपा को दलगत स्वार्थों से ऊपर उठकर, मिलजुलकर निकलना चाहिए। नीति-निर्धारण में राष्ट्र की केन्द्रीयता की पुनर्स्थापना का कोई अन्य विकल्प नहीं है।

आज सरकार द्वारा चलायी जानेवाली अच्छी योजनाओं की कमी नहीं है। लेकिन उन योजनाओं का कार्यान्वियन ठीक ढंग से नहीं हो रहा है। उदाहरणस्वरूप राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना (NREGA) को लिया जा सकता है। इसके चलाए जाने की कोई समयबद्ध कार्यक्रम नहीं होता। फलतः जब किसानों को मजदूरों की आवश्यकता होती है तब भी ऐसे कार्यक्रम चलते रहते हैं, फिर खेती के लिए समय पर मजदूर नहीं मिलते। त्रस्त किसान खेती छोड़कर पेड़ लगाने लगे हैं। इसके फलस्वरूप आनेवाले दिनों में अन्नकी कमी को टालना संभव नहीं होगा। एक बात और, विभिन्न राजनीतिक दलों में सस्ती लोकप्रियता एवं व्होट के लिए जनता को भीख या खैरात देने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। वस्तुतः जनता की आवश्यकता आर्थिक सशक्तिकरण की है, भीख की नहीं। इस प्रवृत्ति पर रोक लगनी चाहिए और यदि ऐसा नहीं होता तो नागरिक-समाज को इसके विरोध में जन-अभियान चलाना चाहिए।

—ब्रज बिहारी कुमार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विनम्र श्रद्धांजली

हमारे दो सशक्त लेखक—विष्णु प्रभाकर एवं आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी—हमारे बीच नहीं रहे। 97 वर्षीय विष्णु प्रभाकर वरिष्ठ रचनाकार एवं गांधीवादी चिन्तक थे। उनका देहान्त 11 अप्रैल 2009 को हुआ। 80 वर्षीय आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी काव्यशास्त्र, दर्शनशास्त्र एवं संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान थे, जिनका हिन्दी से लगाव सर्व-विदित था। वे 30 मार्च 2009 को हमसे दूर चले गये। उन दोनों को हमारी भावपूर्ण श्रद्धांजलि।

– सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ण-जाति प्रथा*

लोकेशचन्द्र
अनुवादक : बाबूराम वर्मा**

वर्ण-जाति प्रतिमान या 'जाति' को ठीक-ठीक समझने में साम्राज्यवादी दृष्टि-भ्रमों गलत व्याख्याओं और ग्रन्थों में पाए जाने वाले महत्वहीन छिटपुट उद्धरणों के आधार पर पाश्चात्य विद्वानों द्वारा की गई मनमानी खोज-पड़ताल तथा हमारी भारतीय समाज प्रणाली की शानदार महत्त्वाकांक्षाओं की भ्रान्त समझ ने बहुत ज्यादा बाधाएँ डाली हैं। छिटपुट साहित्यिक संकेतों को बढ़ा-चढ़ाकर काल्पनिक पर्यवेक्षणों और आधारहीन अवशेषों की मनोकल्पनाओं में जाति ढूंढ़ निकालने के लिए जबर्दस्ती जोड़ दिया गया है।

समाज को नियमबद्ध बनाने का प्रयास मानव निरन्तर करता चला आ रहा है। इसकी प्रतिध्वनियाँ हमें रोमनों की फ्लेमोनियम/रेग्नम अवधारणा में मिलती हैं जो संस्कृत ब्राह्मण्य/राजन्य का प्रतिबिम्ब जैसी लगती है जिसमें ऋषि और राजा भाव को उभारा गया है। चीनी सन्त कन्फूसियस भी समाज व्यवस्था में सामान्य नीति को अन्दर से संत जैसी और बाहर से राजा जैसी होना आवश्यक बताता है।

'ब्राह्मण' शब्द प्राचीन भारोपीय युग तक पहुँचता है। आयरी भाषा में केल्टिक पितृदाय स्वरूप 'फोरामेन' मिलता है। आयरदेश रोमनी प्रभाव पड़ने से बचा रहा और वहाँ मूल पैतृकदाय सुरक्षित रहा जो शेष महाद्वीप में नहीं बच पाया। अनेक बातों में यह भारत के समान है। यहाँ भी गाय समृद्धि की माप है। संस्कृत सस्य, अन्न वहाँ (स) **सिय** (= जौ), संस्कृत आर्य वहाँ **आयरे** (= स्वतन्त्र व्यक्ति) है और उसी से देश का नाम **आयर** (Eire) बना है।

लातीनी (लैटिन) भाषा में **ब्राह्मण** शब्द **'फ्लामेन'** और **राजन** शब्द वहाँ **रेक्स** है। ऋग्वेद में **ब्रह्म च क्षत्रम च** आया है। ये दोनों सजीव आश्रय राज्य की रोमन

* डा. ब्रजविहारी कुमार की इसी विषय पर लिखी अंग्रेजी पुस्तक India : Caste, Culture and Traditions (Yash Publications, Delhi-32) के प्रख्यात विद्वान डॉ. लोकेशचन्द्र द्वारा लिखे आमुख का हिन्दी रूपान्तर।

** 67, बल्लूपुरा, देहरादून

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवधारणा में भी देखे जा सकते हैं। **रेक्स/फ्लामेन** की राजन/ब्राह्मन से तुलना करें तो ज्ञात होगा यह संप्रभुता की द्विपक्षीय अवधारणा के प्राचीन संस्कृत अवशेष का रोमांचक अंश है। शक्ति के शिखर पर रोमन **रेक्स** या सम्राट है जिसमें नीचे **रेग्नम** और **फ्लेमोनियम** का सार विभाजित किया हुआ है। दोनों एक साथ रह रहे हैं क्योंकि राज्य के संचालन में दोनों मूल्य अन्तर्निहित हैं।

ब्राह्मण और **फ्लामेन** दोनों के उत्तरदायित्वों में विलक्षण समानता दिखाई पड़ती है।

फ्लामेन को शपथ लेकर साक्ष्य देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता (प्लूटार्क, रोमन क्वेश्चंस 443; आउलस गेल्लियस 10, 15; लिवी 31.50)। **ब्राह्मण** को कभी भी साक्षी (गवाह) नहीं बनाया जा सकता (विष्णु स्मृति 8.2)।

फ्लामेन को हथियारबन्द सेना देखनी भी नहीं चाहिए (आउलुस गेल्लियस 10. 15)। **ब्राह्मण** को बाणों की सनसनाहट सुनते अथवा सेना के मध्य खड़ा होने और ऐसी स्थितियों में अपना पावन ज्ञानार्जन स्थगित कर देना चाहिए (मनु. 4, 113-121)।

रोम से बाहर की यात्रा करना **फ्लामेन** के लिए निषिद्ध होने के अतिरिक्त उसे अश्वारोहण भी नहीं करना चाहिए (आउलस गेल्लियस 10.15; प्लुटार्क रोमन क्वेश्चंस 40)। **ब्राह्मण** को अश्वारोही हो अध्ययन नहीं करना चाहिए, न ही, ऐसा प्रतीत होता है, उसे किसी पशु या वाहन पर आरूढ़ हो ऐसा करना चाहिए (मनु. 4.120)।

फ्लामेन को किसी चिता के समीप नहीं जाना चाहिए (आउलस गेल्लियस 10. 15)। ब्राह्मण को चिता से उठते धुएँ से बचना चाहिए और ऐसे गाँव में जहाँ किसी की अर्थी निकल रही है, अपना पवित्र अध्ययन-कार्य बंद कर देना चाहिए (मनु. 4, 69, 108)।

फ्लामेन को नशाखोरी से बचना चाहिए तथा खमीरी पदार्थों को छूना तक नहीं चाहिए (आउलस गेल्लियस 10.15; प्लुटार्क रोमन क्वेश्चंस 109, 112)। **ब्राह्मण** को मादक पेय सेवन नहीं करने चाहिए (मनु, 11, 94, 96 व 97)।

फ्लामेन को बिना पकाया (= कच्चा) मांस छूना तक नहीं चाहिए (आउलस गेल्लियस 10.15, प्लुटार्क, रोमन क्वेश्चंस 110)। **ब्राह्मण** को ऐसा कोई भी मांस नहीं खाना चाहिए जिससे पहले बलि न दी गई हो (मनु 4.213) और न उसे किसी बधिकगृह के स्वामी से कुछ स्वीकारना चाहिए (मनु. 4.84-86) और न मद्यशाला अथवा तेल पेरने वाले अथवा वेश्यागृह के मालिक से।

फ्लामेन कुत्ते को न छू सकता है न उसका नाम ही ले सकता है (प्लुटार्क, रोमन क्वेश्चंस 111)। **ब्राह्मण** कुत्ते के भौंकने की आवाज़ सुनाई पड़ने पर वेदपाठ नहीं कर सकता (मनु. 4, 115); न कुत्ते का छुआ भोजन खा सकता है न ऐसा खाना जिसे किसी कुत्ते पालने वालों ने उसे भेजा हो (मनु. 208.116)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्राह्मण की पत्नी, **ब्राह्मणी** तथा **फ्लामेन** की पत्नी **फ्लामिनिसी** धार्मिक सन्दर्भ में, उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने उनके पति।

फ्लामेन संस्था **लुपरसी** संस्था की विरोधिनी थी। **फ्लामेन** और **ब्राह्मण** पवित्र व्यवस्था के संरक्षक हैं। **लुपरसी** और **गन्धर्व** धार्मिक अव्यवस्था के अभिकरण हैं। **लुपरसी** पशु-मानव, तीव्र धावक और भारी अपहरणकर्ता हैं। उनकी प्रकृति विस्फोटक है और वह सुषुप्त रह ही नहीं सकती। उसमें ऊर्जा का उथल-पुथलकारी विस्फोट होना ही चाहिए। **ब्राह्मणों** और **फ्लेमिनों** के कार्य, इसके प्रतिकूल, प्रकृतितः सामाजिक जीवन से सहअस्तित्व रखने वाले होते हैं। वे जिम्मेदार हैं, कुछ सीमा तक वे ऋत अथवा व्यवस्था के मूर्तिमन्त रूप हैं।

उनकी समानताएं और भी अनेक बातों में हैं। उदाहरणार्थ **ब्राह्मण** और **फ्लामेन** दोनों का रंग श्वेत है तथा **राजन्य** और रोमन **रेक्स** का रंग लाल (प्लुटार्क, रोमुलस, 26) है। श्वेत और लाल की यह स्वाभाविक प्रतीकता ईरान में भी देखी जा सकती है। यह सृजनशील समाजों की लय है जिसमें वीर्यता और नैतिकता का रहस्य, जीवन की पराकाष्ठा के रूप में जीवन प्रवाह की संभावनापूर्ण निरन्तरता में छिपा है। इन्दोनोसिया के राष्ट्रध्वज, द्विवर्ण में ऊपर नीचे करके लाल और श्वेत पट्टियाँ बनी हुई हैं। ये शास्त्रीय जावाई संस्कृत की शिव और शक्ति हैं। ऐसा राष्ट्रपति सुकार्णो ने मेरे पिताश्री डा. रघुवीर को 1951 में बताया था। लातीनी फिदेस का अर्थ दायित्वों का आदर, न्याय का आदर करना है। **फिदेस** सम्प्रदाय रोम के सर्वोत्तम सृजन, उसके विधि की नींव थी। **फिदेस** संस्कृत का श्रद्धा है। ब्राह्मण इसका रक्षणकर्ता था। ब्राह्मण/राजन्य अर्थात् **फ्लेमोनियम/रेग्नेम** का संघनीकरण सामाजिक व्यवस्था को स्थिरता देना ही था। दोनों एक दूसरे की परिपूरकता परिभाषित करते थे, वे असंगतेय नहीं थे।

भविष्य की जीवन्तता को प्रोत्साहित करने के लिए जैविकी उत्कृष्टता लाना उन कारकों में से एक कारक था जिसने वर्णजाति प्रणाली में विभिन्नता को स्थान दिया। **युजीनियाँ** अर्थात् अभिजात्य (यूनानी) प्राचीन काल से मानव की चिन्ता रही है। 1885 में सर फ्रांसिस गाल्टन ने सृजनन विज्ञान (Eugenies) की स्थापना की और इसी यूनानी शब्द पर उसका नाम रखा। इसकी परिभाषा उन्होंने "सामाजिक नियन्त्रण के अधीन उन अभिकरणों का अध्ययन करना जो भविष्य में आने वाली पीढ़ियों का शारीरिक या मानसिक परिष्कार अथवा उसमें क्षति कर सकते हों" रखी। मानव में होने वाला विकास निम्न कारकों की आपस में होने वाली अन्तक्रियाओं पर निर्भर था। (1) पैतृक कारक, जो माता-पिता से प्राप्त होते थे और (2) पर्यावरणिक कारक, जिनमें रहकर अथवा जिनके द्वारा किसी व्यक्ति का विकास होता है। आनुवंशिक पदार्थ का संप्रेषण माता-पिता करते हैं। पित्र्यगुण जीन क्रोमोजोमों (या गुणसूत्रों) की रेखीय व्यवस्था में स्थित रहते हैं। पिता और माता की दो बीज कोशाएं परस्पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलकर नया व्यक्तित्व निर्मित करती हैं। युग्म बने पित्र्यसूत्र दृश्यरूप बनाते हैं। पित्र्य सूत्र देहव्यापारिकीय दृष्टि से अपने को एक जाति के अन्दर प्रजनन करके अभिव्यक्ति देते हैं और उनकी बाह्याकृति को दृश्यरूप या फेनोटाइप कहा जाता है। मानव विकास अन्तःप्रजनन करती जनसंख्याओं से फलीभूत होता है। वर्ण-जाति प्रणाली सृजनन विज्ञान (युजेनिक्स) के सिद्धान्तों की शास्त्रीय अभिव्यक्ति है जिसके द्वारा बौद्धिक और शारीरिक उत्कृष्टता के उच्च स्तरों को लम्बे समय तक यथावत् बनाए रखा जा सकता है। जीव-विज्ञान जैविकीय गतिशीलता और उसमें अन्तर्निहित उसे श्रेष्ठतम बनाने के सिद्धान्तों की बात कहता है। प्राथमिक पृथक्करण, गुणों का विभेदीकरण और आनुवंशिकीय बाधाएं लगाकर अन्तःप्रजनन में उन्हें कसकर पकड़े रहना जीवन का जैविक विकास होते रहने की तीन आधारभूत प्रक्रियाएँ रही हैं। संपूर्ण जनसंख्या से चुने हुए वर्गों को समर्थन देकर उसका आन्तरिक क्रमनिर्धारण करना ही वह आनुवंशिक अन्तःक्रिया रही है जिसके द्वारा उन घटिया वर्णसंकरों के उत्पादन को रोके रखा गया है जो वर्ण जाति दोनों के अनुकूल नहीं बन पाते जिसमें पैतृकता की अवधारणा प्राकृतिक वरण के सिद्धान्त को प्रतिध्वनित करती है जिसके फलस्वरूप "सर्वोत्तम की प्रतिजीविता" और "सर्वोत्तम का आगमन" सम्भव हो पाता है।

वर्णजाति प्रणाली का सार घटन, संभाविता और वास्तविकता ही जीवनी शक्ति की गुणवत्ता और उत्तरोत्तर प्रगति करते जाते व्यक्तित्व की गतिशीलता को सुनिश्चित बना सकने वाला विराट सामाजिक हेतुवाद है। **होमो हियेरार्किकस** भारतीय सामाजिक प्रणाली की ही एकमात्र विशिष्टता नहीं है। यह एक सार्वदेशिक घटना है। उदाहरणार्थ नीला खून (Blue Blood) उसे कहा जाता है जो प्राचीन अभिजात परिवारों की नस-नाड़ियों में प्रवाहित हो रहा है। यह शब्द हस्पानी भाषा के **सांग्रे आजुल** (Sangre Azul) का अनुवाद है जिसे कास्तील के प्राचीनतम परिवारों के रक्त से जोड़ा जाता है जिनका दावा रहा है कि उनका रक्त मूर, यहूदी या अन्य किसी के अपमिश्रण से कभी संदूषित नहीं हुआ है। यह अभिव्यक्ति गोरे वर्ण वाले लोगों की शिराओं की नीलता से आरम्भ हुई जिनकी तुलना गहरे रंग की त्वचा वालों की शिराओं से की गई। वर्ण और जाति एक सामाजिक यन्त्र क्रिया (मेकेनिज्म) जैसे थे जिनके द्वारा अनुशासन, स्वच्छता तथा आन्तरिक अनुभव और बाहरी जीवन में समन्वयात्मक सन्तुलन लाने के समाधार को बाह्य रूप दिया गया। निरन्तरता की इस क्रान्तिकारी अवधारणा की मनोवैज्ञानिक जड़ें उस निरन्तरता में निहित हैं जिसमें हम आजकल के भी हैं, विगत हो चुके कल के भी तथा भावी कल के भी होंगे तथा ऐतिहासिक एवं भविष्यपरक अस्तित्व में भी बने हुए हैं।

रोम ट्यूटनी समूहों के आक्रमणों के सम्मुख क्यों ध्वस्त हो गया जबकि एक अन्य समसामयिक साम्राज्य अर्थात् चीनी साम्राज्य बर्बरों के सभी आक्रमणों और अपने विश्व राज्य के अनेक टुकड़ों में कटकर अलग-अलग हो जाने के बावजूद अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांस्कृतिक निरन्तरता खोए बिना उन्हें झेलकर जीता-जागता बना रहा—एमोरी द रिएनकोर्त यह प्रश्न उठाता है। वही हमें आगे चलकर यह बताता है कि परिवार भावना के क्षरण, गर्भ निरोधकों के अत्यधिक उपयोग, स्त्रियों की सामाजिक मुक्ति, विस्तार से फैली अनैतिकता ने रोमनों की जैविक उर्वरता को सांघातिक रूप से मिटाकर रख दिया। निरन्तर चलते रहे युद्धों ने रोमन साम्राज्य की मानव शक्ति को घटाते-घटाते जाति विनाश तक पहुंचा दिया। चीन की परिवार प्रणाली के इतिहास ने अनेक युगों में उसके समाज को बचाए रखा तथा बर्बर आक्रमणकारियों को चीनी बनाकर जैविकीय और सांस्कृतिक दृष्टि से उन्हें अपने में आत्मसात कर लिया। इस तरह वे बीसवीं शताब्दी तक अपनी चीनी संस्कृति को यथावत् बचाकर रखे रह सके। इसी तरह से भारत में वर्णजाति प्रणाली ने आक्रमणकारियों को सामाजिक दृष्टि से अपने से दूर बनाए रखा और उनके साथ विवाह द्वारा आक्रमणकारी उनके परिवारों के अन्दर प्रवेश नहीं कर पाए। जाति विशिष्ट खानदान पर लगे बन्धनों, कड़ी वैवाहिक नियमावली, स्त्रियों की अलंघ्य पवित्रता ने वर्णजाति-संरचना को पावन बना दिया और उसी ने हमारी संस्कृति को सुरक्षित बनाया। हालांकि चार वर्ण हजारों जातियों में विभाजित हो गए, फिर भी वे हजारों वर्षों तक इस्लामी आक्रामक झुण्डों को रोके रहे। अर्द्धचन्द्र पताका वाले मध्य एशियाई बहुसंख्यक जनसमूहों के सामने अपनी राजनैतिक और सामरिक शक्ति खो देने के बावजूद वर्णजाति की मजबूत पदस्थापना ने आक्रमणकारियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध बनाने से उन्हें रोके रखा, जो धर्मान्तरित हुए इन्हें समाज से बहिष्कृत करके सभी आपसी सम्बन्धों से उन्हें अलग कर दिया। वर्ण और जाति अपनी सभी वर्जनाओं और आदेशों के कारण हमारी सांस्कृतिक निरन्तरता, हमारी सामाजिक शक्ति की एकता और पुनः एकीकृत होने की पीड़ाजनक खोज करने के लिए हमारे रक्षादुर्ग बन गए।

प्रोमेथियस बाउइ नामक अपने दुखान्त नाटक में एइस्किलस कहता है "तुम्हें इन हजारों दुखों की पीड़ा से भटके हुए देखकर मैं भय से मरा जा रहा हूँ।" वर्ण जाति ने यह सुनिश्चित बनाया कि सहस्राब्दि तक चला विदेशी शासन हमारी सनातन एकता को सहस्राधिक खण्डों में तोड़फोड़ नहीं पाया। वर्णजाति की धारणा ही स्वयं धर्म की आधारभूत एकता का पर्याय बन गई। खतरा बनते विसंस्कृतिकरण के मध्य यह एक व्यवस्था थी, वैवाहिक प्रतिबन्ध लगाकर अपना नैरन्तरिक अस्तित्व बनाए रखने की। यह सामाजिक युक्ति थी, धार्मिक सुरक्षा कवच का स्फटीकरण थी। विदेशी अत्याचारों से सामाजिक उथल-पुथल मची परन्तु अप्रवेश्य सामाजिक दुर्ग बनकर इस अराजकता के विरुद्ध जाति एक मजबूत लौह दीवार बनकर खड़ी हो गई और विदेशी पुरुषों द्वारा उससे आनुवंशिक क्रियाशीलता किए जाने को बलपूर्वक रोकते हुए मजबूती से खड़ी रही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्येक सकारात्मक घटना के नकारात्मक पक्ष भी अवश्य होते हैं और विपर्यतः भी ऐसा ही होता है। व्यापार में हो रही वृद्धि, आवागमन के तीव्र साधनों का विकास, स्त्रियों की आधुनिक शिक्षा, समतावादी विचारों का प्रसार, समानता की कानूनी धारणा, तीव्रगति से हो रहे प्रौद्योगिकीय विकास तथा बहुत से अन्य कारणों से वर्णजाति के नकारात्मक बन्धन टूटते जा रहे हैं। फिर भी भारत के राजनैतिक वर्णचित्र पर वर्ण-जाति का शासन उसी तरह चल रहा है तथा वैवाहिक सम्बन्धों में तो वह पूरी शक्ति से सक्रिय बना हुआ है। डोम, सफाईदार और टोकरियां बनाने वाला था, परन्तु कश्मीर में वह कृषक, कुमाऊं में पथरकटा, असम में मछलियाँ पकड़ने वाला, उड़ीसा में लकड़हारा बन गया है। डोम जिप्सी बने विश्वभर में घूमते रहे हैं। अपने को वे रोमनी (रोम डोम से ही निष्पन्न है) कहते हैं।

जातियाँ काफी द्रवणशील थीं और उसके अन्दर सामाजिक सचलता पर कोई रोकटोक नहीं थी। शाकद्वीपी ब्राह्मण शकद्वीप या सीस्तान से चलकर भगवान कृष्ण के पुत्र साम्ब के कोढ़ का उपचार करने यहाँ आए। सूर्यदेव ने साम्ब को शकद्वीप जाकर वहाँ से सूर्यपूजा में निष्णात मग पुजारियों को लाने का परामर्श दिया क्योंकि वही कोढ़ का उपचार कर सकते हैं। एक पूरा पुराण साम्ब पुराण, यह वर्णन करता है कि वहाँ के 18 मग परिवार किस तरह यात्रा करके भारत आए, मुलतान में मित्रवन के पास बस गए और वहाँ के साम्ब मंदिर में अपना सूर्य सम्प्रदाय स्थापित किये। ये सूर्य पुजारी, **विदेवदाद** में दिए आदेशों, नुसखों के अनुसार बरती जाती अपनी स्वच्छता के कारण ब्राह्मण जाति में मिला लिए गए, मिश्र (मित्र, सूर्य) का उपासक होने के कारण उनकी पहली बस्ती को मित्रवन नाम दिया गया। मित्र को अफगानिस्तान की काफिरी विभाषाओं में मिश्र कहा जाता है और आज के मिश्र ब्राह्मण अपनी उस पूर्व गरिमा को उत्तराधिकार में लिए हुए हैं।

1760 में अंग्रेजों के बंगाल विजय के बाद भारत की जानकारी प्राप्त करने के प्रति उनका भारी उत्साह उमड़ पड़ा। संस्कृत लैटिन और ग्रीक (यूनानी) की सहोदरा भाषा थी। ब्रितानी प्रशासक अपनी ग्रामर (व्याकरण) पाठशालाओं में इन्हीं दो शास्त्रीय योरोपीय भाषाओं को सीखा करते थे और संस्कृत की खोज शास्त्रीयता के लिए उन्हीं की उत्साहप्रद खोज का प्रतिफल था। भारोपीय भाषा परिवार के उपस्तर के रूप में सर विलियम जोंस की संस्कृत की खोज ने, पश्चिम की जड़ों के लिए एक नई महान दृष्टि ही प्रदान कर दी। इससे संत सेंट पाल कैथेड्रल में जोंस की प्रतिमा स्थापित कर उसे संत ही बना दिया गया। भारत में किए जा रहे ज्योतिषीय पर्यवेक्षणों ने, उनकी गणनाओं की सुतथ्यता ने उस समय जब समूचा योरोप बर्बर अवस्था में बिना बसा उजाड़ पड़ा था, (जान प्लेफेयर, ब्राह्मणों के ज्योतिष शास्त्र पर कुछ अभिकथन; रिमार्क्स ऑन दि एस्ट्रोनोमी ऑफ दि ब्राह्मण, 1790, 135-192) ब्रितानी और फ्रांसीसी ज्योतिर्विदों को चकित कर दिया। एक ब्रितानी सैन्य अभियन्ता, जेन.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चार्ल्स वैलेंसी, लेखकों के एक सम्प्रदाय का संस्थापक था और वह आयरी इतिहास, भाषा और साहित्य के सिद्धान्त निर्धारित किया करता था। 1797 में उसने भारत के ब्राह्मणों द्वारा बनाए संस्कृत ग्रन्थों से सिद्ध किया हुआ 'दि एंशियेंट हिस्टरी ऑफ आयरलैण्ड, (आयरदेश का प्राचीन इतिहास) नामक ग्रन्थ लिखा। ब्रितानी प्राच्यविद और जर्मनी का समूचा रोमांटिक आन्दोलन मानता था कि संस्कृत और भारतीय पुरावस्तुओं का अध्ययन उसी तरह से पश्चिम में द्वितीय पुनर्जागरण लाने वाला सिद्ध होगा जैसे कि ग्रीक भाषा का ज्ञान प्रथम पुनर्जागरण की स्थापना करने वाला सिद्ध हुआ था। ब्रितानी प्रशासकों और विद्वानों के इस भारत प्रेम ने ईसाई मतवादियों को भारी धक्का पहुँचाया और वे इसे ब्रितानियों का 'भारतोन्माद' कहने लगे। उन्होंने आपस में मिलकर इस 'भारतोन्माद' पर धावा बोल दिया जिसके उदाहरणस्वरूप 1796 में चार्ल्स ग्रांट द्वारा भारत के समाज की हालत के प्रति कहे गए पर्यवेक्षणों को लिया जा सकता है जो ब्रिटिश पार्लियामेंटरी पेपर्स (ब्रितानी संसद के कागज पत्र) में प्रकाशित हुए थे। उसने जोर देकर कहा था कि भारतीय "अत्यधिक गिरे हुए लोग हैं" और अपने नस्ली भेदभाव को उसने नैतिक रंग भी दे दिया और आगे चलकर कहा कि "उसमें और योरोपीय नीतिशास्त्र के रंग में वैसा ही अन्तर है जैसा कि दो जातियों के प्राकृतिक वर्ण में अन्तर हुआ करता है।"

1760 वाले दशक में भारत के प्रति आरम्भ हुए अति उत्साहपूर्ण 'भारतोन्माद' की संरचना पर अन्ततः ब्रितानी 'भारतभय' स्थापित हो गया। यह ईसाई मतवादियों और उपयोगितावादियों की सृष्टि थी। इसके निर्माता चार्ल्स ग्रांट और जेम्स मिल थे। ग्रांट ने शासन, धर्म और नीतिशास्त्र पर छाई हुई हिन्दुओं की संपूर्ण निरंकुशता की बात कही। प्रसिद्ध ईसाई मतवादी पादरी परिवार में जन्मे थामस बैबिंगटन मैकाले ने 1835 में भारतीय शिक्षा पर अपनी टिप्पणी में अंग्रेज बने भारतीयों के श्रेष्ठ माध्यम वर्ग बनने की बात लिखी जो "रक्त और वर्ण में चाहे भारतीय रहे परन्तु अपनी रुचि सम्मतियों, नैतिकता और बौद्धिक दृष्टि से वह अंग्रेज होगा।" विजय के ये मुखौटे भारतीय सभ्यता पर मिल की इस अवधारणा पर टिके हुए थे कि "इस वर्ग की प्रवृत्ति दुष्टतापरक है।" अब भारतीय जातिशास्त्र, एन्थ्रोपोलोजी को संस्कृत के विरोध में खड़ा किया जा रहा था।

इस सारे कार्य ने भारत की भूमि, उसके मस्तिष्क और हृदय के त्रित्व की पावनता को बौद्धिक दृष्टि से पतन की ओर पहुँचा दिया।

भारत भूमि को विजित कर लिया गया था। इसका औचित्य अरस्तू में खोजा गया जिसने पारसियों की परतंत्रता या अस्वातन्त्र्य को यूनानियों के स्वातन्त्र्य से भिन्न करके बताया था। पुनर्जागरण काल में इसका ओटोमन साम्राज्य से युरोप को पृथक बताने के लिए उपयोग किया गया। फिर इसे भारत के लिए साधारणीकृत कर दिया गया। सर विलियम जोंस ने *एशियाटिक रिसर्चेज* के प्रथम भाग में 1801 में ही यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखा "हालाँकि हम महत्वाकांक्षी युवराज (अलक्षेन्द्र) के ऋषिगुरु से पूरी तरह सहमत नहीं हो सकते कि एशियाई गुलाम बनने के लिए ही जन्मे हैं, फिर भी एथेंस का कवि पूरी तरह से सही ही प्रतीत होता है जब वह योरोप को सर्वोच्च राजकुमारी और एशिया को इसकी आज्ञापालक दासी बताता है।"

दक्षिणी अमेरिका और दक्षिणी अफ्रीका में दूर-दूर तक फैले नस्ली पृथकतावाद नस्ली श्वेतिमा को कसकर पकड़ने वाले चरण बन गए। इस नस्ली व्याख्या को पीछे की ओर प्रक्षिप्त करके हजारों वर्ष पूर्व हुए तथा-कथित आर्य आक्रमण पर भी चिपका दिया गया। ब्रिटेन द्वारा भारत की विजय इस तरह इस प्रस्थापना द्वारा न्यायोचित ठहराई गई कि स्वयं भारतीय भी तो प्राचीन काल के आर्य आक्रमणकारी ही हैं। इसीलिए हैवल के ग्रन्थ का नाम *'आर्यन रूल इन इण्डिया'* (भारत पर आर्य शासन) रखा गया है।

भारत के मस्तिष्क को मैकाले की टिप्पणी के (मिनू-इट) अनुसार दी गयी शिक्षा ने पूरी तरह से प्रभावित किया है कि भारतीयों की बहुसंख्या को 'अन्तःप्रेषण" या व्याख्या प्रक्रिया से ही शिक्षित किया जाना चाहिए। उसने आधुनिकीकरण अभिधारणा के अन्तर्गत पाश्चात्यकरण को रखकर भारतीय सभ्यता की जड़ों में पाश्चात्यकरण की पैबन्द लगा दी। ईसाईयत के प्रभाव ने ब्रितानी नीति को भारत की सांस्कृतिक समझ और उपलब्धियों को निरन्तर घटाए जाने और अन्ततः पूरी तरह से मिटा डालने की दिशा की ओर ढकेल दिया। यह प्रक्रिया स्वतन्त्र भारत में भी निर्बाध चलती रही। अभी भी यह प्रवाहमान है और भारत को अभारतीय बना डालने की ओर, ईशोपनिषद के शब्दों में **आत्महनो जनाः** में बदलने तथा अपने से घृणा करने वाला वर्ग निर्मित करने में लगी हुई हैं।

भारत की सामाजिक पदस्थापना और सामाजिक स्वभाव वर्णजाति व्यवस्था में बंधे हुए थे। यह भारत का हृदय ही था जिसने सहस्राब्दियों तक भारत को जीता-जागता बचाए रखा। चारों वर्णों के शीर्ष पर ब्राह्मण था तथा वही धर्म का मर्म भाग, नीतिशास्त्र का आलम्ब और रचनात्मक चिन्तन का सिरमौर था। हिन्दुत्व को ब्रितानी विद्वान-प्रशासकों ने ब्राह्मणवाद नाम दिया। ब्राह्मण ही हिन्दू समाज की शक्ति और सुस्थिरता, निरन्तरता और आत्मविश्वास थे। विद्वत्ता का स्वांग धरे हुए आंग्लवादियों और ईसाईमत वालों ने "ब्राह्मणमतवाद के पतनकारी चरित्र" पर निरन्तर हमले करना जारी रक्खा। वर्णजाति प्रणाली की नस्लवादी व्याख्या की गई और ब्राह्मण को नीचे गिराकर बुरी तरह से रगड़ा गया जो वस्तुतः हिन्दू-धर्म की घोर निन्दा ही थी। हमारे समाज को स्थिरतापूर्वक टिकाए रखने वाले चार स्तम्भ—बुद्धि की शक्ति, शासन द्वारा विधि व्यवस्था, आर्थिक विकास और श्रमिकों की गतिशील क्रियाशीलता—का योगदान सम्मिलित था। इन्हें हिन्दू समाज में इस तरह से स्फटिकवत बना दिया गया था कि ब्राह्मण बुद्धि वैभव और मानवता का संरक्षक हुआ, क्षत्रिय को समाज व्यवस्था का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संरक्षण कार्य दिया गया, वैश्यों ने अर्थव्यवस्था का उत्पादकतापरक प्रबन्ध करने का कार्य सँभाला और अन्त में आने वाले शूद्र कार्य करने वाला श्रमिक बल बना। जर्मन विद्वान पॉल थीमे ने शूद्र को 'प्शुद्र' अर्थात् पशुओं को चराने वाला से निष्पन्न किया है। इसका पहला अंश 'प्शु' पशु का संक्षिप्त रूप है और द्र एयरोड्रोम के ड्रोम से जुड़ता है जिसका अर्थ है "जहाँ विमान दौड़ते हैं।" ये चारों वर्ण स्वस्थ और विकासमान व्यवस्था में आपस में अन्तःक्रिया करते रहने वाले संघटक थे। भारतवर्ष के दो महानतम महाकवि जिन्होंने रामायण और महाभारत नामक सर्वकालिक आर्ष काव्यों की रचना की, निम्नजाति जन्मा थे। सभी ऋषियों में वे सबसे ज्यादा सम्मानित किए जाने वाले ऋषि हैं और सभी भारतीय भाषाओं की साहित्यिक परम्पराएं और हमारा साहित्य स्वभाव निर्मित करने वालों में उन्हीं का सर्वाधिक रचनात्मक भारी प्रभाव हम पर पड़ा है।

19वीं शताब्दी के 'भारतभय' ने ही साम्राज्यवाद और आधुनिकवाद के छद्म रूप में प्रकट होकर भारत के बौद्धिक विकास पर अपना कुप्रभाव डाला है। इतना होने पर भी हमारे उभर रहे राजनैतिक परिदृश्य पर जातिवर्ण का भारी प्रभाव पड़ रहा है। हमने विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी को सभ्यता की आधुनिकता में योग देने वाले पक्ष के रूप में स्वीकार कर लिया है क्योंकि मानव अस्तित्व इसके बिना चल ही नहीं सकता। उसके साथ-साथ हम अपने सामाजिक सामान्यकों को निधि की तरह सँभाले हुए हैं जिसका मर्म भाग और प्रथम इकाई वर्णजाति हैं। यह कोई बलात् लादी गई शिलीभूत श्रेणी विभाजन नहीं है, बल्कि यह सामाजिक, आर्थिक, साम्प्रदायिक, भाषायी और अनेक अन्य कसौटियों के आधार पर बने हुए हजारों समूहों को एक साथ बाँधकर जोड़े रखने में हमारी सहायता भी करता है। पश्चिम की दृष्टि एककेन्द्री और एकल-देववाद और बाइबिल समादेशों का दशीय शासन मानने के कारण श्रेणियों में बँटी हुई रही है परन्तु भारतीय दृष्टि अद्वैत या द्वैतहीनता की रही और अब भी वैसी ही है जिसमें बहुलता में समरसता होती है। हमने पारगामिता को निधि बनाकर अपनाया क्योंकि सरस्वती प्रज्ञावान और अध्ययनशील ब्राह्मण के सम्मुख प्रकट होकर कहती है मुझ ज्ञाननिधि की विधिवत् रक्षा करो (सेवाधिष ते हम अस्मि, गोपाय मा)। गुरु की सम्मान-पूजा की जाती थी, क्योंकि वही भक्त को गोविन्द तक पहुँचाता था। यदि दोनों एक साथ खड़े हों तो भक्त को पहले गुरु की वन्दना करनी होगी क्योंकि उसकी सहायता मिले बिना गोविंद को प्राप्त कर पाना संभव नहीं था। वर्णजाति प्रणाली की तीखी कटु आलोचना इसलिए की जाती थी कि गुरु या ब्राह्मण की मर्यादा नष्ट हो जाए और गोविन्द की जगह ईसाईमत वाला देवता प्रतिस्थापित किया जा सके। यह हमारे प्रिय और पावन देश की अनन्तता की सामूहिक सांस्कृतिक हत्या करना था और अब भी यह वैसा ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा. ब्रजबिहारी कुमार ने विभिन्न शास्त्रीय ग्रन्थों और जीवन का, जैसा कि वह अब जिया जा रहा है, श्रमपूर्वक आलोड़न करके भारत के सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक जीवन में वर्णजाति की सही समयोचित भावना उपस्थित करके भारी ऐतिहासिक सेवा की है। उन्होंने बताया है कि पश्चिमी विद्वत्ता दो उद्देश्य सामने रखकर आगे बढ़ी है और ये दोनों ध्रुव (i) विगत दो शताब्दियों का साम्राज्यवाद अथवा वर्तमान शताब्दी का नवसाम्राज्यवाद तथा (ii) विगत का ईसाईमत प्रचार के उद्देश्यों से ही परिचालित रहे हैं जो अब वर्तमान के सूक्ष्मतर और अदृश्य कार्यात्मक ढंगों में और ज्यादा गूढ़ और जटिल बन चुके हैं। उन्होंने वर्णजाति के आपसी मेल-मिलाप की ओर ले जाने का भी संकेत किया है जिसने भारत की विविधता के आधिक्य को एक साथ जोड़कर रखा है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि इस प्रणाली में लोगों को अपनी जाति बदलने की भी स्वाधीनता थी जैसा कि पावनता के सर्वोच्च स्तरों में देखा जा सकता है। ऋषियों का जन्म किसी भी जाति में होना संभव था। उन्होंने विस्तारपूर्वक साहित्यिक परम्परा के उद्धरण देते हुए इसकी सार्वदेशिकता और गैरनस्ली स्थिति को स्पष्ट बताया है। वर्णजाति कर्तव्यों के पालन की परिपोषक है केवल अधिकारों की ही नहीं और इसमें समसामयिक विधि-निर्माण के लिए सीखने के पाठ भी मौजूद हैं। डॉ. कुमार का यह अध्ययन सर्वसमावेशी और व्याप्ति की दृष्टि से सघन है। उन्होंने बहुत सी मिथ्या धारणाओं को संशोधित किया है जो विगत शताब्दियों से प्रचलित चली आ रही थीं और जिनमें से कुछ अब भी प्रचलित हैं जिन्हें उन्होंने अपनी सरल और सुबोध गद्यशैली के प्रवाह में शास्त्रीय और समसामयिक साक्ष्यों को उपस्थित करके अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। भव्य भारत पर निश्चय ही यह पुस्तक अपना भारी प्रभाव डालेगी और उन्हें वर्णजाति व्यवस्था के खुले परिदृश्य में अपने समाज के निर्माणपरक रचनात्मक सिद्धान्तों, उसकी सामाजिक वास्तविकता और पारिवारिक सम्बन्धों में उसकी व्यावहारिक वैधता, मूल्यों के परिपालन में, मेलमिलाप बढ़ाने में उपयोगिता समझाने में सहायक सिद्ध होगी। डा. कुमार की यह पुस्तक वर्णजाति जीवन को आगे बढ़ाने, सामाजिक वर्गों को एक साथ लाने, पैतृकतया प्राप्त सामान्यकों में अपने प्यारों के साथ मिलकर आनन्दभागी बन जाने में, उनकी समतुल्यता समझाने की वैधता बताती है। डा. कुमार ने हमारे अस्तित्व की वास्तविकता में निहित एक ठोस उपस्तर हमारे आगे प्रस्तुत कर दिया है। हम इस पुस्तक का हार्दिक स्वागत करते हैं। **तन्मे मनः शिव संकल्पं अस्तु।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्क्स, गांधी और लोहिया

सत्यमित्र दुबे*

23 मार्च, 2009 से आरंभ हुए डॉ. राम मनोहर लोहिया (1910—1967)[1] जन्म शती समारोह के साथ पूरे देश में करीब ढ़ाई सौ स्थानों पर समारोहों, विचार गोष्ठियों और समाओं का आयोजन हुआ है। अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने उनके जीवन, दर्शन वैचारिकी एवं कार्यक्रम पर विशेषांक प्रकाशित किया है। उनके निधन (1967) के प्रायः 42 वर्ष बाद जन्म-शती समारोह के माध्यम से इस बात पर व्यापक विचार-विमर्श चल रहा है कि डॉ. लोहिया की समाजवादी वैचारिकी पर मार्क्स और गांधी का कितना प्रभाव है? विश्व के जाने माने राजनीति शास्त्री प्रो. पाल व्रास ने 23 मार्च को दिल्ली के मावलंकर हाल में आयोजित कार्यक्रम में डॉ. लोहिया के भारतीय राजनीति में अवदान पर प्रकाश डाला। इसके अलावा 16 अप्रैल, 2009 को उन्होंने अनेक देशों के छात्र-छात्राओं और विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों की उपस्थिति में प्रथम "डॉ. राम मनोहर लोहिया स्मारक भाषण 2009—भारत में लोकतंत्र की चुनौतियाँ।" विषय पर दिया। उक्त अवसर पर भी डॉ. लोहिया के सिद्धांत और कार्यक्रम पर मार्क्स और गांधी के विचारों का कहाँ तक प्रभाव पड़ा है, इस पर भी विचार-विमर्श हुआ।

डॉ. लोहिया की राजनीतिक वैचारिकी उनके सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम, सांस्कृतिक दृष्टिबोध को उनकी शैक्षणिक पृष्ठभूमि, राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभाव, गांधी जी से संपर्क, जर्मनी में अध्ययन के समय लोकतंत्र, मार्क्सवाद, नाजीवाद पर छिड़ी बहस, सोशल डेमाक्रेटिव पार्टी, कम्यूनिष्ट पार्टी और हिटलर की नाजी पार्टी की कार्य प्रणाली और भारत में समाजवादी आंदोलन में गहरी भागीदारी के संदर्भ में ठीक से समझा जा सकता है।[2]

---

* वरिष्ठ समाजशास्त्री जाने माने समाजवादी चिंतक और डॉ. राम मनोहर लोहिया जन्म शती समारोह समिति (2009—2011) के एक प्रमुख आयोजन कर्त्ता। 23 मार्च, 2009 को जन्म शती समारोह के उद्घाटन के अवसर पर डॉ. लोहिया और समकालीन विश्व की चुनौतियाँ विषय पर मावलंकर हाल, नई दिल्ली में दिए गए अभिभाषण का यह लेख संशोधित परिवर्धित रूप है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके पिता हीरालाल लोहिया गांधी जी के अनुयायी और राष्ट्रवादी थे। उच्च शिक्षा के लिए विदेश जाने से पूर्व (1929) वे कांग्रेस के अधिवेशनों में भाग ले चुके थे। कलकत्ता विश्वविद्यालय में बी.ए. की पढ़ाई के समय वे छात्र राजनीति में सक्रिय थे और नेहरू जी के संपर्क में आ चुके थे। वर्ष 1917 से लेकर वर्ष 1929 के बीच देश और विदेश में ऐसी घटनाएँ घटीं जिन्होंने विश्व राजनीति को व्यापक रूप से प्रभावित किया। प्रथम विश्व युद्ध (1914—18) ने पूँजीवाद और पश्चिमी सभ्यता के संकट को उजागर कर दिया। सन 1917 में रूस में बोलशेविक राज क्रांति हुई। सन् 1922 में मुसोलिनी के नेतृत्व में फासिस्ट पार्टी ने इटली की राजसत्ता पर कब्जा कर लिया। सन 1918 में भारत में रौलट कानून के विरोध में उठा व्यापक जन-रोष और 1919 में अमृतसर के जलियान वाले बाग में हुए नरमेध ने पूरे भारत में अंगेज सरकार के विरोध की आग में घी का काम किया। देश में गांधी जी के राजनीतिक नेतृत्व का सूत्रपात हुआ। उनके द्वारा आरंभ किए गए असहयोग आंदोलन ने देश में उबाल-सा ला दिया और पहली बार राजनीति में सामान्य जन की भागीदारी बढ़ी। चीन में मई 1919 में हुए छात्र-आन्दोलन ने चीनी राजनीति की दिशा मोड़ दी। सन 1929 में आरंभ हुई विश्वव्यापी मंदी ने 'राज्य द्वारा आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप के सिद्धांत' और पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के सम्मुख गहरा संकट उपस्थित कर दिया।

इन परिस्थितियों के बीच एक ओर तो गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस का देश के सामान्य जन, छात्रों, उभरते नगरीय मध्यम वर्ग और किसानों से संपर्क प्रगाढ़ हुआ और दूसरी ओर रूसी राजक्रांति के प्रभाव स्वरूप बुद्धिजीवियों और राजनीतिक कार्यकत्ताओं के एक छोटे से वर्ग के बीच मार्क्सवाद और समाजवाद की भी चर्चा आरंभ हुई। विदेश में रहते हुए मानवेन्द्र नाथ राय साम्यवादी आंदोलन और मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हुए। मास्को जाकर वे लेनिन और दूसरे बोलशेविक नेताओं से मिले। उसके बाद गत सदी के बीस के दशक में उन्होंने विश्व साम्यवादी आंदोलन में अपना विशिष्ट स्थान बनाया। वर्ष 1924 में भारत में कम्यूनिष्ठ पार्टी की स्थापना हुई। सन 1927 में जवाहर लाल नेहरू अपने पिता मोतीलाल नेहरू के साथ रूस की यात्रा पर गए और वहाँ से समाजवादी विचारों से प्रभावित होकर लौटे।

भारत में इस काल में जो लोग समाजवादी विचारों से प्रभावित हुए उन पर रूस की बोलशेविक क्रांति की सफलता का भावुक प्रभाव और उसके प्रति एक रूमानी आकर्षण मात्र था। मार्क्सवाद की राज्य, अर्थ-व्यवस्थ, पूँजीवाद, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की जटिल स्थापनाओं के विषय में भारत में बहुत कम लोगों को सम्यक बोध था। उसके पीछे कई कारण थे। मार्क्स के जीवन काल में ही समाजवादी वैचारिकी से प्रभावित दुनियाँ की सबसे पहली और सर्वाधिक शक्तिशाली सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी की जर्मनी में स्थापना हो चुकी थी। इसके संस्थापकों में से अनेक, मार्क्स और एंजेल्स के निकटतम मित्र होते हुए भी, मार्क्सवाद की अनेक वैचारिक स्थापनाओं से गहरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मतभेद रखते थे। मार्क्स की अधिकतर रचनाएँ जर्मन भाषा में मूल रूप से लिखी गई थीं। मार्क्सवाद पर जर्मनी में चलने वाली बहस का माध्यम भी जर्मन भाषा ही थी। बीसवीं सदी के आरंभिक दशक में मार्क्स की रचनाओं और उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों के पक्ष अथवा विपक्ष में चलने वाले विमर्श का अभी अंग्रेजी सहित यूरोप की अन्य भाषाओं में भी बहुत कम अनुवाद हो पाया था। भारतीय भाषाओं में तो अनुवाद का प्रश्न ही नहीं उठता था। लेनिन और ट्राट्स्की की मूलभूत रचनाएँ रूसी भाषा में थी। अतः, उनके बौद्धिक चिंतन की भी सटीक जानकारी भारत में कम ही थी। मार्क्सवादी और बोजशेविक साहित्य को भारत लाने अथवा उनके प्रकाशन पर अंग्रेज सरकार की कड़ी रूकावट थी।

इन परिस्थितियों के बीच लोहिया उच्च-अध्ययन के लिए पहले इग्लैंड गए। वहाँ का औपनिवेशिक साम्राज्यवादी परिवेश उनकी बौद्धिक, राजनीतिक रूचि के अनुरूप नहीं था। अतः वे इंग्लैंड से जर्मनी चले गए। वहाँ पर शिक्षा और शोध का माध्यम जर्मन भाषा थी। उन्होंने जर्मन भाषा सीखी। बर्लिन के हंबोल्ट विश्वविद्यालय में उस समय के दुनियाँ के जाने माने अर्थशास्त्री और उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशक में समाजवाद के उद्भट भाष्यकार प्रो. वेर्नर जोबार्ट[3] (1863—1941) के निर्देशन में अर्थशास्त्र में डॉक्टरेट डिग्री के लिए उन्होंने अपना नाम लिखाया।

2

उस समय जर्मन बौद्धिक चिंतन, राजनीतिक प्रणाली और दलीय प्रणाली तीनों संक्रमण के दौर से गुजर रहे थे। मार्क्सवाद के पक्ष-विपक्ष, समाजवादियों-साम्यवादियों के पारस्परिक विभेद, नाजी पार्टी के बढ़ते प्रभाव को लेकर न केवल जर्मनी बल्कि पूरे यूरोप में तर्क-वितर्क चल रहा था। मार्क्सवाद, साम्यवाद, समाजवाद और बोलशेविक क्रांति को लेकर चलने वाली बहस जर्मनी में अधिक गंभीर, तर्कपूर्ण और तथ्यों पर आधारित थी क्योंकि, मार्क्स, एंजेल्स के मित्र एडुआर्ड बर्नस्टीन (1850-1932) और के. जे. कौत्स्की (1854-1938) अभी जिवित थे।[4] जर्मनी के बाहर इंग्लैंड में फेबियन, गिल्ड और सिंडिकेट समाजवाद पर चलने वाली बहस अंग्रेजी समाज के विचारकों, समाज वैज्ञानिकों और सम्मानित सृजनशील लेखकों को अपनी ओर आकर्षित कर रही थी। इसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और सम्मानित नाम जी.डी. एच कोल (1889—1959) का था। लेकिन इस धारा के साथ जॉंर्ज बर्नार्ड शा, एच. जी. वेल्स, हेराल्ड लास्की जैसी विभूतियों का नाम भी जुड़ा है। जर्मनी के अपने छात्र जीवन काल में लोहिया को इन विचारों, इनसे जुडे अनुभवों को आत्मसात करने का अवसर मिला जो अन्य भारतीय साम्यवादियों और समाजवादियों को नहीं मिल पाया।

हर दर्शन और वैचारिकी का एक सतत गतिशील पक्ष होता है जिसके परिणाम स्वरूप उसमें परिवर्तन, सुधार संसोधन और नए विचार जुड़ते रहते हैं। वर्नस्टीन एवं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कौत्स्की अपने निजी अनुभवों के आधार पर मार्क्सवाद की सीमाओं और बोलशेविक क्रॉंति के वाद की बढ़ती अलोकतांत्रिक, अधिनायकवादी दुस्परिणामों की चर्चा कर रहे थे। वे मार्क्सवादी और बोलशेविक क्रान्ति को वैचारिक जड़ता से मुक्ति दिला कर उन्हें गतिशील और लोकतांत्रिक बनाना चाहते थे। लोहिया के आरंभिक बौद्धिक चिंतन के दिशा-निर्देशन में किन्ही न किन्ही रूप में जर्मनी और इंग्लैंड में चलने वाले इस विचार मंथन का प्रभाव पड़ा था जिसे उन्होंने एशिया और भारत की परिस्थितियों के अनुरूप ढालने की चेष्टा की थी। इसी संदर्भ में उनके इस कथन को समझा जा सकता है कि मैं न तो मार्क्स समर्थक हूँ न तो मार्क्स विरोधी। अपनी नासमझी और दलगत संकीर्णता में भारतीय कम्यूनिस्ट उन्हें मार्क्स विरोधी चित्रित करने के लिए सदैव तत्पर रहे।

मार्क्सवाद की सीमाओं और एशिया के संदर्भ में लोहिया की समाजवादी स्थापनाओं की पृष्ठभूमि को दुनिया की पहली समाजवादी पार्टी—जर्मनी की सोशल डेमोक्रेटिव पार्टी की स्थापना, उसके राजनीतिक प्रभाव में अप्रत्याशित वृद्धि, उसकी राजनीतिक सीमाओं, बोलशेविक क्रॉंति की उपलब्धि, उससे जुड़ी आलोचना-प्रत्यालोचना और मार्क्सवाद की सीमाओं पर उदभूत वैचारिक-मंथन के संदर्भ में विश्लेषित किया जा सकता है।

मार्क्स के जीवन काल में ही, एक सिद्धांतकार के रूप में फर्नीनांड लासाल (1825—1864) मार्क्स का प्रखर बौद्धिक प्रतिद्वंद्वी था। मार्क्स के अनुसार जर्मनी में श्रमिक आन्दोलन के जागरण का वास्तविक श्रेय लासाल का ही है। 1860 के दशक में प्रूधाँ के अतिरिक्त लासाल का ही एक ऐसा बौद्धिक व्यक्तित्व था जो जर्मनी में विचारधारात्मक प्रभाव में मार्क्स से बहुत आगे था। 1863 में अपने एक खुले पत्र में लासाल ने जर्मन वर्किंग क्लास सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना की रूपरेखा प्रस्तुत की थी। मार्क्स उस समय सर्वहारा की एकता और क्रॉंति पर जोर दे रहा था और किसी तरह के साम्यवादी दल की स्थापना का विरोधी था। मार्क्स का बल राष्ट्र पर नहीं बल्कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर श्रमिक वर्ग की एकता पर था। क्रांति के बाद संक्रमण काल में मार्क्स सर्वहारा की अधिनायक शाही का पक्षधर था। मार्क्स के इन विचारों के विपरीत एक प्रखर समाजवादी होते हुए भी लासाल ने समाजवाद की पार्टी बनाने पर पूरा ज़ोर दिया। सन 1863 के उसके पत्र के बाद जो दल बना था उसे और एक अन्य दल से मिला कर सन 1875 में जर्मनी में एक एकीकृत समाजवादी दल की स्थापना हुई जिसका नाम रखा गया जर्मनी की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी। अपने जीवन के अंत काल में मार्क्स ने भी इस दल का समर्थन किया। सन 1896 में जो द्वितीय कम्यूनिस्ट इंटरनेशनल बना उसकी स्थापना में जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी की प्रमुख भूमिका थी। अनेक छोटे राज्यों में विभाजित जर्मनी की एकता, लोकतंत्र, राष्ट्र-राज्य की अवधारणा और समाजवाद लासाल की विचारधारा के आधार स्तंभ थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोल का मानना है कि सन 1848 में पेरिस कम्यून के पतन के बाद, जर्मनी में समाजवाद की अलख जगाने का गौरवपूर्ण श्रेय मार्क्स को नहीं बल्कि लासाल को दिया जाना चाहिए।

लासाल की इस लोकतांत्रिक समाजवादी परंपरा को वर्नस्टीन और कौत्स्की ने आगे बढ़ाया। इसमें लोहिया के शोध-निदेशक जोंबार्ट के अत्यंत प्रखर समाजवाद संबंधी आरंभिक विचारों को भी सम्मिलित किया जा सकता है। हंम्बोल्ट विश्व विद्यालय में उस समय विश्व-विश्रुत वैज्ञानिक आइंस्टीन और समाजवादी विचारक शूमाखर भी प्राध्यापक थे। शुमाखर डॉ. लाहिया के शोध प्रबंध के परीक्षक भी थे। जोम्बार्ट द्वारा 1896 में समाजवाद पर दी गई भाषण-माला ने पूरे यूरोप में उन्हें एक समाजवादी चिंतक के रूप में स्थापित कर दिया था। जब यह भाषण-माला पुस्तक रूप में प्रकाशित हुई तो बीस भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ। आधुनिक पूँजीवाद की उत्पत्ति और विकास से संबंधित शोधग्रंथ उसकी गहन विद्वता और मौलिक चिंतन का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। बोलशेविक क्रांति के बाद लेनिन के जीवन काल की अधिनायकवादी ज्यादतियों से जोम्बार्ट का मार्क्सवाद से मोगभंग हो गया।

बर्नस्टीन सोशन डेमोक्रेटिव पार्टी के मुखपत्र का संपादक था। मार्क्स तथा एंजेल्स से उसकी व्यक्तिगत मित्रता थी। वर्ष 1880 में मार्क्स और एंजेल्स से मिलने वह लंदन गया था। लंबे लंदन प्रवास के दौरान वह फेबियन समाजवादियों के संपर्क में आया। गहन विचार-विमर्श के बीच वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि मार्क्सवाद में संशोधन की आवश्यकता है। कट्टर मार्क्सवाद से विरत होकर सन 1901 में उसने 'संशोधन वाद' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया जिसका प्रयोग कट्टर मार्क्सवादी एक गाली की तरह करते रहे हैं। एंजेल्स इस बात से पूरी तरह परिचित था कि पूँजीवाद की मार्क्सवादी व्याख्या बर्नस्टीन के अत्यंत मौलिक विश्लेषण के अनुसार उन्नीसवीं सदी के अंत के बदलते पूँजीवाद की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियों से मेल नहीं खाती है। बर्नस्टीन, मार्क्स की प्रतिभा और विश्लेषण क्षमता का प्रशंसक होते हुए भी उसकी सैद्धांतिक मान्यताओं के पुनर्विचार पर मार्क्स के जीवन-काल में ही बात करने लगा था।

मार्क्सवादी सैद्धांतिकी की ऐतिहासिक-तार्किक दुर्बलताओं पर विचार करने और पूरे यूरोप में लोकतांत्रिक समाजवादी आंदोलन की आधारशिला को पुष्ट करने में मार्क्स एंजेल्स के अप्रतिम साथी रह चुके कौत्स्की का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वर्नस्टीन के साथ वह मार्क्स, एंजेल्स का उत्तराधिकारी समझा जाता था। एंजेल्स के निधन के बाद द्वितीय कम्यूनिस इंटरनेशनल काल (1899-1914) में वह मार्क्सवाद का सर्वाधिक सच्चा भाष्यकार माना जाता था। उस काल में वह 'मार्क्सवाद का पोप' कहा जाता था। मार्क्स और एंजेल्स से उसकी प्रगाढ़ मैत्री को इस बात से समझा जा सकता है कि वह एंजेल्स की वसीयत का गवाह था। लेनिन भी उसका बहुत आदर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता था। लेकिन बोलशेविक क्रांति के बाद जब रूस की ड्यूमा अथवा संविधान सभा, जिसमें वोलशेविक अल्पमत में थे, भंग कर दी गई, अधिनायकशाही लागू कर दी गई और विरोधियों को अनेक तरक की यातना दी जाने लगी तो कौत्स्की ने उसका विरोध किया। लेनिन से उसके निजी रिश्तों में भी दरार पड़ गई। सैद्धांतिक स्तर पर वर्नस्टीन से भी उसके मतभेद उभरकर सम्मुख आए।

वर्नस्टीन, कौत्स्की और शूमाखर की लोकतांत्रिक समाजवादी सैद्धांतिकी ने जर्मनी में सोशल डेमोक्रेटिव पार्टी को उच्चस्थ बौद्धिक संपन्नता और अद्भुत संगठनात्मक क्षमता प्रदान किया। जर्मनी में प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व राजशाही अभी कायम थी। इसके वावजूद वर्ष 1914 से पूर्व सोशल डेमोक्रेटिव पार्टी के अपने 70 से अधिक समाचार पत्र थे, श्रमिकों की सहासता के लिए स्थापित किए गए सैकड़ों सहायता केन्द्र थे और उसकी सदस्यता 10 लाख से ऊपर थी। मार्क्सवाद के वर्ग संघर्ष और पूँजीवाद के विरूद्ध संघर्ष को स्वीकार करते हुए भी सोशल डेमोक्रेट्स ने लोकतांत्रिक राज्य के द्वारा असमानता की समाप्ति, कल्याणकारी राज्य की स्थापना, पर बल दिया। जर्मनी के समाजवादियों के अपने ऐतिहासिक अनुभव सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के व्यापक प्रसार और जर्मनी की संसद में लोकतांत्रिक तरीके से प्राप्त किए गए संख्या बल पर आधारित थे। रूस की संसद और जनता के बीच बोलशेविक सब मिला कर बहुमत को अपने पक्ष में कर पाने में अक्षम थे, अतः उन्होंने तानाशाही का सहारा लिया। तानाशाही के कारण कौत्स्की और वर्नस्टीन मुसोलिनी, स्टालिन और हिटलर को एक ही तराजू पर तौलते थे। मार्क्सवादी सैद्धांतिकी और रूस की साम्यवादी सरकार की कार्यप्रणाली की इतनी कटु बौद्धिक आलोचना जब उनके विरोधियों द्वारा नहीं बल्कि उनके सहकर्मी रहे जर्मन समाजवादियों द्वारा हो रही थी, तब उन परिस्थितियों के बीच राममनोहर लोहिया अपने अध्ययन के सिलसिले में जर्मनी पहुँचे थे।

प्रथम विश्वयुद्ध में पराजय और उस पर बलात लादी गई संधि की शर्तों के कारण जर्मनी के राष्ट्रवादी गौरव-बोध को गहरा आघात लगा था। युद्ध के बाद सोशल डेमोक्रेट्स जर्मनी पर लोकतांत्रिक ढंग से चुनी गई सरकार के द्वारा सबसे बड़ी पार्टी के रूप में शासन कर रहे थे। युद्ध के बाद जर्मनी में जिस ढ़ंग की आर्थिक गिरावट, भीषण मुद्रास्फीति, जबरदस्त बेरोजगारी और अनियंत्रित महंगाई की मार थी, उसका समाधान ढूँढ़ पाना कमजोर हो गए जर्मनी और उसकी सरकार के लिए दुःस्साध्य सिद्ध हो रहा था। कम्यूनिस्ट सोशल डेमोक्रेट्स को, अपना असली दुश्मन मानते थे। समाजवादियों का मनोबल गिरा हुआ था। हिटलर द्वारा प्रतिपादित विचारधारा और नाजी पार्टी के संगठन का तेजी से प्रचार-प्रसार हो रहा था। अपने छात्र जीवन में लोहिया को समाजवादियों के गिरे मनोबल के कारण उनमें पहल और संघर्षशीलता के अभाव, कम्यूनिस्टों के भीतरघात और नाजी पार्टी के प्रभाव-विस्तार को देखने, समझने और उसका विश्लेषण करने का अवसर मिला।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने जर्मनी प्रवास के दिनों में राम मनोहर लोहिया की रूझान गांधी जी के नेतृत्व में चलने वाले स्वाधीनता संग्राम में बढ़ती गई। उसके साथ ही उन्होंने यूरोप केन्द्रित अर्थशास्त्र, यूरोपीय राजनीतिक प्रणाली और यूरोपीय राजनीतिक दलों की कार्यप्रणाली का गहराई से अध्ययन, निरीक्षण और परीक्षण किया। एडम स्मिथ, कार्ल मार्क्स और कीन्स का यूरोप केन्द्रित अर्थशास्त्र एशिया और आफ्रीका की समस्याओं के समाधान के लिए उन्हें अधूरा लगा। इंग्लैण्ड और फ्रांस की पूँजीवादी जनतंत्रवादी, मध्य यूरोप की समाजवादी—जनतंत्रवादी और रूस की साम्यवादी राजनीति की आंतरिक विसंगतियों से वे परिचित हुए। जर्मनी के सोशल डेमोक्रेट्स में उन्हें इच्छाशक्ति, साहस और संघर्षशीलता का अभाव दिखाई पड़ा। इस कारण हिटलर और नाजी पार्टी के लड़ाकू भावनात्मक, राष्ट्रवादी प्रभाव को रोक सकने में वे अक्षम सिद्ध हुए। कम्यूनिस्टों के दुहरे राजनीतिक चरित्र को भी उन्होंने जर्मनी में देखा और परखा। विश्वविद्यालय में अपने शोध प्रबंध की लंबी, विद्वतापूर्ण मौखिक परीक्षा के बाद, उनके एक परीक्षक और समाजवादी चिंतक प्रो. शूमाखर ने बढ़ते नाजी खतरे को देखते हुए लोहिया को यथाशीघ्र जर्मनी छोड़ने की सलाह दी। जर्मनी से लौटा यह विद्वान युवक भारत में आते ही गांधी जी के नेतृत्व में चलने वाले स्वाधीनता संग्राम का एक तेजस्वी सैनिक बन गया। वह लौटा तो समाजवादी बन कर लेकिन मार्क्सवाद की आंतरिक विसंगतियों और यूरोपिय लोकतांत्रिक समाजवाद की कमजोरियों से वह पूर्णतया भिज्ञ था।

3

सन् 1933 के शुरू में जब डॉ. लोहिया भारत पहुंचे तो देश के राजनीतिक परिवेश में निराशा व्याप्त थी। अनेक लोगों द्वारा गांधी जी की राजनीति की आलोचना हो रही थी। सन 1932 में बिहार, उत्तर प्रदेश और तत्कालीन बंबई प्रेसीडेंसी की जेलों में बंद राजबंदियों के समूह कम्यूनिष्टों से अलग कांग्रेस के अंदर ही समाजवादी पार्टी की स्थापना के विषय में विचार विमर्श कर रहे थे। 17 मई, 1934 को पटना में समाजवादी विचारधारा से प्रभावित कार्यकर्त्ताओं की बैठक में कांग्रेस के अंदर ही सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना का निर्णय लिया गया। इस बैठक के नेताओं में प्रमुख थे जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेन्द्र देव, यूसुफ मेहर अली, मीनु मसानी, कमला देवी चट्टोपाध्याय, संपूर्णानंद, अच्युत पटवर्धन, ए. वी. मेनन, अशोक मेहता, रामनंदन मिश्र, शिवनाथ बनर्जी, डॉ. राम मनोहर लोहिया, मुंशी अहमद्दीन तथा फरीदुल हक अंसारी। राष्ट्रीय आंदोलन, भारत की आजादी और समाजवाद के सवाल पर तो ये सभी एकमत थे लेकिन समाजवाद की उनकी अवधारणाओं में बड़ी भिन्नता थी। इन सभी नेताओं पर जवाहर लाल नेहरू के व्यक्तित्व और उनके राजनीतिक विचारों का गहरा प्रभाव था। अमेरिका के छात्र जीवनकाल में जयप्रकाश पर मानवेन्द्र नाथ राय के विचारों का प्रभाव पड़ा था और वे अपने को मार्क्सवादी मानते थे। आचार्य नरेन्द्र देव बौद्ध दर्शन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और भारतीय परंपरा के प्रभाव के साथ मार्क्सवादी थे। संपूर्णानंद समाजवाद को वेदांत के साथ जोड़ते थे। उन्होंने समाजवाद पर हिंदी में पहली पुस्तक भी लिखी थी। कांग्रेस समाजवादी पार्टी का दृष्टिकोण रूस में चलने वाले समाजवादी प्रयोगों के प्रति सकारात्मक था। पार्टी का उस समय जो तदर्थ नीति वक्तव्य अनुमोदित हुआ वह पूर्णतया मार्क्सवादी था।

डॉ. लोहिया की अधिकृत जीवनी लेखिका इंदुमती केलकर के अनुसार उस समय लोहिया जवाहर लाल के चहेते जरूर थे लेकिन उनके मित्र नहीं थे। इसी तरह वे न तो मार्क्सवादी थे न मार्क्स विरोधी थे। वे न तो गांधीवादी थे और न गांधीवाद के विरोधी थे। सोवियत रूस के नेतृत्व में पूरी दुनिया में चल रहे समाजवादी आंदोलन से जवाहर लाल नेहरू, जयप्रकाश नारायण और मानवेन्द्र नाथ राय अत्यधिक प्रभावित थे। लोहिया का विश्वास था कि नई विश्व-व्यवस्था और समाजवादी आंदोलन के लिए पूरी दुनिया का नेतृत्व करने की क्षमता सोवियत रूस द्वारा परिभाषित साम्यवाद के पास नहीं है। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के अंदर लोहिया अपने विचारों को रखते थे लेकिन वहाँ वे अकेले पड़ जाते थे। अपने विचारों को सैद्धांतिक रूप देने का उनको अभी समय नहीं मिला था।

21-22 अक्टूबर, 1934 को बंबई में आयोजित सम्मेलन में संपूर्णानंद की अध्यक्षता में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की विधिवत स्थापना हुई। लोहिया पार्टी की कार्य समिति में सम्मिलित किए गए और उन्हें पार्टी के मुख पत्र 'कांग्रेस सोशलिस्ट' के संपादन का दायित्व भी सौंपा गया। जयप्रकाश नारायण पार्टी के महामंत्री थे। पार्टी की घोषित नीतियों के अंतर्गत ही डॉ. लोहिया को इस पत्र के माध्यम से अपनी बात कहने का अवसर मिला। अत्यंत अभाव के बीच वे कलकत्ता से 'कांग्रेस सोशलिस्ट' का प्रकाशन और संपादन करते रहे। अपने एक लेख में गांधी जी के ग्राम सुधार कार्यक्रम की आलोचना करते हुए डॉ. लोहिया ने लिखा कि इसकी जगह विदेशी राज को हटाने के लिए पूरी ताकत लगानी चाहिए। जयप्रकाश नारायण मार्क्सवादी थे। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना पर कम्युनिस्टों द्वारा अनेक तरह से अभद्र राजनीतिक शब्दावली का प्रयोग किया गया था। फिर भी जयप्रकाश जी समाजवादियों और कम्यूनिष्टों की एकता के प्रबल समर्थक थे। भारत में उस समय कम्यूनिस्ट पार्टी गैर कानूनी घोषित थी। उसे कानूनी ढंग से अपनी राजनीतिक गतिविधि संचालित करने के लिए एक मंच की आवश्यकता थी। विश्व कम्यूनिस्ट आंदोलन का रूस के नेतृत्व में स्वाधीनता की लड़ाई में उपनिवेशों में संलग्न संगठनों के प्रति दृष्टिकोण बदल रहा था। सन 1936 में कोमिंटर्न ने फरमान निकाला कि कम्यूनिस्टों को स्वाधीनता आंदोलन वाले संगठनों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाना चाहिए। इन अंतर्राष्ट्रीय आदेशों के बाद कम्यूनिस्टों ने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के प्रति सहयोग का रूख अपनाया। गांधी जी का कम्यूनिस्ट पार्टी की स्थापना काल से ही कम्यूनिस्टों ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगातार विरोध किया था। लेकिन अब वे कांग्रेस में भी सम्मिलित होने के लिए उतावले थे। सन 1936 के मेरठ अधिवेशन में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने अपने दरवाजे कम्यूनिस्टों के लिए खोल दिए और नीचे से लेकर ऊपर तक बहुत से कम्यूनिस्ट कार्यकर्ताओं और नेताओं की नियुक्ति पार्टी के पदों पर कर दी गई। कम्यूनिस्टों ने अपनी कूट चालों और जयप्रकाश जी का उनके प्रति नरम दृष्टिकोण के चलते दक्षिण भारत के प्रांतो पर अपना वर्चस्व कायम कर लिया। सन 1938 में लाहौर अधिवेशन में उन्होंने पूरी पार्टी पर भी नियंत्रण कर लेने की चेष्टा की। कम्यूनिस्टों की इस भीतरघाती प्रवृत्ति के विषय में लोहिया शुरू से जयप्रकाश को सजग करने की चेष्टा करते रहे। अंत में जयप्रकाश जब कम्यूनिस्टों के साथ स्थापित एकता तोड़ने के लिए सहमत नहीं हुए तो लोहिया, अच्युत पटवर्धन, मीनू मसानी और अशोक मेहता ने कार्यसमिति से त्याग पत्र दे दिया। अंत में लाहौर अधिवेशन में जयप्रकाश भी कम्यूनिस्टों के प्रति सचेत हुए और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने कम्यूनिस्टों को पार्टी से निकाल देने का निर्णय लिया।

सन 1936 में जवाहर लाल नेहरू जब कांग्रेस अध्यक्ष हुए तो कांग्रेस के अंदर 'विदेश विभाग' स्थापित किया गया और डॉ. लोहिया ने नेहरू जी और आचार्य नरेन्द्र देव के आग्रह पर इसका सचिव होना स्वीकार किया। उस समय जवाहर लाल नेहरू और सुभाष चन्द्र बोस की सहानुभूति रूस में होने वाले समाजवादी प्रयोगों के साथ ली। लेकिन यूरोप में युद्ध के मंडराते बादलों को भांप कर सुभाष बाबू भारत की आजादी के लिए इंग्लैण्ड के दुश्मनों हिटलर शासित जर्मनी और मुसोलिनी शासित इटली की सहायता लेने से परहेज करने के पक्षधर नहीं थे। नेहरू जी की सहानुभूति उदार–लोकतंत्रवादी इंग्लैण्ड और फ्रांस के साथ थी। विदेश विभाग के सचिव के रूप में डॉ. लोहिया ने फास्टिवादी जर्मनी-इटली, पूँजीवादी-लोकतंत्रवादी इंग्लैण्ड-फ्रांस और साम्यवादी रूस से अलग हटकर एशिया-अफ्रीका के उपनिवेशवाद के दमन और शोषण से पीसे जा रहे देशों की एकता पर बल दिया। स्टालिन ने अपने विरोधियों को निर्मूल करने के लिए 'मास्को ट्रायल' का नाटक कर हजारों लोगों को मौत के घाट उतार दिया तो लोहिया ने न केवल स्टालिन और रूस का बल्कि साम्यवाद और रूस में चलाए जा रहे मार्क्सवाद का भी पुनर्मूल्यांकन किया। उन्होंने लिखा कि रूस शांति का अग्रदूत और नई मानवीय संस्कृति की प्रयोग भूमि न रह कर, कम्यूनिस्ट पार्टी में स्टालिन गुट की तानाशाही का केन्द्र बन गया है। बाद में साम्यवादी रूस ने जब हिटलर के जर्मनी से समझौता कर लिया, पोलैंड पर हमला कर उसके एक हिस्से पर कब्जा कर लिया और जब हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया पर हमला किया तो जर्मनी से अपनी मित्रता निभाते हुए खामोश रहा तो रूसी साम्यवाद और उसके साम्राज्यवादी मंसूबों की कलई खुल गई। सन 1937 में संयुक्त प्रांत में चुनाव के बाद कांग्रेस की सरकार थी। एक आन्दोलन के सिलसिले में कुछ प्रदर्शनकारी पुलिस की गोली से मारे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गए। डॉ. लोहिया ने 'कांग्रेस बुलेटिन' में गोली चलाए जाने के विरोध में लिखा। नेहरू जी ने पंत जी की शिकायत पर डॉ. लोहिया से कहा कि आप को ऐसा नहीं लिखना चाहिए था। इससे कांग्रेस की बदनामी होती हैं। इस पर डॉ. लोहिया ने कड़ा प्रतिवाद जताया था।

इस तरह हम देखते हैं कि गांधी जी के नेतृत्व में आस्था रखते हुए भी डॉ. लोहिया न तो कृपलानी जी एवं राजेन्द्र बाबू जैसे गांधीवाद और न तो रचनात्मक कार्य कर्त्ताओं जैसे अंध गांधी-भक्त थे। इसी तरह नेहरू जी से अत्यंत आत्मीय संबंध रहते हुए भी सैद्धांतिक मसलों पर वे खुलकर उनसे असहमत होते थे। जर्मनी के राजनीतिक दलों के अपने अनुभव के आधार पर भारत में भी वे कम्यूनिस्ट पार्टी के भीतरघात के प्रति पहले से सजग थे। प्रतिवद्ध समाजवादी होते हुए भी अपने जर्मन प्रवास के अध्ययन से वे मार्क्सवाद की आंतरिक विसंगतियों से पूर्णतया परिचित थे। रूसी क्रांति के प्रति सहानुभूति रखते हुए भी स्टालिन द्वारा रूस को यंत्रणा गृह और कट्टर तानाशाही में बदल देने के वे घोर विरोधी थे। उस समय लोहिया की आयु मात्र 26 वर्ष थी। उनके राजनीतिक जीवन का यह आरंभिक निर्माण काल था लेकिन अंतर्राष्ट्रीय स्थिति और भारतीय राजनीति की उनकी समझ तथ्यपरक, विवेकपूर्ण और अत्यंत प्रौढ़ थी।

4

1936 से लेकर 1942 के बीच डॉ. लोहिया समसामयिक विषयों विश्व राजनीति और कांग्रेस की विदेश नीति पर टिप्पणियाँ, लेख और पुस्तिकाएँ तो लिखते रहे लेकिन अपने शोध-प्रबंध लिखने के बाद राजनीति की गहमा-गहमी में उन्हें गंभीर लेखन का अवसर नहीं मिला। 'भारत छोड़ो' आंदोलन में भूमिगत दिनों में जो थोड़ा बहुत अवकाश मिला तो उन्होंने तय किया "परस्पर विरोधी पड़ने वाली कई असंगतियों से ओतप्रोत मार्क्सवाद के प्रत्यक्ष अनुभवों और दर्शनों से मैं चकरा गया और इसी समय मैंने तय किया कि मार्क्सवाद के सत्यांश की तलाश करूँगा, असत्य को मार्क्सवाद से अलग करूँगा। अर्थशास्त्र, राजशास्त्र, इतिहास और दर्शनशास्त्र मार्क्सवाद के चार प्रमुख आयाम रहे हैं। इनका विश्लेषण करना भी मैंने आवश्यक समझा। परन्तु अर्थशास्त्र का विश्लेषण जारी ही था कि मुझे पुलिस पकड़ कर ले गई।" अर्थशास्त्र का यह विश्लेषण उनके दीर्घ लेख 'इकोनोमिक्स आफ्टर मार्क्स' अथवा 'मार्क्सोत्तर अर्थशास्त्र' में संकलित है। बाद में यह लेख पहले उनकी पुस्तक 'फ्रैगमेंट्स ऑफ ए वर्ल्ड माइंड', 1951 और उसके बाद एक वृहद ग्रंथ 'मार्क्स, गांधी एंड सोशलिज्म (1963) के अंतर्गत एक बड़े अध्याय के रूप में संकलित है। इस लेख के अंतर्गत डॉ. लोहिया कार्ल मार्क्स के दरिद्रीकरण, अतिरिक्त मूल्य और पूँजीवाद संबंधी सिद्धांत से अत्यंत तार्किक, विद्वतापूर्ण असहमति व्यक्त करते हैं। सामाजिक रूपांतरण के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. लोहिया संघर्ष को अनिवार्य मानते हैं लेकिन उनकी मार्क्स से असहमति है। लोहिया मार्क्स द्वारा प्रतिपादित ऐतिहासिक भौतिकवाद और मात्र आर्थिक कारणों से होने वाली सामाजिक असमानता से भी अपनी वैचारिक असहमति व्यक्त करते हैं जो उनकी पुस्तक 'व्हील ऑफ हिस्टरी' (1955) अथवा 'इतिहास चक्र' में विश्लेषित है।[5]

मार्क्स के विश्लेषण में आदिम समाज से आरंभ कर पूँजीवाद के विकास और सर्वहारा की क्राँति द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था की समाप्ति के बाद साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना तक का ऐतिहासिक विकास क्रम एकरेखीय है। उसमें निम्न अवस्था से उच्च अवस्था की ओर समाज वर्ग संघर्ष के माध्यम से बढ़ता रहता है। मार्क्स के लिए वर्ग की रचना का आधार आर्थिक अथवा भौतिक है। एक अवस्था से दूसरी उच्च अवस्था की ओर जब समाज विभिन्न भौतिक स्तर पर परस्पर विरोधी हित वाले वर्गो के संघर्ष के कारण बढ़ता है तो आर्थिक उत्पादन की पद्धति में भी परिवर्तन होता है। मार्क्सवादी व्याख्या के अनुसार भूस्वामी सामंत वर्ग और उत्पादन के साधनों के स्वामित्व से रहित भूमिहीनों के संघर्ष से सामंती व्यवस्था का खात्मा हुआ और उसके स्थान पर एक नई पूँजीवादी व्यवस्था का जन्म हुआ। इस नए व्यवस्था में उत्पादन को साधनों पर स्वामित्व वाले और उनसे रहित दो वर्ग थे। इस नयी उत्पादन पद्धति वाली अर्थव्यवस्था में सामंत का स्थान कारखाने के श्रमिक ने ले लिया। कृषि जन्य उत्पादन पद्धति के स्थान पर नई पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन पद्धति कारखानों पर आधारित होती है। पूँजीवादी उत्पादन पद्धति की तकनीक और उत्पादन के संबंध सामंती व्यवस्था की उत्पादन पद्धति, कृषि आधारित तकनीक और उत्पादन के संबंध पूर्णतया भिन्न होते हैं।

डॉ. लोहिया सामाजिक-ऐतिहासिक रूपांतरण के एक रेखीय विकासवादी अवधारणा के स्थान पर चक्रात्मक परिवर्तन की चर्चा करते हैं। प्राचीन भारतीय मनीषियों ने चार युगों के चक्र के माध्यम से जगत के सृजन—विनाश—पुनर्सृजन की अवधारणा की कई सहस्त्राब्दियों की पूर्व चर्चा की थी। आधुनिक युग में टॉयनबी जैसे इतिहासकार, स्पेंगलर और सोरोकिन जैसे समाजशास्त्री सामाजिक परिवर्तन की चक्रात्मक अवधारणा के पृष्ठपोषक हैं। लोहिया का मानना है कि मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत को विश्व के हर समाज पर एक समान ढ़ंग से प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है। पूरी दुनिया के विभिन्न समाजों और क्षेत्रों में दो तरह की प्रक्रियाएँ काम करती रही हैं। पहली प्रक्रिया के अन्दर अनेक समाजों में देखा गया है कि उनकी मुक्त, गतिशील रूपांतरण की प्रक्रिया (समझने के लिए जिसे वर्ग कहा जा सकता है) अनेक तरह के सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक दबावों के मध्य अंतर्मुखी, उमुक्त, स्थिर, जड़ और अपरिवर्तनशील (समझने के लिए जिसे 'जाति' कहा जा सकता है) हो जाती है। परिस्थितियों में परिवर्तन होता है, जड़ता टूटती है और फिर से इन स्थिर बने समाजों में गतिशीलता आती है। एक जमाने में भारत और चीन के समाज सर्वाधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकसित और गतिशील थे। ऐतिहासिक कारणों से उनमें जड़ता और अपरिवर्तनशीलता आई और वे फिर तेजी से गतिशील हो रहे हैं। यूरोप और उत्तरी अमेरिका जो गत चार-पाँच सदियों से सर्वाधिक गतिशील और समुन्नत दिखाई पड़ रहे थे, आज सिकुड़ रहे हैं। इस तरह लोहिया इस चक्रात्मक सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं कि 'वर्ग' जाति में और 'जाति' वर्ग में रूपांतरित होते रहे हैं। इसी तरह विश्व में सभ्यताओं और समाजों का भी उत्थान-पतन होता रहा है और चक्रात्मक रूपांतरण की प्रक्रिया चलती रही है। मार्क्स से डॉ. लोहिया का दूसरा विभेद सामाजिक विषमता के संरचनात्मक आधारों को लेकर है। मार्क्सवादी विश्लेषण में असमानता, शोषण, वर्चस्व का मूल आधार आर्थिक और भौतिक है। सामाजिक विकास की प्रक्रिया और हर ऐतिहासिक काल में एक ओर धनी, वर्चस्ववादी और शोषक वर्ग और दूसरी ओर निर्धन, शोषित और दमित दो वर्ग सर्वदा रहे हैं। डॉ. लोहिया के अनुसार आर्थिक भौतिक कारणों के अतिरिक्त पूरी दुनिया में विषमता, शोषण और दमन को बढ़ाने में लिंग भेद (नर-नारी असमानता) रंग-भेद (काले-गोरे के बीच अफ्रीका और अमेरिका में असमानता) जन्म-जाति (भारत और दक्षिण एशिया में कथित उच्च और निम्न जातियों के बीच की असमानता) जैसे कारकों की अवहेलना नहीं की जा सकती है। इस तरह मार्क्सवादी 'वर्ग' की अवधारणा समुच्चित सामाजिक विषमता का विवेचन नहीं कर पाती है।

मार्क्सवादी व्याख्या में पूँजी का पूँजीपति वर्ग के हाथ में एकत्रीकरण आम लोगों के दरिद्रीकरण, श्रमिकों की मजदूरी में कटौती, अतिरिक्त उत्पादन और उससे अर्जित अतिरिक्त मूल्य को पूँजीपतियों द्वारा हड़पे जाने के साथ जुड़ा है। उन्नीसवीं सदी के आरंभिक पूँजीवादी काल में पूँजी के कुछ सीमित लोगों के बीच केन्द्रीकरण/ एकत्रीकरण और दूसरी ओर आम जन के दरिद्रीकरण की प्रक्रिया चल रही थी। लेकिन पूँजीवाद की कार्यप्रणाली में कारपोरेट गवर्नेंस और शेयर बाज़ार के नाते जो परिवर्तन आया उससे सर्वहारा की अवधारणा मिटती चली गई। श्रमिक वर्ग वेतन, शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा, ट्रेड-यूनियन, राजनीतिक शक्ति के जरिए धीरे-धीरे पूंजीवाद के गढ़ पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका में मध्य और उच्चमध्य वर्ग में परिवर्तित होता गया है।

वस्तुतः, औद्योगीकरण, पूंजीवाद के उत्थान और विकास, पूँजी के निर्माण, एकत्रीकरण और साम्राज्यवाद के पारस्परिक संबंधों को लेकर भी लोहिया और मार्क्स के विश्लेषण में विभेद है। मार्क्सवादी सैद्धांतिकी में पूंजीवाद की सर्वाधिक विकसित और अंतिम अवस्था साम्राज्यवाद है। लोहिया, ऐतिहासिक परिघटनाओं के माध्यम से यह साबित करते हैं कि उपनिवेशों की लूट और साम्राज्यवादी विस्तार ने पश्चिमी यूरोप में औद्योगिकरण और पूँजीवादी के विकास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। साम्राज्यवादी विस्तार ने वस्तुतः पूँजीवाद के जन्म और विकास में योगदान दिया। बंगाल की लूट और वर्ष 1764 में मुगल बादशाह द्वारा बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी ईस्ट इंडिया कम्पनी को सौंपने के बाद इग्लैंड में सन 1768 में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले आधुनिक कोयले से चलने वाली फैक्टरी की नींव पड़ी। पहले बंगाल और बाद में भारत के दूसरे हिस्सों, एशिया-अफ्रीका के देशों से इंग्लैण्ड में जो पूँजी का हस्तांतरण हुआ उसने वहाँ औद्योगिकरण, पूँजीवाद और पूँजीपति वर्ग के वर्चस्व को मजबूत किया। कट्टर मार्क्सवादी और भारतीय साम्यवादी इस ऐतिहासिक तथ्य से अपनी आँखें मूंद मात्र मार्क्स और लेनिन के उदाहरण देते रहे हैं।

मार्क्स की ऐतिहासिक-भौतिकवादी व्यवस्था के अन्तर्गत समाज सामंतवाद से पूँजीवाद और पूँजीवाद से समाजवाद साम्यवाद की ओर बढ़ता है। इस तरह सामंतवाद की तुलना में पूँजीवाद एक प्रगतिशील और अपरिहार्य अवस्था है जिसके बाद ही समाजवाद साम्यवाद की कल्पना की जा सकती है। सामाजिक उद्‌विकास की यह मार्क्सवादी व्याख्या कुछ दूर तक पश्चिमी यूरोप और विशेष कर इंग्लैण्ड और जर्मनी के सन्दर्भ में ही लागू होती है। मार्क्स का स्वयं मानना है कि उसका विश्लेषण 'एशियाई उत्पादन पद्धति' पर लागू नहीं होता है।

लोहिया का मानना है कि उत्पादन में विशाल मशीनों के उपयोग, यूरोपीय सामाजिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, सत्ता और उत्पादन पद्धति के केन्द्रीकरण की कसौटियों पर पूँजीवाद और साम्यवाद जुड़वाँ भाई हैं। इनमें कोई अंतर नहीं है। पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन के साधनों का नियंत्रण निजी हाथों में होता है जबकि साम्यवादी व्यवस्था में इस पर राज्य का स्वामित्व होता है। समुदाय और सामान्यजन दोनों व्यवस्थाओं में सत्ता और अर्थ-व्यवस्था के वास्तविक दिशा-निर्देशन और स्वामित्व से वंचित रहते हैं। अमेरिका दौरे के समय 17 अगस्त, 1951 को हूबर पुस्तकालय के एशियायी मामलों के विशेषज्ञों से बातचीत और स्टैन्फर्ड विश्वविद्यालय में छात्रों–प्राध्यापकों की सभा में दिया गया उनका भाषण मार्क्स के प्रति उनको दृष्टिकोण, समाजवाद की उनकी अवधारणा और एशिया की सामाजिक–आर्थिक परिस्थिति के संदर्भ में समाजवाद की उनकी परिकल्पना पर यथेष्ट प्रकाश डालते हैं।[6] विशेषज्ञों से बातचीत में लोहिया ने कहा कि समाजवादी व्यवस्था के अंतर्गत उत्पादन थोड़े से व्यक्तियों के लाभ के लिए न होकर पूरे समाज के लाभ के लिए होगा। इस परिभाषा की केन्द्रीयता को स्वीकार करते हुए इसकी अवधारणा में परिवर्तन करने और नई बातों को जोड़ने के लिए हम लोग पूरी तरह सक्षम हैं। समाजवाद जड़ और विकास की अंतिम अवस्था पर पहुंचा एक पूर्ण सिद्धांत नहीं है। इसका लगातार प्रस्फुटन और विकास हो रहा है। लोहिया ने उक्त अवसर पर जोर देकर कहा कि जब तक समाजवाद एक जीवंत सिद्धांत बना रहता है और इसकी व्याख्या लचकदर क्षमता से युक्त रहती है तो एक पल के लिए भी मैं इस बात की चिंता नहीं करता कि मेरी बात मार्क्स अथवा किसी अन्य की बात के साथ मेल खाती है या नहीं? इसके पूर्व 31 जुलाई, 1951 के ए.बी.सी. रेडियो के 275 स्टेशनों से किए गए ब्राडकास्ट में लोहिया कह चुके थे कि एशिया में जनसंख्या के अत्यधिक घनत्व और निम्न स्तरीय उत्पादन के उपादानों के बीच

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केन्द्रीकरण और विशाल उत्पादन पर आधारित पूँजीवाद एशिया के लोगो को न तो यथेष्ट राजनीतिक स्वतंत्रता दे सकता है और न तो साम्यवाद पूरी तौर पर रोटी दे सकता है। एशिया की समाजवादी पार्टियाँ पूँजीवाद और साम्यवाद की परिधि से बाहर निकलकर एक ऐसे विकेन्द्रित समाज की रचना के लिए संघर्षरत हैं जिसमें समुदाय की, समुदाय द्वारा और समुदाय के लिए काम करने वाली सरकार संभव हो पाएगी।

17 अगस्त, 1951 को स्टैन्फर्ड विश्वविद्यालय में एशिया में क्राँति विषय पर बोलते हुए डॉ. लोहिया एशिया में राष्ट्रीय आजादी और साम्राज्यवाद विरोधी क्रांति की बात करते हुए, आजादी के बाद विचार एवं कार्यक्रम के स्तर पर होने वाली क्रांति की चर्चा करते हैं। उनके अनुसार मानव इतिहास में सत्ता और समृद्धि का हेर फेर होता रहा है। एक महाद्वीप का ऊषाकाल दूसरे महाद्वीप में सूर्यास्त का सूचक है। भारत अथवा एशिया की क्रांति यदि सफल होती है और एशिया यदि फिर से सर्वोच्चता को प्राप्त करता है तो यूरोप और अमेरिका में गिरावट आ सकती है। लेकिन मुझे इससे खुशी नहीं होगी। इतिहास में कभी हम सबसे ऊपर रहे हैं लेकिन फिर हम सबसे ऊपर नहीं होना चाहते हैं। यदि हम ऐसी दुनियाँ बना सकें जिसमें उसके विभिन्न हिस्से तुलनात्मक ढंग से शक्ति में समान हों तब हम पूरी मानवता के लिए शांति और सहयोग के युग का आर्विभाव कर सकते हैं।

जैसा कि लोहिया ने कहा, “एशिया की क्रांति की मेरे लिए परख का पैमाना है कि वह यूरोप और अमेरिका जैसी परिस्थितियाँ अपने यहाँ पैदा करने की चेष्टा करता है। अथवा अपने लिए नए पथ का संधान करता है। एशिया में आज भी भूस्वामियों और उद्योगपतियों का नियंत्रण है। पूरे एशिया में आज संपत्ति के स्वामित्व के कानून में परिवर्तन हो रहा है। कृषि के क्षेत्र में एशिया में पुनर्निर्माण की आवश्यकता है। यह जनता की भागीदारी और ग्रामीण पुनर्रचना के लिए उनके स्वयं-सेवक की भांति काम करने से ही संभव है। एशिया में व्यापक पैमाने पर सत्ता का विकेन्द्रीकरण भी आवश्यक है। इसके साथ ही आर्थिक विकेन्द्रीकरण की भी आवश्यकता है। जहाँ तक प्रविधि का प्रश्न है भारत अथवा एशिया अत्यंत विशाल मशीनों के भार को बहन नहीं कर सकते हैं। यहाँ पर विजली से चलने वाली छोटी मशीनें खर्च की दृष्टि से सुलभ, संचालन की दृष्टि से सरल और रोजगार की दृष्टि से अधिक उपयोगी होंगी। समाजवादी एशिया इसके लिए कटिबद्ध है कि उसके यहाँ हिंसा और हथियार पर आधारित क्रांति नहीं होगी। आने वाले दिनों में आप लोग एशिया में होने वाले विद्रोहों की श्रृखंला के विषय में सुन सकते हैं। यह मान कर कि व्यवस्थापिका द्वारा आयोजित सुधारों में यदि रूकावट पैदा कर दी जाती है तो संभव है कि हिंसा का रास्ता अपनाए बिना लोग शांतिमय ढंग से भूमि पर कब्जा कर लें। इसके लिए वे सब तरह की पीड़ा सहने और जेल जाने के लिए तैयार रहेंगे। यह शांतिपूर्ण प्रतिरोध का समाजवादी रास्ता है।”

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"समाजवादी एशिया बलात लादी गयी अतीत की संधियों को अस्वीकार कर विजेता और विजित के बीच के विभेद को समाप्त कर, सभी राष्ट्रों के बीच पूर्ण समानता पर बल देगा। आज के संयुक्त राष्ट्र संघ की रचना एक तरह से अंतर्राष्ट्रीय जाति प्रणाली पर आधारित है। विषेधाधिकार से युक्त, हथियार और आर्थिक शक्ति की श्रेष्ठता वाले पाँच देश भारत की जाति-व्यवस्था के ब्राह्मणों की भांति है। इनकी तुलना में दूसरे देशों की स्थिति हीन है। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र की इस विषमता को समाप्त करने पर भारत और एशिया के समाजवादियों का खास जोर रहेगा। इसके साथ ही समाजवादी एशिया विश्व सरकार की अवधारणा को आसानी से स्वीकार करेगा।" एक विश्व सरकार और पूरे विश्व की एक संसद पर लोहिया हमेशा जोर देते रहे। लोहिया के इन विचारों को सुनने के बाद अनेक अमेरिकी विशेषज्ञों ने यह स्वीकार किया कि हिंसा, तानाशाही, केन्द्रीयकरण, एकदलीय शासन के जिस समाजवाद की हमारे यहाँ हमेशा चर्चा होती रही है उसके विपरित डॉ. लोहिया द्वारा प्रतिपादित समाजवाद की अवधारणा लोकतंत्र, विकेन्द्रीकरण, छोटी मशीन आधारित उत्पादन, अहिंसक प्रतिरोध, कृषि और ग्रामीण अर्थव्यस्था की पुनर्रचना, पूरे समाज के लाभ के लिए उत्पादन; सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक समानता; संयुक्त राष्ट्र संघ के स्थान पर समानता के सिद्धांत पर आधारित विश्व-संसद और विश्व सरकार की स्थापना के सिद्धांत पर आधारित है। अहिंसक प्रतिरोध और विकेन्द्रीकरण पर विशेष बल देने के कारण अनेक अमेरिकी बुद्धिजीवियों ने इसे गांधीवादी समाजवाद की भी संज्ञा दी।

5

अमेरिकी बुद्धिजीवियों के उपरोक्त विचार के संदर्भ में स्वाभाविक रूप से एक सवाल उठता है कि क्या डॉ. लोहिया गांधीवादी थे? डॉ. लोहिया किसी व्यक्ति विशेष के नाम पर उसके विचारों को 'वाद' की संज्ञा देने के विरोधी थे। अतः उन्हें 'मार्क्सवाद' अथवा 'गांधीवाद' जैसी शब्दावली मान्य नहीं थी। वे इस बात को स्वीकार करते थे कि मार्क्स और गांधी दोनों के विचारों में अनेक अमूल्य रत्न हैं। इसके साथ ही साथ वे हमेशा दुहराते रहे कि मैं न तो मार्क्स अथवा गांधी विरोधी हूँ न तो उनका अंध भक्त। आजादी की लड़ाई के दौरान लोहिया का मानना था कि गांधी जी के नेतृत्व में ही इस लड़ाई को सफलतापूर्वक लड़ा जा सकता है। सन 1940 के बाद लोहिया और गांधी जी में वैयक्तिक और राजनीतिक निकटता बढ़ती गई। सन 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन की पहल करने के लिए गांधी जी को उत्प्रेरित करने में समाजवादियों विशेषकर डॉ. लोहिया की प्रमुख भूमिका थी। सन 1946 में गांधी जी डॉ. लोहिया को कांग्रेस का महासचिव बनाना चाहते थे। कलकत्ता, नोवाखाली और दिल्ली के दंगों के समय डॉ. लोहिया, गांधी जी के साथ शांति-स्थापना के कार्य में लगातार लगे रहे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गांधी जी के अहिंसा, सत्याग्रह, विकेन्द्रीकरण और रचनात्मक कार्यक्रमों का लोहिया पर गहरा प्रभाव पड़ा था। लोहिया द्वारा प्रतिपादित समाजवादी कार्यक्रम में गांधी जी के इन सिद्धांतों का महत्वपूर्ण स्थान है। लोहिया, इन कार्यक्रमों को, गांधी जी की मृत्यु के बाद, एक सैद्धांतिक आधार प्रदान करते हैं और इन्हें गांधी जी के प्रयोगों से आगे निकाल ले जाने में वैचारिक रूप से सक्षम होते हैं। गांधी जी के संघर्ष की नैतिक रणनीति के 'उपवास' 'भूख हड़ताल' अंतिम लेकिन अत्यंत महत्वपूर्ण उपादान थे। डॉ. लोहिया इस तरह के निजी पीड़ा और उपवास के माध्यम से अपने विरोधी के हृदय परिवर्तन की पद्धति के विरोधी थे। गांधी जी द्वारा प्रयुक्त असहयोग आंदोलन (1920–21) और सविनय अवज्ञा आंदोलन (1930–31) के व्यापक जन उभार का डॉ. लोहिया की राजनीतिक कार्यप्रणाली और चिंतन पर गहरा प्रभाव पड़ा था। अन्याय, दमन, शोषण, सरकारी जुल्म के विरूद्ध वे अहिंसक जन–प्रतिरोध और सविनय अवज्ञा के राजनीतिक उपकरणों के प्रबल पक्षधर थे। गांधी जी के ट्रस्टीशिप के सिद्धांत में उनका विश्वास नहीं था। उनका विश्वास था कि उत्पादन के संसाधनों पर निजी स्वामित्व नहीं होना चाहिए और उत्पादन का लाभ पूरे समाज को मिलना चाहिए। गांधी जी की सामाजिक-आर्थिक पुनर्रचना का केन्द्र गांव था। गांधी जी द्वारा प्रतिपादित विश्व सत्ता और अर्थ-व्यवस्था के विकेन्द्रीकरण की मुख्य इकाई गांव है। गांधी जी का विश्वास नैतिक सत्ता कि श्रेष्ठता पर था अतः वे राज्य और सरकार दोनों को अपनी आदर्श अवस्था में आवश्यक नहीं मानते थे। मार्क्स का भी मानना था कि साम्यवाद की आदर्श अवस्था में राज्य समाप्त हो जाएगा। इसके विपरीत डॉ. लोहिया राज्य और सरकार दोनों को सामाजिक आर्थिक पुनर्निर्माण का महत्त्वपूर्ण उपादान मानते हैं। विकेन्द्रीकरण के सिद्धांत की चर्चा करते हुए प्रायः डॉ. लोहिया द्वारा प्रतिपादित 'चतुस्तंभीय राज्य' के पाए ग्राम, जिला, राज्य और केन्द्र की चर्चा होती है। डॉ. लोहिया द्वारा प्रतिपादित सत्ता और अर्थ-व्यवस्था के विकेन्द्रीकरण का सिद्धांत इन चार खंभों पर टिका था। लेकिन इसका एक पंचम स्तंभ विश्व सरकार और विश्व संसद के रूप में है। उसे भी हमें ध्यान में रखना है।

गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम के तकली और चर्खा प्रतीक थे। डॉ. लोहिया के प्रतीक जेल, बैलेट-वोट और फावड़ा थे। अपनी विचारधारा के प्रतीक के रूप में भारतीय समाजवादियों ने लाल झंडे के साथ हल और चक्र को चुना था। कांग्रेस के झण्डे में चर्खा था। सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए गांधी जी इकाई के रूप में ग्राम और उत्पादन पद्धति के रूप में ग्रामीण और गृह-उद्योगों पर जारे देते थे। हिन्द स्वराज (1909) में गांधी जी ने औद्योगीकरण, मशीनीकरण, पश्चिमी सभ्यता और विशाल आधुनिक प्रविधि का विरोध किया। डॉ. लोहिया पश्चिमी सभ्यता नहीं बल्कि उसके दो वैचारिक उत्पादों–पूँजीवाद और साम्यवाद–के समान रूप से विरोधी थे। भारत और एशिया की परिस्थितयों में उन्होंने कृषि की पुनर्रचना, भूमि के पुनर्वितरण, बिजली से संचालित छोटी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मशीनो पर आधारित उद्योग, विशाल मशीनों और तज्जनित उत्पादन का विरोध और समुदाय नियंत्रित अर्थ-व्यवस्था पर जोर दिया। भारत की आजादी के लिए अहिंसात्मक तरीके से तीन दशाकों तक नेतृत्व प्रदान करते हुए भी गांधी जी का ध्यान रचनात्मक कार्यक्रम, बुनियादी शिक्षा, मातृभाषाओं के प्रचार-प्रसार, हिन्दी के प्रचार, ग्राम सुधार, लिपि के सवाल, हरिजनोद्धार, आदिम जातियों के संगठन और सुधार पर भी केन्द्रित था। डॉ. लोहिया ने भी आजादी और समाजवादी आंदोलन के साथ विदेश नीति, एशिया की एकता, शिक्षा और प्रशासन में भारतीय भाषाओं के गरिमापूर्ण स्थान, रामायण मेला, अंग्रेजी हटाओं, जाति—तोड़ो, पिछड़ो के लिए विशेष अवसर, सही इतिहास-लेखन, भारतीय विश्वविद्यालयों में शोध के सवाल, भारतीय लिपियों और जन की एकता जैसे सवालों पर गहन चिंतन किया, उनके लिए कार्यक्रम तैयार किया और नए आंदोलनों की नींव डाली। मात्र चार वर्षो में एक सांसद के रूप में उनका उत्कृष्ट योगदान हमारे लोकतंत्र और संसदीय इतिहास का एक स्वर्णिम पृष्ठ है।

6

इस तरह मार्क्स और गांधी के विचारों की अमूल्य निधियों की बात स्वीकार करते हुए भी डॉ. लोहिया के सिद्धांत, दर्शन, कार्यक्रम और संघर्ष प्रणाली उन दोनों से काफी भिन्न है। लोहिया ने जिस तरह मार्क्स और गांधी के विचारों और कार्यक्रमों की सतत गतिशीलता पर जोर देते हुए उनमें समय और आवश्यकता के अनुरूप परिवर्तन की बात कही, वह बात डॉ. लोहिया के विचारों पर भी लागू होती है। समय, स्थान, आवश्यकता और तेजी से बदलती वैश्विक परिस्थिति में उनमें भी परिवर्तन और परिवर्द्धन की आवश्यकता अनुभव की जा सकती है; अन्यथा उनमें भी जड़ता आ जाएगी।

मार्क्स और लोहिया के आधारभूत वैचारिक विभेद के विवेचन के बाद एक सवाल उठता है कि मार्क्स के बाद के वैश्विक साम्यवाद और अपने देश में साम्यवादियों से लोहिया के किन बिन्दुओं पर मतभेद थे। हम पहले ही इस बात पर प्रकाश डाल चुके हैं कि जर्मन प्रवास के दिनों में डॉ. लोहिया मार्क्सवाद के अन्तर्विरोध, बोलशेविक क्रांति की विसंगतियों और रूस में स्टालिन द्वारा चलाई जा रही यंत्रणाओं से परिचित हो चुके थे। गत सदी के चौथे दशक में बड़े पैमाने पर पूरे रूस में स्टालिन विरोधियों के सफाए का जो दौर चला, उससे लोहिया का रूस की साम्यवादी व्यवस्था से मोह-भंग हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के आरंभ होने के ठीक पहले स्टालिन के नेतृत्व में सोवियत रूस ने हिटलर द्वारा शासित नाजी जर्मनी से जिस तरह समझौता किया वह अंतर्राष्ट्रीय साम्यवाद की मौकापरस्त कूटनीति का एक नमूना मात्र था। इस कांड के बाद अंतर्राष्ट्रीय साम्यवाद की कार्यप्रणाली और सोवियत रूस के मौकापरस्त कदम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से लोहिया की वैचारिक दूरी रूस और उसके साथ कदम मिला कर चलनेवाली दुनिया की कम्यूनिस्ट पार्टियों से बढ़ती गई।

भारत में अपने स्थापना काल (1924) से ही कम्यूनिस्ट पार्टी ने स्वाधीनता आंदोलन की मुख्य धारा और गांधी जी के नेतृत्व का दिल खोल कर विरोध किया। लोहिया भारत के स्वाधीनता आंदोलन् में कांग्रेस की भूमिका और गांधी जी के नेतृत्व को स्वीकार करते थे। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने सन 1936 में कम्यूनिस्टों के साथ संयुक्त मोर्चा की नीति स्वीकार किया तो डॉ. लोहिया कम्यूनिस्टों की कार्य प्रणाली से परिचित होने के कारण उसके पक्ष में नहीं थे। अंत में, इस सवाल पर उन्होंने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी से त्यागपत्र तक दे दिया था। सन 1942 के 'भारत छोड़ो' आंदोलन का भारतीय कम्यूनिस्टों ने न केवल खुल कर विरोध किया बल्कि हर तरह से ब्रिटिस सरकार की मदद की। सन 1943 में कम्यूनिष्ट पार्टी ने मुस्लिम लीग से सहयोग और पाकिस्तान के निर्माण के पक्ष में प्रस्ताव पारित किया। भूमिगत रहकर क्रांति की मशाल जला कर रखनेवाले डॉ. लोहिया को कम्यूनिस्टों की इस नीति से धक्का लगा। इन दिनों कम्यूनिस्ट नेता अपने कार्यक्रमों, पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से लगातार गांधी जी, सुभाष बाबू, जयप्रकाश और लोहिया पर प्रहार कर रहे थे। भारत की स्वतंत्रता के लिए जापान से संधि कर, आजाद हिंद फौज की स्थापना कर नेता जी सुभाष बोस जिस समय अंग्रेजी उपनिवेशवादी शासन के विरूद्ध लड़ाई लड़ रहे थे, उस समय अंग्रेजी सरकार से सहयोग का रास्ता अपना कर कम्यूनिस्ट, नेता जी के विरूद्ध अपशब्दों का प्रयोग कर रहे थे।

एशिया के नव-स्वतंत्र राष्ट्रों—भारत, बर्मा, इंडोनेशिया, मलाया, फिलीपीन्स—में कम्यूनिस्टों ने भीतरघात और तोड़फोड़ का रास्ता सन 1948 के बाद अपनाया। लोहिया का कहना था कि एशिया में साम्यवाद विध्वंसकारी है। सोशलिस्ट पार्टी के पंचमढ़ी (मई 1952), बेतूल (जून 1953) और इलाहाबाद (दिसंबर 1953) के सम्मेलनों में डॉ. लोहिया ने कांग्रेस और कम्यूनिस्टों के प्रति अपनी सैद्धांतिक और व्यावसायिक नीतियों का स्पष्टता के साथ निरूपण किया। इस अवधि में उन्होंने पूँजीवाद और साम्यवाद की समान अप्रासंगिकता, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इनसे और राष्ट्रीय स्तर पर कांग्रेस और कम्यूनिस्टों से 'समान दूरी' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

डॉ. लोहिया जेल से रिहा होने (अप्रैल 1946) के बाद और गांधी जी की हत्या तक (30 जनवरी 1948) की अवधि में महात्मा गांधी के सर्वाधिक प्रिय नेताओं में से एक थे। गांधी जी के बाद उनकी विरासत के दो स्वयंभू दावेदार बन गए। पहली श्रेणी में केन्द्र और राज्यों की सरकार चलानेवाले कांग्रेसी नेता थे। लोहिया इन्हें 'सरकारी गांधीवादी' कहते हैं। दूसरी श्रेणी में गांधी जी के वे अनुयायी थे जो उनके द्वारा संचालित विभिन्न संगठनों, आश्रमों और बाद में सरकारी, गैर सरकारी पैसों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बननेवाले संस्थानों के पदाधिकारी थे। लोहिया इन्हें 'मठी गांधीवादी' कहते हैं। अपने जैसे लोगों को, जो न तो सरकारी पदों पर थे न तो संस्थाओं के पदाधिकारी थे, उन्हें लोहिया ने 'कुजात गांधीवादी' की संज्ञा दे रखी है। गांधी के पहले दो अनुयायियों से लोहिया के सैद्धांतिक और राजनीतिक मतभेद उनके जीवन भर रहे।

7

21वीं सदी के इस आरंभिक दशक में आज विश्व और भारत के सम्मुख वैश्वीकरण, गहराती आर्थिक मंदी, आतंकवाद जैसी गहरी चुनौतियाँ हैं। वीसवीं सदी के आरंभ से ही पूँजीवादी व्यवस्था मानवता के लिए प्रथम विश्व युद्ध (1914–18), विश्वव्यापी गिरावट और मंदी (1929–32), द्वितीय विश्व युद्ध (1939–45), शीत युद्ध (1946–90) जैसे संकट पैदा करती रही है। पूँजीवाद की चुनौती के रूप में रूस में बोलसेविक क्रांति (1977), इटली में फासिस्ट क्रांति (1922) हुई और जर्मनी में नाजी-पार्टी का शासन (1932) स्थापित हुआ। मुसोलिनी और हिटलर के नेतृत्व में जिस फासिस्ट विचारधारा का अभ्युदय हुआ वह द्वितीय विश्वयुद्ध में पराजित हो धराशायी हो गई। रूस और पूर्वी यूरोप में 1990 के बाद साम्यवादी व्यवस्था का पतन हो गया। उसके वाद लोगों ने कहना आरंभ किया कि समाजवादी व्यवस्था मृतप्राय हो चुकी है। लेकिन यूरोप के देशों में लोकतांत्रिक समाजवादी पार्टियाँ आज भी बड़ी ताकत हैं। पूर्वी यूरोप के अनेक देशों में कम्यूनिस्ट पार्टियों ने अपना नाम बदल कर सोसलिस्ट पार्टी रख लिया है। चीन जैसा कम्यूनिस्ट देश आज बाजार की अर्थ व्यवस्था का अनुगमन कर रहा है। 21 वीं सदी में पूँजीवाद का नया रूप बहुराष्ट्रीय कंपनियां, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों–जैसे विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व आर्थिक फोरम, जी–8, जी–20 और भूमंडलीकरण की नई आर्थिक प्रक्रिया के माध्यम से चल रहा है। 1990 के दशक में तानाशाही, एकदलीय शासन, केन्द्रीयकरण पर आधारित साम्यवादी व्यवस्था का पतन हुआ। सितंबर, 2008 के बाद से एक बार फिर बाजारवाद, भूमंडलीकरण, उपभोक्तावाद पर आधारित पूँजीवाद एक नए आर्थिक संकट के बीच से गुजर रहा है।

इस तरह के अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संकट, साम्यवाद और पूँजीवादी व्यवस्थाओं के अन्तर्विरोधों के बीच लोहिया के विचार और लोकतांत्रिक समाजवादी व्यवस्था कहाँ तक प्रासंगिक है? डॉ. लोहिया ने 1950 के दशक में ही पूँजीवाद और साम्यवाद की समान अप्रासंगिकता और उनसे समान दूरी का सिद्धांत प्रतिपादित किया था। आज दोनों व्यवस्थाएँ समान रूप से अप्रासंगिक सिद्ध हो रही है। लोहिया ने लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था, समाज के लाभ के लिए उत्पादन, सरकार और राज्य के अस्तित्व की अनिवार्यता पर बल दिया था। पूँजीवाद के इस वर्तमान संकट के समय राज्य के हस्तक्षेप पर फिर से बल दिया जा रहा है। आज का आर्थिक भूमंडलीकरण भी विभिन्न राष्ट्रों के बीच की असमानता को मुक्त बाजार, आयात-निर्यात की कार्यप्रणाली,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुराष्ट्रीय कंपनियों के वर्चस्व और प्रविधि की असमान उपलब्धता के कारण बढ़ा रहा है। डॉ. लोहिया ने गत सदी के पचास के दशक में एशिया, अफ्रीका के विकास, एक वैश्विक व्यवस्था के रूप में समानता पर आधारित विश्व-सरकार और विश्व-संसद की परिकल्पना की थी।

आज पूरी दुनिया में पर्यावरण और नारी-मुक्ति आंदोलन की बड़ी चर्चा है। गत सदी के पचास के दशक में डॉ. लोहिया ने नदियों की सफाई और नर नारी समानता के लिए आंदोलन चलाया था। आज की दुनिया में लोकतांत्रिक समाजवाद, विश्व-सरकार, पंचस्तरीय राज्य, पर्यावरण का संरक्षण, विकेन्द्रीकरण; समुदाय का, समुदाय के द्वारा और समुदाय के लिए उत्पादन; दुनिया के पिछड़े देशों और महाद्वीपों का त्वरित विकास, न्याय, समानता, पारस्परिक सहयोग और बंधुत्व पर आधारित विश्व व्यवस्था के लिए आवश्यक है। शोषण, दमन से मुक्ति और क्रांतिकारी सामाजिक रूपांतरण का मार्क्सवादी वैचारिकी में सबसे महत्वपूर्ण उपकरण धनी और निर्धन श्रेणियों के बीच चलने वाला वर्ग संघर्ष है। मार्क्सवादी चिंतन में क्रांति हिंसाश्रित है। लोहिया ने अन्याय और शोषण के प्रतिरोध के लिए अहिंसात्मक सामूहिक सत्याग्रह अथवा सविनय अवज्ञा पर बल दिया। आज चाहे अश्वेत आंदोलन हो, चीन में छात्रों का आंदोलन हो, सुई ची के नेतृत्व में बर्मा में चलने वाला लोकतांत्रिक आंदोलन हो अथवा इराक में चलने वाली लड़ाई के विरोध में पूरी दुनिया में आयोजित प्रर्दशन हों, वे सभी सिविल नाफरमानी के रास्ते का अनुगमन कर रहे हैं।

एशिया, अफ्रीका के देशों में पूँजी और अत्यंत समुन्नत प्रविधि का अभाव है। कम पूँजी पर आधारित उत्पादन, व्यापक रोजगार, कम हुनर और प्रशिक्षण से भी मशीन चलाने की क्षमता के आधार पर लोहिया ने छोटी मशीन आधारित बिजली से संचालित उद्योग धंधों पर जोर दिया था। इसी तरह उनका छोटी सिंचाई योजनाओं, बिजली से चलने वाले पंपों पर जोर था। पश्चिमी पूँजीवाद देशों की तरह चीन और भारत ने भी विशाल उत्पादन वाली आयातित भारी प्रविधि के उपयोग का जो रास्ता अपनाया उसके कारण या तो उनकी प्रविधि पाँच-छः दसक पुरानी रही अथवा नई प्रविधि और पूँजी लिए उन्हें बहुराष्ट्रीय कंपनियों, विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सामने समर्पण करने के लिए बाध्य होना पड़ा है। विशाल पैमाने पर होने वाले औद्योगिकरण और नगरीकरण ने औद्योगिकरण के कचरे और जलवायु परिवर्तन की गंभीर चुनौती मानवता के सम्मुख उपस्थित कर दी है।

आज 21वीं सदी में लोहिया की विश्व सरकार की अवधारणा में भूमंडलीकरण की चुनौती, सामूहिक सिविल नाफरमानी में हिंसात्मक वर्ग संघर्ष, छोटी सिंचाई और बिजली परियोजना से बड़े बांधों के संकट और छोटी मशीन आश्रित बिजली से संचालित उत्पादन पद्धति में शोषण, औद्योगिक कचरे और जलवायु परिवर्तन के संकट से त्राण पाने का रास्ता है। इस अर्थ में लोहिया का समाजवादी-लोकतंत्र, सामुदायिकता,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समता और संपन्नता से युक्त होकर पूँजीवाद और साम्यवाद से अलग हट कर एक नया विकल्प प्रस्तुत करता है। लोहिया के शब्दों में ही समय और स्थान के अनुसार चिंतन, विचारधारा, दर्शन में परिवर्तनशीलता और गतिशीलता आवश्यक तत्व हैं। यह बात मार्क्स, गांधी और लोहिया पर भी समान रूप से लागू होती है।

सहायक पुस्तकें

1. इंदुमति केलकर 'राम मनोहर लोहिया' संक्षिप्तिकरण एवं संपादन, श्रीपाद कृष्ण केलकर, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया नयी दिल्ली, 1996
2. मुख्तार अनीस और विजय कांत दीक्षित (संपादक) 'लोहियाः बहु आयामी व्यक्तित्व', लखनऊ, 1984। इसमें अनेक मुर्धन्य राज्यनेताओं, विचारकों के संकलित लेख, डॉ. लोहिया के व्यक्तित्व और विचारों को समझने के लिए अत्यंत उपयोगी हैं। गिरीश मिश्र, ब्रज कुमार पाण्डेय लिखित 'राम मनोहर लोहिया एंड हिज इज्म' ईस्टर्न बुक्स, न्यू देहली, 1992 में लोहिया की विचारधारा, लोहिया और मार्क्सवाद, लोहिया और गैर कांग्रेस वाद पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है।
3. एफ.एक्स. स्युटन के प्रपत्र 'द सोशल एंड इकोनॉमिक फिलासफी ऑफ वेर्नर जोबार्ट' जो एच. ई. वार्न्स (संपादक) ऐन इट्रोडक्शन टु द हिस्टरी ऑफ सोश्यॉलाजी', द यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस शिकागो, लंदन, संक्षिप्त द्वितीय संस्करण, 1967, के अध्याय XIV के अन्तर्गत संकलित है, उसमें जोबार्ट के विचारों का विवेचन है।
4. सुब्रत मुखर्जी, सुशीला रामास्वामी लिखित 'ए हिस्टरी ऑफ सोशलिस्ट थाट', सेज पब्लिकेशंस, न्यू देहली–लंदन में डॉ. लोहिया के विषय में अत्यंत संक्षिप्त लेकिन मार्क्स, लासाल, वर्नस्टीन, कौत्स्की, कोल के योगदान पर सम्यक विचार किया गया है।
5. डॉ. राम मनोहर लोहियाकी पुस्तकों, फ्रैग्मेंट्स ऑफ ए वर्ल्ड माइंड, कलकत्ता, 1951; व्हील ऑफ हिस्टरी, हैदराबाद, 1955; विल टु पावर, हैदराबाद, 1956; मार्क्स, गांधी एंड सोसलिज्म, हैदराबाद, 1963 से उनकी विश्व-दृष्टि, दर्शन, विचारधारा और अर्थनीति पर प्रकाश पड़ता है।
6. हैरिस वुफोर्ड, 'लोहिया एंड अमेरिका मीट', 1951-64 पेपर बैक संस्करण, बी.आर. पब्लिशिंग कारपोरेशन, दिल्ली 2002 डॉ. लोहिया की 1951 की अमेरिकी यात्रा पर आधारित प्रथम संस्करण 1951 में छपा था। इसमें डॉ. लोहिया की दो अमेरिकी यात्राओं, विभिन्न संगठनों, विश्वविद्यालायों के तत्वावधान में दिए गए उनके भाषणों के विवरण उपलब्ध हैं। हैरिस वुफोर्ड बाद में अमेरिकी सीनेट के सहस्य निर्वाचित हुए।
7. गांधी जी के विचारों का सम्यक निरूपण इनकी बीज पुस्तक 'हिंद स्वराज (1909), अष्टम संस्करण, नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद, जून, 1990; लुई फिशर लिखित 'द लाइफ ऑफ महात्मा गांधी, 1953, प्रथम संस्करण, भारतीय विद्या भवन, मुंबई, 1998 और 'एम. के. गांधी 'फ्रॉम यरवदा मंदिर' (1932), नवजीवन प्रेस, अहमदाबाद, पुनर्मुद्रित संस्करण, 1980 में उपलब्ध है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान सभ्यता, महात्मा गाँधी और हिन्द-स्वराज

नरेश कुमार अम्बष्ट*

आज समस्त विश्व में तीन प्रकार की सत्ताएँ चल रही हैं :– शस्त्र सत्ता, धन सत्ता और राज्य सत्ता। परन्तु स्थिति ऐसी हो गयी है कि इन तीनों सत्ताओं पर से लोगों का विश्वास उठता जा रहा है। आज सभी लोग किसी अन्य मानवीय शक्ति की खोज में हैं और वह मानवीय शक्ति गाँधी के दर्शन से ही विकसित हो सकती है।

धन की सत्ता आज सारे जगत में व्याप्त है। आज पैसे पर ईमान बिक रहा है, पैसे पर अस्मत लुट रही है, पैसे पर न्याय अपने नाम को हँसा रहा है। विश्व का कौन-सा अनर्थ है, जो आज पैसे के बल पर और पैसे के लिए नहीं किया जाता? अन्याय और शोषण, हिंसा और भ्रष्टाचार, चोरी और डकैती सबकी जड़ में पैसा है।

राज्य सत्ता पुलिस और सेना के सहारे, शस्त्र सत्ता के सहारे जीती है, कानून की छत्रछाया में बढ़ती है, धन सत्ता के भरोसे पलती, पनपती है और विज्ञान के जरिये विकसित होती है। परंतु इतने साधनों से सज्जित रहने पर भी वह शत-प्रतिशत जनता को सुखी करने में अपने को असमर्थ पाती है। अधिक-से-अधिक लोगों का अधिक-से-अधिक सुख का आदर्श मानवजाति का कल्याण नहीं कर सकता।

भारत के लोकतंत्र में तीन भयंकर दोष हैं–अधिकार का दुरुपयोग, गुण्डाशाही का भय और भ्रष्टाचार । इसके अलावा "सम्प्रदायवाद" और "जतिवाद" नामक दो दोष और भी हैं। देश और समाज के लिए इन सभी दोषों का उन्मूलन परम आवश्यक है।

अरनाल्ड टॉयनवी ने भारत को दुनिया की प्रयोगशाला बताया था। मैं इससे अक्षरशः सहमत हूँ कि भारत ही आज के विश्व आतंकवाद तथा उग्रवाद के निराकरण की प्रयोगशाला है जहाँ हम मानवीय सहजीवन का प्रयोग कर सकते हैं।

---

* डॉ. नरेश कुमार अम्बष्ट, पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शन शास्त्र विभाग, विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग। दूरभाष–9835317737

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विगत 10 वर्षों में पाश्चात्य संस्कृति से भारत की आँखें चकाचौंध हो गयी हैं। विगत 20 वर्षों में भारत के नेता पूंजीवादी प्रवाह में बह गये हैं। परिणाम क्या आया? गरीबी, बेकारी, विषमता, भष्ट्राचार, व्यसन, दहेज, जाति-भेद खत्म होने के बजाय बढ़े हैं। पहले हम रूसी समाजवादी रास्ते पर चले। आज भारत पूंजीवादी अमरीकी रास्ते पर चल रहा है। अमेरीका आज व्यसन, हिंसा, मानसिक प्रदूषण, उपभोक्तावाद में फंसा है। लेकिन मेरा मानना है कि न रूसी समाजवादी माडेल ने हमारी समस्याओं का समाधान किया, न खुले बाजार की पूंजीवादी व्यवस्था कर पायेगी। गांधीजी के अलावा इस देश को किस नेता ने समझा? उनका मानना था कि समस्या जहाँ से उपजी है हल हमें वहीं खोजना है। गांधीजी मार्क्स से ज्यादा यथार्थवादी और व्यावहारिक थे। मार्क्स की तरह गांधीजी ने किताबों का लेखन नहीं किया बल्कि उन्होंने एक अहिंसा संग्राम खुद आधा शतक चलाया और जो कहा वैसा जीवन जिया।

आज तो भारत में करोड़ों लोग ऐसे होंगे जो गांधीजी के दर्शन तो दूर उनके विचारों से भी परिचित नहीं होंगे। 30 जनवरी, 1948 को गांधीजी को हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए गोली का निशाना बनना पड़ा था, और गोड्से की गोली खाते ही वे "हे राम" कहकर हमें आशीर्वाद देकर सदैव के लिए विदा हो गये। नई संतति तस्वीरों के माध्यम से ही गांधीजी के दर्शन कर सकती है और उनकी आत्मकथा हिन्द-स्वराज तथा अन्य लेख पढ़कर उनके गुण, स्वभाव और चरित्र बल का अनुमान कर सकती है।

1909 में इंडियन ओपिनियन में प्रकाशित 'हिन्द-स्वराज' महात्मा का दिया हुआ एक दस्तावेज है जिसके सौ साल पुरने पर राजनीतिज्ञ, दर्शनशास्त्री तथा समाजशास्त्री चर्चा करेंगे लेकिन आने वाले समय में उसकी प्रासंगिकता भारत के लिए बन पायेगी या नहीं ठीक से कहा नहीं जा सकता है। परन्तु मेरा यह मानना है कि "हिन्द-स्वराज" आम भारतीयों को अवश्य पढ़ना चाहिए क्योंकि आम भारतीय एवं उनकी सभ्यतामूलक दृष्टि की जैसी सरल एवं सुबोध अभिव्यक्ति इस पुस्तक में हुई है, वह अद्‌भुत है। इस पुस्तक में आधुनिक सभ्यता का मूल्यांकन एवं चित्रांकन किया गया है जो पाश्चात्य संस्कृति एवं सभ्यता के उत्थान एवं पतन को समझने की दृष्टि देगा। तालस्ताय और रस्किन की तरह गांधीजी भी औद्योगिक सभ्यता से वितृष्णा रखते थे। वे मानते थे कि आदर्श समाज वह है जिसमें हर व्यक्ति खेत पर या किसी शिल्प में हाथों से काम करे और नैतिक नियमों का पालन करते हुए जीवन गुजारे। अगर मनुष्य आधुनिक सभ्यता के इस लम्बे-चौड़े तमाशों के मोहजाल से खुद को मुक्त कर ले और किसी भी रूप में अपने साथी मनुष्यों का शोषण करना बंद कर दे तो व्यक्ति की अन्तरात्मा सीधे-सीधे नैतिक नियम को ग्रहण कर सकती है।

गांधीजी का मानना था कि "देश भक्ति से मेरा अभिप्राय पूरी जनता का कल्याण है और अगर मैं अंग्रेजों के द्वारा लक्ष्य को प्राप्त कर सकूँ तो मैं उनके आगे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिर झुकाऊँगा।" परन्तु गांधीजी इंग्लैण्ड के लाकतंत्र के खासा विरोधी थे। यह बात हिन्द-स्वराज के वक्तव्य से स्पष्ट होती है। उनका कथन है :

"इस समय इंग्लैण्ड की दुखद दशा है। मैं ईश्वर से विनती करता हूँ कि भारत की कभी यह दशा न हो। वह जिसे आप संसदों की जननी मानते हैं, वह एक बाँझ स्त्री और वेश्या के समान है। ये दोनों ही कड़े शब्द हैं, मगर इस मामले में सटीक ढंग से लागू होते हैं। संसद ने अपनी तरफ से अभी तक एक भी अच्छा काम नहीं किया है। इसीलिए मैंने इसकी तुलना एक बाँझ स्त्री से की है। उस संसद का स्वभाव ही ऐसा है कि वह बाहरी दबावों के बिना कुछ भी नहीं कर सकती। वह इसलिए वेश्या के समान है कि वह मंत्रियों के नियंत्रण में होती है जो समय-समय पर बदलते रहते हैं।"

भारत का लोकतंत्र इंग्लैण्ड से उधार लिया गया है। इसके संविधान को बड़े-बड़े कानूनविदों ने बनाया है। लेकिन 60 वर्षों के अनुभव काफी कड़वे हैं। लोकतंत्र के नाम पर जिस तरह की राजनीति यहाँ विकसित हुई है वह सबसे पहले राजनीतिक दलों को खा गयी। समाज और प्रशासन विकृत हो चुका है। संयुक्त बिहार (बिहार और झारखण्ड) में ही दुनिया का सबसे पहला गणराज्य विकसित हुआ था। वही बिहार/झारखण्ड सांसदीय प्रणाली के कारण अपनी दिशा, दशा भूलकर बदहाली के कगार पर खड़ा है तथा एक लोकनायक जयप्रकाश एवं मसीहा गांधीज़ी का इंतजार कर रहा है।

भगवान बुद्ध ने जिस लोकतंत्र को अपने भिक्खुओं एवं संघों में लागू किया था उसका स्वरूप आज के लोकतंत्र से भिन्न था। उसका सूत्र था मिलो, संवाद करो और उस समय तक संवाद करो जब तक सम्मति न बन जाए। इस सूत्र का मुख्य लक्ष्य संवाद और सहमति पर था, न कि विवाद और विरोध पर। हमने बुद्ध के लोकतांत्रिक पद्धति नहीं अपनायी। हमारा समाज कभी राजधानी से नहीं चलता था। गाँव की पंचायत सभा भविष्य की योजना तय करती थी। गांधीजी चाहते थे कि हर गाँव एक समुदाय की तरह रहे। अपने खेतों में जरूरी कच्चा माल तैयार करे जिनसे जीवन की बुनियादी आवश्यकताएँ पूरी हों। उत्पादक का पेट काटकर बाजार का पेट भरने की कोशिश न की जाए। जो हमारी जरूरत से बच जाए वही बाजार में जाए। यह सर्वविदित है कि गांधीजी आधुनिक प्रजातंत्र और पारम्परिक पंचायती व्यवस्था तथा शक्ति के वास्तविक विकेन्द्रीकरण के हिमायती थे। वे बहुमत के आधार पर निर्णय करके बहुमत के लाभ की बात की जगह सर्वोदय और अंत्योदय के समर्थक थे। इसलिए वे मानते थे कि पंचायतों को स्थानीय जीवन की संपूर्ण जिम्मेदारी देनी चाहिए। कुछ दिनों तक गड़बड़ी हो सकती है परन्तु धीरे-धीरे लोकतांत्रिक उर्जा विकसित होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गांधीजी का मानना था कि आधुनिक सभ्यता एक रोग है। वह शारीरिक सुख को ही पुरुषार्थ तथा सार्थक मानती है। इस सभ्यता में सारी सुख-सुविधाएँ एक बटन दवाकर मशीन तथा अत्याधुनिक तकनीक की मदद से प्राप्त की जा सकेगी। हर काम मशीन से किया जाएगा। अब पहले की तरह हाथ-पैर या शरीर के अन्य अंगो की आवश्यकता न के बराबर हो जाएगी। पहले लोगों को मार-पीटकर गुलाम बनाया जाता था। आज लोगों को पैसे का और भोग का लालच देकर गुलाम बनाया जाता है। आज की सभ्यता में नीति और धर्म की बात ही नहीं है। Forawrd Farming के नाम पर किसानों को गुलाम बनाया जा रहा है। गांधीजी के शब्दों में यह सभ्यता तो अधर्म है और यह आज के भारत में इतने हद तक फैल गयी है कि धनार्जन की एक पागलनुमा दौड़ चल रही है।

आज भारत दो वर्गों में बंटा हुआ है। भारत के 30 करोड़ लोग आर्थिक विकास के सारे श्रोतों को अपने सुख-सुविधा एवं उपभोग के लिए उपयोग में लाते हैं तो दूसरी तरह करीब 72 करोड़ भारतीय गंवार, जाहिल एवं असभ्य माने जाते हैं। ये लोग भारत के ऊपर एक बोझ हैं। वे 30 करोड़ अभिजात्य भारतीय अपने संस्कार और संस्कृति को अपनी शक्ति का स्रोत नहीं मानते हैं, वे अपनी अलग पहचान मानते हैं। यह एक दुखद स्थिति है। वे जनता के द्वारा प्रदत्त धन का दुरुपयोग किसी भी प्रकार कर सकते हैं तथा उन्हें यहाँ का कानून कुछ भी नहीं कर सकता। सत्यम जैसी कम्पनी तथा अनगिनत नन-बैंकिंग कम्पनियाँ इसका सबसे अच्छा उदाहरण हैं। गत वर्ष संसद में किसानों की सहायता के लिए एक पैकेज दिया गया तो अभिजात्य के प्रतिनिधि लोगों ने कहा कि यह पैसा कहाँ से आएगा। जबकि प्रतिवर्ष 50 हजार करोड़ से अधिक धन Bad Loan कहकर भारतीय बैंक समूह कॉरपोरेट सेक्टर को माफ कर देता है और उस पर संसद में चर्चा करना भी मुनासिब नहीं समझा जाता। यह कैसा लोकतंत्र है?

ऐसी परिस्थिति में महात्मा गांधी के "हिन्द-स्वराज" का पाठ बहुत प्रासंगिक हो गया है। करीब 100 वर्ष पहले सामान्य अंग्रेज और अन्य यूरोपीय लोग भी भारत को जिस हिकारत से देखते थे, अब कुछ भारतीय लोगों ने भी इसे उसी उपनिवेशवादी दृष्टि से देखना शुरू कर दिया है। परन्तु यह आवश्यक है कि इस मानसिक विषमता एवं खाई को दूर किया जाए। हमें गांधीजी की बताई हुई नई दृष्टि एवं नई संस्था को अपनाने की आवश्यकता हैं। हम भारतीयों को इस पुस्तक को पढ़ना चाहिए तथा उसकी बातों को आत्मसात करना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कला का सत्य*

यशदेव शल्य**

कला को सामान्य रूप से रस या सौन्दर्य से जोड़ा जाता है और सत्य को प्रायः निर्मम, प्रिय-अप्रिय से निरपेक्ष वास्तविकता से, अथवा कहें वस्तु-तंत्र ज्ञान से। निर्मल जी के ही 'कला में सत्य की अवधारणा' शीर्षक व्याख्यानों में अनेक उद्धरणों के बीच टालस्टाय और नीत्शे के मत उद्धृत हैं जिनमें कला और सत्य को इसी विरोध में देखा गया है। टाल्स्टाय के अनुसार "सौन्दर्य के नाम पर कला जो रचती है वह सत्य के उस जटिल-विषम रूप को विकृत करता है जिसे हम अपने वास्तविक जीवन में जीते या भोगते हैं", और नीत्शे कहते हैं, "मनुष्य कला का सहारा सत्य की मार से बचने के लिए लेता है।" (पृ. 23) इसी पृष्ठ पर इन उद्धरणों से पहले निर्मल जी ने कीट्स को उद्धृत किया है जिसमें सत्य और सौन्दर्य को एक ही कहा गया है। यहाँ स्पष्ट है कि कीट्स और टाल्स्टाय एवं नीत्शे 'सत्य' शब्द का प्रयोग नितान्त भिन्न अर्थों में कर रहे हैं, किन्तु निर्मल जी ने इस अर्थ-भेद की ओर ध्यान नहीं दिया है बल्कि इसे युग-परिस्थितियों से बदली मानसिकता ही कहा है, मानो सत्य कोई मनोवृत्ति हो। जो भी हो, ये तीनों उद्धरण अपने अभिप्रायों में स्थूल रूप से स्पष्ट हैं, किन्तु इन व्याख्यानों में दूसरे भी बहुत से उद्धरण हैं, और सभी पाश्चात्य कलाकारों के ही, जिनके अभिप्रायों का कुछ पता नहीं चलता, कम से कम सत्य से उनके सम्बन्ध का। यों 'सत्य' शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग होता भी है, और वे सभी युक्त प्रयोग कहे जा सकते हैं, यदि उनका प्रयोग करने वाले अपने प्रयोगों को स्पष्ट परिभाषित कर दें। इन प्रयोगों में से कुछ का उल्लेख हमने अपने 'सत्य' शीर्षक लेख के आरंभ में किया है।[1] सामान्य रूप से किसी कथन, धारणा या विश्वांस को सत्य कहा जाता है यदि वह तद्विषयक वस्तु के अनुरूप हो, वस्तुओं को सत्य कहा जाता है यदि वे अपने स्वरूप के अनुरूप हों। जागृति में देखी गई वस्तुओं को इसी अर्थ में हम सत्य और स्वप्न में

---

*3 अप्रैल, 2008 को त्रिवेणी कला संगम सभागार में दिया गया तृतीय निर्मल-स्मृति व्याख्यान।

**पी-51, मधुबन पश्चिम, किसानमार्ग, जयपुर-302015

1. उन्मीलन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखी गई वस्तुओं को असत्य कहते हैं, कागज के फूलों को वास्तविक फूल समझ सकते हैं। तब कहा जा सकता है कि कला-कृति का स्वरूप सौन्दर्य है और अपने इस स्वरूप की पूर्णता में उसका सत्य, न्यूनता में सत्य की न्यूनता और अभाव में असत्य होता है। तब यदि टाल्स्टाय और नीत्शे कला को सुन्दर और इसी से सत्य का आवरक कहते हैं तब उनसे कहा जा सकता है कि आप यह नहीं देख रहे हैं कि कला दूसरी तरह की वस्तु है और धोखाधड़ी, लोभ, कामुकता, युद्ध और राजनीति आदि का जीवन दूसरी तरह की वस्तु है। जीवन के ये दोनों ही पक्ष हैं, आप केवल दूसरे पक्ष को ही सत्य का पक्ष देख रहे हैं।

इस तरह देखने पर हम पाते हैं कि टाल्स्टाय और नीत्शे 'सत्य' शब्द का प्रयोग किसी दूसरे और ग़लत अर्थ में कर रहे हैं। थोड़ा ध्यान से देखें तो युद्ध, धोखाधड़ी और लोभ-मोह आदि मानवीय असत्य के उदाहरण हैं—उसके वैसा नहीं होने के जैसा उसे होना चाहिए : कागज़ के फूलों की तरह।

इस तरह, कला का स्वरूप यदि सौन्दर्य है तो वह रचना, वह कृति कलात्मक होगी जो सुन्दर है और यही उसका सत्य होना होगा। इसलिए यदि कला के लिए यह कहना है कि उसका साध्य सौन्दर्य नहीं बल्कि सत्य है तो इसका अर्थ या तो यह होगा कि सौन्दर्य की साधना और सत्य की साधना ये दो अलग बातें हैं और कला सौन्दर्य की साधना नहीं है, या यह कि सौन्दर्य की साधना भी सत्य की साधना हो सकती है किन्तु कला का साध्य सौन्दर्य नहीं है बल्कि किसी और अर्थ में सत्य है। हमने अन्यत्र यही दिखाने का प्रयत्न किया है कि कला का साध्य सौन्दर्य नहीं होकर किसी और अर्थ में सत्य है। यों सौन्दर्य को सत्य के आवरक के रूप में भी देखा गया है और कला को सौन्दर्य की पर्याय मान कर उसे भी इस रूप में देखा गया है। वेद का मंत्र है—हिरण्मयेन पात्रेण, सत्यस्यापिहितं मुखम्। इसमें सौन्दर्य को सत्य के आवरक के रूप में देखा गया है। किन्तु यह शब्दों के शिथिल प्रयोग के कारण है। इसलिए कला के सत्य के साथ सम्बन्ध को समझने के लिए कला के स्वरूप को समझना और सत्य के अर्थ और स्वरूप को समझना आवश्यक है। किन्तु यहां हम कला के स्वरूप पर अपेक्षित विस्तार से विचार नहीं कर पायेंगे। अन्यत्र हमने वह विचार पर्याप्त विस्तार से किया है और यहां उसके लिए अवकाश नहीं है। यहां हम कुछ कलाकृतियों को सम्मुख रखकर देखने के मार्ग से आगे बढ़ेंगे कि उनमें कलाकार का साध्य क्या है और उसमें उसकी सफलता-असफलता का मानदंड क्या है? इसके लिए हम निर्मल जी की मुंशी प्रेमचन्द और चित्रकार रामकुमार पर दो टिप्पणियों से आरंभ करेंगे जो उनके 'सर्जना पथ के सहयात्री' लेख-संग्रह से हम ले रहे हैं। प्रेमचंद के सम्बन्ध में वे कहते हैं—"प्रेमचंद ने भारतीय किसानों की 'ऐतिहासिक विकृति' को देखा था—किन्तु उस चीज का मूल सांस्कृतिक टेक्स्चर अपने गैर ऐतिहासिक रूप में क्या था जो विकृत हुआ था, उसकी अन्तर्दृष्टि प्रेमचन्द में नहीं मिलती।" (पृ. 17) और रामकुमार के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्रों के सम्बन्ध में वे कहते हैं—"रामकुमार उन इने-गिने भारतीय कलाकारों में से हैं (शायद एकमात्र) जिनके पिछले पचास बरस के चित्र 'मनुष्य की स्थिति', उसकी वेदना और एकाकीपन, मुक्ति की उसकी कामना और संसार जैसा है उसी रूप में उसकी स्वीकृति के, साक्षी हैं।" (पृ. 178) अब, इन दोनों टिप्पणियों में निर्मल जी का उद्देश्य यद्यपि कलागत सत्य का विवेचन करना नहीं है, इनमें वे एक उपन्यासकार और एक चित्रकार की अपने-अपने कृतित्व में सफलता का मूल्यांकन ही कर रहे हैं, किन्तु इन टिप्पणियों में उनके जाने या अनजाने इन मूल्यांकनों का आधार उनकी कृतियों के सत्य होने में सफलता-असफलता से ही हुआ है। यह सत्य उन कृतियों के अपने से बाहरी वस्तुस्थिति को प्रस्तुत कर पाने में सफलता में है। अब इसके विपरीत 'कला में सत्य की अवधारणा' व्याख्यानों में देखें। वहां वे कहते हैं—"दूसरी ओर, कला का सत्य उस रूपाकार में अवस्थित होता है जिस रूपाकार में वह अपने को प्रस्तुत करता है। हम किसी कविता के अर्थ का दूसरे शब्दों में उसकी प्रस्तुति से कुछ अनुमान कर सकते हैं, किन्तु वह उसके अर्थ की प्रेत-छाया ही हो सकती है, जिसका सत्य हमारे हाथों से खिसक गया रहता है।" इसी प्रकार, चित्र के सम्बन्ध में वे एक रिनेसाँ चित्रकार का मत उद्धृत करते हैं, जिसमें वह एक चित्र की रचना में चित्रकार के अर्थ या लक्ष्य का निरूपण करते हुए कहता है—"मेरे मित्र, (लड़ते सैनिकों का चित्र) सैनिकों के एक-दूसरे की हत्या करते होने के बारे में नहीं है, यद्यपि वह उसके बारे में भी है, (वास्तव में तो) वह प्रकाश और छाया के बारे में और उनसे उभरती आकृतियों के बारे में है।" अब, इन दोनों उद्धरणों में कला-कृति के सत्य को कला-कृति के रचनागत गुण के रूप में रखा गया है, शब्द-रचनाओं या वर्ण-रचनाओं से बाहर उनका कोई कथ्य नहीं स्वीकारा गया है और परिणामतः उनका सत्यासत्य भी। किन्तु इसका क्या अर्थ है? एक कविता को उसके शब्दों की ध्वनि और शब्दानुक्रम-पर्यन्त ही देखना चाहिए या कि शब्दों के वाच्य अर्थ और उस अर्थ की वाच्य भाव-स्थिति या वस्तुस्थिति की अभिव्यक्ति में देखना चाहिए? क्या कई बार ऐसा नहीं होता कि एक कविता अन्य भाषा में अनुवाद में अधिक सफल दिखायी देती है क्योंकि अनुवादक उसके वाच्य अर्थ या वस्तुस्थिति का अधिक गहराई से साक्षात्कार कर पाया होता है और उसके लिए अधिक उपयुक्त शब्द देख पाया होता है? इसी प्रकार, क्या ऐसा नहीं हो सकता कि कोई दूसरा चित्रकार उसी चित्रांकित भाव-स्थिति या वस्तुस्थिति को भिन्न चित्रांकन में अधिक सफलता से दिखा सके? क्या ऐसा नहीं होता कि हम किसी व्यक्ति की, जैसे बुद्ध की, एक मूर्ति को दूसरी से अधिक श्रेष्ठ कहते हैं और उस मूल्यांकन का आधार बुद्धत्व की व्यंजना में अधिक सम्यक्ता, अधिक गहराई होता है? यह बात कथा-काव्य में तो और भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है, जैसाकि निर्मल जी के मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यासों पर टिप्पणी में देखा जा सकता है, जहाँ वे मुंशी प्रेमचन्द के भारतीय किसान के चित्रण की तुलना टालस्टाय के रूसी किसान के चित्रण से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हैं और दूसरे को श्रेष्ठतर कहते हैं। किन्तु उपन्यास या कविता के सम्बन्ध में स्वतंत्र रूप से बात करते हुए निर्मलजी, जैसाकि आधुनिक यूरोप के बहुत से लेखक भी, यही कहते हैं कि ये शब्द-पर्यन्त कृति ही होते हैं। अवश्य कभी-कभी बात का बात कहने के ढंग से बड़ा गहरा सम्बन्ध होता है, किन्तु कहने का ढंग शब्दों का ही गुण नहीं होता, बल्कि कही गई बात का भी गुण होता है, जैसे मुस्कान होठों और आँखों की भंगी ही नहीं होती बल्कि भाव-दशा होती है जो उस भंगी को अपना माध्यम बनाती है। इसी से मुस्कान के अनेक रूप और अर्थ होते है। मुस्कराने वाले का जैसा भाव होता है, वैसी ही होठों और आँखों की भंगी होती है। इस प्रकार यह कहना युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता कि कलाकृति अपनी रूप-रचना-पर्यन्त ही होती है, उसका अपने से अन्य कुछ व्यंग्य नहीं होता। किन्तु यदि निर्मलजी की प्रेमचंद की आलोचना और उनकी टाल्स्टाय से तुलना में न्यूनता के निहितार्थ की ओर आगे ध्यान दें तो इससे केवल यही आपादित नहीं होता कि कलाकृति का सत्य उसकी व्यंग्य वस्तुस्थिति होती है बल्कि एक ओर यह भी होता है कि उसकी व्यंजकता कितनी कुशल है और दूसरी ओर उसका व्यंग्य लक्षित वस्तुस्थिति के स्वरूप का कितना सम्यक् आकलन कर पाया है। निर्मल जी के अनुसार प्रेमचंद की औपन्यासिक कृति सत्य है किन्तु पर्याप्त सत्य नहीं है, उसकी यह अपर्याप्तता वस्तुस्थिति की गहराई और विस्तार को नाप पाने की असमर्थता में है। किन्तु यहां प्रश्न हो सकता है कि वस्तुस्थिति की गहराई और विस्तार का कितना नाप होता है? इसका उत्तर होगा कि उसका कोई नाप नहीं होता, नाप केवल हमारी देख पाने की सामर्थ्य का होता है। इसी सामर्थ्य से एक कलाकार दूसरे से छोटा या बड़ा होता है।

किन्तु वस्तुस्थिति की यह अपरिमेयता वस्तुस्थिति के स्वरूप को रहस्यमय बना देती है। यह वस्तुस्थिति कैसी होती है? प्रेमचंद के **गोदान** उपन्यास की व्यंग्य, या कहें उसके द्वारा लक्षित वस्तुस्थिति तत्कालीन 'भारतीय किसान' है। किन्तु यह 'भारतीय किसान' कौन है और कैसे देखा जा सकता है? स्पष्ट है कि वह कोई व्यक्ति विशेष या व्यक्ति-समुदाय विशेष नहीं है, जो किसी विशेष स्थान और काल में रहता है, वह एक लगभग अनादि मानस-परंपरा है और कुछ विशिष्ट लक्षणों से अपनी पहचान देती है, किन्तु जिसकी न गहराई की कोई थाह है और न विस्तार का कोई छोर। वह अन्तश्चक्षु द्वारा उतनी ही साक्षात्कार्य होती है जितनी चक्षु की देख पाने की सामर्थ्य होती है। रामकुमार द्वारा देखी गई वस्तुस्थिति का उनका निरूपण इसका और भी स्पष्ट द्योतक है—'मनुष्य की स्थिति, उसकी वेदना, एकाकीपन और मुक्ति की कामना', 'संसार जैसा है वैसा।' इनमें से एक भी 'चीज़' प्रत्यक्षगम्य नहीं है, केवल कल्पना-गम्य है, और वह एक-साथ बाह्य और आन्तर है। इसे दो दिशाओं से देखा जा सकता है—विषयता के पक्ष से—बाहर खड़े होकर, और विषयिता के पक्ष से, उसके साथ तदात्म होकर। समाजशास्त्री उसे प्रथम पक्ष से देखता है और कवि, उपन्यासकार,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्रकार दूसरे पक्ष से। किन्तु द्रष्टव्य है कि कलाकार द्वारा व्यंग्य वस्तुस्थिति अनिवार्यतः समाज, प्रकृति या कोई दृश्य ही नहीं होती, वह उपन्यासकार, कवि या चित्रकार की अपनी मनोदशा भी हो सकती है, जैसे निर्मल जी के **अंतिम अरण्य** की। वस्तुस्थिति जैसी भी हो, कलाकार के लिए वह विषयिता के पक्ष से ही व्यंग्य होती है, विषयता के पक्ष से नहीं। इसका क्या अर्थ है, इसे स्थूल रूप से इतिहासकार या समाजशास्त्री और उपन्यासकार के निरूपण-भेद या दृष्टि-भेद को देखकर समझा जा सकता है।

इतिहास में व्यक्ति और घटनाएं विषय रूप में प्रस्तुत होती हैं—अकबर, जयचंद, औरंगजेब और शिवाजी और उनके कार्य, भावनाएं और विचार ये सब विषय रूप में वर्ण्य होते हैं। हम कहते हैं 'इन्होंने क्या किया'—अकबर ने जयचंद को बुलाया, अकबर को क्रोध आया, अकबर ने ऐसा सोचा आदि। इसके विपरीत उपन्यास में अकबर जयचन्द को बुलाता है, अकबर क्रुद्ध होता है, अकबर सोचता है। इसी से ऐतिहासिक उपन्यास के पात्र भी ऐतिहासिक और वास्तविक नहीं होते, उनमें उपन्यासकार कल्पना द्वारा अन्तःप्रविष्ट होता है। किन्तु वह कल्पना कपोल कल्पना नहीं होकर प्रातिभ साक्षात्कारात्मक कल्पना होती है, उसका निरूप्य ऐतिहासिक चेतना, या कहें चित्त-भूमि होती है जो चित्त औपन्यासिक पात्रों के माध्यम से उसी प्रकार अभिव्यक्ति-लाभ करता है जैसे सांख्यीय महत् अहंकार, अन्तःकरण, इन्द्रिय और पंचमहाभूतों के माध्यम से अभिव्यक्ति-लाभ करता है।

ऐसा हम आत्मालोचन में भी कर सकते हैं—'मैं दुःखी हूं', 'मुझको दुःखी नहीं होना चाहिए', ये कथन मेरी अपने प्रति विषय-वृत्तिकता के वाचक हैं। अपने प्रति विषयवृत्तिकता आत्मचेतना का स्वरूप ही है। इसका आरंभ हमारे स्वयं के विषयकरण से होता है। इसमें जब हम दुःखी होते हैं तब साथ ही अपनी दुःखिता के दर्शक भी होते हैं, हम अस्मि रूप से होते भी हैं और अपनी इस अस्मिता से अलग खड़े हुए इसके दर्शक भी होते हैं। हम जिसे आत्मा कहते हैं उसका आविर्भाव भी हमारी चेतना की इस आत्म-प्रेक्षकता से, अपने से अपने अलग खड़े होने से होता है। पशु में यह आत्म-बोध नहीं होता, वह केवल होता है—विषयी, अपने होने का प्रेक्षक नहीं होता। किन्तु आत्मचेतन चेतना में वह प्रेक्षक (विषयी) और अपना प्रेक्ष्य (विषय) भी होता है। यहां शंकराचार्य की सहायता लेना उपयोगी होगा। ब्रह्मसूत्र भाष्य के आरंभ में वे कहते हैं—"यह आत्मा केवल अविषय रूप ही नहीं है, यह आत्मप्रत्यय-गोचर भी होता है।" किन्तु अपने को विषय रूप में देख पाने वाली यह चेतना कला में एक अद्भुत कार्य करती है, वह प्रत्यय के माध्यम से अपने से इतर हुए बिना अपनी विषयिता को भी प्रत्ययात्मतया विमृश्य बनाती है। यहां द्रष्टव्य है कि हम दूसरे व्यक्ति को भी विषयतया और विषयितया दोनों प्रकार से देखते हैं—मैं वाजपेयी जी को सामने बैठा भी देख रहा हूं और यह भी देख रहा हूं कि वे मुझे देख रहे हैं। इस दूसरे देखने में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जपेयी जी मेरे लिए विषयी हैं जिनका मैं विषय हूं। इस विषयिता में भी हम त्यय-ग्राही चेतना के द्वारा प्रतिष्ठित हो सकते हैं। कहानी लेखक यही करता है–उसके पात्र उसे अपनी विषयिता में ही प्रत्ययात्मतया प्रस्तुत होते हैं, तभी वह राम, लक्ष्मण, कैकेयी और मंथरा को निरूपित कर पाता है। इसमें वह उनके चित्त में उस चित्त के अर्थोन्मीलन के साथ घटित होता है। उसमें वह दशरथ की दारुण व्यथा को खता नहीं, उसमें दाशरथतया व्यथित होता है। किन्तु वह व्यथित होना उस होने में अर्थोन्मीलनपूर्वक होता है, वह दाशरथीभाव मात्र नहीं होता, वह अंतःप्रकाशित दाशरथीभाव होता है। यहां स्पष्टीकरण के लिए अभिनवगुप्त की रस की व्याख्या को उद्धृत करना स्थाने होगा। उनके अनुसार "रति, भय आदि भावों का लौकिक तादात्म्य से विच्छिन्न : मेरे तेरे या उसके भावों के रूप में ग्राह्य नहीं होकर निर्विघ्न प्रतीति-ग्राह्य होना रस है।" यहां यह द्रष्टव्य है कि निर्विघ्न प्रतीति-ग्राह्य भाव नहीं होता, उसका प्रत्यय होता है जिसकी अवधारणा अभिनव गुप्त को उपलब्ध नहीं है। हम कहते हैं प्रेम तो वह है जो सोहनी महीवाल से करती थी, ये लड़के-लड़कियाँ क्या प्रेम करेंगे!" कबीर प्रेम को परिभाषित करते हैं–प्रेम पियाला सो पियै, सीस दच्छिना देय, लोभी सीस न दे सकै, नाम प्रेम का लेय।" यह भाव का 'मेरे, तेरे उसके भाव के रूप में ग्रहण नहीं है, उस प्रत्यय के रूप में ग्रहण है जो विषय रूप में गोचर है। यह विषयि ता में भी प्रत्यय-गोचर हो सकता है जिसे हम विषयिता का अर्थतः उन्मीलित होना कहते हैं। यह अभिनव ने, या किसी अन्य काव्यशास्त्री ने, नहीं देखा। असंख्य कविताओं, उपन्यासों और चित्रों में वही उन्मीलित होता है।

यहां विषयिता की विषयि-प्रत्ययरूपता का कला-विषयक कुछ और उदाहरणों से स्पष्टीकरण स्थाने होगा–एक चित्रकार विकास भट्टाचार्य को एक मृत बच्चे के माता-पिता ने अपने उस बच्चे का चित्र बनाने का अनुरोध किया जो उनके उस बच्चे को उनके सामने जीवितवत् प्रस्तुत कर दे। इस पर भट्टाचार्य लिखते हैं–"मैं यह चित्र अभी तक बनाना आरंभ नहीं कर पाया हूं। मैंने इसके लिए सही बिम्ब का साक्षात्कार करने के लिए कितनी ही रातों की नींद खोई है। इसमें केवल एक चित्र की रचना करना ही अपेक्षित नहीं है, इसमें ऐसी आकृति की रचना करना अपेक्षित है जो एक ओर नितान्त मर्मान्तिक दुःख में जन्म ले रही हो और दूसरी ओर जो दो अश्रु-प्लावित हृदयों को उनके संपूर्ण जीवन में संबल दे सके।" (आबिश चक्रवर्ती, 'दि क्रियेटर', दि हिन्दोस्तान टाइम्स, 10.2.1992) यहां द्रष्टव्य है कि दुःखिता एक मृत बच्चे के माता-पिता की है, यह लौकिक तादात्म्य से रहित दुःखिता नहीं है, चित्रकार कल्पना द्वारा उस दुःख (विषयिता) के अर्थ का साक्षात्कार चित्रांकन-योग्य बिम्ब के प्रतीक में करना चाहता है। यही बात हम मुमताज के विरह में व्यथित शाहजहां के लिए ताजमहल बनाने वाले वास्तुकार में देखते हैं और यही इन्दुमती के विरह में रोदन करते अज के विलाप को काव्य-रूप देने वाले कालिदास में देखते हैं। इन तीनों उदाहरणों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में दुःख लौकिक तादात्म्य से रहित नहीं है—चित्रकार, वास्तुकार और कवि व्यक्ति-सम्बद्ध दुःख के ही साक्षात्कारी हैं, किन्तु तब भी यह निर्विघ्न प्रतीति ही है, क्योंकि यह प्रतीति प्रत्यय-ग्राही चेतना में उन्मीलित दुःखिता की है जो दुःखिता व्यक्ति विशेषों की ही हो सकती है, व्यक्ति सामान्य (व्यक्ति-साधारण) की नहीं हो सकती। इस प्रकार यह अर्थ एक ओर अनन्य साधारण होता है और दूसरी ओर संप्रेष्य भी—प्रत्यय-ग्राही चेतना में उन्मीलित होने से। यों भोगात्मक अर्थ : भोगी जा रही दुःखिता : भी संप्रेष्य होता है : आवेगात्मक संप्रेषण जीव मात्र में दृष्टिगत होता है : किन्तु वह अर्थ दैहिक चित्तात्मक होता है, प्रत्ययात्मक नहीं होता और इस कारण चित्र, भवन या शब्द में अंकनीय नहीं होता। प्रत्ययात्मक चेतना में उन्मीलित विषयिता अपार और अथाह अर्थ-राशिमय होती है और इस प्रकार अनेकानेक चित्रांकनीय, सांगीतिक और शाब्द बिम्बों में विमृश्य और निरूपणीय हो सकती है, जबकि दैहिक चित्तात्मक अर्थ में ऐसी कोई संभावना नहीं होती। अब, कला का सत्य कला के इस स्वरूप से संबद्ध है। इसके विपरीत निर्मल जी कला को रोजर फ्राई तथा मलार्मे के मतों के अनुसरण में शब्द-योजना, वर्ण-रेखा-योजना या स्वर-योजना : इसे शब्द-शिल्प, वर्ण-रेखा-शिल्प और स्वर-शिल्प भी कह सकते हैं : में देखते हैं और टाल्स्टाय तथा नीत्शे कला को सत्य को आपिहित करने वाले हिरण्मय पात्र के रूप में देखते हैं। इन दोनों मतों की भ्रान्तता हमारे उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। किन्तु हमारे विवेचन की युक्तता समझने के लिए एक अन्य मत का निराकरण उपयोगी होगा। यह मत कला विषयक पारंपरिक मत के प्रतिष्ठित विवेचक प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र जी पांडें का है। पांडे जी कला को सौन्दर्य-सर्जन के रूप में परिभाषित करते हुए कहते हैं—"सौन्दर्य नैसर्गिक वस्तु का धर्म नहीं है, प्रत्युत कल्पना द्वारा आयोजित प्रतिभास (पर्सेप्शन) का आलंबन-धर्म है, और वह कहीं पर भी संभव है। सूर्यास्त और फूल सबको नहीं रुचैते, किन्तु मन की अवस्था विशेष में कल्पना अभ्यस्त रूढ़ि-सरणियों को लाँघकर, जिस किसी दृश्य को लेकर अपूर्व प्रतिभास की रचना कर डालती है, जहां सामान्य विषय भी अर्थ-सौन्दर्य के निर्भास से गवाक्ष बन जाते हैं, जैसे टूटा हुआ ताँगा, मलिन संचार-वीथिका (गली), धूल में फेंकी बुझती हुई सिगरेट। पहले असुन्दर-कुरूप प्रतीत होने वाले ये विषय दृष्टि-भेद के कारण क्षण में रूपान्तरण धारण कर लेते हैं और शोभित होने लगते हैं।"[1] यहां पांडेजी कलाकृति को कल्पना द्वारा आयोजित प्रतिभास कह रहे हैं जिसका आलंबन-धर्म सौन्दर्य है और अर्थ-सौन्दर्य के निर्भास से बना गवाक्ष भी कह रहे हैं। किन्तु ये दोनों एक ही बात नहीं हैं। टूटे ताँगे या धूल में पड़े बुझते सिगरेट के चित्र चित्रित ताँगे और सिगरेट के समान ही प्रतिभास-विषय के रूप में असुन्दर ही होंगे, चित्र रूप में उनका सौन्दर्य उनके अर्थ-गवाक्ष बनने में है। किन्तु प्रतिभास (पर्सेप्शन)

1. सौन्दर्य-दर्शन विमर्श : हिन्दी अनुवाद—जगन्नाथ पाठक, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. सं. 121

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विषय को और अर्थ को समान रूप से सुन्दर कहना चित्र की कलात्मकता को समझने में केवल बाधक ही बनता है, साधक नहीं। चित्रित टूटा ताँगा या धूल में लुंठित बुझता सिगरेट कलाकार में उद्दीप्त किसी आनुभूतिक अर्थ के व्यंजक (गवाक्ष) के रूप में कलाकृति होते हैं। उसे यदि सुंदर कहना है तो उस सौन्दर्य को अर्थ का आलंबन-धर्म ही कहना होगा, प्रतिभास का नहीं। किंतु सौन्दर्य के इन दो रूपों में कोई साम्य नहीं है। रेखांकन में कलाकार की कुशलता उसकी व्यंजकता में विदग्धता और सम्यकूता में होती है, उसका मनोरमता में नहीं, और उसका व्यंग्य वेदना या विचार के आनुभूतिक अर्थोन्मीलन का बिम्बात्मक साक्षात्कार होता है। यह अर्थोन्मीलन विपुल या दरिद्र, गहन या उथला, स्फुट या धुँधला हो सकता है, उसकी सुन्दरता उसकी उदात्तता, उन्नायकता और हर्षकता की पर्याय होती है—जिस अर्थ में सत्य और शिव को सुन्दर और सुन्दर और शिव को सत्य कहा जाता है। यह सौन्दर्य वैसा ही होता है जैसा अट्टहास करते रामकृष्ण परमहंस के या दंत-शून्य महात्मा गांधी के चेहरे का सौन्दर्य। किन्तु यह सौन्दर्य बिपाशा बसु या सलमान खान के सौन्दर्य से परिभाषया विपरीत है। उपर्युक्त चित्रों में चित्रण अपनी व्यंजना के सत्य से, व्यंग्य अर्थ कलाकार की अनुभूति के सत्य से, और आनुभूतिक अर्थ अपनी विपुलता और गहनता से उपलक्षित होते हैं और यही इनका सौन्दर्य है—यदि इसे सौन्दर्य कहना ही हो तो।

किन्तु सत्य शब्द के ये तीन प्रयोग ही परस्पर समानार्थक नहीं हैं—व्यंजना का सत्य व्यंग्य के अनुरूप होने, उसे यथावत् प्रकट करने में होता है किन्तु अनुभूति का सत्य अनुभव-कर्त्ता के आत्म-प्रमाण होने में होता है। तब कला के सत्य का क्या अर्थ है? टाल्स्टाय और नीत्शे उसे जीवन के सत्य को ढँकने वाला कहते हैं, किन्तु जीवन का सत्य क्या है? मैं इधर टाल्स्टाय की हेनरी ट्रोयट द्वारा लिखित जीवनी पढ़ रहा था। उसने टाल्स्टाय के जीवन का बहुत विस्तृत और प्रामाणिक विवरण दिया है। किन्तु मैं निरन्तर अनुभव कर रहा था कि जीवनी आत्मकथा के रूप में ही ठीक हो सकती है, पर-कथा के रूप में नहीं। क्योंकि कर्मों-कृत्यों को करने वाले ने क्या मानते हुए किया, कर चुकने पर उसने उन्हें कैसे देखा, यह उन कर्मों का अधिक महत्त्वपूर्ण अंग होता है बजाय कर्मों के बाह्य रूप के। अब, टाल्स्टाय जिसे जीवन का सत्य कह रहे हैं वह तो वही हो सकता है जो उन्होंने अपने जीवन में स्वयं देखा है, अन्य के द्वारा देखे गए उसी जीवन का सत्य दूसरा होगा, तब भी जबकि स्वयं कर्त्ता द्वारा भी देखा गया वह जीवन भी बाह्यतः दृश्य ही होता है। हमारे द्वारा जिये गए जीवन के भी दो रूप होते हैं—एक वह जो हम जी रहे होते हैं और दूसरा वह जो जी चुकने के बाद हमारा आलोच्य होता है। किन्तु दोनों में किसी भी रूप के सत्य-असत्य का क्या अर्थ हो सकता है? गांधी जी का जीवन सत्य के प्रयोग का ही जीवन था। अर्थात् जीवन का सत्य उसके होने में नहीं उसके अनुसन्धान में था और अनुसंधेय वह सत्य था जो प्रयोग से प्रमाणित हो। तब टाल्स्टाय जीवन के किस सत्य की बात कर रहे हैं? स्वयं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका जीवन भी सत्य से भ्रष्टता का या सत्य के प्रयोगों में असफलताओं का विवरण ही कहा जा सकता है, जैसाकि उनकी डायरियों से देखा जा सकता है। अब, उपन्यासकार भी अधिकांशतः आत्मकथाकार ही होता है, मुंशी प्रेमचंद भारतीय समाज के आत्मकथाकार थे, भारतीय कृषक-जीवन के भी। उनके सम्बन्ध में निर्मलजी कह रहे हैं कि वे उसकी पूरी गहराई नहीं नाप पाये। वे यह नहीं कह रहे हैं कि वे कलात्मक सौन्दर्य-सृजन में पड़कर भारतीय कृषक के जीवन को भूल गए। द्रष्टव्य है कि हम अपना जीवन गहराई में उतरकर भी जी सकते हैं या उथले में रह कर भी जी सकते हैं। कबीर ने कहा ही है—मैं बपुरा बूड़न डरा, रहा किनारे बैठ। रमेशचन्द्र शाह ने कुछ उपन्यास आत्मकथात्मक ही लिखे हैं, जिनमें उन्होंने अपनी आत्मकथा की सच्चाई पाने के लिए कुछ ऐसे सम्बन्धों-सम्बन्धियों और घटनाओं का आविष्कार किया है जो पूर्णतः काल्पनिक हैं, किन्तु उनके अनुसार वे उनकी आत्मकथा के अधूरेपन को पूरा करने के लिए आवश्यक थे। यह एकदम ठीक है, क्योंकि मनुष्य जैसा घटित होता है वैसे में उसके जीवन का सत्य पूरा नहीं हो जाता, बल्कि बहुत कुछ होता है जो घटित होने से रह गया होता है किन्तु उसके बिना उसकी आत्मकथा अधूरी रह गयी होती है। किन्तु तब भी रमेश जी द्वारा लिखित इन आत्मकथाओं की मैंने वही कहकर आलोचना की जो निर्मलजी ने प्रेमचंद द्वारा लिखी भारतीय किसान की आत्मकथा की की है—कि वे उस जीवन की गहरी तहों तक नहीं उतर पाये। यहां मैं महात्मा गांधी की आत्मकथा का पुनरुल्लेख करना चाहूंगा। वे उसमें अपने जीवन की उन घटनाओं का उल्लेख भी कर रहे हैं जो उनके अनुसार उनके जीवन का झूठ है, किन्तु वैसा सत्य है जिसे टाल्स्टाय जीवन का जटिल सत्य कह रहे हैं। जीवन को जीने वाला कोई भी आत्म-प्रबुद्ध व्यक्ति अपने जीवन को असत्यों का पुलिंदा ही पाता है। अब ये सब सत्य : प्रेमचंद के द्वारा पर्याप्त गहराई में नहीं देखा गया भारतीय कृषक-जीवन का सत्य, महात्मा गांधी द्वारा अपने जीवन का साध्य सत्य, टाल्स्टाय के जीवन का यथातथ सत्य : ये कोई अचल प्रतिष्ठ सत्य नहीं होते, जिन्हें हाथ बढ़ा कर हम छू सकते हैं और छू कर प्रमाणित कर सकते हैं—वेदान्तियों को साँप दिखायी देने वाली रस्सी के समान, ये सत्य ऐसे होते हैं जिनमें चेतना उन्मीलित होती है और उसे उतना ही देख पाती है जितना उसमें डूबने का उसमें साहस होता है, और जितनी उसकी आँखों की क्षमता होती है।

यहाँ यह पुनः स्मरण दिलाना उचित होगा कि कलाकार चेतना की विषयिता के पक्ष का विमर्शक होता है। यह विमर्श भी उसके आत्मचेतन होने से ही संभव होता है, जिस चेतना का सहज रूप अपनी विषयिता के विषयकरण में घटित होता है, और इस प्रकार जो कला-दृष्टि के विपरीत भाव होता है—अस्मिता-बोध, अपने को अपना इतर होकर देखना। आत्म-कथाकार भी यही करता है, वह अपना इतर होकर अपनी कथा का वाचन करता है। किन्तु उपन्यासकार को अन्य के अन्तर की कथा उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर में पैठकर वैसे ही कहनी होती है जैसे कोई मूर्छा में अपनी कथा कहता है। गीत में कवि अपनी विषयिता का ही गायन करता है किन्तु मूर्छा में बोलने और कला-रचना में यह अन्तर होता है कि कलाकार सतर्क विमर्शक भी होता है—विषयिता का विमर्शक। उसका सत्य किसी विषयिता में वस्तुतः घटित होने और इस घटना के विमर्श की सम्यक्ता में होता है। हम स्वयं अपने अन्तर में ही कभी अपने अंतर की पूर्ण वास्तवता में घटित्त नहीं हो पाते, न उसकी वास्तवता में उसको समझ पाते हैं और न समझे गए को सम्यक्तया निरूपित कर पाते हैं। ऐसी अपूर्णता या वंचना केवल आत्मचेतन चेतना में ही होती है, जो चेतना अपने को देखने के कारण ही अपने से इतर हो जाती है। किन्तु तब विषयिता में तो ऐसा नहीं होना चाहिए जिसमें अपने से अपना अभेद रहता है। यह अभेद अपनी विषयिता से ही नहीं, अन्य की विषयिता से भी रहता है। किन्तु जैसाकि हम देखते हैं, कला में विषयिता ही अवगाहनीय होने पर भी उसके लिए अनवगाह्य रहती है। ऐसा चेतना की प्रत्ययात्मकता के कारण होता है। प्रत्यय अर्थों की अपार संभावना में चेतना के उन्मेष का पर्याय है। आत्मचेतन चेतना को ये प्रत्यय सहज रूप से विषयतया ही गोचर होते हैं, किन्तु इस चेतना में यह भी योग्यता होती है कि यह विषयिता में भी अर्थों की अपारता में उन्मीलित हो सकती है। कलाकार इन अर्थों का विमर्शक होता है। उसका सत्यासत्य इस विषयिता में घटित होने की वास्तवता-अवास्तवता में (सच्चाई) और इस घटना के विमर्श की सम्यक्ता-असम्यक्ता में होता है। यहां ईशावास्योपनिषद् के एक मंत्र का सहारा लेना इस परिस्थिति के स्पष्टीकरण में सहायक होगा, यद्यपि उस मंत्र का संदर्भ इससे भिन्न है। मंत्र है—कविर्मनीषीः परिभूः स्वयंभूः याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। (अर्थात् उस सर्वव्यापी और आत्मपूर्ण मनीषी कवि ने अर्थों, वस्तुजगत् के पदार्थों को : शाश्वत रूप से उनकी याथातथ्यता के साथ रचा।) अब, यदि वह कवि परिभू-स्वयंभू नहीं होता तो वह अर्थों की अयथातथ रचना भी कर सकता था—जैसाकि हम स्वप्न में करते ही हैं, और अपूर्ण याथातथ्य के साथ रचना करना तो हमारी नियति ही है, क्योंकि हम अपूर्ण हैं। जैसी विचारक-कलाकार के रूप में हमारी है। कलाकार के रूप में अर्थ-रचना या अर्थावगाहन में याथातथ्य की न्यूनता या अपर्याप्तता तथा अभाव अनेक प्रकार से हो सकता है। पीछे हमने निर्मलजी की प्रेमचन्द तथा रामकुमार पर टिप्पणियाँ उद्धृत की थीं जिसमें याथातथ्य की अपर्याप्तता-पर्याप्तता बतायी गई है, दूसरे प्रकार की पर्याप्तता-अपर्याप्तता का रूप हमने आत्मकथा-लेखन में दिखाने का प्रयत्न किया। तीसरे प्रकार के उदाहरण मीरा और कबीर की तथा महादेवी की प्रेम-कविताएँ हो सकती हैं। प्रथम दो की प्रेम-कविताएं जबकि अपनी भावना में घटित होने में सत्य और उस घटना के विमर्श की सम्यक्ता में पर्याप्तता के उदाहरण प्रस्तुत करती हैं महादेवी जी की कुछ कविताओं में, जैसे निम्न दो में, इसका अभाव देखा जा सकता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं नीर भरी दुःख की बदली
स्पन्दन में चिर निस्पंद बसा, क्रंदन में आहत विश्व हँसा,
नयनों में दीपक से जलते, पैरों में निर्झरिणी मचली।
अथवा
विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात।

वास्तव में इस दूसरे प्रकार के उदाहरण अधिकांश कविताएँ प्रस्तुत करती हैं, और इसी प्रकार बहुत सी कहानियां और उपन्यास भी करते हैं। यहाँ द्रष्टव्य है कि कलाकार द्वारा विषयितया घटित होने और उस घटना के विमर्श में अपनी विषयिता और अन्य की विषयिता में भेद की कोई बात नहीं होती। कहा जा सकता है कि कवि-कथाकार सदैव आत्मकथाकार ही होता है—इस अंतर के साथ वह अपनी कथा में विमर्शकतया घटित होता है, निरीक्षक नहीं होता। कालिदास अज-विलाप में, भवभूति राम-विलाप में और गोदान के प्रेमचन्द भारतीय किसान के जीवनी-लेखन में ऐसे ही आत्मकथाकार हैं। यह इनके विलाप या कथा-कथन और टाल्स्टाय की हेनरी ट्रोयेर के द्वारा लिखी गई जीवनी में तुलना कर देखा जा सकता है। कला-रचना को विषयिता-विमर्श कहने से हमारा यही आशय है।

अन्त में यह स्पष्टीकरण स्थाने होगा कि विषयिता का अर्थ वेदना-आवेगमूलक भावना ही नहीं है, विषयिता चित्त के सभी आयामों की अन्तर्गतार्थता है और इस प्रकार हर्ष, विषाद, प्रेम, विरह ही नहीं, सोचना-समझना, विवेक, विवेचन ये सब भी अपने घटित होने में विषयिता ही होते हैं। निर्मल जी अंतिम अरण्य में अधिकांशतः विचारक मननशील की भूमिका में ही हैं और प्रसादजी तो कामायनी में प्रत्ययों के ही आत्मकथाकार हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में वेदव्यास श्रीकृष्ण के विचारक रूप की भूमिका में हैं। इस प्रकार काव्य और कलाओं को भावनात्मक मात्र देखने वाली दृष्टि असम्यक् दृष्टि ही कही जायेगी और रस तथा सौन्दर्यवादी दृष्टि यही है। कला का व्यावर्तक लक्षण विषयिता का विषयितागत विमर्श ही कहा जा सकता है और इस विमर्श की युक्तता और सम्यक्ता में ही कला का सत्य चरितार्थ होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत की राजनीतिक संस्कृति एवं चुनाव

डॉ. कुमार विमल*

मुद्दों का मलखम कमजोर हो रहा है

आज के चुनावी परिदृश्य से जाहिर होता है कि अब राजनीति में मुद्दों का मलखम कमजोर हो गया है और क्षेत्रीयता, जातीयता तथा साम्प्रदायिक संकीर्णता के घटक मजबूत हो गए हैं। राजनीतिक दलों की बहुलता ने सत्ता की महत्त्वाकांक्षा को उकसा दिया है, जिससे समाजार्थिक परिवर्तन की मूल और मुख्य बातें चुनावी दंगल में गौण हो गई हैं।

गौर से सोच-विचार करने पर यह बात सामने आती है कि 'बैलेट' 'बुलेट' से ज्यादा ताकतवर होता है और मतदान-पेटी समाजार्थिक परिवर्तन लाने में कारतूस-पेटी से ज्यादा कारगर साबित हो सकती है। जनतंत्र हमें चुनावों के माध्यम से बहुत बड़ा परिवर्तन लाने का अवसर देता है; किन्तु हमारे मतदाता अपने मतपत्रों की ताकत का सही अनुमान नहीं रखने के कारण व्यक्तिगत रूप में और सामूहिक रूप में अपने मत-पत्रों का उपयोग सोच-समझ कर नहीं कर पाते हैं। अपराधी, भ्रष्टाचारी और ताकतवर लोग आम जन को अपने मत-पत्रों का सही और निर्भीक उपयोग करने का अवसर ही नहीं देते हैं। 'बेचारा' मतदाता चाहे भी तो क्या करे?

किन्तु, इन विपरीत परिस्थितियों के बावजूद इसमें सन्देह नहीं कि पुराने संस्कारों का 'एलिटिस्ट' लोकतंत्र हिन्दुस्तान में आज उन तथाकथित अकुलीनों और कमेरों की गिरफ्त में आता जा रहा है, जिन्हें सूचना-समृद्ध नागरिक-समूह (well-informed citizenry) नहीं कहा जा सकता। इसलिए सत्ता के स्वाद से सुपरिचित लोग ज्यादा बमचख मचा रहे हैं और उन्हें चारों ओर शालीनता में तथा मूल्य-मानों में गिरावट ही गिरावट नजर आ रही है।

गिरावट की बात बहुत दूर तक सच है। राष्ट्रीय राजनीतिक दल सिकुड़ते जा रहे हैं, उनके 'वोटों' और 'सीटों' का आनुपातिक प्रतिशत घटता जा रहा है, क्षेत्रीय

* डॉ. विमल कुमार, जानेमाने शिक्षाविद्, प्रशासक एवं लेखक, पताः 96, एम.आई.जी.एच, लोहिया नगर, पटना-20, दूरभाष : 0612-2352944, चलभाष : 94310-20950

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीतिक दल बढ़ते जा रहे हैं, अनेक तरह की 'उपराष्ट्रीयताएँ' (Subnationalities) सिर उठा रही हैं, चुनावों के गणित ज्योतिष और फलित ज्योतिष में 'जातीय' ग्रहों की गणना प्रधान होती जा रही है, 'आइडेंटिटी ग्रुप्स' अब 'प्रेशर ग्रुप्स' बन गए हैं, 'नेता' 'मतदाता-प्रबन्धक' (वोट मैनेजर) बनते जा रहे हैं, राजनीतिक दलों में आन्तरिक जनतंत्र शून्य पर पहुँचता जा रहा है, 'विचारधारा' वाले दल भी अपने सिद्धान्तों के साथ अपने चाल-चरित्र का मेल नहीं बैठा पा रहे हैं, सत्ता पाते ही प्रायः सभी दलों के लोग सुख-सुविधाभोगी और परिवारवादी बन जाते हैं, संसद और अन्य विधायिकाओं की बैठकों की संख्या प्रतिवर्ष घटती जा रही है और चुनावी राजनीति में मुद्दों का मलखम कमजोर होता जा रहा है। कितना गिनाया जाय! चार 'सी' और तीन 'एम' के बिना चुनाव जीतना मुश्किल है। चार 'सी' का मानी है—'कास्टिज्म' (जातिवाद), 'कॉम्युनलिज्म' (सम्प्रदायवाद), 'कॉरप्शन' (भ्रष्टाचार) और 'क्रिमिलाइजेशन' (अपराधीकरण)। इसी तरह तीन 'एम' का मानी है—'मनी', 'मस्ल' और 'माल-प्रैक्टिस'। इन्हीं तीन 'एम' के बूते पर 'पोलिंग बूथों' पर गड़बड़ियाँ होती हैं। कितना बढ़िया 'मॉडेल कोड ऑव कन्डक्ट' बना हुआ है। 'राष्ट्रीय मतदाता जागरण अभियान' के कितने अच्छे जुमले हैं। चुनाव की पवित्रता और निष्पक्षता पर चौकस नज़र रखने वाली संवैधानिक संस्था 'चुनाव आयोग' है हमारे यहाँ। कानून मंत्रालय द्वारा जारी तीन खण्डों वाला 'मैनुअल ऑव इलेक्शन लौज' है। जनप्रतिनिधित्व अधिनियम में एक से एक अच्छे उपबन्ध, प्रावधान और बन्धेज हैं। लेकिन व्यावहारिक धरातल पर चुनाव में इतनी धाँधलियाँ हैं कि रोंगटे खड़े हो जाते है और तो और, माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने 2 मई, 2002 ईस्वी के ऐतिहासिक फैसले में जो निर्देश दिए हैं और संविधान की धारा संख्या 19(1)(a) की जो व्याख्या की है और उस व्याख्या के तहत उम्मीदवारों के पूर्ववृत्त को जानने के लिए चुनाव आयोग ने संविधान की धारा संख्या 142 और धारा संख्या 324 के मुताबिक चुनाव की स्वच्छता हेतु और अपराधी चरित्र के निष्कासन हेतु उम्मीदवारी की घोषणा की नियमावली में जो नए बन्धेज लगाए हैं, उनके भी काट अपराधियों और भ्रष्टाचारियों ने निकाल लिए हैं। नतीजा यह है कि हमारे संविधान-निर्माताओं ने वेस्टमिनिस्टर मॉडेल, कांग्रेसनल मॉडेल और कनाडियन मॉडेल के सर्वोत्तमों को मिला-जुलाकर जिस संसदीय जनतंत्र का रूप निरूपित किया था, उस जनतंत्र के परखचे उड़ाए जा रहे हैं और हमारा जनतंत्र भीड़तंत्र (Mobocracy), जड़मतितंत्र या 'बूबोक्रैसी' (Boobocracy) में बदलता जा रहा है। आज लोगों का विश्वास लोकतांत्रिक प्रक्रिया से उठता जा रहा है और हमारे देश में जनतंत्र के लिए अपेक्षित राजनीतिक संस्कृति विकसित नहीं हो पा रही है।

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि बालिग मताधिकार की कारतूस-पेटी (bandoleer) से भय खाने वाले सफेदपोश सुविधाभोगी वर्ग के लोग अब अपने वर्ग-हित की रक्षा के लिए जनतंत्र और बालिग मताधिकार की अवधारणाओं को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खारिज करना चाहते हैं और इनके विरुद्ध वे तरह-तरह के तर्कों के तीर अपने तरकस में जमा कर रहे हैं।

तब सवाल उठता है कि क्या इस लोकतंत्र की प्रणाली को छोड़ दिया जाय? प्रायः सभी विकासमान देशों में लोकतंत्र कमोबेश इसी दशा से गुजर रहा है और वहाँ लोकतंत्र 'आम जन' के हाथों में आता जा रहा है तथा जन-प्रतिनिधियों का वर्ग-चरित्र बदलता जा रहा है। यह लोकतंत्र के विकास की एक दशा है। कहा जाता है कि बीसवीं शताब्दी संसदीय जनतंत्र की शताब्दी थी। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जहाँ अमेरिका और यू.के. सहित कुल छह यूरोपीय देशों में जनतंत्र था, वहाँ आज दुनिया के लगभग 180 देशों में एक सदनीय (uni-cameral) या द्विसदनीय (bicameral) पूर्णप्राय जनतंत्र है और लगभग 12 देशों में सीमित जनतंत्र है। केवल चीन, नाइजेरिया, उत्तर कोरिया, क्यूबा और लगभग एक दर्जन अफ्रीकी देश जनतंत्र के साये से बाहर हैं। इस तरह अभी दुनिया की कुल दो-तिहाई आबादी जनतंत्र की छतरी के नीचे है। यह दूसरी बात है कि मध्यपूर्व इस्लामी देशों और साम्यवादी देशों में जनतंत्रीय संसदीय प्रणाली अभी कई दृष्टियों से पूर्ण विकसित नहीं है। इस वैश्विक पृष्ठभूमि में हमारे लिए 'नन-डेमोक्रेसी' की ओर बढ़ना उचित नहीं है। गरीबों को जनतंत्र के जरिये राजनीतिक शक्ति हासिल हो सकती है और राजनीतिक शक्ति के बिना चिरकाल से आती हुई गरीबी को दूर नहीं किया जा सकता है। आज का जमाना 'पावर थ्रू पार्टिसिपेशन' का है। अतः गरीबों के उत्थान के लिए जनतंत्रात्मक पद्धति के सहारे सत्ता में भागीदारी आवश्यक है। साथ ही, बहुवर्णी या 'प्लूरल' समाज की विविधता को बचाए रखने के लिए जनतंत्र से बेहतर कोई अन्य विकल्प नहीं है। कारण, जनतंत्र राजनीतिक व्यवस्था का 'मज्झिम निकाय' है, जिसमें विभिन्न मतों के बीच नमनीय समायोजन की क्षमता (accomodating capacity) सर्वाधिक है।

'आज' को कोसने और बीते 'कल' का गुणगान करने से हमारा काम चलने को नहीं है। शायद, मुद्दे की राजनीति माहौल को बदल सकती है। तभी आज की धुँधली, 'ओपेक' और गड्डमड्ड (messy) राजनीति आने वाले दिनों में पारदर्शी और साफ-सुथरी हो सकती है। यदि हम सर्वसमावेशी विकास, रोजगारों का सृजन, महँगाई पर नियंत्रण, गरीबी और असमानता का विनाश, आतंकवाद का मुकाबला, शिक्षा का स्तरोन्नयन, राष्ट्रीय सुरक्षा और राष्ट्र की संप्रभुता का सुदृढ़ीकरण, भ्रष्टाचार का निषेध इत्यादि जैसे मुद्दों को अपनी चुनावी राजनीति का वास्तविक मुद्दा बना सकें, तो बिगड़ी हुई बात बन सकती है। हमें स्वीकार करना होगा कि शहरों में ही नहीं, ग्रामीण इलाकों में भी खुशहाली लाने वाले कई परिवर्तन आए दिनों हुए हैं–सड़क, मोबाइल और अन्य संयोजकों, 'कनेक्टिविटी' के कारण गाँवों तथा शहरों की दूरियाँ घटी हैं। साथ ही, पंचायती राज ने समाज के चक्के को निचले हिस्से को ऊपर आने का मौका दिया है और सुदूर गाँवों में शिक्षा के प्रति भी रुझान बढ़ा है। सन् 1940-42 ईस्वी तक जिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गाँवों में पगडंडियाँ थीं और जिनके आजू-बाजू से ऊबड़-खाबड़ कच्ची सड़कें गुजरती थीं, वहाँ अब टमटम, रिक्शा, ऑटो और बसें चलती हैं। यह नया लक्षण अवश्य ही चिन्ता का विषय है कि अब 'विकास' पर भी, सच्चर कमीशन की अनुशंसाओं के सन्दर्भ में, साम्प्रदायिक दृष्टि से विचार किया जाने लगा है; जबकि 'विकास' का मुद्दा धर्म-सम्प्रदाय से ऊपर का विषय है और वह तत्त्वतः 'सर्वसमावेशी' है।

आज के राजनीतिक परिदृश्य में कितना अच्छा होता कि जातीय समीकरण और क्षेत्रीय उमंग को महत्त्व देने वाले राजनीतिक दल 'विचार-धारा' के महत्त्व को भी समझते, वामपंथी 'विचारधारा' वाले दल अपने अन्तर्राष्ट्रीय सुर में कुछ राष्ट्रीय स्वरों को भी प्रवेश देते, दक्षिणपंथी विचारधारा वाले राजनीतिक दल अल्पसंख्यकों और अकुलीनों की भी सुध लेते, वंशवादी और परिवारवादी नए-पुराने राजनीतिक दल अपनी पार्टी के आन्तरिक जनतंत्र को जीवित कर पाते, धर्मनिरपेक्षता (अल्पसंख्यकतावाद या नकली धर्मनिरपेक्षता!) की अंधाधुंध तान छेड़ने वाले राजनीतिक दल बहुसंख्यकों के हित का भी ध्यान रखते, 'प्रतिबद्ध बुद्धिजीवी' 'पब्लिक इन्टेलेक्चुअल' बनने की कोशिश करते और हमारे नेता केवल 'वोट बैंक' को ध्यान में रखकर राष्ट्रीय समस्याओं पर बोलते समय स्पष्टवादिता से दूर नहीं भागते। भारत जैसे विशाल देश को 'खरगोशों का देश' बनाना उचित नहीं है।

यह तो आसानी से जुड़ने वाले और क्षण भर में टूटने वाले गठबन्धनों का दौर है। पहले राजनीतिक दलों का गँठजोड़ होता था और संविद् सरकारें बनती थीं। अब राजनीतिक दलों के गँठजोड़ से 'मोर्चे' बनते हैं और मोर्चों के मेल से मिली-जुली सरकारें बनती हैं। सत्ता का एक अनार और सत्ता के भूखे सौ बीमार! यही तो है आज की राजनीति, खासकर चुनावी राजनीति। एक ओर 'वोटगर्दी' और दूसरी ओर 'दहशतगर्दी'! एक साथ कितने सवालिया निशान अँगूठे के बल उचकर कर खड़े हो गए हैं! अभी तो चुनाव के पहले का (प्रि-पोल) तालमेल चल रहा है। देखिए, चुनाव के बाद (पोस्ट-पोल) के तालमेल का नजारा कैसा बनता है? नजारा कैसा भी बने, 'न्यूनतम साझा कार्यक्रम' (मिनिमम कॉमन प्रोग्राम) और 'आम सहमति' (कॅन्सेन्सस) के आधार पर 'मज्झिम निकाय' जनतंत्र हमारे देश के रथ को आगे बढ़ा ही सकता है।

जनादेश, 2009 के निहितार्थ

क्षेत्र-बहुल, धर्म-बहुल, भाषा-बहुल, संस्कृति-बहुल, दल-बहुल और जाति-बहुल भारत जैसे विशाल देश के जनतंत्र के जनादेश के आशय को—उसके सभी प्रमुख और गौण पक्षों को समझना या आकलित करना आसान काम नहीं है। जनादेश, 2009 के भी निहितार्थ अनेक हैं : प्रमुख, स्थूल, गौण और सूक्षम, जिनकी विवेचना—छिटपुट ही सही—आवश्यक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसा प्रतीत होता है कि अब केवल जाति या धर्म और वर्ग या क्षेत्र-विशेष के नाम पर यानी 'पहचान' (आइडेन्टिटी) की राजनीति के बल पर किसी राजनीतिक दल या व्यक्ति को वोट नहीं मिल सकता। पहचान (आइडेन्टिटी) के साथ ही 'विचारधारा' (आइडियोलॉजी) और सुनिश्चित कार्यक्रम की घोषणा (मैनिफेस्टो) भी चाहिए। इस तरह निर्वाचन में जीत के लिए ये तीन कारक आवश्यक हैं— पहचान, विचारधारा और घोषित कार्यक्रम या कार्य-नीति।

दूसरी बात यह है कि भारत का जन-मानस ध्रुवान्तों की राजनीति के पक्ष में नहीं दीख पड़ता। वर्तमान जनादेश ने दोनों ध्रुवान्तों—दक्षिण-पन्थी ध्रुवान्त और वामपन्थी ध्रुवान्त—को नकार दिया है। भाजपा को मोदी-वरुण जैसे कारक ने घाटे में डाल दिया और वामदल को करात-नन्दीग्राम-सिंगूर-लालगढ़ जैसे कारक ने घाटे में डाल दिया। शायद, धर्म-निरपेक्षता की छवि वाला कोई मध्यममार्गी राजनीतिक दल ही भारतीय मानसिकता को, जो स्वभावतः 'पैसिव' और 'सहिष्णु' (to lerant) है, स्वीकार हो सकता है। इस देश के विभाजन के इतिहास ने और उससे पूर्व भी भारत में इस्लाम और ईसाई शासन के आगमन के इतिहास ने यह साबित कर दिया है कि हिन्दू मानसिकता (जो भारतीय मानसिकता का बहुत बड़ा अंश है) दब्बू और अदूरदर्शी होती है। स्वतंत्रता-संघर्ष और स्वतंत्रता प्राप्ति के महाजागरण-काल में भी कट्टर मुस्लिम लीग ने इस देश को खण्डित कर 'पाकिस्तान' पा लिया। देश की आन्तरिक केन्द्रीय राजनीति में अब मुसलमान वोटरों की ताकत निर्णायक महत्त्व रखती है। जनादेश, 2009 के फलाफल के बारीक विश्लेषण से यह बात प्रकट होती है। पश्चिम बंगाल में मुसलमान वोटरों ने माकपा को भारी झटका दिया, उत्तर प्रदेश में कल्याण सिंह 'फैक्टर' और आजम खाँ 'फैक्टर' के कारण सपा से टूटे मुस्लिम मतदाताओं ने सपा को दूलत्ती देकर कांग्रेस को (कई सीटों पर) जिता दिया तथा इस देश की अंदरूनी इस्लामी ताकत ने, भीतर ही भीतर एकजुट होकर, केन्द्र में भाजपा को सत्ता पर काबिज नहीं होने दिया।

तीसरी बात यह कि जनादेश ने 'पद-धारण की सततता का विरोध' (Anti-incumbency) वाले कारक को भी नकार दिया है, जिसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है।

चौथी बात यह कि जातीय समीकरण पर चलने वाले राजनीतिक दलों को उसी जाति-विशेष ने नकार कर यह बतला दिया है कि हमारी जाति (जाति-विशेष) के हितों के ठीकेदार केवल तुम्हीं नहीं हो और न तुम उस जाति-विशेष के एकमात्र प्रतिनिधि या नेता हो। शायद, सर्वहारा वर्ग ने विशेषकर हिन्दू-उर्दू-पटट्री के गरीबों और वंचितों ने भी वामदलों के इस भ्रम को तोड़ा है कि केवल वामदल ही उनके शुभचिन्तक हैं और वे उन वामदलों का झण्डा-पताका-डंडा पिछलग्गू खबास की तरह सब दिन ढोते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहेंगे। अब केवल 'डोग्मा' (dogma) और 'रेटोरिक्स' से वामपंथी दलों का काम नहीं चल सकेगा।

कई विश्लेषकों की दृष्टि में भारत की वर्तमान राजनीति में वामदलों की उपयोगिता बनी हुई है। इसलिए उनकी दृष्टि में वामदलों का या वाम-लोकतांत्रिक ताकतों का संसद के मंच पर इतना क्षीण हो जाना भारत की राजनीति के लिए हितकर नहीं है। सार्थक विचार-विमर्श की उम्मीद इस देश के क्षेत्रीय राजनीतिक दलों, कुछ जातियों के समीकरण पर चलने वाले विचारधाराहीन दलों या दक्षिणपन्थी दलों से नहीं की जा सकती। ऐसे मुद्दों पर गहन विचार-विमर्श करने की क्षमता वामदलों के अलावा कांग्रेस को ही है।

पाँचवीं बात यह है कि यद्यपि जनादेश, 2009 दो ध्रुवीय राजनीति के पक्ष में अंशतः एक सकारात्मक जनादेश है, तथापि कांग्रेस की जीत को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर देखने का औचित्य नहीं है। इस जीत को बढ़ा-चढ़ाकर देखने वाली दृष्टि गजनिमीलिका से ग्रस्त दृष्टि ही मानी जाएगी। उसी तरह भाजपा की हार को भी बहुत बढ़ा-चढ़ाकर नहीं देखा जाना चाहिए और उस हार का ठीकरा भाजपा के किसी एक नेता के सिर पर नहीं फोड़ा जाना चाहिए। भाजपा के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी विचार-धारा की परिधियों को किंचित विस्तार करे और हमारे सामाजिक 'पिरामीड' के निचले हिस्से तक अपनी पहुँच को बढ़ाकर उसके विश्वास को तथा अल्पसंख्यकों के विश्वास को जीतने की कोशिश करे। बिहार राज्य में कांग्रेस कोई खास नई जमीन नहीं काट सकी। दो संसदीय निर्वाचन-क्षेत्रों में ही कांग्रेस की जीत हो सकी। कांग्रेस की जीत उन राज्यों, पश्चिम बंगाल और केरल जैसे राज्यों में अधिक हुई, जहाँ वामदलों का खासा असर था। ज्योति बसु और हरकिशन सिंह सुरजीत के अनुभवी ओर परिपक्व नेतृत्व के बाद करात-दम्पति, येचुरी-भट्टाचार्य जैसे मार्क्सवादी-साम्यवादी नेताओं की बेलचक जिद्दी राजनीति ने अन्य राज्यों के जन-मानस में कोई अच्छा प्रभाव पैदा नहीं किया। सी.पी.एम. के अलावा अन्य वामदल भी न तो समय रहते आपस में 'एका' कायम कर सके और न अपनी राजनीति को लोचदार बना सके। हाँ, उत्तर प्रदेश में कांग्रेस की जो अप्रत्याशित जीत 'संयोगवश' हुई है, उसके कई कारण टटोल और कयास में दीख पड़ते हैं। एक तो कांग्रेस के परिवार-विशेष के लोग अपने पक्ष में 'इमोशनल वोट्स' को मोड़ या बटोर सके। दूसरे, सपा को 'कल्याण सिंह-फैक्टर' और जयप्रदा-आजम खाँ विवाद के कारण अल्पसंख्यकों का अच्छा-खासा 'वोट' गँवाना पड़ा। 'कल्याण सिंह-फैक्टर' के कारण हुए सपा के इस नुकसान की भरपाई कल्याण सिंह के लोध वोटों से नहीं हो पाई। तीसरे, विगत दशकों में सत्ता से बेदखल जन्मना प्रज्ञ मतदाताओं (तथाकथित सर्वजन की ऊपरी परत) ने कांग्रेस के अलग (स्वतंत्र) चुनाव लड़ने के मौके का लाभ उठाया और चुपचाप सपा-बसपा से कन्नी कटाते हुए उन्होंने कांग्रेस के पक्ष में मतदान कर दिया। इस तरह सपा के 'प्लस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वोट' और बसपा के 'प्लस वोट' तथा 'एडिशनल प्लस वोट' कांग्रेस को मिल गये। साथ ही, अल्पसंख्यकों ने यह महसूस किया कि गैर-वामपन्थी दलों के बीच कांग्रेस ही एक मात्र ऐसी पार्टी है, जो अल्पसंख्यकों की असहिष्णुताओं को बर्दाश्त करती हुई उनके लिए सतत तुष्टीकरण की नीति अपना सकती है। तुष्टीकरण की दृष्टि से कांग्रेस को सर्वोत्तम पार्टी मानते हुए अल्पसंख्यक मतदाताओं ने कांग्रेस के हाथों में ही अपने को सुरक्षित समझा। विचारणीय है कि भारत को अमरीकी नीतियों का ग्रास बनने से कांग्रेस कहाँ तक बचा सकेगी? जिस 'आँधी', 'न्यूजवीक मैगजीन' के अनुसार 'खामोश क्रान्ति', की चर्चा को 'मीडिया' में सुनियोजित ढंग से उभारा जा रहा है, उस आँधी में न तो देश की युवा-शक्ति का 'वास्तविक उदय' है और न इस देश का 'लोकतांत्रिक उत्थान' है। इस युवा-शक्ति के उदय के छद्म वेश में वंशवादी राजनीति (माँ-बेटा, बाप-बेटी, बाप-बेटा, ससुर-दामाद इत्यादि) का अभ्युदय है। वंशवादी युवा अभिनय को, शायद, आम जनता समझती है। संसद में नाटकीय ढंग से चर्चित उड़ीसा की कलावती के संसदीय-क्षेत्र में कांग्रेस की जीत नहीं हुई। साथ ही, उस चर्चित आँधी में कुछ गर्दोगुबार भी है, जिससे इस देश की राष्ट्रीय सुरक्षा, संप्रभुता, पिछड़ों-दलितों की ताकत और सर्वहारा वर्ग की नई सुगबुगाहटें कुप्रभावित हो सकती हैं। यों भी कांग्रेस किसी बड़े मूलभूत सामाजिक परिवर्तन अथवा शक्तितंत्र के आधारगत संरचनात्मक अदल-बदल के पक्ष में, अपनी समझौतावादी अथवा मध्यममार्गी नीतियों के कारण, नहीं रहती है और मध्य विन्दु से सटे रहकर ही 'कॉस्मेटिक' परिवर्तनों के पक्ष में रहती है। ऐसा राजनीतिक दल जब सत्ता पाने के बाद किसी कॉर्पोरेट कम्पनी या निगमित निकाय की तरह किसी नौकरशाह (ब्यूरोक्रैट) को अपनी सरकार का प्रधान कार्यकारी पदाधिकारी (सी.ई.ओ.) बना देता है, तब यथास्थितिवाद या बहुत आहिस्ता परिवर्तन, मेढ़क तौलने की सततता और अमेरिका जैसी एकल महाशक्ति के दबाव की गिरफ्त में आ जाने की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं। यह स्थिति किसी स्वतंत्र-जनतंत्र या प्रभुसत्ता-सम्पन्न राष्ट्र के लिए हितकर नहीं होती। अब यहाँ प्रधान मंत्री, जवाहरलाल नेहरू या इन्दिरा गाँधी की तरह, अपने राजनीतिक दल का नीति-निर्द्धारक नेता नहीं होता; बल्कि वह केवल शासन-पक्ष के प्रधान कार्यकारी की तरह प्रधान मंत्री के पद को सँभालता है।

छठी बात यह है कि इस बार मतदाताओं के मतदान के विश्लेषण से और जनादेश, 2009 के निहितार्थों के विवेचन से यह भाषित होता है कि मतदाताओं ने शायद राष्ट्रीय महत्त्व के मुद्दों पर जैसे, बेरोजगारी, गैरबराबरी, पर्यावरण और पारस्थितिकी एवं जलवायु-परिवर्तन की समस्या, राष्ट्र की प्रभुसत्ता की सुरक्षा, ची-मेरिका और अफ-पाक नीति के दुष्प्रभावों से बचाव इत्यादि पर सोच-विचार.कर मतदान नहीं किया है। देश खतरनाक पड़ोसियों से घिर गया है। समचार-माध्यमों के अनुसार पाकिस्तान ने लगभग साठ न्यूक्लियर बमों से युक्त मिसाइल का रूख भारत की ओर कर दिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, चीन के सहयोग से पाकिस्तान नाभिकीय शक्ति-सम्पन्न देश बन गया है, स्वयं चीन को चार सौ से भी अधिक नाभिकीय 'वार-हेड्स' और कई अन्तर-महादेशीय बैलिस्टिक मिसाइल (आई.सी.बी.एम.) उपलब्ध हैं तथा उत्तर कोरिया भी पाकिस्तान के लिए 'न्यू टेक्नोलॉजी ट्रान्सफर' का पिछला दरवाजा खोले हुए है। इस प्रकार दक्षिण एशिया या दक्षिण-पूर्व एशिया का भौगोलिक सामरिक-समीकरण (जिऑस्ट्रैटेजिक इक्वेशन) भारत के हित के विरूद्ध हो गया है। बांग्ला देश भी अप्रकट रूप में उन आतंकवादी अभियानों के लिए 'हेलीपैड' का कार्य कर रहा है, जो भारत के विरूद्ध सीमापार से संचालित होते हैं। किन्तु, इन दुश्चिन्ताओं की कोई झलक वर्तमान जनादेश में नहीं मिलती है। आश्चर्य है कि राष्ट्र पर ऐसे खतरे इस मतदान के परिणामों को प्रभावित नहीं कर सके हैं। इसलिए विचारणीय है कि यह कैसे असावधान जनतंत्र की ओर हमारा रूझान है। राष्ट्र की प्रभुसत्ता की रक्षा के प्रति सावधानी तो मतदाताओं में होनी ही चाहिए।

सातवीं बात यह है कि जनादेश, 2009 के आधार पर बनी संसद में कुल 543 सांसदों के बीच करोड़पति सांसदों की संख्या लगभग तीन सौ हो गई है। राज्य सभा में भी करोड़पति सांसदों की संख्या काफी अच्छी है। इसलिए यह प्रश्न उठता है कि क्या हम जनतंत्र के नाम पर संसद के माध्यम से 'धनिकतंत्र' (Timocracy) की ओर तो नहीं बढ़ रहे हैं? गरीबों की बात दूर रही, अब लखपति नागरिक भी शायद भारतीय संसद में प्रवेश के लिए इतना व्ययसाध्य चुनाव नहीं लड़ सकता। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि संसद के माध्यम से इस देश की राजनीति पर गिने चुने परिवारों का कब्जा कायम होता जा रहा है और जनतंत्र की राजनीति विरासत की राजनीति बनती जा रही है। यह कैसा कुसंयोग है कि इस देश की राजनीति में, सिनेमा के क्षेत्र में और व्यापार-जगत में वंश, परिवार और विरासत के सोपान या वैसाखी का सहारा लिये बिना युवा-वर्ग आगे नहीं बढ़ पा रहा है? यह स्थिति देश की युवा-शक्ति, जनतंत्र और जन-हित के लिए घातक है।

आठवीं बात यह है कि मतदान के अल्प प्रतिशत के कारण इस मतदान के नतीजे सार्विक दृष्टि से असली और प्रमाणिक नहीं माने जा सकते। प्राप्त खबरों और आँकड़ों के अनुसार अधिकांश राज्यों में हर दस मतदाता में मुश्किल से छह मतदाताओं ने मतदान किया है और विजयी उम्मीदवारों की जीत कई निर्वाचन-क्षेत्रों में बहुत कम मतों से हुई है। यदि कम संख्या में मतदान करने वाले राज्यों में 80, 90 अथवा 95 प्रतिशत मतदान होता, तो उस मतदान का परिणाम इस परिणाम से निश्चय ही भिन्न और अधिक ग्राह्य होता। ऐसा प्रतीत होता है कि जब तक मतदान को मतदाताओं के लिए कानूनन बाध्यकारी नहीं बना दिया जाएगा, तब तक इस देश में सही प्रजातंत्र कायम नहीं हो सकेगा। यह प्रसन्नता की बात है कि आदिवासी-बहुल क्षेत्रों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसूचित जनजाति के मतदाताओं की सक्रियता बढ़ी है, जिसके फलस्वरूप उनके प्रतिनिधियों की सत्ता में भागीदारी बढ़ेगी।

कुल मिलाकर यह लोक-रंजक बात कहने की स्थिति नहीं बन पाती है कि इस देश के सभी मतदाता बहुत प्रबुद्ध हैं और वे आम तौर पर बहुत गहरी, वस्तुनिष्ठ, परिपक्व तथा बुद्धिमत्तापूर्ण समझ के साथ मतदान किया करते हैं।

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ

पुस्तकें

हिंदी में दक्षिण भारतीय साहित्य (अनूदित साहित्य के परिप्रेक्ष्य में), संपादकः डॉ. विजयराघव रेड्डी; प्रकाशकः अकादमिक प्रतिभा, 42, एकता अपार्टमेंट, गीता कालोनी, दिल्ली-110031(भारत), प्रथम संस्करणः 2008; पृष्ठः 216; मूल्यः 475 रुपये।

पत्रिकाएँ

नया परिदृश्य, समय-चेतना, विचार, संवाद, सृजन की पत्रिका; वर्ष-1 अंक-1, फरवरी, 2009; संपादकः ओमप्रकाश पाण्डेय, मुन्नालाल प्रसाद, अरुण होता; प्रकाशकः ओमप्रकाश पाण्डेय, गेट बाजार (न्यू जलपाई गुड़ी) पो. भक्तिनगर, सिलीगुड़ी (प. बंगाल); पृष्ठः 144; मूल्यः 30 रुपये।

सुमन सागर, वर्षः 7 अंकः 20-22; मार्च, जून, सितम्बर, दिसम्बर में प्रकाशित; प्रधान संपादकः श्याम बिहारी आलोक; प्रकाशकः विनीता भवन, कांजीचक, बाढ़-803213, पटना (बिहार); पृष्ठः 24; मूल्यः 5 रुपये।

पिनाक, साहित्य एवं संस्कृति की त्रैमासिकी; वर्षः 2 अंकः 2 पूर्णांकः 6 अक्टूबर-दिसम्बर 2008; संपादकः शत्रुघ्न प्रसाद, प्रकाशक एवं मुद्रक शत्रुघ्न प्रसाद द्वारा निहारिका इंटरप्राइजेज, लंगर टोली, पटना से मुद्रित एवं त्रिपाठी भवन, राजेन्द्र नगर, पथ सं. 13-ए, पटना-800096 से प्रकाशित; पृष्ठः 88; मूल्यः 15 रुपये।

यू.एस.एम. पत्रिका मई-जून 2009; (संयुक्तांक) वर्ष 6 : अंक 8; संपादकः उमाशंकर मिश्र, स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक; उमाशंकर मिश्र, 695, न्यू कोट गांव तेजाब मिल, जी.टी. रोड, गाजियाबाद से प्रकाशित; पृष्ठः 48; मूल्यः 17 रुपये।

होरी-2 (अनियतकालीन) जून 2009; सम्पादकः राजकूमार सचान 'होरी'; स्वामी, मुद्रक व प्रकाशकः डॉ. सौरभ राज सचान, सी-245, सेक्टर-63, नोएडा (उ.प्र); पृष्ठः 128; मूल्यः 25 रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूफीवाद: दर्शन और राजनीति

शंकर शरण*

इस लोक सभा चुनाव में 'सैक्यूलर दलों और उम्मीदवारों' को जिताने के लिए देश भर में सूफी सन्तों की एक यात्रा सम्पन्न हुई। नाम था सनातन सन्त सूफी यात्रा। इसका नेतृत्व अजमेर स्थित वर्ल्ड सूफी काउंसिल के चेयरमैन सैयद मुहम्मद जिलानी ने किया। उनके साथ सूफी दरगाह, राउरकेला, शेख हारून राशिद दरगाह, बड़ौदा, और सैयद यासीन शाह बुखारी की दरगाह, हैदराबाद के सूफी थे। साथ में अयोध्या के एक महन्त जन्मेजय शरण महाराज समेत कुछ हिन्दू भी। विगत 8 से 23 अप्रैल के बीच हुई इस यात्रा में सूफी नेताओं ने दिल्ली, हैदराबाद, भोपाल, वाराणसी, पटना, बंगलौर, राँची, लखनऊ, इलाहाबाद, अहमदाबाद, जयपुर, गौहाटी आदि शहर जाकर संदेश दिया।

यह सूफी सन्त यात्रा कई अर्थ में अनोखी थी, यद्यपि पहली नहीं। अपनी सभी प्रेस कांफ्रेंसों में उन्होंने दुहराया कि वे उन दलों और नेताओं का विरोध करेंगे "जो देश की सेक्यूलर सरंचना को नहीं समझते", जो "धार्मिक उग्रवाद फैलाते हैं", तथा "धर्म के नाम पर लोगों को बाँटते हैं"[1] सूफी सैयद साहब के अनुसार 'इस्लाम और सनातन धर्म की विकृत व्याख्या करने वाले साम्प्रदायिक सौहार्द बिगाड़ते हैं। सहनशीलता, भाईचारा और वसुधैव कुटुम्बकम् को कुछ शैतानी ताकतें तहस-नहस करने में लगी हैं। इसलिए वे ऐसे राजनीतिकों से सावधान रहने को कह रहे हैं जो जहरीले भाषण देकर देश की सामुदायिक शान्ति भंग करते हैं।

किन्तु दिलचस्प यह कि इस सूफी यात्रा में नाम लेकर केवल बी.जे.पी की निन्दा की गई। इन्होंने मात्र बी.जे.पी. से लोगों को सावधान किया जो 'धर्म को राजनीति से जोड़कर' राजनीतिक लाभ उठाने की कोशिश कर रही है[2]। यद्यपि उन्होंने बी.जे.पी के चुनावी मुद्दे, आवाहन, चुनाव घोषणापत्र, किसी बड़े नेता के भाषण आदि किसी चीज का उल्लेख नहीं किया जिससे पता चलता हो कि यह पार्टी अपने किस

* IV/28, एन.सी.ई.आर.टी. आवास, नसीरपुर रोड, द्वारका, नई दिल्ली 110045, bauraha@gmail.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नारे, घोषणा या वादे से 'धर्म को राजनीति से जोड़' रही है। किसी भी तरह परखें तो बी.जे.पी. ने यह सुकर्म करने का साहस नहीं दिखाया हैं।

लेकिन सूफी सैयद साहब की समझ से ही देखें, तो देश में विभिन्न स्थानों से यही चुनाव लड़ रही ऑल इंडिया इत्तेहादे मिल्लत काउंसिल, ऑल इंडिया मुस्लिम लीग, पी.डी.पी., उलेमा काउंसिल जैसी अनेक जमातें क्या कर रही हैं? उस से भी गम्भीर प्रश्न यह कि 'मजहबी उग्रवाद फैलाने' में तबलीगी जमात, स्टूडेन्ट इस्लामिक मूवमेन्ट ऑफ इंडिया, इंडियन मुजाहिदीन, जमाते इस्लामी, देवबन्दी मदरसे आदि की क्या भूमिका है? शायद कुछ नहीं! इसलिए सूफी साहबान ने इन संगठनी का नाम नहीं लिया, न इन से लोगों को सावधान किया। अर्थात् उनकी बुद्धि से सेक्यूलर संरचना को कट्टर इस्लामपंथियों, जिहादी उग्रवादियों से कोई खतरा नहीं। जो है सो केवल बी.जे.पी. से। इसलिए इस यात्रा को मुस्लिम बेबसाइटों पर काफी जगह मिली। या फिर स्वनाम-धन्य टाइम्स ऑफ इंडिया में, जिसने वाराणसी, बंगलौर आदि कई शहरों से इस यात्रा की रिपोर्ट छापी। दरअसल, भारत में 'सेक्यूलर' का अर्थ सब समझते हैं। इसलिए इस की अपील होते ही फिर कुछ बताने की जरूरत नहीं रह जाती। आधुनिक, प्रगतिशील और सेक्यूलरपंथी हिन्दू तो 'सूफी' शब्द सुनते ही तुरन्त मोहित हो उठता है। वह न तो सूफी इतिहास जानता है, न वर्तमान। किन्तु इस के प्रति उस में एक अन्धविश्वासी श्रद्धा है।[3] हमारे अधिकांश पत्रकार इसी श्रेणी के होते हैं।

इसीलिए उन्होंने इस यात्रा के सूफियों से कोई आवश्यक या गम्भीर प्रश्न नहीं पूछा। जैसे, सूफियों को सर्वोच्च स्तर की राजनीति में इतनी दिलचस्पी क्यों? ये 'वर्ल्ड सूफी काउंसिल' क्या किसी और देश में भी सेक्यूलर नेताओं, दलों को जिताने की अपील करती है, या यह इज्जत सिर्फ भारत को बख्शी है? ईरान, पाकिस्तान, बंगला देश, सउदी अरब, इंडोनेशिया, मलेसिया, मोरक्को आदि देशों में भी चुनाव होते हैं, सूफी उन देशों को मजहबी नेताओं, मजहबी उग्रवाद आदि से बचाने की चिन्ता करते हैं क्या? सेक्यूलरिज्म केवल भारत के लिए मुफीद क्यों और एक मात्र तुर्की को छोड़कर विश्व के शेष सभी 56 मुस्लिम देशों को इसकी कोई जरूरत क्यों नहीं है? फिर, यदि सूफी यात्रा के प्रतिनिधि सहिष्णुता और मानवीयता के हामी हैं तो क्या शरीयत के आदेश सहनशील और मानवतावादी हैं? अथवा वह इस्लाम की विकृत व्याख्या है? यदि नहीं तो सेक्यूलर राजनीति से शरीयत का सम्बन्ध क्या है? ऐसे अनेक प्रश्न न केवल इस चुनाव-यात्रा प्रसंग में सटीक थे, बल्कि इस सूफी अभियान को समझने के लिए भी प्रासंगिक थे। इन प्रश्नों के सूफी उत्तर में हरेक भारतीय की गहरी रुचि है। पर ऐसे प्रश्न कभी नहीं पूछे जाते।

क्योंकि तब असुविधाजनक स्थिति पैदा हो जाएगी। औलिया के लिबास में छिपी इस्लामी राजनीति तुरत सामने आ जाएगी। मीडिया में जानकर लोगों को उफ्त प्रश्नों के उत्तर मालूम हैं। किन्तु उसे व्यक्त करने के बदले छिपाना राजनीतिक फैशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। वस्तुतः जिन्हें उत्तर मालूम नहीं, उनकी संख्या बहुत बड़ी है। उन्हीं के लिए ऐसी सूफी यात्राएँ निकाली जाती हैं। पहले भी निकाली गई थीं। तब भी संदेश यही था। बीजेपी को हराओ। वस्तुतः भारतीय राजनीति में इस दल को हराने के लिए हर तरीका जायज माना जाता है। चूँकि हिन्दुओं में सूफियों के प्रति एकांगी धारणा फैली हुई है, इसलिए बीजेपी को हराने में इसका भी उपयोग है।

इस्लाम में राजनीति आरम्भ से ही अभिन्न रही है—दीन व दौला जहाँ तक सूफी मुस्लिमों की बात है, तो उनका इतिहास विशेषकर दारुल-हर्ब की राजनीति से जुड़ा रहा है। इसीलिए, भारत में सूफी सक्रियता इस्लाम में प्रभुत्व की सीमाओं पर ही अधिक मिलती है। अर्थात् जहाँ अभी तक इस्लामी प्रभुत्व कायम नहीं हुआ, वहाँ भी इस्लाम का 'नूर' फैले, यही सूफियों का मुख्य मकसद था। इसके लिए अनेक सूफियों ने जिहाद कर खूनी लड़ाइयाँ भी की हैं। कर्नाटक और महाराष्ट्र में ऐसे अनेक सूफियों की दास्तानें सर्वविदित हैं। गुलबर्गा में तेरहवीं सदी के एक सूफी सैयद हुसम अल-दीन तेग बरान्हा के तो नाम में ही तेग बरान्हा यानी 'नंगी तलवार' जुड़ा हुआ है, जो वे हाथ में लिए चलते थे।[4] मुहम्मद इब्राहीम जुबैरी द्वारा संकलित *रॉजत-अल-औलिया*[5] तथा अब्दुल जब्बार मल्कापुरी द्वारा दो खण्डों में संकलित *तजकिरा-ए-औलिया-ए-दकन* (हैदराबाद, 1912-13) में ऐसे अनेक सूफियों की जीवनियाँ मिलती हैं।

प्रायः सूफी प्रयास इस्लामी विस्तारवाद के सचेत अंग रहे हैं। यहाँ अधिकांश सूफी अरब या मध्य एशिया से आते थे। प्रायः वे किसी नए इलाके पर कब्जे को जाने वाली इस्लामी सेनाओं के साथ जाते थे और लड़ाइयाँ लड़ते थे। जैसे, प्रसिद्ध पीर मबारी खन्दायत। वे दिल्ली से अल्लाउद्दीन खिजली की सेनाओं के साथ दक्षिण गए थे और बीजापुर पर नियन्त्रण करने में बड़ी भूमिका निभाई थी। इस्लामी इतिहास में खन्दायत की ख्याति बड़े जिहादी लड़ाके की है। इसीलिए अनातोलिया से लेकर अफगानिस्तान तक, ऐसे कई सूफी एक साथ *गाजी* (जिहादी लड़ाई करने वाले) और *औलिया* दोनों कहलाते थे। 'गाजी-बाबा' शब्द का चलन उसी से हुआ जो आज भी तालिबानों के बीच चलता है। इसी प्रकार, दक्षिण-पश्चिमी भारत में मशहूर शेख सूफी सरमस्त की ख्याति अपने चुने हुए लड़कों के साथ सैनिक अभियान चलाकर हिन्दू राजाओं के खात्मों की ही है।[6] सूफी सरमस्त अरब से आए थे। शेख अली पहलवान, शेख शाहिद, पीर जुमना आदि जैसे इस तरह के कई अन्य सूफी थे।

रिचर्ड ईटन की प्रसिद्ध पुस्तक *सूफीज ऑफ बीजापुर* (प्रिंसटन, 1978) में उस क्षेत्र के सूफियों का चार शताब्दी का विस्तृत वर्णन है। इसमें 'लड़के सूफियों' पर एक पूरा अध्याय है[7]। ईटन के अनुसार सूफियों के बारे में शान्ति-प्रेमी ईश्वरभक्त होने की सामान्य धारणा गलत है। दक्षिण भारत की ओर जाने वाले पहले सूफी जिहादी लड़ाके ही थे। तब उत्तर भारत जहाँ दिल्ली सल्तनत का राज था, वहाँ उनकी भूमिका समझी जा सकती है। ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती भी मध्य एशिया से शहाबुद्दीन गोरी के सैन्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आक्रमण के साथ ही (1190-1192ई.) अजमेर आए थे। उनके बीच सहयोग पूर्ण सम्बन्ध थे। इस्लामी स्रोतों के अनुसार चिश्ती के सहयोग से ही शहाबुद्दीन गोरी को पृथ्वीराज चौहान को अंततः हराने और मार डालने में मदद मिली थी।[8] स्वयं मोइनुद्दीन चिश्ती के शब्दों में, ''हमने पिथौरा (पृथ्वीराज चौहान) को जीवित पकड़ा और उसे इस्लामी सेना के सुपर्द कर दिया।''[9]

दक्षिण भारत इस्लामी प्रभुत्व में नहीं था। इसलिए वहाँ, ईटन के अनुसार, ''दारुल हर्ब की राजनीतिक पृष्ठभूमि में ये सूफी प्रायः जिहाद लड़ते हुए, मुश्किल स्थितियों में भी अनगिनत काफिरों का कत्ल करते हुए, और इस प्रक्रिया में खुद भी मारे जाते और शहीद होते मिलते हैं।''[10] कई लड़ाके सूफी अजमेर वाले मोईनुद्दीन चिश्ती और उनके ही शागिर्द, और उनके शागिर्दों, जैसे निजामुद्दीन चिश्ती, के शागिर्द थे। ऐसा भी हुआ कि सैनिक लड़ाई में भारी सफलता पाए सरदार को भी सूफी का दर्जा देकर किंवंदितयाँ जोड़ दी गईं। किन्तु सभी मामलों में सूफियों की किसी आध्यात्मिक उपलब्धि का जिक्र खोजे नहीं मिलता। तमाम ख्याति 'काफिरों को इस्लाम तले लाने' में सफलता की ही नोट की गई है। चाहे वह जैसे हो। बहला-फुसला कर, फरेब से या तलवार से। इसीलिए पीर-मुरीद का सम्बन्ध कई बार सीधे कमाण्डर-सैनिक जैसा ही होता था।

सूफियों की राजनीतिक भूमिका मुख्यतः इस्लाम का प्रभुत्व फैलाने की, दारुल-हर्ब को दारुल-इस्लाम में बदलने की रही है। यह इससे भी स्पष्ट होता है कि जिस इलाके में इस्लामी राज पूरी तरह जम चुका हो, वहाँ से वे चले भी चले भी जाते थे। ईटन के शब्दों में, ''जिस क्षेत्र में इस्लाम का राजनीतिक दबदबा पूरी तरह कायम हो चुका, वहाँ उनकी जरूरत नहीं रह जाती थी।''[11] शायद इसी तर्क से हम भारत के लोकसभा चुनाव में 'वर्ल्ड सूफी काउंसिल' की सक्रियता को ठीक-ठीक समझ सकते हैं, जो ईरान या अफगानिस्तान जाकर सेक्यूलरिज्म की जीत सुनिश्चित करने की जरूरत नहीं महसूस करती।

2

हिन्दुओं में समन्वय शब्द के प्रति जबर्दस्त मोह है। इस मोह का यहाँ सेक्यूलर-वामपंथी लेखकों, प्रचारकों ने जम कर दुरुपयोग किया है। इसी संदर्भ में सूफीवाद के प्रति फैली इस नितांत भ्रामक धारणा को समझा जा सकता है कि यह इस्लाम और हिन्दू धर्म के समन्वय का प्रतीक है। यह प्रचार हिन्दुओं की समन्वयवादी भावना का दुरुपयोग करने के लिए किया गया है, यह इससे भी स्पष्ट है कि सूफीवाद के बारे में ऐसा प्रचार केवल भारत में किया जाता है। अरब या यूरोपीय लेखन में यह बात कहीं नहीं मिलेगी। सच यह है कि दुनिया के और यहाँ के भी सबसे बड़े सूफियों ने इसे बार-बार दुहराया है कि सूफीवाद इस्लाम के अधीन है और सरीयत को सर्वोपरि मानता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अल जुनैद बगदादी (830-910 ई.) सूफीवाद के एक बड़े प्रणेता थे। उन्हें शेख-उल-राह जैसी बड़ी-बड़ी उपाधियों से याद किया जाता है। उन्होंने जोर देकर, दो टूक कहा था कि सूफियों के रहस्यवादी रास्ते पर मनमानी बातें कहने, करने की छूट नहीं है। उनके शब्दों में, "जो खूदा के पैगम्बर (मुहम्मद) के मार्ग पर चलता हो, उसके सिवा सभी रहस्यवादी रास्ते निषिद्ध हैं।" सूफीवाद के सभी बड़े सिद्धान्तकारों ने यही दुहराया। उदाहरण के लिए, ग्याहरवीं सदी के अल हुजवीरी तथा अल गजाली, दोनों ने बताया कि इस्लाम के आंतरिक और बाह्य पक्षों में भेद नहीं दिखना चाहिए, तथा सभी पक्षों को हर हाल में पैगम्बर के इलहाम से स्थापित खुदाई कानून, यानी शरीयत के अधीन रहना चाहिए।

अल हुजवीरी ने सत्य, यथार्थ और कानून की जो परिभाषा दी, वह सूफियों की चर्चा करते हुए सदैव याद रखने लायक है। उनके शब्दों में, "ये शब्द कि अल्लाह के सिवा कोई ईश्वर नहीं है ही सत्य है, और ये शब्द कि मुहम्मद अल्लाह का दूत हैं ही कानून है।"[12] उन्हीं का कथन यह भी है : "किसी गैर-मुस्लिम को कभी सम्मान से नहीं देखा जा सकता, क्योंकि दो विपरीत कभी नहीं मिल सकते।" और "अल्लाह ने मुसलमानों को सभी दूसरों से ऊँचा बनाया है और मुहम्मद के मजहब को बचाने का कौल दिया है।"[13] अल हुजवीरी ने गैर-मुस्लिमों के विरुद्ध जिहाद की लड़ाई को भी बड़ा ऊँचा स्थान दिया। उनके अनुसार, "कोई भी सूफी, यहाँ तक कि सबसे पहुँचा हुआ सूफी भी मजहबी कानून (शरीयत) के पालन के कर्तव्य से मुक्त नहीं हो सकता"[14], कि "जो रहस्यवादी रास्ते पर चलने के नाम पर शरीयत की उपेक्षा करे वह इस्लाम से भटकाव"[15] है, कि "शरीयत का पालन किए बगैर हकीकत को कायम नहीं रखा जा सकता। दोनों के आपसी सम्बन्ध शरीर और रूह जैसे हैं।"[16] शेख अबू मुहम्मद अल-तुस्तारी ने "बहुदेववाद" को इस्लाम की अस्वीकृति[17] और इसलिए अपराध माना था। ऐसे विचार बार-बार अनेक बड़े-बड़े सूफियों द्वारा स्वयं व्यक्त किए गए हैं। इस प्रकार, सूफीवाद का मूल विश्वास इस्लाम के अधीन है।

अतः सूफी मत को किसी इस्लामेतर मत से समन्वय के रूप में देखना नितान्त दोषपूर्ण है। जबकि इसके बारे में ठीक यही बात—समन्वय और सहिष्णुता—भारत में प्रचलित की गई है। बल्कि सूफीवाद का केंद्रीय महत्त्व ही इसी में बताया जाता है। जो भ्रम यहाँ फैले हुए हैं, उसका एक रूप और है। सूफीवाद को इस्लाम का एक तरीका मानने वाले भी इसमें तरह-तरह के मनोहारी विचार भर देते हैं, जिनका वास्तविक सूफी मत, इतिहास और व्यवहार में कोई स्थान नहीं मिलता। ऐसे लोग मानो उपनिषद् के सारे ज्ञान और भगवान बुद्ध के विचारों को भी कुरान और हदीस में मिलता बता देते हैं। इस तरह, समन्वयवादी और इस्लामी दोनों ही रूपों में सूफीवाद के बारे में भारत में कई मिथ्या धारणाएँ ही सर्वाधिक प्रचारित हुई हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूफीवाद को इस्लाम का मूल तत्त्व बताना भी सत्य-संगत नहीं है। यदि भारत में कुछ लोग सूफीवाद को किसी उच्च दर्शन और ईश्वर से सीधे साक्षात्कार के रहस्य मार्ग के रूप में दिखाते हैं तो यह अज्ञान से लेकर धूर्त्तता तक कई कारणों से होता है। इसका एक संकेत तो इसी से मिलता है कि ऐसी बातों का प्रचार-प्रसार सदैव गैर-मुस्लिम देशों में होता है। क्या यह विचित्र नहीं कि इस्लामी वर्चस्व वाले दर्जनों देशों में, जहाँ इस्लामी अध्ययन, शिक्षण की पूरी परम्परा और बड़े विस्तृत इल्मी मरकज, मदरसे हों वहाँ कोई सूफीवाद के बारे में वैसी मनोहारी बातें न कहे, जो भारत जैसे देश में कही जाती है?

उदाहरण के लिए, सादिया देहलवी ने अपनी सद्यः प्रकाशित पुस्तक *सूफीज्मः द हर्ट ऑफ इस्लाम* में यही सब कहने की कोशिश की है। यह लगभग एक नियम है कि किसी विषय पर मुस्लिम विद्वानों द्वारा गैर-मुस्लिम देशों में एक बात कही जाती है, और मुस्लिम देशों में दूसरी बात। चाहे विषय धर्म, दर्शन, राजनीति, इतिहास, कुछ भी क्यों न हो। यह इस्लाम के राजनीति से अभिन्न सम्बन्ध (*दीन-व-दौला*) के कारण होता है। सूफीवाद की चर्चा भी यह दोहरा रूप रखती है। यह इस्लाम के प्रति गैर-मुस्लिमों को भरमाने के उद्देश्य से होता है (यदि प्रस्तुतकर्ता किसी उदार गैर-इस्लामी समाज में रहते-रहते इस्लाम के प्रति स्वयं भ्रमित न हो तो)। सादिया को ही लें। उनके अनुसार, "इस्लाम धैर्य, प्रेम, कला और सहिष्णुता से सम्बन्धित है"।[18] वह ऐसी ही बहुत सी मधुर बातें कहती हैं। जबकि इस्लाम की मोटी जानकारी रखने वाला भी जानता है कि नृत्य, संगीत, चित्र आदि पूरी कला ही इस्लाम में निषिद्ध है। उसे 'कुफ्र' कहा गया है। भारत में भी असंख्य मदरसों में वर्णमाला पढ़ाते हुए ही मुस्लिम बच्चों को कला के प्रति इस्लामी आदेश से आगाह कराया जाता है। उदाहरणार्थ, पश्चिम बंगाल में बरुआ रहमानी अहले हदीस एजुकेशन सोसाइटी के तमाम मदरसों में वर्णमाला की पुस्तक में 'ढ' अक्षर के लिए प्रयोग रूप में यह वाक्य हैः "ढोल ताबला ए खोदार लानत" यानी ढोल और तबले पर खुदा की लानत है![19]

तो क्या यह मदरसे गलत हैं और सादिया देहलवी सही हैं? जी नहीं। इस्लाम के बारे में मदरसे सही शिक्षा दे रहे हैं। पूरे अरब विश्व पर नजर दौड़ाएँ। वह संगीत, नृत्य, चित्रकला आदि सभी कलाओं में लगभग कोरा है। वहाँ संगीत या फिल्म-उद्योग नाम की चीज ही नहीं। क्योंकि चित्र बनाना, चित्र खींचना ही गुनाह है! हदीसों में इसके अनेक निर्देश हैं। इसीलिए वर्तमान में भी अयातुल्ला खुमैनी से लेकर देवबन्द तक, अनेक आधिकारिक उलेमा नृत्य, संगीत, चित्र, फिल्म आदि कला के सभी रूपों के प्रति कठोर फतवे भी देते रहे हैं। हाल में इस्लामाबाद की प्रसिद्ध लाल मस्जिद के मौलाना अब्दुल अजीज ने पाकिस्तानी युवाओं को धमकाया था कि "जो लोग नाच-गाना पसन्द करते हैं, वे भारत चले जाएँ", क्योंकि यदि पाकिस्तान में रहना हो तो "शरियत या शहादत" में से एक चुनना पड़ेगा। भारत में भी दारुल उलूम, देवबन्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विचार ऐसे ही हैं। यह विश्व का दूसरा सबसे बड़ा इस्लामी इल्म केन्द्र कहा जाता है। इसलिए इसके निर्देश का सैद्धान्तिक महत्त्व गम्भीरता से लेना चाहिए। इसके रेसिडेन्ट मुफ्ती ने दो वर्ष पहले फतवा दिया था कि "अपने पास की सभी तस्वीरें जला दो। दूसरों के पास भी जो तस्वीरें हैं, उन्हें भी लेकर जला दो"। हाल में देवबन्द के ही मुफ्ती मोहतमिम फजलुर्रहमान हिलाल उस्मानी ने संगीत के खिलाफ भी फतवा जारी किया। उनके अनुसार, "संगीत की इस्लाम में कोई गुँजाइश नहीं है"। यह ठीक कह रहे हैं। सादिया गलत लिख रही हैं। या तो वह हिन्दू विचारों से इतनी प्रभावित हैं कि इस्लाम से उसके घाल-मेल का लोभ संवरण नहीं कर पा रहीं; अथवा, भारत की स्थिति में इस्लाम के प्रति लोगों को नरम बनाने के लिए कालिदास का सौन्दर्य कुरान में दिखाना चाहती हैं।

वास्तव में, कला के प्रति इस्लामी आदेश निषेध का ही है। उसका कहीं पालन न होना या पूरी तरह न होना, सिनेमा, टी.वी. स्टूडियो, थिएटर आदि चलना या प्रतिबन्धित रहना इस्लामी शक्तियों के पर्याप्त बलशाली होने, न होने से सम्बन्धित है। अफगानिस्तान में तालिबानी शासन में अथवा उसके प्रभाव के पाकिस्तानी क्षेत्रों में भी इसीलिए टेलीविजन, सीडी, कैसेट, सैलून आदि जला दिए गए थे; पाकिस्तान और ईरान में भी समय-समय पर जलाए जाते हैं। पर तालिबान शासन को किसी आधिकारिक इस्लामी संस्थान ने 'गैर-इस्लामी' नहीं कहा। कुछ कहा गया तो यही कि वह 'सबसे सच्चा इस्लामी' था। अतः मुहम्मद रफी, बेगम अख्तर या सलमान खान निश्चित रूप से गैर-इस्लामी कार्य करते रहे हैं, यह बात नहीं झुठलाई जा सकती। हर आलिम इसकी ताईद करेगा, चाहे साथ ही किन्तु-परन्तु करके अपनी बुद्धि से किसी हिन्दू जिज्ञासु को जिज्ञासा से विरत करने का प्रयत्न भी।

यह सच है कि ऐसी सूफी भी हुए, जो कुरान और हदीस के बन्धनों को नहीं मानते थे। जो बिना किसी मध्यस्थ, यानी पैगम्बर, के ईश्वर की लौ लगाते थे। ऐसे मुस्लिम रचनाकार और शासक भी हुए जो मानवतावाद और समानता को सर्वोपरि महत्त्व देते हुए इस्लामी आदेशों की अधिक परवाह नहीं करते थे। जैसे, राबिया, बुल्लेशाह, गालिब, मीर या अन्तिम मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर। जफर खुद एक सूफी पीर माने जाते थे। वह वास्तव में उदार थे। महान शायर गालिब उनके दरबार में थे। मगर उलेमा जफर के सूफीवाद और मजहबी आदेशों के प्रति नरम रुख रखने के कारण उसके विरुद्ध थे। यहाँ तक कि उन्होंने एक बार जफर को मजहब-द्रोही कहकर बहिष्कृत करने की भी धमकी दी थी।

इस प्रकार, भारत में सात सौ वर्षों तक हिन्दू दर्शन, जन-जीवन के साथ रहने के बाद भी इस्लामी नेतृत्व का यह व्यवहार था! वे कुरान और सुन्ना से तनिक भी विचलन और अपने लोगों पर गैर-इस्लामी प्रभावों को बर्दाश्त करने के लिए तैयार न थे। तब यह मध्यकालीन भारत के 'कम्पोजिट कल्चर', मेल-जोल, सहिष्णुता, गंगा-जमुनी तहजीब आदि का गल्प किसके लिए, किस उद्देश्य से प्रचारित किया जाता है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गालिब की रचनाएँ अत्यन्त प्रभावशाली होने पर भी इस्लामी बन्धनों से मुक्त थीं। बल्कि इसलिए भी वे महान हो सकीं। उनका प्रसिद्ध शेर "हमको मालूम है जन्नत की हकीकत लेकिन..." केवल व्यंजना में नहीं लिखी गई थी। अपने किसी दूसरे शेर में उन्होंने काबा के बाद में भी लिखा है कि वह एक दिशा-सूचक होने से अधिक कुछ नहीं है। ऊपर दिल से अल्लाह को पाने की चर्चा में गालिब के विचार और भी गम्भीर दिशा में जाते है, (जिससे भी दिखता है कि आज सूफीवाद के प्रति कितनी भ्रामक धारणाएँ प्रचलित हैं)। केवल हृदय से भगवान को पाने, सीधे ईश्वर से लौ लगाने की धारणा नितान्त हिन्दू धारणा है। इसका क्लासिक सूफीवाद से कोई सम्बन्ध नहीं। जो सूफी या शायर ऐसा कहते रहे हैं, उन्हें उलेमा उचित ही खरिज करते थे। क्योंकि वैसे लोग समय के साथ अल्लाह की वैसी समझ का इस्लाम से विपरीत सम्बन्ध को समझे बिना नहीं रह सकते थे। गालिब एक बार बनारस जाकर गंगाजी के पास मग्न हो गए थे। अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा जो चाहता है इस्लाम को अलविदा कहकर माथे पर तिलक लगा लूँ, जनेऊ धारण कर लूँ और यहीं बस जाऊँ। ताकि जीवन की अपवित्रताओं को धोकर इस नदी की एक बूँद की तरह इसका हो जाऊँ।[20]

अर्थात् गालिब सचेत रूप से इस्लाम की कई बुनियादी मान्यताओं को खारिज करते थे। इस्लाम में एक मात्र उपलब्धि जन्नत ही है, जिसे गालिब हेय मानते थे। अपने मित्र को लिखे एक पत्र में गालिब ने इसे जोर देकर स्पष्ट किया है :

"ठीक है कि जन्नत में सुबह होते ही विशुद्ध मदिरा पी सकूंगा, जो कुरान में लिखा है। लेकिन वहाँ नशे में लड़खड़ाते दोस्तों के साथ रात की लम्बी सैर कहाँ मयस्सर होगी, या पीकर खुशी मनाने वाली भीड़ कहाँ होगी? बरसात के बादलों को देखकर मिलने वाला नशा वहाँ कहाँ मिलेगा? जहाँ पतझड़ न होती हो, वहाँ वसन्त का अस्तित्व ही कैसे होगा? यदि खूबसूरत हूरें वहाँ हर वक्त उपलब्ध रहती हैं, तब विरह की उदासी और मिलन के सुख कहाँ होंगे? वहाँ ऐसी लड़की कहाँ होगी जो हमारे चूमने पर भाग जाएगी?"[21]

यह व्याख्या किसी सामान्य सहृदय पाठक को कितनी ही सहज क्यों न लगे, किसी इस्लामी आलिम के लिए बहुत नागरवार है। क्योंकि यह इस्लाम के एक मात्र ईनाम और सर्वोच्च वस्तु—जन्नत—को ही हेय ठहराता है। इसीलिए आधिकारिक इस्लामी परम्परा ऐसे कवियों, शायरों, सूफियों को तनिक भी बर्दाश्त नहीं करती। उन्हें 'कुफ्र' यानी इस्लामी शब्दावली में सबसे घृणित चीज से प्रभावित, इसलिए बुरी दृष्टि से देखा जाता है।

कुफ्र-प्रभावित होने की बात ठीक भी है, क्योंकि ऐसे मुस्लिम प्रायः केवल भारत में हुए जहाँ हिन्दू दर्शन और जीवन-पद्धति से उन्होंने सीखा। भारत से बाहर मुस्लिम जगत में ऐसे सूफी, कवि या शासक ढूँढना कठिन है। इसीलिए सूफीवाद की मनोहारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखाई जाने वाली बातें वास्तव में हिन्दू बातें हैं जिनका सच्चा-झूठा क्षेपक करके भारत में सूफीवाद की विशिष्ट धारणा बनाई गई है। इसमें यह केंद्रीय बात गोल कर दी जाती है कि सचमुच के उदार सूफी या शायर सदैव शररीयत से दूर हटकर ही हुए। जैसे, गालिब या मीर। और यह भी कि इस्लामी तारीख में ऐसे लोगों को कहीं महत्त्व नहीं दिया जाता। इन दो विन्दुओं को दरकिनार कर देने से सूफीवाद की पूरी चर्चा भ्रामक हो जाती है।

बुल्लेशाह जैसे केवल रहस्यवाद की बात करने और राजनीति से निरपेक्ष रहने वाले सूफी बहुत ही कम हुए हैं। और इस्लामी इतिहास में उन जैसों की कोई कद्र नहीं है। वहाँ केवल वैसे सूफी ही मान्य हैं, जिन्होंने केवल वेष बदला है, मूल इस्लामी विचारों को नहीं। जैसे, मोईनुद्दीन चिश्ती, निजामुद्दीन औलिया, अमीर खुसरो, शेख चिराग (चिराग दिल्ली), शेख सरहिन्दी, शाह वलीउल्लाह, आदि। ऐसे ही सूफियों का झूठा-सच्चा चित्रण इस्लामी तारीख में मिलता है। मोईनुद्दीन या निजामुद्दीन जैसों के प्रति हिन्दू जनता के आदर को 'इस्लाम की श्रेष्ठता' के प्रमाण के रूप में लहराया जाता है, किसी समन्वयवादी, मिली-जुली संस्कृति के रूप में नहीं। यह कोई इक्के-दुक्के उलेमा ही नहीं करते। लगभग सम्पूर्ण मुस्लिम बौद्धिकता उसे इसी रूप में देखती है।

इसीलिए, मोईनुद्दीन की दरगाह पर हिन्दुओं का चाहे स्वागत हो; किन्तु किसी हिन्दू स्थल, हिन्दू सन्त के पास मुस्लिमों का जाना उन्हें सख्त नागवार लगता है। इसे सख्ती से रोका जाता है, जैसे हाल के वर्षों में स्वामी रामदेव के योग शिविरों में जाने से मुस्लिमों को रोका गया। मिली-जुली संस्कृति के गल्प में इस वास्तविकता पर ध्यान देना चाहिए—कि इसे हमेशा एक-तरफा रखा गया है। हिन्दू मुस्लिम स्थानों पर आएँ, पर मुस्लिम हिन्दू स्थानों पर न जाएँ। सदियों से यह प्रवृति यथावत रही है और ऐसा सचेत रूप में किया गया है। इसी प्रवृति का रूप है कि सूफियों द्वारा सेक्यूलरिज्म के नाम पर बीजेपी से सावधान कराया जाए, किन्तु इंडियन मुजाहिदीन, जमाते इस्लामी या लश्करे तोयबा, सिमी आदि से नहीं। सूफी और इस्लामी राजनीति की यह सचेत क्रिया है, जिसे नजरअन्दाज कर सूफियों का गुण-गान करने वाले हमारा भारी अहित कर रहे हैं। वामपंथी लेखक तो जान-बूझ कर ऐसा करते हैं।

वैसे लेखक और प्रचारक सन्त कबीर को 'सबसे बड़ा सूफी' बताते[22] हैं, चाहे सूफियों पर लिखे आधिकारिक इस्लामी ग्रन्थों में कबीर का उल्लेख शायद ही कहीं मिलता है। क्योंकि कबीर ने इस्लामी अन्धविश्वासों की खुली आलोचना की थीः 'कांकर पाथर जोड़ि के मस्जिद लियो बनाय, ता चढ़ मुल्ला बाँग दै क्या बहिरा हुआ खुदाय''। ऐसी सन्त-वाणियों की इस्लामी रणनीतिकारो को कोई जरूरत नहीं। इसीलिए, शरीयत से तनिक भी विचलित होने वाले सूफियों को मुस्लिम इतिहास में कोई प्रतिष्ठा नहीं दी गई है। शायर अल्लामा इकबाल ने तो ऐसे सूफियों को 'इस्लाम के राजनीतिक पतन के दौर की उपज'[23] बताया था जब 'इस्लाम में आलस्य और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जड़ता' आ गई थी। इससे भी पुष्टि होती है कि दूसरे प्रकार के सूफी क्या होते थे (और जब इस्लाम में आलस्य और जड़ता नहीं होती, तो उसका अर्थ क्या होता है)! सूफियों के उलेमा से जो वैचारिक मतभेद रहे हों, शरीयत को सर्वोच्च मानने और हिन्दुओं को नीच या उपेक्षणीय समझने में वे प्रायः एक रहे हैं।

उदाहरण के लिए शेख निजामुद्दीन औलिया (1244-1325) और उनके पक्के शागिर्द अमीर खुसरो के विचारों का जायजा लिया जा सकता है। औलिया चिश्ती सम्प्रदाय के प्रसिद्ध सूफी थे। किन्तु वे क्लासिक इस्लामी पंथ के सूफी थे जिनके लिए शरीयत सर्वोपरि था और गैर-मुस्लिम विचारों, प्रभावों के वे सख्त खिलाफ थे। दिल्ली सल्तनत के सुलतानों से उनका अच्छा सम्बन्ध था और वे काफिरों पर 'इस्लाम की सेना' की जीत के लिए दुआएँ करते थे। उन सेनाओं द्वारा हिन्दुओं को मार कर, लूट कर लाए गए धन का उपहार सुलतानों से लेने में उन्हें कोई संकोच न होता था। एक बार अल्लाउद्दीन खिलजी को दक्षिण विजय के लिए भेजी गई अपनी सेना की कोई खबर बहुत दिन तक नहीं मिली तो उसने निजामुद्दीन औलिया से पुछवाया कि उन्हें कुछ पता है कि 'इस्लाम की सेना' किस हाल में है। औलिया ने उनके संदेशवाहक को सन्तुष्ट करते हुए दिलासा दिया कि वे आगे भी बड़ी जीतों की उम्मीद कर रहे हैं।[24] जहाँ तक औलिया के दार्शनिक, आध्यात्मिक या सन्त जैसे गुणों की बात है तो गहराई से परखने पर कुछ नहीं मिलता! पसिद्ध इतिहासकार के. ए. निजामी ने उनकी बडी जीवनी लिखी है। उसमें लिखे वर्णनों से औलिया की एक साधारण छवि बनती है।

उदाहरण के लिए, ऐसे वर्णनों से क्या अर्थ निकलता है कि अलाँ और फलाँ सुलतान ने निजामुद्दीन औलिया की कद्र नहीं की तो औलिया ने उनकी मृत्यु कामना की, और वे दोनों सुल्तान अकाल मौत को प्राप्त हुए।[25] सामान्य विवेक, विशेषकर हिन्दू दृष्टि से तो ऐसे व्यक्ति को अहंकारी और निम्न भावना का ही कहा जाएगा। किन्तु निजामी की पुस्तक ऐसे ही प्रसंगों से भरी है जिससे औलिया की कोई आध्यात्मिक, दार्शनिक विशेषता या सिद्धि का प्रमाण नहीं मिलता। एक अन्य प्रसंग में औलिया कहते हैं कि उलेमा का हुक्म बिना ना-नुच के मानना चाहिए, यही व्यक्ति के प्रेम का प्रमाण होगा। इससे उसे लाभ यह होगा कि "उसके पाप उसके कर्मों की किताब में नहीं लिखे जाएँगे"।[26] एक तरह से यह किसी पापी को प्रलोभन है कि वह पाप करते रहने का सुख उठा सकता है, बशर्ते उलेमा का हुक्म मानता रहे। जैसे किसी अपराधी को कहा जाए कि फलां की बात मानते चलो तो कितना भी अपराध करने पर तुम्हारे खिलाफ कार्रवाई नहीं होगी। यह कैसी सन्त-वाणी है। पर हिन्दू दृष्टि से ही इसे बुरा कहा जा सकता है। सेमेटिक मजहबों में नहीं, जहाँ व्यक्ति का आचार नहीं, उसका मजहब में विश्वास, *फेथ*, ही केन्द्रीय तत्त्व है। उस दृष्टि से औलिया सामान्य बात ही कह रहे थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दुओं के प्रति निजामुद्दीन औलिया का रूख खुली घृणा नहीं तो उन्हें नीचा समझने की उपेक्षा का अवश्य था। उन्होंने स्वयं कहा था कि 'उलेमा जो कार्य अपने विचारों से करते हैं, वही हम अपने व्यवहार से'। के. ए. निजामी की पुस्तक से भी इसकी पृष्टि होती है। इसमें "रिलेशंस विथ नॉन-मुस्लिम्स" शीर्षक एक छः पृष्ठों का संक्षिप्त अध्याय है। यह संक्षिप्ता स्वयं प्रमाण है कि खोजने पर भी इतिहासकार को औलिया द्वारा गैर-मुस्लिमों के प्रति अच्छा कहा कुछ न मिला। किंवदन्ती भी नहीं, जिससे पूरी पुस्तक भरी है। इस अध्याय के आरम्भ में एक प्रसंग है कि एक दिन औलिया छत पर खड़े यमुना की ओर देख रहे थे। वहाँ हिन्दू श्रद्धालू स्नान, पूजा आदि कर रहे थे। तब औलिया ने फारसी में कहा, "हर लोगों का अपना मजहब होता है और इबादत की जगह होती है।"[27] उस समय औलिया के साथ उनके परम भक्त शायर अमीर खुसरो भी खड़े थे। यह सुनकर उन्होंने उसी तुक में दूसरी पंक्ति जोड़ दी, "मैंने अपना किबला तिरछी टोपी वाले की तरफ कर लिया है।" यहाँ तिरछी टोपी वाले से अर्थ निजामुद्दीन औलिया से है। यह दोनों पंक्तियों हिन्दुओं के प्रति सकारात्मक भाव रखने का कोई स्पष्ट संकेत भी नही देती, खुल कर कुछ मानना तो दूर की बात।

पर उन दो पंक्ति को उद्धृत करने के बाद इतिहासकार निजामी ने अपनी तरफ से पूरा पाराग्राफ घोषित कर दिया है कि कैसे उस पंक्ति से दिखता है कि मध्यकालीन भारत की संस्कृति सहिष्णुता और विभिन्न धर्मों के सहअस्तित्व की थी। गैर-मुस्लिमों के प्रति निजामुद्दीन औलिया के सकारात्मक रुख पर किसी तरह खींच-तान कर कुछ जोड़ने की कोशिश तब और स्पष्ट हो जाती है जब उसके बाद इतिहासकार औलिया को छोड़ अमीर खुसरों के वैसे ही अस्पष्ट कुछ और विचारों को उद्धृत करते हैं। उसके बाद, उसे खुसरों के बदले औलिया के सहनशील, समन्वयकारी होने के प्रमाण के रूप में पेश कर देते हैं।[28] आगे औलिया द्वारा वर्णित तीन सांकेतिक छोटी-छोटी कहानी दी गई हैं जो कभी उन्होंने मिलने वालों के सामने कही थी। उनसे भी स्वयं कोई अर्थ नहीं निकलता कि वे गैर-मुस्लिमों के प्रति दयालु थे। बल्कि एक कहानी से तो कुछ उलटा ही दिखता है। औलिया द्वारा कही गई वह कहानी इस प्रकार है, "ख्वाजा हमीदुद्दीन नागौरी ने तो एक बार किसी हिन्दू को 'वली' तक कह दिया। ऐसा इसलिए कि केवल अल्लाह ही जानता है कि किसी आदमी का अन्त क्या होगा। इसलिए किसी को किसी के बारे में निर्णय नहीं देना चाहिए।" कथन की पहली पंक्ति तो यही संकेत करनी है कि तब हिन्दू को वली (सन्त) कह देना अत्यन्त अस्वाभाविक बात थी। इससे बेचारों की स्थिति का पता चलता है। दूसरे, औलिया उस कथन का बचाव जिस तरह से कर रहे हैं वह इसकी पुष्टि करता है कि हिन्दू अभी वली नहीं हो सकता। मगर बाद में, कौन जाने...। प्रसंग से उनकी यह आशा झलकती है कि वह हिन्दू बाद में मुसलमान बन जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो भी हो, पूरी पुस्तक के मात्र संक्षिप्त छः पन्नों में यदि औलिया के गैर-मुस्लिमों के प्रति सम्बन्ध के बारे में बस यही कुछ गोल-मोल है तो साफ है कि बात कुछ छिपाने या बनाने की ही है। क्योंकि *फुवैद अल-फौद* में गैर-मुस्लिमों के बारे में औलिया के स्पष्ट विचार कुछ इस तरह उद्धृत किए गए मिलते हैं, ''काफिरों को मरते वक्त सजा मिलेगी। तब वे मुस्लिम बनने की कोशिश करेंगे, लेकिन इसे उनके विश्वास के रूप में नहीं माना जाएगा....मरते वक्त किसी का (इस्लाम पर) विश्वास कबूल करना स्वीकार नहीं किया जा सकता।''[29]

अमीर खुसरो के विचार भी उसी तरह परखने योग्य हैं। निजामुद्दीन औलिया के समर्पित शार्गिद होने के साथ-साथ स्वयं सूफी शायर के रूप में उनकी बड़ी ख्याति है। आज के भारतीय उच्च वर्ग में तो खुसरो को सूफीवाद और कथित 'गंगा-जमुनी संस्कृति' का सबसे फैशनेबल प्रतीक[30] माना जाता है। इस वर्ग को पता नहीं या इसके लिए यह अर्थहीन है कि खुसरो को गहरा मलाल था कि भारत से हिन्दुत्व को खत्म नहीं किया जा सकता। कि हिन्दुओं को जजिया टैक्स देकर जान बचा सकते की अनुमति दे देने के कारण ही इस देश को सदा के लिए दारुल इस्लाम बनाने का मौका हाथ से निकल गया। अमीर खुसरो के अपने शब्दों में :

"हमारे मजहबी योद्धाओं की तलवार के बल पर यह पूरा देश (भारत) ऐसा बन गया जैसे आग जंगल को काँटों से रहित कर देती है। यह धरती तलवार के पानी से सिक्त हो गई और कुफ्र (हिन्दुत्व) की भाप छिन्न-भिन्न हो गई। हिन्द के शक्तिशाली लोग पाँव के नीचे कुचल डाले गए...यदि कानून ने व्यक्ति-कर। (जजिया) देकर जान बचाने की मन्जूरी न दी होती, तो हिन्द का नाम, जड़-मूल समेत, मिट गया होता।"[31]

समझना कठिन है कि ऐसे सूफी शायर को किस बुद्धि से हिन्दू-मुस्लिम मेल-जोल और गंगा-जमुनी संस्कृति का प्रतीक कहा जाता है। तो किसी सूफी द्वारा जजिया की आलोचना मिलती भी है तो इसी रूप में! अन्यथा पूरे इतिहास में किसी सूफी मुस्लिम ने हिन्दुओं पर जजिया-टैक्स लगाने का विरोध नहीं किया। किसी सूफी ने दिल्ली सल्तनत के सुलतानों और मुगल बादशाहों को हिन्दू मन्दिर तोड़ने से मना नहीं किया था।

सूफियों के नृत्य, संगीत पर तो सबसे अधिक प्रशंसा के पुल बाँधे गए हैं। किन्तु निजामुद्दीन औलिया ने यह पूछे जाने पर कि अल्लाह का नाम लेते हुए क्या नृत्य करना या बाँसुरी या हारमोनियम आदि बजाने की अनुमति है? उन्होंने दो टूक उत्तर दिया, ''जिसकी कानून (शरीयत) में मनाही है, उसे स्वीकृति नहीं दी जा सकती।''[32]

अन्य प्रसिद्ध सूफी शेख नसीरुद्दीन चिराग (चिराग दिल्ली के रूप में मशहूर) भी इसी श्रेणी में थे। उनके अनुसार हर कार्य की अनुशंसा कुरान और सुन्ना से होनी चाहिए। अन्यथा वह प्रतिबन्धित है, ''जो भी अल्लाह और उसके रसूल ने हुक्म दिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है तुम वह पूरा करो, और जो भी अल्लाह और उसके रसूल ने मना किया है वह तुम कभी न करो"। इसीलिए उन्होंने भी अपने यहाँ श्रद्धालुओं द्वारा झुककर अभिवादन करने, दिए जलाने, संगीत आदि को प्रतिबन्धित कर दिया था। वे मजारों पर जाने के भी विरुद्ध थे। इतिहासकार के.ए. निजामी द्वारा लिखित उनकी जीवनी में उल्लेख है कि शेख चिराग ने सूफियों के बीच प्रचलित सभी हिन्दू प्रभावों को दूर किया और उनके विचारों, कामों को शरीयत के अनुरूप बनाने का प्रयास किया।[33]

महमूद गजनवी से लेकर औरंगजेब तक, सदियों में, किसी सूफी का जिक्र नहीं मिलता जिसने हिन्दुओं के प्रति उनकी किसी क्रूरता का विरोध किया हो। उलटे कई सूफी उसके लिए सल्तनत और मुगल बादशाहों से इसरार करते थे। जैसे, शेख सरहिन्दी जो सूफियों के नक्शबंदी सम्प्रदाय के संस्थापक थे। उन्होंने सूफी शेख फरीद को एक पत्र में लिखा था कि काफिरों को अपमानित करना इस्लाम की शान के लिए जरूरी है। कई नामी सूफियों ने विदेशी मुस्लिमों को भारत पर हमले का न्योता दिया। यह सूफी शाह वलीउल्ला (1703-1762) ही थे जिन्होंने अफगानिस्तान के अहमद शाह अब्दाली को मराठाओं पर हमला करने के लिए बुलाया था, ताकि यहाँ इस्लामी राज फिर कायम किया जा सके। यही पानीपत की तीसरी लड़ाई थी।

शाह वलीउल्लाह की ख्याति पूरे इतिहास में भारत के सबसे बड़े इस्लामी आलिम के रूप में है। वे अरब के प्रसिद्ध इब्न अब्दुल बहाव के समकालनी थे। बल्कि दोनों ने मदीना के हिजाज में एक ही समय इस्लाम का अध्ययन किया था। दोनों ही इस्लाम के बड़े सुधारक माने गए। वैसे, इस्लाम में सुधार का अर्थ हमेशा 'मूल इस्लाम की ओर लौटना' यानी कट्टरपंथ को बढ़ावा होता है। वलीउल्लाह और अब्दुल बहाव इसके अपवाद नहीं थे। अब्दुल बहाव ने अरब में इस्लामी शुद्धता का अभियान चलाया। उसी 'बहावी' आन्दोलन के आधुनिक अनुयायी अल कायदा समेत अधिकांश कट्टरपंथी संगठन हैं। शाह वलीउल्लाह के विचार अब्दुल बहाव से काफी मिलते जुलते थे। उन्होंने भी भारत आने के बाद इस्लाम में आ गए विचलन, विजातीय प्रभावों और विकृतियों के खिलाफ जिहाद छेड़ दिया।[34]

शाह वलीउल्लाह और बाद में उनके बेटे शाह अब्दुल अजीज ने सूफियाँ द्वारा हिन्दू प्रभावों को ग्रहण करने का जबर्दस्त विरोध किया। जैसे, सन्तों के प्रति श्रद्धा जिसे वे मूर्तिपूजा जैसा मानकर घृणित समझते थे, हिन्दुओं के पवित्र स्थलों का आदर और वहाँ की तीर्थयात्रा, हिन्दू ज्योतिषियों से मिलना जुलना, स्त्रियों द्वारा नाक-छेदन कराना, मजारों पर दिए जलाना, तीर्थ स्थलों पर भक्ति संगीत तथा हिन्दू त्योहार मनाना। मुसलमानों द्वारा यह सब करना हिन्दुओं की संगति से आया हुआ कुफ्र था, जिसका शाह वलीउल्लाह ने कड़ा विरोध किया था।[35] यहाँ तक कि केले के पत्ते पर खाना भी उन्हें नागवार था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वलीउल्लाह चाहते थे कि मुस्लिम समाज हर चीज में कुरान का अनुकरण करे। इसलिए उन्होंने कुरान का फारसी में तथा बाद में उनके बेटे ने उर्दू में अनुवाद किया, ताकि मुसलमान जान सके कि उनसे मजहब की क्या अपेक्षाएँ हैं और वे हिन्दू प्रभावों से नितांत मुक्त हों। शाह वलीउल्लाह ने मुगल बादशाहों को हिन्दू स्त्रियों से विवाह करना भी अनुचित माना, जो इस्लाम में धर्मांतरित करा दिए जाने के बाद भी तरह-तरह की हिन्दू रीतियों का पालन करती रहती थीं। उन प्रभावों से भी कई मुगल महलों के रस्मो-रिवाज में धीरे-धीरे हिन्दू प्रभाव छनकर आते रहे थे। उन प्रभावों से भी कई मुगल शासक और अधिकारी उदारवादी सूफियों, शायरों का आदर-सत्कार करने लगे थे। वलीउल्लाह के अनुसार यह सब लगभग कुफ्र और इस्लाम को भ्रष्ट करने जैसा था।

अल्लाह की इबादत मुसलमान क्यों करे, इसकी व्याख्या में भी वलीउल्लाह ने हिन्दू प्रभावों को छोड़ने का आह्वान किया। कुछ सूफियों और मुस्लिम कवियों ने अल्लाह को प्रेम से जोड़कर देखा था। उन्होंने कहाँ कि हम अल्लाह की इबादत इसलिए करते हैं कि वह हमें प्रेम करता है। वलीउल्लाह के अनुसार यह गैर-इस्लामी धारणा है, जिससे हर प्रकर के पूजा-पाठ को स्वीकृति मिल जाती है। क्योंकि यदि अल्लाह प्रेमी और दयालु है तब जो व्यक्ति उसे प्रेमपूर्वक, जैसे भी स्मरण करे, वह स्वीकार्य हो जाएगा। यदि अल्लाह का सम्बन्ध उसके प्रति दिली मुहब्बत से है, तब तो वह किसी हिन्दू पर भी कृपालु होगा! तब इस्लाम के कलमे का, अल्लाह के रसूल का—इनकी अनिवार्यता का—क्या बचेगा। इसलिए वह सरासर गलत है। सही इस्लामी धारणा यह है कि अल्लाह ने अपने रसूल के माध्यम से हमें इबादत का और रसूल का हर हुक्म मानने का हुक्म दिया है। अतः प्रेम नहीं, हुक्म।

इस्लामी आक्रान्ताओं को भारत न्योतने की सूफी परम्परा यहाँ हाल तक चलती रही है। उन्हीं वलीउल्लाह के पोते शाह इस्माइल और उनके संगी सैयद अहमद बरेलवी ने सिखों के खिलाफ जिहाद करने के लिए पख्तून सरदार अखुंद गफूर और दोस्त मुहम्मद खान को बुलाया था। अखुन्द गफूर खुद सूफी माना जाता था। सैयद अहमद बरेलवी ने 1830 में सिखों और अंग्रेजों के विरूद्ध जिहाद का आह्वान किया था। मदरसा रहीमिया से उन्होंने मध्य एशिया के मुस्लिम शासकों को चिट्ठी भेजकर 'भारत को अंग्रेजों से मुक्त कराने का न्योता भेजा था जो 'इस्लामी संस्कृति को भ्रष्ट कर रहे थे'। अगले वर्ष बरेलवी मारे गए किन्तु उनके जिहादी दस्तों के बचे-खुचे अवशेष पेशावर, अम्बाला, दिल्ली, पटना और दूसरे स्थानों पर भूमिगत रूप से काम करते रहे।[36] बीसवीं सदी में भी यहाँ के कुछ आलिमों ने अफगानों को भारत पर हमले के लिए बुलाया था। खलीफत जिहाद (1919-24) के दौर में भारतीय राजनीति में इस पर चर्चा थी। अफगानों को भारत पर आक्रमण के लिए बुलाए जाने और उन्हें भारतीय मुस्लिम नेताओं के समर्थन के सम्बन्ध में एनी बेसेन्ट, रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि ने भी चिन्ता व्यक्त की थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या सूफी राजनीति की वह अदाएँ आज खत्म हो गई हैं, या उसने केवल भेष बदला है? लोकसभा चुनाव में 'सेक्यूलर' राजनीति को मदद पहुँचाने के घोषित उद्देश्य से निकली इस सूफी-सन्त यात्रा से यह प्रश्न अवश्य पूछा जाना चाहिए था। यदि नहीं पूछा गया तो मुख्यतः इस कारण कि हमारे आम पत्रकारों को, जैसे कि प्रायः पूरे शिक्षित समाज को, सूफी मत के इतिहास, दर्शन और भूमिका के बारे में सच्चाई मालूम नहीं है। वैसे, सूफीवाद के बारे में संकीर्ण या दोषपूर्ण प्रचार विविध कारणों से है। उनमें एक कारण कूटनीति भी है।

3

हिन्दुओं ने मुस्लिम सूफी सन्तों को उतना आदर दिया है जितना मुस्लिम समाज ने नहीं। अजमेर में मोईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह में हिन्दू दर्शनार्थियों की भीड़ और चढ़ावा सदैव अधिक होता है। वे इस बात से अनजान हैं कि वास्तव में वे सूफी-सन्त क्या थे। बहुतों के लिए इसका कोई अर्थ नहीं। यह तब तक कोई बड़ी बात नहीं जब तक भारत की जनसांख्यिकी यथावत रहती है। किन्तु देश में इस्लामी मतावलम्बियों का प्रतिशत बढ़ने के साथ-साथ एक घातक परिणाम अनिवार्यतः छिपा है, जिसे अच्छे-से-अच्छे मुस्लिम सदाशयी भी नहीं रोक सकते। पाकिस्तान और बंगलादेश ही नहीं, देश के अन्दर भी असम, पश्चिम बंगाल आदि का उदाहरण शिक्षाप्रद है। यही चीज दूर लेबनान या इंडोनेशिया, मलेशिया आदि में भी देखी जा सकती है। इन सम्भावनाओं की दृष्टि से भारतीय उच्च वर्ग में सूफियों के प्रति अज्ञानपूर्ण श्रद्धा चिन्ताजनक हो जाती है।

यदि सादिया जैसी मुस्लिम लेखिका सूफीवाद को नितांत एकांगी रूप से दिखाती हैं अथवा इस्लाम को विजातीय, 'काफिराना' चीजों जैसे कला से सम्बन्धित बताती हैं तो ऐसा करने के अलग-अलग कारण हो सकते हैं। इसमें एक यह भी कि एक गैर-इस्लामी देश में ऐसा कहना इस्लाम के सम्भावित प्रभुत्व की रणनीति के लिए उपयोगी है। (ठीक उसी तरह जैसे जमाते-इस्लामी जैसे संगठन और मुस्लिम नेता भारत में सेक्यूलरिज्म की झण्डाबरदारी करते हैं जो सिद्धान्तः इस्लाम-विरुद्ध होते हुए भी भारत में इस्लाम के दबदबे का औजार है)। एक ओर शरीयत, जिहाद समेत इस्लाम के सभी मूल तत्त्वों का बचाव करना तथा दूसरी ओर सूफीवाद को इस्लाम का दिल बताकर इसमें तरह-तरह की मनमोहक चीजें दिखाना अन्तर्विरोधी कार्य लग सकता है। जैसा सादिया देहलवी कर रही हैं।

यह इस्लामी रणनीति की अल तकिया तकनीक[37] का हिस्सा है। शरीयत में ही यह कहा गया है 'जरूरत पड़ने पर वर्जित कांम भी किए जा सकते हैं'। वैसे भी, राजनीति के अनुभवी होने के कारण उलेमा इस तरकीब का उपयोग जानते हैं कि किसी दारुल हर्ब, यानी गैर-मुस्लिम देश में मुसलमान ऐसे कार्य कर सकता है जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस्लाम के अनुरूप न हों, किन्तु अंततः उसे दारुल इस्लाम, यानी इस्लामी देश बनाने में उपयोगी हो सके। इस रूप में, भारत में सूफीवाद के बारे में सच के बदले हिन्दुओं को लुभाने वाली बातें कहना 'काफिरों' को इस्लाम के प्रति अचेत बनाकर उन्हें, मुग्ध-मुद्रा में लाता है। ताकि जब तक इस्लामी शक्तियाँ पर्याप्त बल संचित न कर लें, और इस्लामी निजाम कायम करने की ताकत न जुटा लें तब तक भ्रम में डूबे काफिर संगठित न हों। यह कोई दूर की कौड़ी नहीं है। इसे स्वयं सादिया कि किताब की सबसे आधिकारिक इस्लामी ग्रन्थों और ऊपर वर्णित सबसे बड़े और प्रसिद्ध सूफियों के विचारों से तुलना करके समझा सकता है। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि यहाँ देवबंद तथा अरब देशों की सैकड़ों बड़ी-बड़ी इस्लामी हस्तियों, आलिमों, उलेमा और संस्थानों को इस्लाम से कला के संबंध के बारे में वह बात पता न हो जो दिल्ली में बैठी सदिया को है।

निस्संदेह सूफीवाद के कई रूप हैं। किंतु जिस रूप में उसकी भारत और पश्चिमी विद्वत जगत में मान्यता है, उसमें उदार हिन्दू आचार-विचार को ही सूफीवाद कह दिया जाता रहा है। इसमें दोहरी हानि है। एक, हिन्दू धर्म को उस का श्रेय न देना; दूसरे, इस्लाम के बारे में भ्रामक मान्यताओं को प्रोत्साहन। कुछ लोग जानबूझ कर ऐसा करते हैं, इस खयाल से कि ऐसा कर वे इस्लामी मनोवृत्ति को समन्वयकारी बना सकेंगे। ऐसे लोगों को कुरान, हदीस, मुहम्मद की जीवनी, इस्लाम का इतिहास, पाकिस्तान आंदोलन और इस सबके प्रति गाँधीवादी नीति का गंभीरता पूर्वक अध्ययन व मूल्यांकन स्वयं करना चाहिए। अन्यथा वे देश की और अपनी भी हानि करते रहेंगे।

संदर्भ-टिप्पणियाँ

1. टाइम्स ऑफ इंडिया, 17 अप्रैल 2009
2. पटना, 13 अप्रैल, 2009, आई.ए.एन.एस. की रिपोर्ट।
3. उदाहरण के लिए देखें, "वक्त की लय के साथ" और "चमत्कारी असर", इंडिया टुडे नई दिल्ली, 27 मार्च, 2002। इनमें सूफी विचार, परंपरा आदि के बारे में एक से एक बातें कही गई हैं। बिना किसी साक्ष्य या संदर्भ के कि किन सूफी स्रोतों में वे मनमोहक बातें मिली हैं।
4. रिचर्ड मैक्सवेल ईटन, *सुफीज ऑफ बीजापुर,* 1300-1700; *सोशल रोल ऑफ सूफीज* इन मेडियेवल इंडिया (न्यू जर्सीः प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1978), पृ 32
5. हैदराबाद की आफिया लाइब्रेरी में उपलब्ध, *तजकिरा* संख्या 266
6. अब्दुल जब्बार मल्कापुरी, *तजकिरा-ए-औलिया-ए-दकन* (हैदराबाद : हसल प्रेस, 1912-13), खंड 1 पृ.460 और आगे
7. रिचर्ड मैक्सवेल ईटन, ऊपर संदर्भ सं. 3, पृ.19—41

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

8. उदाहरण के लिए देखें, http://www.mustafai.com/Peraonalities/garibnawaz/Defeat.htm
9. एस. ए. ए. रिजवी, *ए हिस्ट्री ऑफ सूफीज्म इन इंडिया, वॉल्यूम-1*, (नई दिल्ली: मुंशीराम मनोहरलाल, 1978), पृ. 116
10. रिचर्ड मैक्सवेल ईटन, उपर्युक्त, पृ.19
11. वही, पृ. 33
12. *कश्फ-अल-महजूब*, (दिल्लीः ताज कंपनी, 1982), पृ. 140
13. वही, पृ. 152, 213
14. वही, पृ. xxi
15. वही, पृ. 14
16. वही, पृ. 383
17. वही, पृ. 139
18. *"द न्यू सूफी बार्ड"*, द पायोनियर, नई दिल्ली, 5 मई, 2009 में उद्धृत।
19. इंडिया टुडे, नई दिल्ली, 25 जून, 2001
20. पवन कुमार वर्मा, *गालिबः द मैन*, टाइम्स (नई दिल्ली, 1989), पृ.51 डालरिंपल द्वारा *द लास्ट मुगल* (लई दिल्लीः पेंग्विन, 2006), पृ. 80 पर उद्धृत।
21. रैल्फ रसेल (सं), *गालिबः द पोएट एंड हिज एज* (लंदन, 1975), पृ. 81. डालरिंपल द्वारा *द लास्ट मुगल* (नई दिल्लीः पेंग्विन, 2006), पृ. 80 पर उदधृत।
22. दीपा एम. ओल्लापल्ली, *द पॉलिटिक्स ऑफ एक्सट्रीमिज्म इन साउथ एशिया* (दिल्लीः कैंम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस 2009), पृ. 32. जिस संदर्भ में वे इसे याद करते हैं वही उनका उद्देश्य स्पष्ट कर देता है कि साउथ एशिया (पाकिस्तान या अफगानिस्तान नहीं) के उग्रवाद (आतंकवाद या जिहाद नहीं) में इस्लाम को कोई कारक या बड़ा कारक बिलकुल न समझा जाए। यह तो हमेशा सूफियों, गंगा-जमुनी तहजीबों और प्यार-मुहब्बत की जमीन रही है। इस्लामी उग्रवाद की बात करना गलत तरीके से स्थिति को देखना है। यह पुस्तक इसका उदाहरण है। आरंभ में ही जिस तरह सूफीवाद की अप्रासंगिक चर्चा विस्तार है और शरीयत की चर्चा पूरी पुस्तक में सिरे से गायब है, उससे मंतव्य स्पष्ट होता है। पुराने समय के अनाम किस्म के किसी मुस्लिम संत की प्रशंसा और हाल के सावरकर, गोलवलकर जैसों की खिंचाई भी वही संकेत है। साथ ही, अनावश्यक रूप से भारत में पूरे इस्लामी इतिहास को मनोहारी रूप में दिखाया गया है जिसकी क्रूरताओं में मजहबी उद्देश्य कहीं न था। जैसे, लेखिका के अनुसार, यदि मुस्लिम शासकों ने मंदिर तोड़े भी तो तोड़ने वाले उनके सेनापति हिन्दू थे (पृ.31), आदि। इस प्रकार, वर्तमान और इतिहास का पूरा विकृतिकरण, जो ऑक्सफॉर्ड-कैम्ब्रिज-जेएनयू जैसी विद्वता की पहचान बन चुकी है कि कहीं किसी प्रसंग में इस्लाम पर किसी भी प्रकार का दोष न जाए, श्रेय ही श्रेय उसका हो। दोष सदैव हिन्दुओं का दिखे, पहले भी और आज भी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

23. रफीक जाकरिया द्वारा उद्धृत। देखें, मुहम्मद इकबाल, *शिकवा और जबावे शिकवा,* खुशवंत सिंह (अनु.), (दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1999) में उनका लिखा "फोरवर्ड", पृ. 9–10
24. के. ए. निजामी, *द लाइफ एंड टाइम्स ऑफ शेख निजामुद्दीन औलियां* (नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड, 2007), पृ. 119
25. वही, पृ. 128, 130. यह सुलतान मुबारक खिजली और सुलतान गयासुद्दीन तुगलक के बारे में है।
26. फवैद अल फौद से। शशि एस. शर्मा, *कैलिफ एंड सुल्तान* (नई दिल्ली: रूपा, 2004), पृ. 226–27
27. वही पृ. 135. यह इतिहासकार द्वारा दिए गए अंग्रेजी रूपांतर का हिन्दी रूप है। वास्तविक अर्थ भिन्न भी हो सकता है, क्योंकि अलग-अलग जानकर एक ही फारसी पंक्ति के कुछ भिन्न अर्थ बता देते हैं। ऐसा इस लेखक ने अनुभव से पाया है।
28. वही, पृ. 135–136
29. *फवैद अल फौद* से। शशि एस. शर्मा, *कैलिफ एंड सुल्तान* (नई दिल्ली: रूपा, 2004), पृ. 228–29
30. दिल्ली में कुछ वर्ष पहले हुए एक अंतर्राष्ट्रीय सूफी संगीत कार्यक्रम का नाम ही था, 'जहान ए खुसरो'।
31. प्रसिद्ध इतिहासकार रमेश चंद्र मजूमदार द्वारा उद्धृत। "एकेडमिक फ्रीडम", मेनस्ट्रीम (अंग्रेजी साप्ताहिक), नई दिल्ली, 10 दिसंबर, 1977। उद्धरण इतिहास-लेखन पर चल रही बहस के संदर्भ में था। इसका उत्तर देते हुए मार्क्सवादी इतिहासकार हरबंस मुखिया ने पत्रिका के अगले अंक में लिखा कि हाँ, खुसरो ने यह 'हिन्दू-विरोधी' बातें कही थीं, किंतु उसने दूसरी अच्छी बातें भी तो कहीं।
32. *फवैद अल फॉद* से। शशि एस. शर्मा, *कैलिफ एंड सुलतान* (नई दिल्लः रूपा, 2004), पृ. 226
33. के. ए. निजामी, *द लाइफ एंड टाइम्स ऑफ शेख नसिरूद्दीन चिराग*(1991) से। शशि एस. शर्मा, *कैलिफ एंड सुलतान* (नई दिल्ली: रूपा, 2004), पृ. 227–28
34. अजीज अहमद, *स्टडीज इन इस्लामिक कल्चर इन द इंडियन इनवायररमेंट* (ऑक्सफोर्ड: 1964), पृ. 201, 210. विलियम डालरिंपल द्वारा *द लास्ट मुगल* (नई दिल्ली: पेंग्विन, 2006), पृ. 76 पर उद्धृत।
35. विलियम डालरिंपल, *द लास्ट मुगल* (नई दिल्ली: पेंग्विन, 2006) पृ. 76
36. वही, पृ. 83
37. एक व्याख्या के लिए फ्लोरिडा इंटरनेशनल यूनिव्रसिटी में डिपार्टमेंट ऑफ रिलीजन में प्रोफेसर वालिद फारेज का विश्लेषण देखा जा सकता है। http://www.freeman.org/m_online/dec97/phares.htm

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोरखालैंड का गोरखधंधा

ए.सी. सिन्हा*

एक बार फिर गोरखलैंड समाचार पत्रों की सुर्खियों में छाया हुआ है। बीजेपी नेता और भूतपूर्व फौजी अफसर जशवंत सिंह बागडोहरा हवाई अड्डे पर उतरते हैं, गोरखा जन मुक्ति मोर्चे के स्वयंसेवक उनका स्वागत करते हैं, 150 मोटरवाहनों का काफिला सिल्लीगुड़ी होते हुए दार्जिलिंग की तरफ बढ़ता है। रास्ते भर जोशीले नारों, वंदनवारों और फूलमालाओं से आगन्तुक नेता का स्वागत होता है। नेपाली टोपी और ललाट पर कुमकुम अक्षत सजाए गद-गद यशवन्त सिंह निकल पड़ते हैं। "ऐसा स्वागत कभी नहीं हुआ।" और हो क्यों नहीं? अन्य राजकीय दलों के समर्थन के अभाव में जी.जे. एम.एम. ने दामन पकड़ा बीजेपी का। वर्षों से पश्चिम बंगाल में पाँव जमाने में असमर्थ बीजेपी ने इसे एक सुनहरा अवसर पाया। दोनों दलों में नापतौल हुए और गोरखालैंड राज्य का समर्थन पा जी.जे.एम. ने दार्जिलिंग की संसदीय कुर्सी की थाली यशवन्त सिंह को परोस डाली। जीजेएमएम के साम-दाम-दण्ड-भेद नीति के चलते इस लोकसभा चुनाव में बीजेपी का पश्चिम बंगाल से खाता खुल गया।

स्मरणीय है कि पिछले एक वर्ष से GJMM और उसके अधिनायक मोहन गुरुंग का नाम प्रायः पढ़ने-सुनने में आ रहा है। एक साल पहले तक ऐसे ही एक दूसरे सर्वेसर्वा सुभाष घीसिंग हुआ करते थे, जो गोरखा राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चो (GNLF) और दार्जिलिंग को अपनी जेब में लेकर चलते थे। उन्होंने अपने संघर्ष से परम्परागत राजकीय दलों का दार्जिलिंग की राजनीति से सफाया कर दिया। फिर तो दिल्ली और कलकत्ते की राजनीतिक खाई का लाभ उठा दार्जिलिंग गोरखा पहाड़ी परिषद (Darjeeling Gorkha Hills Council : DGHC) का प्रावधान कराया। DGHC का प्रथम और एकमात्र चुनाव 1988 में सम्पन्न हुआ और उसके प्रधान की कुर्सी पा सुभाष घीसिंग विराजमान हुए। फिर तो सारे वैधानिक परम्पराओं को ताक पर रख वे अगले 20 वर्ष तक DGHC के प्रधान की कुर्सी पर चिपके रहे। जिस रफ्तार में घीसिंग का उद्दंडता भरा और अहंकारी भाषण बढ़ता गया उसी अनुपात में दार्जिलिंग की स्थिति बद से बदतर होती गयी।

* ए.सी. सिन्हा, भूतपूर्व अध्यक्ष, समाजविद्या संकाय पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग-793022. सम्पर्क : डी 7/7331, बसन्त कुंज, नयी दिल्ली-110070

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पिछले कुछ वर्षों में उन्होंने एक नयी चाल चली : दार्जिलिंग के तीन पहाड़ी उपजनदों के लिए जनपदीय स्वायत्त परिषद (Hill District Council) बनाने की। पृथक गोरखलैंड के बदले केन्द्रीय और राज्य सरकारें जनपदीय स्वायत परिषद की मांग मानती प्रतीत हुईं। परन्तु इसके क्रियान्वयन के रास्ते में संवैधानिक अड़चनें थीं, जिन्हें समय पर दूर नहीं किया जा सका। परन्तु घीसिंग ने इन अड़चनों को मात्र औपचारिकता बता रखा था। जब वे खाली हाथ दिल्ली से बागडोगरा हवाई अड्डे पर उतरे तो GJM के स्वयंसेवकों ने उनका घेराव ही नहीं किया, बल्कि दार्जिलिंग का रास्ता भी अवरूद्ध कर दिया। काफी बेइज्जती के बाद उन्हें DGHC के प्रधान पद से त्यागपत्र देना पड़ा। अब 73 वर्षीय घीसिंग दार्जिलिंग की ठंड पहाड़ियों के बदले सिल्लीगुड़ी की धूल भरी गर्मी भुगतने पर लाचार हैं।

जिन राहों में घीसिंग चले थे, उन्हीं के नक्शेकदम पर GSM के मोहन गुरुंग और उनके समर्थक भी चल पड़े हैं। फिर एक बार गोरखलैंड राज्य की मांग पुरजोर हो चली है। बन्द, धरना, घेराव, संघर्ष, हिंसा, रास्ता रोको आदि का दौर चल पड़ा है। दार्जिलिंग की अर्थव्यवस्था की रीढ़, पर्यटन उद्योग बुरी तरह प्रभावित हुआ है। पर्यटक पहाड़ों से विमुख हो रहे हैं। इस उद्योग से संबंधित व्यक्ति एक बार फिर नयी नौकरी की तलाश करने लगे हैं। दार्जिलिंग से सिक्किम की नाकेबन्दी फिर एक बार हो रही है। अब कोई नाथुला-सिल्लीगुड़ी राजमार्ग (Nathula-Siliguri Super Highway) की बात नहीं करता। दार्जिलिंग में गौरखलैंड राज्य की हवा गर्म है। परन्तु पड़ोसी उत्तरी बंगाल के जनपदों में दहशत। विभिन्न राष्ट्रीय दल संसदीय चुनाव में व्यस्त हैं और शायद ही किसी राजनीतिक दल के कार्यक्रम में गोरखलैंड का जिक्र आया है। क्या बात है कि पिछले एक सौ वर्षों से दार्जिलिंग में अलगाव की बात होती रही है और प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारें अनसुनी करती रही हैं? यह क्या गोरखधन्धा है जो बार-बार प्रकट होता है? हिंसक घटनाएँ घटती हैं, उन्हें दबाया जाता है। थोड़ी देर के लिए मानो गोरखलैंड पहाड़ियों की आग ठंडी पड़ने लगती है। परन्तु शीघ्र ही किसी कोने से कोई हवा देता है और फिर एक बार असंतोष की आग फूट पड़ती है। दार्जिलिंग की क्या समस्या है? इसके पीछे कौन से लोग लगे हैं और क्यों? और गोरखलैंड राज्य की मांग क्यों की जा रही है और इसकी क्या परिणति होने वाली है?

दार्जिलिंग : भौगोलिक और ऐतिहासिक सिंहावलोकन

जनपद दार्जिलिंग पश्चिम बंगाल की जलपाईगुड़ी कमीश्नरी का पश्चिमोत्तर हिस्सा, दर्शनीय स्थान माना जाता है। इसके पश्चिम में मेची नदी और सिंगलीला शृंखला की चोटियाँ, पूरब में भूटान, उत्तर में रम्मन नदी और सिक्किम और दक्षिण में जलपाईगुड़ी और किशनगंज (बिहार) के जनपद पड़ते हैं। जहाँ दार्जिलिंग, कुर्शियांग और कलिङ्पोंग के उपजनपद हिमालयी पर्वत शृंखला के अंग हैं, वहीं पर सिल्लीगुड़ी सब-डिवीजन का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षेत्र मोरंग कहलाता है, जो अत्यन्त छोटी-छोटी पहाड़ियों और मैदानी भाग का मिश्रित क्षेत्र है। पहाड़ों और मैदानी, दोनों ही क्षेत्रों में, बागानी अर्थव्यवस्था की प्रमुखता हैं। पहाड़ों में बारीक, स्वादिष्ट और कीमती चाय और सिनकोना के बागान हैं तो मोरंग में गाढ़ी, साधारण और आम लोगों के उपयोग की चाय पैदा होती है। पहाड़ों पर घने जंगल, जंगली जानवर, दर्शनीय स्थान और बौद्ध विहार देखने को मिलते हैं, तो मैदानी क्षेत्रों में सघन खेती। दार्जिलिंग, कलिम्पोंग, संदकफू, कुर्शियांग आदि दर्शनीय स्थान पर्यटन उद्योग के केन्द्र हैं तो सिल्लीगुड़ी की पहचान व्यापार, उद्योग और पूर्वोत्तर भारत के प्रवेशद्वार के रूप में की जाती है। पहाड़ी क्षेत्रों में नेपाली-भाषियों की प्रचूरता है और सिल्लीगुड़ी में बंगला, हिन्दी, नेपाली, सदरी आदि भाषाएँ बोली जाती हैं।

दार्जिलिंग शब्द की व्युत्पत्ति तिब्बती शब्द, दोरजी (वज्र) से मानी जाती है। कहते हैं कि किसी बौद्ध भिक्षु ने पर्वतों पर उल्कापात होते देखा और उस स्थान का नाम वज्रपात स्थान, दोर्जी-ल्यांग—कर बैठा। फिर वहाँ बौद्ध विहार बने। परन्तु विकट सर्दी के चलते घनी आबादी नहीं बस पायी। 1642 में स्थापित नामग्याल वंशीय सिक्किम राज्य का यह क्षेत्र अभिन्न अंग रहा और सिक्किमी काजी (सामन्त) इसका प्रशासन चलाते थे। नामग्याल नरेश कमजोर पड़े और उसका लाभ उठा भूटान ने तीस्ता नदी से पूरब—कलिम्पोंग क्षेत्र—को हथिया लिया। स्थिति बिगड़गती गयी। 'मगर' और 'लिम्बु' तथा गणजातियों का बड़ा भाग, एक लेपचा सरदार भी, पूर्वी नेपाल में जा बसा। यही नहीं, वहाँ से इन गणजातियों ने सिक्किम पर दबाव बनाए रखा और गाहे-ब-गाहे वे नामग्याल के भूभाग पर धावा भी बोलते रहे। सिक्किम दरबार का दरबारी नेपार सरदार ने मोरंग से राजस्व भेजना बन्द कर रखा था।

18वीं सदी के मध्य में गोरखा नरेश पृथ्वीनारायण शाह के रूप में नेपाल में एक नयी शक्ति का उदय हुआ। अपनी कूटनीति, रणकौशल और दूरदृष्टि से उन्होंने नेपाल का एकीकरण कर एक केन्द्रीय सरकार की प्रतिस्थापना की। 1775 में उनकी अकाल मृत्यु पर्यन्त उनके उत्तराधिकारियों ने भी यह प्रयास जारी रखा। गोरखानरेश की नजर सिक्किम पर पड़ी और जनरल जाहर सिंह थापा के नेतृत्व में सिक्कम पर हमला हुआ। परास्त सिक्किम नरेश किसी तरह जान बचा तिब्बत भाग खड़ा हुआ। विजयी गोरखों ने सिक्किम के पश्चिमी और दक्षिणी क्षेत्रों पर कब्जा जमा लिया। इस प्रकार दार्जिलिंग 1780 से 1816 तक आधुनिक नेपाल के कब्जे में रहा। 1814-15 की आंग्ल-गोरखा युद्ध में पराजित नेपाल ने मेची नदी से पूरब के सभी क्षेत्र अँग्रेजों को सौंप दिए। हिमालय पार से व्यापार में सिक्किम दरबार से संभावित सहायता की अपेक्षा में अँग्रेजों ने सिक्किमपति महाराजा से 1817 में तितालिया की संधि की और नेपाल से प्राप्त सिक्किमी पहाड़ी क्षेत्रों को उसे वापस कर दिया।

आधुनिक दार्जिलिंग का इतिहास 1835 में आरम्भ होता है। नेपाल-सिक्किम की सीमा निर्धारण के संदर्भ में दार्जिलिंग पहाड़ियों से गुजरते हुए कैप्टन कैम्पबेल की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नजर इस स्थान की उपयुक्तता पर पड़ी। तत्कालीन औपनिवेशिक राजधानी कलकत्ते की गर्मी से बचने के लिए अंग्रेज एक स्वास्थ्यप्रद पहाड़ी स्थान की खोज में थे। इसके पहले खाशी पहाड़ियों में इन्होंने चेरापूंजी को विकसित करने का प्रयास किया था। परन्तु अत्याधिक वर्षा के कारण वह प्रयास असफल रहा। जब दार्जिलिंग की उपयुक्तता का प्रश्न गवर्नर जनरल विलियम बेंटिक के सामने आया तो उसने तुरंत हामी भर दी। 138 वर्ग मील में फैले करीब 100 निवासियों के साथ सिक्किमपति महाराज ने बीमार अंग्रेजों की हवाखोरी के लिए दार्जिलिंग को सशर्त भेंट करने का प्रस्ताव किया। शर्त्तें थीं कि सिक्किमपति को मोरंग यानी आज का नक्लबारी क्षेत्र और उसके भूतपूर्व मुसाहिब निम्मो प्रधान को सुपुर्द किया जाय। अंग्रेजों ने दोनों शर्तों को नामंजूर कर दिया। लाचार सिक्किमपति नरेश ने गवर्नर-जनरल से दोस्ती के नाम दार्जिलिंग पहाड़ी को अंग्रेजों को भेंट कर दिया। फिर तो देखते-देखते दार्जिलिंग का विधिवत परिवर्तन शुरू हुआ। जहाँ 1839 में वहाँ मुश्किल से 100 व्यक्ति निवास करते थे, वहीं 1849 में 10,000 विभिन्न प्रकार के मकान बनाए जा चुके थे। वहाँ सड़क, बाजार, अस्पताल, स्कूल, सैनेटोरियम, कचहरी, रिहायशी बंगले आदि बनने लगे। परन्तु तत्कालीन दार्जिलिंग चतुर्दिक सिक्किम नरेश की भूमि से घिरा हुआ था। विकास कार्यों के लिए श्रमिकों के अलावा इमारती लकड़ी, लोहे, सीमेंट चूना, पत्थर आदि की आवश्यकता थी। इन वस्तुओं को मैदानों से लाने के लिए सड़क की जरूरत थी, जिसके निर्माण के लिए जमीनें देने में महाराजा के मुलाजिम आनाकानी करते रहे।

स्थानीय निवासी—लेफ्चा, भोटिया या लिम्बू—ऐसे कार्यों में निपुण नहीं थे। सिक्किम, भूटान, तिब्बत में, उन दिनों एक तरह की दास प्रथा प्रचलित थी। स्थानीय सामन्तों के अत्याचारों से तंग आकर अकसर इन पहाड़ी रजवाड़ों की प्रजा भाग कर दार्जिलिंग आ मजदूरी करने लगती थी। सामंत अंग्रेजी कायदा-कानूनों से अनभिज्ञ थे। अहंकारी सभासद प्रायः अपने श्रमिकों की खोज में दार्जिलिंग पर धावा बोलते थे। इन क्रियाकलापों से प्रायः वैमनस्य बढ़ता था। महाराजा को दार्जिलिंग से होने वाली राजस्वह्रास के स्थान पर अंग्रेजों ने तीन हजार रुपये वार्षिक राजस्व देने का प्रस्ताव किया। यह रकम कई बार बढ़ायी गयी और जब्त भी की गयी। परन्तु सिक्किम और अंग्रेजी दार्जिलिंग के बीच कटुता बढ़ती ही गयी। दोनों के बीच एकाधिक बार युद्ध भी हुए। आखिरकार 1861 की संधि के होते-होते रम्मन नदी से दक्षिण और तीस्ता से पश्चिम का पूरा भाग अंग्रेजों के अधिकार में आ गया। पाँच वर्ष बाद भूटान से सिन्चुला की संधि कर अंग्रेजों ने कलिम्पोंग क्षेत्र प्राप्त किया। इस प्रकार मात्र तीन दशकों में आज का दार्जिलिंग जनपद 1866 तक अस्तित्व में आ गया। बंगभंग के वर्षों (1905-1912) को छोड़कर, जब दार्जिलिंग भागलपुर कमिश्नरी से जोड़ा गया था, 1947 तक (यानी आठ दशकों तक) राजशाही कमीशनरी का एक जिला था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मात्र 100 निवासियों का दार्जिलिंग 1872 में 94,712 मनुष्यों का निवास स्थान था, जिनमें 34 प्रतिशत नेपाली थे। बीस वर्षों बाद 1891 में दार्जिलिंग में नेपालियों का प्रतिशत 50 हो गया और इसके एक सौ वर्ष बाद दार्जिलिंग की पहाड़ियों के दस लाख निवासियों में 90 प्रतिशत नेपाली मूल के थे। ऐसा अकारण नहीं हुआ। एक तो भूटिया काजियों और लामाओं के विपरीत अंग्रेज नेपाली राणाओं को तरजीह देते थे। दूसरे राणाओं के सताये गए सस्ते नेपाली श्रमिक सेना, पुलिस, पहरेदारी के अतिरिक्त चाय बागानों, जंगल साफ करने, सड़क बनाने, पशुपालन, दूध-दही व्यवसाय आदि में अंग्रेजों की अपार सहायता कर रहे थे। शीघ्र ही दार्जिलिंग चाय उद्योग और शिक्षण का केन्द्र बन गया। कुछ नेपालियों ने इसका लाभ उठाया। आधुनिक शिक्षण के अभाव में नेपाल के निवासियों के लिए दार्जिलिंग आकर्षण का केन्द्र बनने लगा। कई नेपालियों ने व्यापार और सरकारी नौकरियाँ संभाली, अब तक दार्जिलिंग अंग्रेजी फौज के गोरखा रेजीमेंट का भर्ती केन्द्र बन चुका था। कहना न होगा कि शीघ्र ही दार्जिलिंग इन सुविधाओं के चलते शिक्षित, जाग्रत और चौकन्ने नेपालियों का केन्द्र बनने लगा। भारतीय नेपाली जाति के विकास में दार्जिलिंग की विशेष भूमिका रही है। विशेषकर साहित्य, संगीत, संस्कृति, प्रकाशन, पत्रकारिता, आधुनिक व्यवसायीकरण के साथ भारतीय नेपालियों में ही नहीं, पूरे नेपाली राष्ट्र के पुनर्जागरण में दार्जिलिंग का विशेष स्थान है। पिछले आठ दशकों से दार्जिलिंग के नेपाली बुद्धिजीवी नेपाली राष्ट्र को नेतृत्व प्रदान कर रहे हैं।

अस्मिता और नामकरण का प्रश्न

नेपाली कहे जाने वाले दार्जिलिंग के मूल निवासी या नेपाल से आगतों की दो समस्याएँ रही हैं; उनकी भारतीय पहचान और उपयुक्त नामकरण। नेपाली भाषियों को अंग्रेजों ने अपनी उपयोगिता के अनुसार तीन शिथिल वर्गों में रखा था। गोरखे फौजी नेपाली व्यवसायी और दस्तकार, प्रायः फौज के लिए अनुपयुक्त; पहाड़ियां श्रमिक, कृषक, पशुपालक, प्रायः फौज के लिए अनुपयुक्त। नेपाल से आवागमन में कोई विशेष समस्या न थी। अधिकतर नेपाली रोजी की तलाश में हिन्दुस्तान के मैदानों में आते थे और कमाई कर कुछ महीनों या वर्षों में वापस चले जाते थे। परन्तु नेपाल में प्रत्येक नेपाली को 'मुल्की आइन' - नेपाल सिविल कोड के दायरे में रहना पड़ता था और प्रवास में भी उन्हें प्रायः नेपाली नरेश की प्रजा माना जाता था। परन्तु वे नेपाली जो भारत में बस गए और कालान्तर में भारतीय नागरिक बन गए, उनके समक्ष अपना सर्वाधिक आकर्षक आयाम सामने लाने की बात थी। इन लोगों ने अपने को गोरखा कहना पसन्द किया। इनमें अधिकतर या तो भूतपूर्व गोरखा सैनिक थे या उनके वंशज; परन्तु सभी निश्चित रूप से सैनिक या सुरक्षा कार्यों से संबंधित नहीं थे। यह और बात है कि गोरखा सैनिकों की बहादुरी की कहानियाँ सबों को कर्णप्रिय लगती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थीं और उन पर वे गर्व अनुभव करते थे। इस प्रकार गोरखा सैनिकों की छवि के साए में पशुपालक, कृषक दस्तकार और अन्य श्रमिकों ने अपने को परिभाषित करने का प्रयास किया, परन्तु यह जानने योग्य है कि आखिर गोरखा शब्द की पृष्ठभूमि क्या है?

कहा जाता है कि 'खश' गणजाति के सरदार द्रव्यशाह ने 1559 में आधुनिक काठमांडू घाटी से पश्चिम 'गोरखा' राजवंश की नींव डाली। कालान्तर में शाहवंशी नरेशों ने अपनी हिन्दू अस्मिता को प्रतिष्ठित करने के लिए अपने को चित्तौड़गढ़ के क्षत्रियों से जोड़ा और भारत को दूषित 'मगलान' बताते हुए अपने राज्य को 'असल हिन्दुस्तान' तक बता डाला। परन्तु मानवशास्त्रियों की मान्यता है कि शाहवंशी वास्तव में 'खश' गणजाति के थे। वे गाय के रक्षक और योगी गोरखनाथ पंथ के अनुयायी थे। इस प्रकार गोरखा शब्द को 'गोरक्षा' और गोरखनाथ से जोड़ा जाता है। परन्तु नेपाली विद्वान सूर्यविक्रम ज्ञवाली और हर्कागुरूंग गोरखा शब्द को 'खश' शब्द 'गोरखा' (राजस्वक्षेत्रे) का रूप मानते हैं। जो भी हो, शाहवंशी नरेशों ने अपने राज्य को 'गोरखा' और अपनी भाषा को 'गोरखाली' बताया। यहाँ तक कि कालान्तर में उनके सैनिक भी गोरखा के नाम से जाने जाने लगे। 1814-15 की लड़ाई में गोरखा सैनिकों की निर्ममता, क्रूरता, बहादुरी, बचपना और रणकौशल ने अंग्रेजों को काफी प्रभावित किया। 1857 में गोरखा सैनिकों की भूमिका देख अंग्रेजों ने उन्हें लड़ाकू प्रजाति (Martial Race) का दर्जा दे डाला। यही नहीं, कई अंग्रेज अफसरों ने गोरखा सैनिकों की बहादुरी में बहुत कुछ लिख डाला। फिर तो अंग्रेजों ने भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में गोरखा सैनिकों को अपना ढाल बनाया। प्रायः सैनिक शिविरों या युद्ध के मोर्चों पर रहने वाले गोरखा सैनिक, रोजमर्रे की तंगहाल जिन्दगी से अनभिज्ञ, रणक्षेत्र की बहादुरी के गौरव को ही एकमात्र सत्य मानने लगे। दूसरी तस्वीर बहादुर सिपाही के अतिरिक्त है गोपालक, पहरेदार एवं श्रमिक की।

इस गुत्थी में एक और आयाम जुड़ता है, भारत-नेपाल मैत्री संधि, 1950 के करार पर हस्ताक्षर होने के बाद। संधि के प्रावधान '7' के अनुसार भारत में नेपाली नागरिकों और नेपाल में भारतीयों को बसने, नौकरी करने, व्यवसाय या आवागमन का पूरा अधिकार है। आम नागरिकों के लिए गोरखों और नेपालियों के बीच की दूरी समझना आसान नहीं है। फिर इनमें प्रजातीय, भाषाई और बेटी-रोटी के सम्बन्ध के अलावा पारम्परिक पहनावा भी एक समान है। और तो और, कईयों के पास एकाधिक नागरिकता भी है। ऐसी स्थिति में औसत भारतीय नागरिक नेपाली मूल के भारतीयों और भारत स्थित नेपाली नागरिकों को नेपाली समझ बैठता है। नेपाली मूल भारतीयों का एक वर्ग है, जो अपने को गोरखा, अपनी भाषा को गोरखाली और अपने काल्पनिक गृहराज्य को गोरखालैंड नाम दे रखा है और उसकी प्राप्ति के लिए कुछ भी करने को उद्यत है। इस वर्ग के अनुसार अपने को नेपालीभाषी बताने वाले भारतीय विदेशी हैं और उनका उसी रूप में स्वागत होना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोरखालैंड मांग की पृष्ठभूमि और गोरखा राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे का उदय

अंग्रेजों की शह पर भूतपूर्व गोरखा सैनिकों ने 1906 में Gurkha Officers' Association बनाई और अगले वर्ष दार्जिलिंग के लिए एक अलग प्रशासनिक इकाई बनाने की मांग की। 1917 में इन्होंने दार्जिलिंग के साथ-साथ जलपाईगुड़ी जिले को मिलाकर एक अलग इकाई के लिए आवेदन दिया। शीघ्र ही उत्तर-पूर्व सीमान्तीय प्रदेश (North-Eastern Frontier Provice—NEFP) की मांग की गयी, जिसमें दार्जिलिंग, उत्तर बंगाल, असम और अरुणाचल को सम्मिलित करने का प्रस्ताव रखा गया। इस मांग के समर्थन में इन्होंने Hillmen's Association, Planters' Association और European's Association से प्रस्ताव पास कराए। फिर 1943 में अखिल भारतीय गोरखा लीग (All India Gorkha League—AIGL) की स्थापना के बाद गोरखा अलगाव की मांग ने गति पकड़ी। Gorkha League ने 1949 में उत्तराखंड नाम से एक नए प्रदेश की परिकल्पना प्रकट की। इस मांग के पीछे कार्यरत अनिश्चित मानसिकता प्रकट करने के लिए इसके प्रस्ताविक क्षेत्रों पर एक नजर डालना पर्याप्त है। उत्तराखंड प्रस्तावित प्रदेश नीचे लिखे क्षेत्रों में बनेगा :

अ : दार्जिलिंग, सिक्किम, जलपाईगुड़ी, डुआर्स एवं कूचबिहार या

आ : दार्जिलिंग, जलपाईगुड़ी एवं कूचबिहार, या

इ : दार्जिलिंग और सिक्किम, या

ई : दार्जिलिंग जिला मात्र।

इसके दो साल पहले, अप्रैल 6, 1947 को भारतीय साम्यवादी दल ने तत्कालीन अन्तरिम सरकार के समक्ष 'गोरखास्थान' नामक स्वतंत्र राष्ट्र की मांग रखी। साम्यवादियों द्वारा प्रस्तावित गोरखास्थान में दार्जिलिंग, सिक्किम और नेपाल शामिल किए गए थे। स्वाभाविक है इस प्रकार की बेसिर-पैर की मांग पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। राज्य पुनर्गठन आयोग (SRC) के सामने भी गोरखालैंड की मांग रखी गयी। परन्तु आयोग ने भी इसे नामंजूर कर दिया। फिर भी विभिन्न नामों से दार्जिलिंग निवासियों ने अपने को पश्चिम बंगाल से अलग करने की मांग अनवरत जारी रखी। इसका कारण बताया जाता रहा है कि बंगाल में उनकी आवाज को अनसुनी किया जाना और उनका सांस्कृतिक और राजकीय विकास अवरुद्ध होना।

यों तो अलग गोरखालैंड राज्य की मांग सर्वप्रथम 'प्रान्त परिषद' नामक संस्था ने अप्रैल, 1980 में विधिवत रखी। उसके करीब दो महीने बाद जुलाई, 1980 में एक भूतपूर्व सैनिक, सुभाष घीसिंग, ने इसके लिए आन्दोलन चलाने के लिए गोरखा राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा (Gorkha National Liberation Front—GNLF) की स्थापना की। उसके पहले अपनी साहित्यिक महत्त्वाकांक्षा व्यक्त करने के लिए घीसिंग साहब सस्ती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फ़ुटपाथ मार्का रोमानी उपन्यास 'लीलो (नीली) चोली' लिख चुके थे। प्रांत परिषद् के समर्थक गोरखालैंड राज्य के पक्ष में जनसमर्थन जुटा रहे थे, वहीं घीसिंग ने आन्दोलन को हिंसक रूप दे युवकों में संगठित सैनीकरण की मान्यता पैदा की। नेपालीभाषी युवक फौजी वर्दी के प्रति पहले आकर्षित होता है, क्योंकि समाज में सैनिकों की प्रतिष्ठा आर्थिक स्थिति और परम्परानुसार सर्वमान्य है। बेकार युवक पुरानी फौजी वर्दी, जिसे प्रायः फुटपाथ से खरीदा गया हो, पहन और गैरकानूनी हथियारों से लैस सरकारी सुरक्षा बलों का सामना करने में एक नए प्रकार का अधकचरा आत्मसम्मान अनुभव करने लगा। दार्जिलिंग में हिंसा भड़क उठी। एक तरफ GNLF, तो दूसरी तरफ CPI(M) की युवा शाखा के सदस्य और तीसरी तरफ केन्द्रीय सुरक्षा बल। 1985 आते-आते, पूर्वोत्तर भारत से विस्थापित नेपाली भाषियों की संख्या दार्जिलिंग में बढ़ने लगी। और उसंके साथ ही बढ़ने लगी हिंसा, हत्या, बन्द, आगजनी और अराजकता। ऐसी स्थिति में शान्तिपूर्व राजनैतिक आन्दोलन करने वाले क्षेत्रीय और राष्ट्रीय राजनैतिक दल प्रायः अपनी सार्थकता खोने लगे थे। दार्जिलिंग में घीसिंग का एकछत्र वर्चस्व हो चला। 14 जनवरी, 1987 को पहला प्रयास हुआ ताकि कोई समझौता हो पाए। ये समझौता वार्ताएँ अगले डेढ़ साल तक चलीं और इसकी परिणति 22 अगस्त, 1988 को भारत सरकार, पश्चिम बंगाल सरकार और GNLF के बीच त्रिपक्षीय समझौते पर हस्ताक्षर से हुई। समझौते की शर्तों के अनुसार 42 सदस्यीय 'दार्जिलिंग गोरखा पहाड़ी परिषद' (DGHC) में 28 चुने हुए और 14 नामजद सदस्यों का प्रावधान था। परिषद को कई स्वायतीय अधिकार और धन का उदारतापूर्वक आबंटन भी। गोरखालैंड राज्य की प्राप्ति तो नहीं हुई, इस कारण उभरी हुई अपेक्षा की पूर्ति नहीं होने से त्रिपक्षीय समझौता ने एक नए प्रकार के आक्रोश को जन्म दिया। DGHC का चुनाव दिसम्बर 13, 1988 को हुआ और घीसिंग साहब की मुराद पूरी हुई : वे DGHC के अध्यक्ष की कुर्सी पर आ जमे। यह कुर्सी उन्हें इतनी जंची कि सारी विधि-विधानों को ताक पर रख, घीसिंग साहब 20 साल तक उससे चिपके रहे।

स्वाभाविक है कि घीसिंग के निकम्मेपन, अहंकार और बड़बोलापन से तंग आकर उनके समर्थक दूर होने लगे। दार्जिलिंग विकास के सारे वादे धरे के धरे रह गए और DGHC की अनुपयुक्तता स्पष्ट होने लगी। केन्द्रीय और राज्य सरकारों से शह पा घीसिंग ने एक और तुक्का फेंका : जनपदीय स्वायत परिषद की पहल (Autonomous District Counil) का। स्मरणीय है कि भारतीय संविधान की छठी अनुसूचि में निहित प्रावधानों के अनुसार अनुसूचित जनजाति बहुल पहाड़ी जिलों के लिए स्वायत जिला परिषदों की व्यवस्था की गयी है। यह व्यवस्था काफी सोच-समझ कर बहुभाषीय और बहुजातीय असम राज्य से आरम्भ होकर अन्य पूर्वोत्तर राज्यों में ही सीमित है। इस प्रावधान के अनुसार स्वायतशासी परिषदों के चुने हुए पदाधिकारियों के पास विशेष अधिकार, बजट और जिम्मेवारियाँ होती हैं। अधिकार स्वायत शासी परिषदें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालान्तर में राज्यों में परिवर्तित भी हो गयीं। स्वाभाविक है कि इस प्रस्ताव का काफी विरोध हुआ। दार्जिलिंग की संस्लिष्ट (Complex) जनसंख्या के लिए, जहाँ अनुसूचित जनजातियों की संख्या काफी कम है, स्वायत परिषद की भूमिका पर प्रश्न उठाए गए। काफी विवाद के बाद मार्च 1, 2008 को भारतीय संसद ने इस बिल पर विचार करना नामंजूर कर दिया। अब तक घीसिंग के हाथ से GNLF का संगठन निकल चुका था। एक जमाने में भारत सरकार के विरुद्ध अपने पक्ष में संयुक्त राष्ट्र संघ, नेपाल नरेश, भूटान नरेश आदि को सनसनीखेज बेतुका पत्र लिखने वाला घीसिंग अपनी कलम की ताकत को खो चुका था। अब तो कल का यह जनाधिकारों का हिमायती जनता के लिए सिरदर्द बनकर रह गया था।

गोरखा जनमुक्ति मोर्चा (GJMèGJMM) : एक नयी पहल

2007/8' वर्ष की सर्दियों में घीसिंग के स्वायत परिषद के प्रस्ताव से दार्जिलिंग निवासी इतने न खीझे हुए थे कि वहाँ प्रायः बन्द आयोजित होते; घीसिंग के पुतले जलाए जाते; उनका जनाजा निकाल, उनकी अन्त्येष्टि की जाती; भूख हड़तालें की जातीं और घीसिंग से पद त्याग की मांग की जाती और गोरखालैंड राज्य के पक्ष में प्रस्ताव पारित किए जाते। फिर भी दम्भी और अहंकारी घीसिंग कलकत्ते और दिल्ली के हुक्मनुराने को बरगलाने में लगे रहे। लेकिन ढोल की पोल खुल ही गयी और राज्य के मुख्यमंत्री ने घीसिंग को 210 दिनों के अन्दर पदत्याग करने का नोटिस दिया। तब तक घीसिंग का भूतपूर्व दाहिना हाथ समझा जाने वाला मोहन गुरूंग एक नया मोर्चा बना चुका था : गोरखा जनमुक्ति मोर्चा (GJMM/GJM)। नए मोर्चे ने घीसिंग के दार्जिलिंग प्रवेश पर पाबन्दी लगा दी। यही नहीं, मोर्चे ने स्वयंभू 'दार्जिलिंग पहाड़ियों के तथाकथित राजा' के स्वागतार्थ घेरा डाल कर नारेबाजी कर रखी थी। उनकी सारी हेकड़ी चूर हो गयी। अन्ततोगत्वा 10 मार्च, 2008 को घीसिंग ने लाचार होकर दार्जिलिंग गोरखा पहाड़ी स्वायत परिषद के अध्यक्ष पद से त्यागपत्र दे दिया। परन्तु उनके दार्जिलिंग प्रवेश पर निषेध लागू है और निकट भविष्य में उनका दार्जिलिंग की पहाड़ियों में प्रवेश करना असम्भव लग रहा है। उनके GNLF के अधिकांश सक्रिय सदस्य नए मोर्चे में शामिल हो गए हैं। एक नए सिरे से गोरखालैंड राज्य की मांग के पक्ष में आन्दोलन जारी है। GJM अध्यक्ष मोहन गुरूंग ने मार्च, 2010 तक गोरखालैंड राज्य की प्राप्ति का लक्ष्य रखा है। ऐसी कौन सी बात हुई कि ऐसा पटाक्षेप हो गया और हताश-निराश नेपाली भाषी एक नए विश्वास के साथ उठ खड़े हुए?

एक साधारण सा परिवार में मोहन गुरुंग का जन्म 1964 में हुआ और उसने स्कूली शिक्षा भी पूरी नहीं की। GNLF के स्वयंसेवक से शुरू कर शीघ्र की वह अपने 'मुहल्ले का शेर' बन बैठा। उसका गुरु, सुभाष घीसिंग, उसका उपयोग मजमेबाजी, मारपीट और हिंसक प्रदर्शन के लिए करता रहा। रुद्र कुमार प्रधान, DGHC के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिंगआरी:तिक्वार पार्षद की दिनदहाड़े हत्या कर दी गयी। उस रिक्त स्थान पर मोहन गुरूंग एक आज़ाद उम्मीदवार के रूप में 1999 में चुना गया। बिल्ली के भाग से छिक्का टूटा : इंडियन आइडल, 2007 (Indian Idol, 2007) में दार्जिलिंग निवासी गायक सिपाही प्रशान्त तमांग का नाम उभरा। मौके की तलाश में मोहन गुरूंग ने 'प्रशान्त तमांग फैन क्लब' के आयोजन में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया और फिर तो क्लब का सलाहकार बन बैठा। विजयी प्रशान्त तमांग के घर-वापसी के साथ सिल्लीगुड़ी में हिंसा भड़क उठी। किसी टी.वी. चैनल के प्रस्तुतकर्त्ता ने प्रशान्त के विजय पर अनुपयुक्त टिप्पणी की, जिससे नेपालीभाषियों में नाराज़गी फैली। प्रदर्शन हुए, बन्द आयोजित किए गए। उसके बाद प्रशान्त तमांग के विजय की खुशी में अनेक स्थानों पर उत्सव हुए। फिर 'फैन क्लब' की तरफ से आम जनता को समर्थन देने के लिए धन्यवाद देने का दौर शुरू हुआ। इन सभी क्रिया-कलापों में मोहन गुरूंग छाया रहा। इन आयोजनों में आगुंतकों के स्वागत या धन्यवाद के क्रम में मोहन गुरूंग प्रस्तावित स्वायतशासी परिषद् के विरूद्ध बोलने लगा। दार्जिलिंग के बुद्धिजीवी मानते हैं कि स्वायतशासी परिषद् के माध्यम से राज्य सरकार नेपालीभाषियों के बीच सामाजिक बंटवारा कर गोरखालैंड राज्य की मांग को समाप्त करना चाहती है। प्रशान्त तमांग के विजय के दो सप्ताह के बाद मोहन गुरूंग ने GJM की स्थापना गोरखालैंड राज्य को प्राप्ति करने के उद्देश्य से की। देखते-देखते जैसे-जैसे गुरूंग का स्वर मुखर होता गया, GNLF के घटक GJM से जुड़ने लगे। फिर तो बुद्धिजीवी आगे आए। विभिन्न राजनैतिक दलों की स्थानीय इकाइयाँ, जो घीसिंग के दबदबे में निष्क्रिय थी, सक्रिय हुईं और GJM के समर्थन में आ जुटीं। एक बार गोरखालैंड राज्य के प्रश्न पर दार्जिलिंग में आम सहमति बनती दिखायी दी।

घीसिंग और GNLF के विपरीत GJM ने अपनी मांग का दायरा बढ़ा कर जलपाईगुड़ी और कूचबिहार जिलों को भी गोरखालैंड राज्य के अन्दर लाया। इस सम्बन्ध में मोर्चे ने सदरी भाषी आदिवासी युवकों और कोच समुदाय के युवकों को अपने साथ संलग्न करने का प्रयास किया। प्रकटतः मोर्चा अपने आन्दोलन को अहिंसक विधि से चलाने का दावा कर रहा है। स्पष्ट है कि GJM की पहले दौर की लड़ाई मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी पश्चिम बंगाल सरकार और वामपंथी बंगालीभाषियों से है। गुरूंग और मोर्चे को अपने विगत क्रियाकलापों की बहुत कम सफाई देनी है। उसी प्रकार मोर्चे के पास कोई सैद्धांतिक बोझ (Ideological baggage) भी नहीं है। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए गुरूंग किसी भी दूर तक जाने के लिए और किसी से भी हाथ मिलाने के लिए तत्पर दिखता है। मोर्चे का नेतृत्व दिल्ली यात्रा कर राष्ट्रीय दलों के नेताओं को अपने विचार से अवगत कराता रहा है। लगता हैं कि कांग्रेस से उपयुक्त प्रतिक्रिया के अभाव में मोर्चे ने 2009 के संसदीय चुनाव के लिए बीजेपी का दामन थामा है। वर्षों से बीजेपी पश्चिम बंगाल में पाँव जमाने की ताक में रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GJM ने बीजेपी को एक सुनहरा अवसर प्रदान किया है। परन्तु प्रतिकूल परिस्थिति में मोर्चा और गुरूंग अपना पल्ला झाड़ सकते हैं। अभी तो राष्ट्रीय चुनाव के कारण पहाड़ों पर अपेक्षाकृत शान्ति बनी हुई है। फिर देखना है ऊँट किस करवट बैठता है? दार्जिलिंग पहाड़ियों की बंगाल से अलगाव की मांग करीब एक सौ साल पुरानी है। मांग का मुख्य आधार रहा है भारतीय नेपालीभाषियों की अपने लिए एक गृहराज्य की तलाश। भारतसंघ में सिक्किम राज्य के अतिरिक्त दार्जिलिंग जनपद के तीन पहाड़ी उपजनपद (सब-डिवीजन) हैं, जहाँ नेपालीभाषियों की बहुलता है। साथ में लगे सिलीगुड़ी उपजनपद, जलपाईगुड़ी और कूचबिहार जिलों में भी उनकी अच्छी तादाद है। ये ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ कोच समुदाय पं. बंगाल से पृथक कामतापुरी राज्य का आन्दोलन चला रहा है। दूसरी तरफ करीब 150 वर्षो पहले झारखंड से आयातित आदिवासी चाय बागान मजदूर अलग से आन्दोलित हैं। गोरखालैंड या नेपालीभाषियों की गृहराज्य की मांग समय के अनुसार बदलती रही है। किसी समय में नेपाल, सिक्किम और दार्जिलिंग को मिलाकर गोरखा स्थान की मांग की गयी। उसी समय पूर्वोत्तर सीमान्तीय प्रदेश की परिकल्पना पेश की गयी, जिसमें सिक्किम, उत्तरी बंगाल के साथ-साथ पूर्वोत्तर के सभी क्षेत्र शामिल किए गए। इसका एक अन्य पहलू यह है कि कल तक के एकमात्र गोरखा प्रवक्ता, सुभाष घीसिंग, दार्जिलिंग जिले के तीन पहाड़ी सब-डिवीजनों को मिलाकर गोरखालैंड राज्य बनाने को तत्पर थे। ऐसी स्थिति में, गोरखा देश को कौन सा सम्वाद देना चाहते हैं? उनकी मांग का वस्तुपरक आधार क्या है? यही न कि भारतीय नेपाली भाषियों की गृह राज्य की मांग ताकि वे अपने सामाजिक और सांस्कृतिक परम्परा के अनुसार अपने भविष्य का निर्माण कर सकें?

निश्चित रूप से भारतीय संघ में राज्यनिर्माण के मार्ग में भाषा अत्यावश्यक बिन्दु रहा है। परन्तु एकाधिक हिन्दी और बंगलाभाषी राज्य हैं। राज्य का क्षेत्रफल कितना बड़ा हो? इस प्रश्न का सीधा उत्तर तो नहीं मिलता; परन्तु परोक्ष रूप में भौगोलिक, ऐतिहासिक और राजनैतिक पहलू छोटे राज्यों के निर्माण में सहायक हुए हैं। यथा त्रिपुरा का पश्चिम बंगाल में विलीन होने के स्थान पर अलग राज्य होना (भौगोलिक); गोवा का अलग राज्य बनना (ऐतिहासिक); या नागालैंड और मिजोरम का पृथक राज्य बनना राजनैतिक पहलू से किए गए फैसले थे। लगभग 10 लाख की जनसंख्या वाले दार्जिलिंग के पहाड़ी क्षेत्रों की 90 प्रतिशत आबादी नेपाली भाषी है। क्या उन्हें, यानी तीन पहाड़ी सब-डिवीजनों को मिलाकर गोरखालैंड राज्य दे देनी चाहिए? क्यों नहीं अगर यह बहुमत की मांग है और राज्य आर्थिक रूप से स्वयं में सक्षम हो तो। परन्तु इतनी छोटी इकाई का यानी जिले स्तर से भी नीचे सब-डिवीजन के स्तर पर राज्य अब तक नहीं बना है। तो क्या, जो अब तक नहीं हुआ, वह भविष्य में भी नहीं होगा? इस प्रश्न का उत्तर तो भविष्य ही देगा। परन्तु अगर ऐसा हुआ तो उसके बहुआयामी परिणाम भी भारतीय संघ को भुगतना पड़ेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GJM की मांग है कि दार्जिलिंग के तीन पहाड़ी सब-डिवीजनों के अतिरिक्त जलपाईगुड़ी और कूचबिहार जिले और दार्जिलिंग जिले का सिलीगुड़ी सब-डिवीजन को प्रस्तावित गोरखालैंड राज्य में अन्तर्मुक्त होना चाहिए। क्यों? वहाँ कितने नेपालीभाषी बसते हैं? सिलीगुड़ी सब-डिवीजन की 8,50,000 आबादी में मात्र एक लाख नेपाली भाषी 2001 में पाए गए, तो क्या 7,50,000 गैर-नेपाली भाषियों की आवाज नहीं सुननी चाहिए? ऐसी ही स्थिति जलपाईगुड़ी और कूचबिहार की है; वहाँ भी 10 प्रतिशत से अधिक नेपालीभाषी नहीं पाए जाते। तो क्या वहाँ के अन्य भाषा-भाषियों की आवाज नहीं सुनी जानी चाहिए? क्या ऐसा करना जनतांत्रिक होगा? अगर थोड़ी देर के लिए मान भी लें कि उपरोक्त तीनों जिलों को मिलाकर एक गोरखालैंड राज्य बनाया जाय। तो वहाँ के कोच, बंगाली, आदिवासी, हिन्दीभाषी आदि अपने को गोरखा क्यों मानने लगेंगे और राज्य का नाम गोरखालैंड ही क्यों होगा? कोई कारण नहीं दिखता कि कामतापुरी राज्य के समर्थक अपनी कोच राज्य की मांग छोड़कर गोरखालैंड के समर्थक बन जाएंगे?

इस संदर्भ में आश्चर्य होता है कि गोरखालैंड आन्दोलन के कर्णधार सिक्किम का नाम भी नहीं लेते। दूसरी तरफ अपनी गोरखालैंड आन्दोलन जन्य परेशानियों के बावजूद सिक्किमी नेता आन्दोलन के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं। आन्दोलनकारियों का पूरा गुस्सा पश्चिम बंगाल सरकार और बंगलाभाषी बुद्धिजीवियों के प्रति प्रकट होता है। बंगाली मानसिकता गोरखालैंड का इतना पुरजोर विरोध क्यों कर रही है? इस प्रश्न के उत्तर में बंगलाभाषी प्रायः भावुक हो कह पड़ते हैं कि वे बंगाल का दूसरा विभाजन सहन नहीं कर सकते। स्पष्ट है कि 1905 का बंगभंग बंगाल और भारत राष्ट्र दोनों के लिए काफी कष्टकारक सिद्ध हुआ था। संभवतः कोई भी भारतीय उस दुर्घटना की पुनरावृत्ति नहीं चाहेगा। बंगाली बुद्धिजीवी पूर्वी पाकिस्तान/बंगलादेश के गठन के बाद से उसकी आवृत्ति की मात्र सम्भावना से उद्विग्न हो उठते हैं। परन्तु दार्जिलिंग तो मात्र 150 वर्षों से बंगाल से जुड़ा है। उसकी आबादी, भाषा, संस्कृति, भौगोलिक स्थिति, यहाँ तक कि उसका इतिहास, बंगाल से अलग रहा है फिर दार्जिलिंग का अलग होना बंगभंग कैसे माना जा सकता है? क्या यह एक तरह का दुराग्रह नहीं माना जा सकता है? जब बिहार से बंगलाभाषी क्षेत्र (यथा पुरुलिया और पश्चिम दिनाजपुर का अधिकांश भाग) पश्चिम बंगाल को लेने में परहेज नहीं रहा, तो फिर दार्जिलिंग का गैर-बंगाली भाषा के क्षेत्र बंगाल में रखने का औचित्य क्या है?

जाहिर है कि दार्जिलिंग का इतिहास, भूगोल, जनसंख्या, संस्कृति और आवागमन, सिक्किम से जुड़ा रहा है। सच तो यह है कि दार्जिलिंग और सिक्किम एक दूसरे के पूरक हो सकते हैं। परन्तु समस्याएँ बहुत हैं। दोनों क्षेत्रों के कर्णधार एक-दूसरे का लिहाज कर कोई भी ऐसी बात नहीं होने देना चाहते, जिससे दूसरे की भावनाओं को किसी प्रकार की चोट पहुँचे। सिक्किम में चाहे नेपाल हो, या दार्जिलिंग, या तिब्बत,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या भारतसंघ का मैदानी भाग, बाहरी व्यक्तियों से जुड़ा प्रश्न अत्यन्त ही संजीदा माना जाता है। दार्जिलिंग के संदर्भ में सिक्किमी बुद्धिजीवी परिहास भरे अंदाज में प्रस्फुटित होते हैं : "भला साढ़े पाँच लाख की आबादी वाला सिक्किम राज्य 20 लाख वाले जिले में कैसे मिल सकता है? इस प्रक्रिया से सिक्किम को क्या हाथ आएगा?" अगर ऐसी स्थिति आती है, तो सिक्किम में आशंका है कि दार्जिलिंग के शिक्षित, व्यवहारकुशल और संघर्षशील निवासी बाढ़ के पानी के समान सिक्किम की परम्परा-पसन्द, सीधी-सादी जीवन और संरक्षित जनमानस पर छा जाएंगे। तो क्या इसी नियति के लिए सिक्किम का भारत में विलय हुआ था?

1988 की त्रिपक्षीय वार्त्ता को सफल बनाने के क्रम में विभिन्न घटकों के बीच संवाद सफल कराने में इन्द्रजीत खुल्लर नामक पत्रकार ने कुछ भूमिका अदा की थी। कृतज्ञः घीसिंग ने अलगे आम चुनाव में दार्जिलिंग की एकमात्र लोकसभा की कुर्सी खुल्लर साहब को पेश कर दी। उसके बाद फिर खुल्लर साहब पहाड़ों पर दिखे-सुने नहीं गए। गोरखालैंड राज्य का प्रस्ताव और आन्दोलन, GOM और उसके अध्यक्ष मोहन गुरूंग का क्या हश्र होगा यह तो समय बताएगा। इस बार यशवन्त की बारी है। ऐसा नहीं कि GJM और यशवन्त सिंह GNLF और इन्द्रजीत खुल्लर की कहानी दुहराएं? तो क्या एक बार फिर दार्जिलिंग की सीधी-सादी भावुक जनता कलकत्ते और दिल्ली की सत्ता के गलियारों की मोहरे बनेगी? गोरखालैंड का यह गोरखधंधा इस क्षेत्र की जनता के लिए काफी महंगा रहा है। क्या यह ऐसे ही चलता रहेगा और जनता पिसती रहेगी? इन प्रश्नों का उत्तर समय ही देगा।

सन्दर्भ

1. Sinha A.C., 'From Sikkim to Sukkim' Himal, Vo. 6(3), 1993
2. Sinha, A.C., Sikkim : Feudal and Democractic, Indus Publishing Co., New Delhi, 2008.
3. Subba, T.B., Ethnicity State and Development : A Case Study of Gorkhaland Movement, Har Anand Publications, New Delhi, 1992.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रीय काव्य-धारा और दिनकर का काव्य

कमल किशोर गोयनका*

रमेशचन्द्र शाह ने अपनी आलोचनात्मक पुस्तक 'समय संवादी' में लिखा है कि विगत कुछ दशकों से हिन्दी साहित्य में संस्कृति तथा सांस्कृतिक परिवेश को महत्त्व देने वाले लेखकों को निरन्तर हाशिये पर धकेला जाता रहा है और रचनात्मक एवं आलोचनात्मक क्षेत्रों में 'साहित्यिक विवेक' से नहीं 'मोर्चा-बुद्धि' से उसे नष्ट करने का प्रयत्न होता रहा है। संस्कृति राष्ट्र की अंतरंग चेतना है और भूमि एवं जन राष्ट्र का बहिरंग पक्ष है। राष्ट्र है तो संस्कृति है, अतः जब भी संस्कृति की बात होती है तो किसी न किसी राष्ट्र की संस्कृति की ही बात होती है। अतः रमेशचन्द्र शाह जब संस्कृति और उसके संवाहक हिन्दी लेखकों की बात कर रहे हैं तो वे वास्तव में हिन्दी के राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा के साहित्य और साहित्यकारों की उपेक्षा और अवमानना का ही उल्लेख करते हैं। ऐसे में रामधारी सिंह 'दिनकर' की राष्ट्रीय कविता की चर्चा हमें आश्वस्त करती है।

रामधारी सिंह 'दिनकर' की राष्ट्रीय काव्य-धारा के चिन्तन एवं विवेचन के समय मैं आपको वेद-शास्त्रों तथा अन्य संस्कृत के महान ग्रन्थों की ओर नहीं ले जाऊँगा जहाँ हमें सबसे पहले राष्ट्र की कल्पना, देश भूमि से भाता-पुत्र का सम्बन्ध, विचार-कर्म एवं उद्देश्यगत एकता तथा सांस्कृतिक जीवन की झलक मिलती है और न मैं आपको मध्ययुग में विदेशी आक्रांताओं से देश की रक्षा में कटते-मरते राजपूत राजाओं की प्रशस्ति में रचे गये वीरगाथात्मक काव्य तथा उनकी राष्ट्रीय चेतना के विस्तार में ही ले जाना चाहूँगा, क्योंकि उनका राष्ट्रीय भाव सम्पूर्ण देश के लिए न होकर अपने-अपने राज्यों तक सीमित था और भूषण जैसे राष्ट्रीय कवियों की राष्ट्रीयता हिन्दुत्व की रक्षा तक ही थी। इस पर भी यह राष्ट्रीय धारा इतनी विरल थी कि रीतिकाल की सहस्रधारा में शीघ्र ही विलीन हो गयी। हमें राष्ट्रीयता का प्रथम उत्थान सन् 1857 की क्रान्ति से मिलता है, यद्यपि राजा राममोहन राय के विचारों तथा कार्यों से काफी पहले से ही देश में सांस्कृतिक जागरण आरम्भ हो चुका था। डॉ. रामविलास शर्मा ने उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी के इस राष्ट्रीय नवजागरण के तीन

*ए-98, अशोक विहार, फेज प्रथम, दिल्ली-110052. मोबाइल : 98110-52469

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चरण बताये हैं–सन् 1857 का स्वतन्त्रता संग्राम, भारतेन्दु युग तथा द्विवेदी युग। सन् 1857 का यह संग्राम यद्यपि असफल रहा, परन्तु उसने देश में सांस्कृतिक एवं राजनीतिक चेतना की एक नयी लहर उत्पन्न कर दी और स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, 'आनन्दमठ' का 'वन्देमातरम्' राष्ट्रीय गीत, बंग-भंग आन्दोलन, खुदीराम की फाँसी, गांधी के भारत आगमन आदि ने सम्पूर्ण भारत में देश-प्रेम, राष्ट्रीयता, सांस्कृतिक पुनरुत्थान और एकत्व की प्रबल भावना उत्पन्न कर दी। इस नयी परिस्थिति ने, जब देश साम्राज्यवादी अंग्रेजों की दासता में जकड़ा था तथा स्वाधीन होने की चेतना अंकुरित हो रही थी, तब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी में राष्ट्रीय साहित्य की नींव रखी, जबकि 'रामायण' और 'महाभारत' राष्ट्रीय एवं जातीय काव्य के रूप में समादृत थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र प्राचीन और नवीन के उस संक्रमण-काल में भारतवासियों की नवोदित आकांक्षाओं, राष्ट्रीयता एवं सांस्कृतिक जागरण के प्रतीक थे और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार उनके साहित्य का मुख्य स्वर देश के प्रति प्रेम, देशभक्ति एवं जाति-गौरव का था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके मंडल के साहित्यकारों ने हिन्दी में राष्ट्रीय काव्य-धारा की नींव रखी और जब महावीर प्रसाद द्विवेदी का हिन्दी मंच पर आगमन हुआ तो युग की परिस्थितियाँ ही ऐसी थीं कि इस राष्ट्रीय काव्य-धारा का निरन्तर विकास हुआ। विश्व रंगमंच पर सन् 1904 में जापान की रूस पर विजय, बंग-भंग आन्दोलन, होमरूल आन्दोलन तथा गांधी के असहयोग आन्दोलन ने देश में नवजागरण, राष्ट्रीयता और मानवता के नवीन दृष्टिकोण तथा सांस्कृतिक उपलब्धियों एवं सुधार की तीव्र चेतना को विकसित करने में महान योगदान किया। हिन्दी काव्य में मैथिलीशरण गुप्त तथा कथा-साहित्य में प्रेमचंद ने इस राष्ट्रीय जागृति का नेतृत्व किया। छायावाद के आगमन से हिन्दी काव्य में व्यक्तिवाद, आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति, कल्पना की अतिशयता तथा उन्मुक्त प्रेम की प्रवृत्ति का जन्म हुआ, परन्तु छायावाद भी राष्ट्रीयता एवं सांस्कृतिक नवजागरण की भावना को साथ लेकर चलता रहा। छायावादी कवियों में निराला का 'भारति जय-विजय कर' गीत भारत-माता का एक सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करता है, पंत ने भारत माता के कई चित्र 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' में खींचे हैं तथा प्रसाद के 'हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार' नामक प्रसिद्ध गीत में भारतीय इतिहास का गौरवपूर्ण चित्र है। इस प्रकार 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध एवं 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध के बीच देश में जिस सांस्कृतिक नवजागरण ने जन्म लिया था, वह राष्ट्रीयता से पुष्ट होता गया और 'भारत-दुर्दशा' (1880), 'सोज़ेवतन' (1908), 'हिन्द स्वराज्य' (1909) तथा 'भारत-भारती' (1912) आदि ग्रन्थों के द्वारा साहित्य में स्वराज्य और स्वाधीनता की जिस राष्ट्रीय भावना का जन्म और उसका विस्तार हुआ था, उसने सम्पूर्ण देश को अपने प्रभाव में ले लिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामधारी सिंह 'दिनकर' का कवि के रूप में आगमन सन् 1935 में प्रकाशित उनके प्रथम कविता-संग्रह 'रेणुका' से होता है। उनके सम्मुख भारतेन्दु काल से लेकर छायावाद काल तक की काव्य-चेतना और उनकी प्रवृत्तियाँ सजीव रूप में विद्यमान थीं। वे द्विवेदी युगीन और छायावाद की काव्य-पद्धतियों का स्वयं को वारिस भी मानते थे, इसलिए उनकी काव्य-सृष्टि में हमें दोनों ही प्रकार की काव्य-रचनाएँ मिलती हैं। हिन्दी में राष्ट्रीय काव्य-धारा भारतेन्दु, द्विवेदी तथा छायावादी युग में निरन्तर प्रवाहित होकर उन तक पहुँची थी। इस युग के विख्यात आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'जाति की स्वतन्त्र सत्ता', 'देशबद्ध मनुष्यत्व', 'देश के स्वरूप से परिचय', 'मूल भारतीय लक्ष्य की रक्षा', 'स्वदेशाभिमान एवं स्वदेश-प्रेम', 'अतीत की स्मृति' तथा 'विदेश की नकल' के विरोध के उल्लेख से इसी राष्ट्रीय चेतना को वाणी दी। इस राष्ट्रीय-भाव में दासता से मुक्ति के साथ सांस्कृतिक अस्मिता को अंधेरे से बाहर निकालने की प्रबल कामना भी थी और इसके लिए अतीत का गौरव-गान, देश की सजीव कल्पना, स्वदेशी एवं स्वत्व-बोध, परतन्त्रता से मुक्ति, सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा एवं भारतीयता, देश की दुर्दशा के प्रति क्षोभ और सुधारात्मकता की प्रवृत्तियाँ उसकी सिद्धि के लिए क्रियाशील थीं। दिनकर ने अपनी काव्य-यात्रा यद्यपि छायावादी मनोभावों से आरम्भ की थी, परन्तु छायावादी युग की समाप्ति के साथ ही उनकी राष्ट्रीय कविताएँ प्रकाशित होने लगीं और सन् 1940 में 'हुंकार', 1946 में 'कुरुक्षेत्र', 1952 में 'रश्मिरथी' तथा 1963 में 'परशुराम की प्रतीक्षा' प्रकाशित हुई। असल में, इन राष्ट्रीय काव्यकृतियों के होते हुए भी हम 'दिनकर' को राष्ट्रीय धारा का ऐकान्तिक कवि नहीं कह सकते, क्योंकि उनके काव्य में प्रेम, सौन्दर्य, प्रगतिवादी आदि रचनाएँ भी बराबर मिलती हैं। हिन्द्री काव्य-धारा में राष्ट्रीय चेतना की कविता लिखने वाले अधिकांश कवियों की मिश्रित अनुभूतियाँ रही हैं और जीवन के अन्य क्षेत्रों पर भी उनकी दृष्टि गयी है। दिनकर ने अपने इस संवेदनात्मक द्वन्द्व पर लिखा है कि मुझे राष्ट्रीयता, क्रान्ति और गर्जन-तर्जन की कविताएँ लिखते देखकर मेरे भीतर बैठे हुए रवीन्द्रनाथ दुःखी होते थे और संकेतों में कहते थे–"तू जिस भूमि पर काम कर रहा है, वह काव्य के असली स्रोतों के ठीक समीप नहीं है", तब मैं 'असमय आह्वान' में 'हाहाकार' में तथा अन्य कई कविताओं में अपनी किस्मत पर रोता था कि हाय, काल ने इतना कसकर मुझे ही क्यों पकड़ लिया? मेरे भीतर जो कोमल स्वप्न हैं, वे क्या भीतर मुरझाकर मर जायेंगे?" यह अन्तर्द्वन्द्व दिनकर में रहा और 'रसवंती', 'द्वन्द्वगीत', 'उर्वशी' आदि में कोमल स्वप्नों को वाणी मिली, परन्तु उन्होंने घोषणा यही की कि वे युद्ध के चारण हैं। 'दिनकर' ने 'हुंकार' के आमुख से इसे ही स्वीकार करते हुए लिखा था :

"अमृत गीत तुम रचो कलानिधि, बुनो कल्पना की जाली,
तिमिर-ज्योति की समर-भूमि का, मैं चारण, मैं वैताली।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देश की पराधीनता और शत्रु देश का आक्रमण किसी भी कवि को युग-चारण बना देता है। इस अर्थ में यदि देखा जाये तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति तक के अधिकांश हिन्दी कवि युग-चारण कहे जा सकते हैं। कवि हो या कोई अन्य रचनाकार, वह अपने समय से, अपने काल और युग-धर्म से संचालित होता है। 'दिनकर' ने लिखा है कि काल भी अपने कवि की प्रतीक्षा करता है, क्योंकि ऐसा युग-कवि अपने राष्ट्र की मूक से मूक भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है। यही कारण है कि पराधीनता के उस काल में दिनकर के आविर्भाव से पहले और बाद में राष्ट्रीय काव्य-धारा प्रवाहमान बनी रहती है। इसका प्रमाण है कि दिनकर की 'हुंकार' (1940) के आसपास श्यामनारायण पांडेय की 'हल्दी घाटी' (1937-39), 'जौहर' (1939-44), माखनलाल चतुर्वेदी की 'हिम किरीटिनी' (1942), सुभद्राकुमारी चौहान की 'झांसी की रानी', सोहनलाल द्विवेदी की 'भैरवी' (1941), 'वासवदत्ता' (1942), 'कुणाल' (1943), 'पूजा गीत' (1945) तथा बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि की राष्ट्रीय धारा की कविताएँ तथा काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। इस काल-खंड में द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ चुका था, देश में राष्ट्रीयता की भावना तीव्र हो उठी थी, गांधी ने स्वतन्त्रता-संग्राम को आगे बढ़ाकर 'करो या मरो' का मंत्र दिया था, आज़ाद हिन्द फौज पर मुकदमा चलने लगा था, बंगाल के अकाल ने देश को कँपा दिया था और विश्व-युद्ध में रूस की विजय ने अंग्रेजों की तानाशाही के भी नष्ट होने का विश्वास उत्पन्न कर दिया था। इस राष्ट्रीय परिदृश्य में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना तथा प्रगतिवादी साहित्य की रचना-दृष्टि भी राष्ट्रीय काव्य-धारा के कवियों की सर्जनात्मकता को प्रभावित कर रही थी। पं. माखनलाल चतुर्वेदी तो कवि को 'वीर' और 'योद्धा' के रूप में ही देख रहे थे :

"तम में खलबली मचाता, रे गायक! क्या तू कवि है?
दावों में तू योद्धा है, भावों में वीर सुकवि है।"

चतुर्वेदी जी के लिए तो कवि और बलिदान में कोई अन्तर ही नहीं है—"बलि और गीत, ये, युग की बीहड़ भूमि पर, एक-दूसरे के पूरक पंथी हैं।" उनकी कविताओं में राष्ट्रीयता, देशभक्ति और बलिदान की निष्ठा ज्वालामुखी के समान धधकती है। 'एक भारतीय आत्मा' के रूप में प्रसिद्ध उनके कविता-संग्रह 'युगचरण' की ये पंक्तियाँ हमें आज भी देश के लिए प्राणोत्सर्ग करने को प्रेरित करती हैं :

"मुझे तोड़ लेना बनमाली, उस पथ पर देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।"

अपनी मातृभूमि के लिए शीशदान की यह मनोभावना इतनी तीव्र थी कि प्रायः राष्ट्रीय धारा के प्रत्येक कवि में यह किसी-न-किसी रूप में मिलती है। सोहनलाल द्विवेदी यतीन्द्रनाथ दास की मृत्यु पर लिखते हैं—"बिना चढ़ाए शीश नहीं टूटेगी माँ की कड़ियाँ / दुनिया में जीने का सबसे सुन्दर मधुर तकाजा / हो शहीद! उठने दे अपना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फूलों भरा जनाजा।" सुभद्राकुमारी चौहान ने तो केवल 44 वर्ष की आयु ही पायी, किन्तु वे स्वाधीनता आन्दोलन में जेल गयीं और 'झांसी की रानी', 'सेनानी का स्वागत', 'जलियाँवाला बाग', 'वीरों का कैसा हो वसंत', 'मातृ-मन्दिर', 'स्वदेश के प्रति' जैसी देश-प्रेम एवं उत्सर्ग की कविताएँ भी लिखती रहीं। उनकी राष्ट्रीय कविताओं में विदेशी शासन के प्रति क्षोभ, वीरों का स्मरण तथा बलिपंथ की भावना का प्राबल्य है, किन्तु इनके अतिरिक्त उनकी काव्य-सृष्टि का एक और महत्त्व है कि वे नारी के अबलापन को त्याग कर एक सिंहनी के रूप में गर्जना करती हैं और भारत-माता की रक्षा में अपना बलिदान देने को तत्पर हैं। वे 'मातृ-मन्दिर' कविता में यही भावना व्यक्त करती हैं :

"मातृ-वेदी पर घंटा बजा, चढ़ा दो मुझको हे भगवान,
सुनूँगी माता की आवाज़, रहूँगी मरने को तैयार,
कभी भी उस वेदी पर देव, न होने दूँगी अत्याचार।
न होने दूँगी अत्याचार, चलो मैं हो जाऊँ बलिदान
मातृ-मन्दिर में हुई पुकार, चढ़ा दो मुझको हे भगवान।"

इसी प्रकार श्याम नारायण पांडेय की 'हल्दी घाटी' और 'जौहर' काव्य-कृतियों ने राजपूतों के स्वातन्त्र्य-प्रेम, शौर्य, त्याग तथा आत्म बलिदान के आख्यान के द्वारा पूरे देश में राष्ट्रीय भावना का संचार किया और दासत्व के चंगुल से छूटने का संकल्प उत्पन्न किया। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भी राष्ट्रीय वीर-काव्य के रचनाकारों में से एक प्रमुख रचनाकार थे। रामधारी सिंह 'दिनकर' ने उनके सम्बन्ध में लिखा है कि 'नवीन' भारत-माता के लाड़ले लाल थे, ऐसा वीर लाल जो माता की गौरव-रक्षा के लिए कोई भी बलिदान बिना हिचकिचाहट के दे सकता था। 'नवीन' गांधी के स्वाधीनता संग्राम में कई बार जेल गये और लगभग नौ वर्ष की सजा भोगी। उन्होंने 'प्रभा' तथा 'प्रताप' का सम्पादन किया और उनके चन्द्रशेखर आज़ाद, भगतसिंह, बटुकेश्वर दत्त, शचीन्द्रनाथ सान्याल, अजय घोष आदि क्रांतिकारियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुए। 'नवीन' का पहला काव्य-संग्रह 'कुंकुम' सन् 1936 में प्रकाशित हुआ और 'उर्मिला' (1950), 'रश्मिरेखा' (1952), 'अपलक' (1952), 'विनोबा स्तवन' (1955) आदि काव्य-संग्रह स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद छपे, किन्तु उनकी राष्ट्रीय कविता में देश के उज्ज्वल अतीत का गौरव-गान, मातृ-भूमि की स्तुति, बलिदान की भावना और क्रान्ति के स्वर मिलते हैं। उनकी 'कुंकुम' (1936) काव्य-संग्रह की ये प्रखर राष्ट्रीयता से भरी पंक्तियाँ बहुत ही प्रसिद्ध हुईं :

"कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए,
एक हिलोर इधर से आए, एक हिलोर उधर से आए,
प्राणों के लाले पड़ जाएँ, त्राहि-त्राहि स्वर नभ में छाए।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामधारी सिंह 'दिनकर' की राष्ट्रीय काव्य-धारा की पृष्ठभूमि में भारतेन्दु युग से लेकर छायावादी काल तक निरन्तर आने वाली राष्ट्रीय चेतना एवं बलिदानी देशभक्ति विद्यमान थी। 'दिनकर' ने आरम्भ में अवश्य ही छायावादी रंग की कविताएँ लिखीं, परन्तु उन्होंने शीघ्र ही स्वयं को छायावाद के प्रभाव से मुक्त किया। उन पर आगे चलकर प्रगतिशीलता और जनवाद का भी प्रभाव पड़ा, लेकिन वह भी पार्टी के आदर्शों के पालन के लिए न होकर राष्ट्रीय उद्देश्यों और मानवता के कारण था। 'दिनकर' की काव्य-धारा में राष्ट्रीय-काव्य की प्रवृत्ति प्रमुख है और वह उनके रचना-काल के बड़े हिस्से में फैली हुई है। 'दिनकर' के इस राष्ट्रीय काव्य की विशेषताओं की प्रकृति के विवेचन से पहले राष्ट्रीयता, राष्ट्र-प्रेम तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में उनके विचारों की एक झलक ले लेना उचित होगा। 'दिनकर' अपनी धारा के उन कवियों में से एक हैं जिन्होंने अपने समय की काव्य-धाराओं तथा कवियों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। उनकी 'वट पीपल', 'आधुनिक बोध' आदि विचारात्मक निबन्धों की पुस्तकों में राष्ट्रीयता तथा युद्ध और राष्ट्रीयता पर उनके विस्तृत विचार मिलते हैं। 'दिनकर' का विचार है कि अंग्रेजी दासता के विरुद्ध जब देश की जनता में एकता हुई तो राष्ट्रीयता का विकास हुआ। दासता में यदि राष्ट्रीय भावना का उदय न हो तो दासता से मुक्ति नहीं हो सकती। उनका मत है कि विदेशी राज्य के प्रति घृणा राष्ट्रीयता को पनपाती है, और ऐसी घृणा अपनी रचनात्मक शक्ति के कारण अनेक अर्थों में गुलाम देश के लिए कल्याणकारी होती है। यह राष्ट्रीयता गुलाम देशों के लिए अमृत तुल्य है क्योंकि राष्ट्रीय उत्साह के बिना न तो एकता स्थापित होती है और न स्वाधीनता का स्वप्न पूर्ण होता है। परन्तु 'दिनकर' अन्तर्राष्ट्रीयता को महत्त्व देकर भी राष्ट्रीयता की उपेक्षा सहन नहीं करते। उन्होंने लिखा है कि राष्ट्रीयता की शोभा ऐसी न हो जाये जो अन्य राष्ट्रों के प्रति घृणा का प्रचार करे और अन्तर्राष्ट्रीयता भी ऐसी नहीं होनी चाहिए कि आप अपनी राष्ट्रीय अस्मिता तथा बिम्बों को ही विस्मृत कर दें। इसका प्रमाण हमें तब मिलता है, जब हिटलर ने सोवियत संघ पर आक्रमण किया और देश में गांधी ने 'भारत छोड़ो' आन्दोलन आरम्भ किया, तो हिन्दी के प्रगतिशील कवि शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने मास्को तथा लाल सेना पर कविताएं लिखीं। 'दिनकर' ने इसके प्रति उत्तर में दिल्ली पर कविता लिखी और लिखा कि मास्को का हम आदर करते हैं, किन्तु हमारे रक्त की एक-एक बूँद दिल्ली के लिए है। जब तक दिल्ली की जंजीरें नहीं टूटतीं, हमारे अन्तर्राष्ट्रीयता के नारे निस्सार हैं। राष्ट्रीयता को छोड़कर अन्तर्राष्ट्रीयता का नारा बुलन्द करना धोखा है—"जहाँ मृषा सम्बन्ध विश्व मानवता से नर जोड़ रहा है / जन्मभूमि का भाग्य जगत् की नीति शिला पर फोड़ रहा है।" 'दिनकर' अपने देश की पराधीनता से व्यथित थे और उससे मुक्ति के लिए राष्ट्रीयता ही सबसे बड़ा धर्म और शक्ति थी। उन्होंने 'मिट्टी की ओर' निबन्ध-संग्रह में लिखा कि हम पराधीन जाति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सदस्य हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता की अनुचित उपासना से हमारी राष्ट्रीय शक्ति का ह्रास होता है। राष्ट्रीयता हमारा सबसे महान् धर्म और पराधीनता हमारी सबसे बड़ी समस्या है। जो लोग हमें अन्तर्राष्ट्रीयता के भुलावे में डालकर हमारी आँखों को दिल्ली से हटाकर अन्यत्र ले जाना चाहते हैं, वे अवश्य ही हमें धोखा दे रहे हैं। इस प्रकार, यदि देश से प्रेम नहीं है और पराधीनता से मुक्ति की कोई चेष्टा नहीं है तो ऐसे व्यक्ति या कवि की अन्तर्राष्ट्रीयता की कोई अर्थ नहीं है।

'दिनकर' की राष्ट्रीय काव्य-धारा को दो भागों में बाँटकर देखा जा सकता है–एक, पराधीनकाल की कविताएँ तथा दूसरा, स्वाधीन भारत में रची कविताएँ। देश के दासता के काल में 'दिनकर' की 'रेणुका' (1935), 'हुंकार' (1940), 'कुरुक्षेत्र' (1946), 'सामधेनी' (1947) आदि काव्य-कृतियाँ प्रकाशित हुई और स्वाधीनता के बाद 'रश्मिरथी' (1952) तथा 'परशुराम की प्रतीक्षा' (1963) छपीं। इन राष्ट्रीय-काव्यों में प्रमुख रूप से देश के अतीत गौरव का आख्यान है, उनका पुण्य-स्मरण है तथा उसके द्वारा अपने वर्तमान के रास्ते को प्रकाशित करना है। 'दिनकर' ने एक बार पंत को लिखा था–"जब भी अतीत में जाता हूँ, मुर्दों को नहीं जिलाता हूँ / पीछे हटकर फेंकता बाण, जिससे कम्पित हो वर्तमान / खँडहर हो, हो भग्नावशेष, पर कहीं बचा हो स्नेह शेष / तो जा उसको ले आता हूँ, निज युग का दिया जलाता हूँ।" इस अतीत स्मरण में परशुराम हैं, महाभारत के पात्र हैं, चन्द्रगुप्त-समुद्रगुप्त हैं, बुद्ध-अशोक और प्रताप हैं तथा हिमालय, कुरुक्षेत्र, वैशाली, चित्तौड़, कपिलवस्तु, नालंदा, गंगा आदि प्राकृतिक स्थल हैं जिनके स्मरण और वन्दना से कवि अपनी मातृभूमि की वन्दना ही करता है। 'दिनकर' हिमालय को सम्बोधित करते हुए 'रेणुका' में लिखते हैं :

"साकार दिव्य, गौरव विराट! पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल
मेरी जननी के हिमकिरीट! मेरे भारत के दिव्य भाल!
मेरे नगपति, मेरे विशाल!"

'दिनकर' की राष्ट्रीय चेतना में मातृ-भूमि की वन्दना और उसके लिए बलिदान करने की तीव्र भावना है तथा क्रान्ति एवं विप्लव का महाघोष है–"कह दे शंकर से, आज करें, वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार" तथा "क्रान्ति-क्रान्ति कविते / जागो आडम्बर में आग लगा दें।" कवि की यह हुंकार देश में व्याप्त शोषण और अत्याचार को भस्म करने के लिए है। दिनकर की राष्ट्रीयता में जो यह प्रगतिशीलता का नया स्वर है, वह सामाजिक असमानता से उत्पन्न होती है। 'दिनकर' इस असमानता का मार्मिक चित्र खींचते हुए 'हुंकार' में लिखते हैं :

"स्वानों को मिलते दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती के लज्जा-वसन बेच अब ब्याज चुकाये जाते हैं,
मालिक जब तेल-फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'दिनकर' की राष्ट्रीय चेतना बार-बार लोकमंगल और मानवता की ओर अग्रसर होती है, क्योंकि वे एक ओर देश की स्वाधीनता चाहते हैं और दूसरे वे स्वाधीन भारत में विकास के साथ दीन-दुःखियों का भी कल्याण चाहते हैं।

'दिनकर' की राष्ट्रीय काव्य-धारा में उनकी युद्ध सम्बन्धी काव्य-रचनाओं का विशेष महत्त्व है। वे स्वयं को युग-चारण कहते हैं, परन्तु इन युद्ध सम्बन्धी काव्य-कृतियों से लगता है कि वे योद्धा-कवि हैं और जब-जब देश के सम्मुख युद्ध आ खड़ा होता है, उनके युद्ध-गीत जन्म लेने लगते हैं। 'दिनकर' ने लिखा भी है—"जितनी ही फैलती देश में भीति युद्ध की / मैं उतना ही कण्ठ फाड़, कुछ और ज़ोर से / चिल्लाता, चीखता, युद्ध के अंध गीत गाता हूँ।" 'दिनकर' की मान्यता है कि युद्ध आपद्धर्म है। युद्ध के उन्माद में डूबे देश शान्तिप्रिय देशों पर युद्ध थोपते हैं और जब युद्ध द्वार पर हो तो युद्ध से घृणा करने वालों को भी लड़ना पड़ता है। युद्ध राष्ट्रीयता में वृद्धि करता है, क्योंकि राष्ट्रीय भावना ही युद्ध में जीत दिलाती है। युद्ध में पूँजीवादी या साम्यवादी कोई भी देश हो, वह राष्ट्रीय हितों को प्रधानता देता है। अतः विचारधारा राष्ट्रीयता को नहीं मार सकती। भारत तो बुद्ध, अशोक और गांधी का देश होने के कारण अहिंसा को परम-धर्म मानता है, परन्तु हिंसक तथा आक्रमणकारी पड़ोसियों के विरुद्ध उसे भी शस्त्र उठाने पड़े और युद्ध में कूदना पड़ा। चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो गांधी की सीख को भुलाना पड़ा। 'दिनकर' की दृष्टि सबसे पहले सम्राट अशोक की कलिंग-विजय पर जाती है जिसके बाद उसमें निर्वेद उत्पन्न हुआ। कवि को प्रतीत हुआ कि युद्ध की समस्या मनुष्य की सारी समस्याओं की जड़ है। कवि 'कलिंग-विजय' कविता में कहता है कि प्रभु की इस सृष्टि में प्रजा का एक-सा स्वत्व और अधिकार है, किन्तु जब कोई तलवार के बल से दूसरों के प्राकृतिक अधिकार छीनता है और भगवान बनना चाहता है तो मनुष्य का खून बहता है और युद्ध के बाद चारों ओर शोक, पराजय और वैधव्य का अन्धकार छा जाता है। अशोक भी व्यथा, परिताप और पश्चात्ताप से ग्रसित होता है और उसके मन में करुणा का दीप जलता है—

"शत्रु हो कोई नहीं, हो आत्म बल संसार,
पुत्र-सा पशु-पक्षियों को भी सकूँ कर प्यार।
हो नहीं मुझ को किसी पर रोष,
धर्म का गूँजे जगत् में घोष।"

'कुरुक्षेत्र' काव्य की रचना तो युद्ध के पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, कारण-परिणाम तथा युद्धान्त के बाद होने वाली परिणति पर ही लिखा गया है। 'कुरुक्षेत्र' एक युद्ध-काव्य ही है जिससे महाभारत के कथानक और पात्रों के युद्धोन्माद और उनके युद्ध-चिन्तन से कवि अपने युग को कुछ सन्देश देना चाहता है। 'कुरुक्षेत्र' का कवि का मानना है कि देश की जनता जब अनीति, अन्याय, शोषण का शिकार होती है तो युद्ध अनिवार्य होता है। जो न्याय को चुराता है, वही रण को बुलाता है, अतः जब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न देश का हो, समाज का हो तो धर्म, तप, करुणा, क्षमा आदि सब का त्याग करना पड़ता है—

"छीनता हो स्वत्व कोई, और तू
त्याग-तप से काम ले, यह पाप है।
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे,
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।"

'दिनकर' युद्ध की छाया में 'कुरुक्षेत्र' काव्य में एक सामाजिक दर्शन देते हैं जिसमें मनुष्य की स्वार्थपरता, भोगवाद, राजा-प्रजा में भेदभाव, भाग्यवाद तथा शोषण का विरोध है और मानवीयता की स्थापना है। कवि चाहता है कि ऊँच-नीच का भेद समाप्त हो तथा धर्म-नीति का अनुपालन हो। वह तो सम्पूर्ण धरा के सुख की कामना करता है और 'कुरुक्षेत्र' के अन्त में कवि आशा का दीप जलाकर युधिष्ठिर को सम्बोधित करके ये पंक्तियाँ लिखता है :

"आशा के प्रदीप को चलाये चलो धर्मराज
एक दिन होगी मुक्त भूमि रण-भीति से,
भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से।
हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और
तेज न बढ़ेगा, किसी मानव का जीत से,
स्नेह-बलिदान होंगे माप नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से।

'दिनकर' ने युद्ध को 'ध्वंस का विस्फोट' कहा था। युद्ध घृणित कर्म है, विभीषिका है, मानवता का पतन है, तब क्या ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे युद्ध जीवन के विरुद्ध नहीं, मृत्यु के खिलाफ लड़ा जाये? इसी कारण 'दिनकर' अपने युद्ध-दर्शन में युद्ध को ही हटा देना चाहते हैं और वे 'नये धर्म-प्रदीप' की कल्पना करते हैं। वे मानते हैं कि युद्ध आपद्धर्म होता है और चीनी आक्रमण के समय वे इसे ही सत्य पाते हैं। उनके 'नये धर्म-प्रदीप' की कल्पना ध्वस्त हो जाती है और वे देश की रक्षा के निमित्त गांधी की अहिंसा का परित्याग करके युद्ध के मैदान में परशुराम की प्रतीक्षा करते हैं। चीनी आक्रमण उन्हें एक बार फिर राष्ट्रीय चैतन्य तथा देश में वीर-भव की सृष्टि के लिए युद्ध का कवि बना देता है। 'दिनकर' इस राष्ट्रीय संकट पर परशुराम को नया अवतार बनाते हैं :

"मुख में वेद, पीठ पर तरकस, कर में कठिन कुठार,
सावधान! ले रहा परशुधर फिर नवीन अवतार।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि के राष्ट्र एवं युद्ध-दर्शन में जो भीरु है, वीरता शून्य है, वही पापी है। वह देश के 'क्लीव धर्म' की कटु आलोचना करता है और बन्दा वीर, लक्ष्मीबाई, नेताजी, आजाद, टीपू सुल्तान, भगतसिंह और योगी-ऋषियों आदि सभी को याद करके मरण के मुख पर ही चरण रखने का आह्वान करता है :

"छोड़ो मत अपनी आन, सीस कट जाये,
मत झुको अनय पर, भले व्योम फट जाये।
दो बार नहीं यमराज कंठ धरता है,
मरता है जो, एक ही बार मरता है।
तुम स्वयं मरण के मुख पर चरण धरो रे,
जीना हो तो मरने से नहीं डरो रे।"
सिर देने में जो लोग नहीं डरते हैं,
वे ही प्रभंजनों पर शासन करते हैं।

कवि का दृढ़ मत है कि शस्त्र से ही शास्त्र की रक्षा होती है। जब धनुर्धर राम पहरे पर खड़े होते हैं तभी ऋषियों को सिद्धि मिलती है, शान्तिवादियों के कपोतों में तो धोखा और छल ही छिपा होता है। इसलिए कवि बुद्ध, अशोक और गांधी की रक्षा के लिए उनसे भागने और बम-गोली बरसाने के लिए कहता है :

"गिराओ बम, गोली दागो।
गांधी की रक्षा करने को गांधी से भागो।"

'दिनकर' युद्ध में पराजय को सबसे बड़ा पाप मानते हैं—"समर हारने से बढ़कर घातक न दूसरा पाप है", इसलिए वे देश की रक्षा और जीत के लिए गांधी के अहिंसक मार्ग को निरर्थक मानते हैं, परन्तु 'परशुराम की प्रतीक्षा' की अन्तिम कुछ पंक्तियों में वे गांधी-नेहरू के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हैं। वे 'इतिहास का न्याय' कविता में कहते हैं कि गांधी, बुद्ध और अशोक भारत के दिव्य-स्वप्नों के प्रतीक हैं और 'परशुराम की प्रतीक्षा' की कविता 'समरशेष है' में वे देश में गांधी-जवाहर के समय को पुनः लाना चाहते हैं—"समर शेष है, शपथ धर्म की, लाना है वह काल, विचरें अभय देश में गांधी और जवाहर लाल।" इस कविता में 'दिनकर' देश के अन्दर के युद्ध पर विचार करते हैं। यह स्वतन्त्र भारत की जनता का समर है, जो स्वतन्त्रता के बाद भी विषमता, अन्धकार और उपेक्षा में जी रही है, जबकि दिल्ली में सारी समृद्धि और भोग-विलास एकत्र हो गया है और जिसने जनता के सारे भाग दबा रखे हैं। कवि मानता है कि इसके लिए वे ही अपराधी नहीं हैं जो जनता के अधिकारों का अपहरण कर रहे हैं, बल्कि वे भी हैं जो तटस्थ होकर उस सारे पाप-कर्म को देख रहे हैं :

"समर शेष है, नहीं पाप का भागी केवल व्याध,
जो तटस्थ हैं, समय लिखेगा उनका भी अपराध।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'दिनकर' की राष्ट्रीय काव्य-धारा के इस विवेचन से कुछ निष्कर्ष निकलते हैं। मैथिलीशरण गुप्त के बाद 'दिनकर' हिन्दी के सबसे बड़े, सशक्त और ओजस्वी राष्ट्र-कवि हैं। वे केवल युग-चारण नहीं हैं, वे राष्ट्र-प्रहरी और योद्धा कवि हैं। हिन्दी की राष्ट्रीय काव्य-धारा को नयी ऊँचाइयों, नयी संवेदनाओं तथा नये विचार-पक्ष से सम्पन्न करने का श्रेय उन्हें ही है। उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के देश-प्रेम तथा राष्ट्रोत्थान एवं राष्ट्रीय जागृति से लेकर छायावादी राष्ट्रीयता को आत्मसात् किया और राष्ट्रीय काव्य-धारा को नीरस उपदेशों एवं प्रवचनों से मुक्त करके उसे अनुभूतिपूर्ण बनाकर युग की जागरण काव्य-धारा के रूप में परिवर्तित कर दिया। उनके लिए राष्ट्र, राष्ट्रोत्थान और राष्ट्रीयता का सर्वोपरि महत्त्व था, चाहे गांधीवाद हो या साम्यवादी प्रगतिशीलता अथवा वैश्विकता, सभी राष्ट्रीय हितों पर समर्पित थे। उनके राष्ट्रीय काव्य में धनुर्धर राम का जो बिम्ब है, वह धनुर्धर भारत का ही प्रतीक है। राष्ट्र की रक्षा अहिंसा, क्षमा, दया से न होकर शस्त्र-बल से ही हो सकती है। 'दिनकर' के लिए युद्ध आपद्धर्म है। देश पराधीन हो या विदेशी आक्रमण का शिकार हो, युद्ध को जीतना सबसे बड़ा पुण्य है। 'दिनकर' एक युद्ध स्वाधीन भारत में भी देख रहे थे कि जनता कैसे अपने शासकों से पीड़ित तथा शोषित है, परन्तु वे घर के इस मोर्चे पर हारे-थके, हताश-व्यथित बने रहे और इसी मनःस्थिति में उन्होंने 'हारे को हरि नाम' (1970) काव्य-कृति की रचना की। आज तो देश की स्थिति 'दिनकर' के समय से भी भयानक है। देश के अन्दर और बाहर के शत्रु इसकी एकता और राष्ट्रीय स्वरूप को छिन्न-भिन्न करना चाहते हैं और 'दिनकर' के समान कोई कवि यह कहने का साहस नहीं कर पा रहा कि "अपने समय का सूर्य हूँ मैं" तथा "सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।" क्या आज के कवि में 'दिनकर' जैसी राष्ट्रीय चेतना ही नहीं है जो उसे राष्ट्र का सूर्य बना सके, अथवा परशुराम और धनुर्धर राम के राष्ट्रीय बिम्ब उसकी अन्तश्चेतना से अदृश्य हो गये हैं? देश के सम्मुख ऐसे अभूतपूर्व संकट के समय यदि हमारा कवि अपने राष्ट्रीय धर्म से विमुख होकर सोया रहा तो क्या भारतीय लोक-मानस उसे क्षमा कर सकेगा? देश की जनता बड़ी आतुरता के साथ किसी परशुराम, किसी धनुर्धर राम अथवा किसी राष्ट्रीय महानायक की प्रतीक्षा में है। आखिर यह जनता अपने समय के सूर्य की कब तक प्रतीक्षा करेगी? निराला के शब्दों में—"इस गगन में नहीं दिनकर / नहीं शशधर, नहीं तारा।" पर कब तक ऐसा होगा?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत में अध्यापक शिक्षा : नये परिप्रेक्ष्य

अजय कुमार सिंह

किसी भी देश के भाग्य का निर्माण शिक्षा के द्वारा कक्षाओं में होता है। आदि काल से ही शिक्षा मानव के विकास का सर्वाधिक सशक्त साधन रही है। आज के वैज्ञानिक एवं तकनीकी युग में यह संकल्पना और अनिवार्य हो गई है। समय और काल के आधार पर मानवीय एवं जीवन मूल्यों को दृष्टिगत रखते हुए शिक्षा में आयी गुणवत्ता निश्चित रूप से बालक एवं व्यक्ति को वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय आकांक्षाओं के अनुकूल विकास कराती है, अन्यथा पूरी सामाजिक संरचना दिग्भ्रमित हो जाती है। शिक्षा का दायित्व किसी एक का नहीं बल्कि व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र का सम्मिलित एवं समन्वित रूप से है। 'शिक्षा' की शाब्दिक व्युत्पत्ति संस्कृत की 'शिक्ष्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है - सीखना और सीखाना। इसमें दो पक्ष हैं- प्रथम 'सीखना' जिसका सम्बन्ध शिक्षार्थी (सीखने वाला) से है और द्वितीय 'सिखाना' जिसका सम्बन्ध शिक्षक या अध्यापक (सिखाने वाला) से है। अतः स्पष्ट है कि शिक्षा प्रक्रिया का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष अध्यापक है, जो इस प्रक्रिया को न केवल गति देता है बल्कि शिक्षार्थी में अपेक्षित योग्यताओं के विकास व उनके चरित्र-निर्माण एवं इस प्रकार राष्ट्र-निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। संस्कृत में कहा गया है कि ''आचरति इति आचार्य'' अर्थात् जिसका आचरण किया जाय वह आचार्य है। अध्यापक शिक्षण प्रक्रिया का सच्चा सूत्रधार है। शिक्षक के व्यक्तित्व का बालकों के ऊपर अमिट प्रभाव पड़ता है और वह उनके भावी जीवन की नींव रखता है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1986 में शिक्षक के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है ''किसी समाज में अध्यापक का दर्जा उसके सामाजिक-सांस्कृतिक लोकाचार को प्रतिबिम्बित करता है...... एवं कोई भी राष्ट्र अपने अध्यापकों के स्तर से ऊपर नहीं उठ सकता।''

आज के बदलते समय के साथ अध्यापक शिक्षा का संप्रत्यय भी बदला है। पहले जहाँ अध्यापक प्रशिक्षण की धारणा थी वहीं आज उसके स्थान पर 'अध्यापक

* डॉ. अजय कुमार सिंह, प्रवक्ता एवं अध्यक्ष, शिक्षा विभाग (बी.एड.), महाराणा प्रताप राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जिला-हरदोई (उत्तर प्रदेश)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा' की धारणा बलवली हुई है क्योंकि आज प्रशिक्षण प्राप्त अध्यापकों का व्यवहार "शिक्षित अध्यापक" की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। शिक्षा की अवधारणा अत्यन्त व्यापक है, प्रशिक्षण तो उसका एक अंग मात्र है। दूसरी तरफ अध्यापक की जिम्मेदारी भी व्यापक एवं गुरूतर है जिसके निर्वहन की योग्यता का विकास उनके प्रशिक्षण मात्र से नहीं हो सकता। अतः 'अध्यापक शिक्षा' के द्वारा ऐसे अध्यापक को विकसित करने का प्रयास किया जा रहा है जिसमें तात्कालिकता, स्वीकृति, सृजनात्मकता व आत्म-अनुभव के गुण हों एवं इसका मुख्य कार्य अध्यापकों के लिए उनकी प्रज्ञा में सुधार व उनकी तकनीकी क्षमताओं का विकास भी है। आज अध्यापक शिक्षा की आधारभूत धारणा इस प्रकार है :

(1) अध्यापक शिक्षा इस बात पर बल देती है कि उसके पाठ्यक्रम में अध्यापक केन्द्र बिन्दु होना चाहिए।

(2) निम्नलिखित तत्व अध्यापक शिक्षा का केन्द्र निर्माण करेंगे-(*i*) भावी अध्यापकों को इस तत्व से परिचित कराना चाहिए कि अध्यापक का व्यवहार कैसा एवं क्यों हो? इन प्रश्नों के उत्तर मनोविज्ञान, प्रशिक्षण शास्त्र एवं समाजशास्त्र के आधार पर दिए जायें। (*ii*) भावी अध्यापक को सामाजिक परिवर्तन का घटक, विद्यार्थियों का नेता एवं समाज का पथ-प्रदर्शक होना चाहिए। (*iii*) भावी अध्यापक को अपने विषय का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए और उसे अपने विषय में शिक्षण विधि का विशेषज्ञ होना चाहिए।

(3) सभी स्तरों पर अध्यापक शिक्षा को निम्नलिखित तत्वों पर बल देना चाहिए : (*i*) प्रशिक्षण सम्बन्धी पाठ्यवस्तु, (*ii*) समुदाय के साथ कार्य एवं (*iii*) विषयवस्तु, विधि सम्बन्धित पाठ्यवस्तु एवं अभ्यास शिक्षण पाठ्यवस्तु।

(4) समुदाय के साथ कार्य करते हुए सम्पूर्ण अध्यापक शिक्षा कार्यक्रम में शास्त्र एवं विधि सम्बन्धी भाग एक स्तर से दूसरे स्तर तक परिवर्तित हों।

(5) अध्यापक शिक्षा के सभी स्तर ऐसे अध्यापक शिक्षा कार्यक्रम को विकसित करने में सहायक होंगे जो वातावरण, वैयक्तिक भिन्नताओं तथा सामाजिक आवश्यकता को निश्चित करे।

(6) अध्यापक शिक्षा इस बात पर बल देती है कि प्रत्येक स्तर पर अध्यापक शिक्षा कार्यक्रम का निरूपण बच्चों के विकास एवं देश के उद्देश्यों के सन्दर्भ में करना चाहिए।

(7) जबकि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य निर्माण करना है तब अध्यापक शिक्षा मनुष्य निर्माण की प्रक्रिया को निश्चित करती है।

अध्यापक शिक्षा में दो प्रकार के पाठ्यक्रमों को सन्निहित करना चाहिए : विषय सम्बन्धी एवं विधि सम्बन्धी पाठ्यवस्तु। विषय सम्बन्धी पाठ्यवस्तु में सीखने के अनुभव हों जो शिक्षण विषय से सम्बन्धित हों। विधि सम्बन्धी पाठ्यवस्तु में दो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार के कौशलों का विकास करना चाहिए : (1) अध्यापक शिक्षा के सभी स्तरों के लिए सामान्य निर्णय कौशल, (2) विशेष शिक्षण कौशल।

एक अध्यापक को समाज की आवश्यकताओं पर ध्यान देना चाहिए एवं जिस समुदाय में वह रहता है, उसके सामाजिक कौशल का ज्ञान उसे होना चाहिए जिससे सामुदायिक विकास एवं वांछनीय सामाजिक परिवर्तन लाने में उसे सहायता मिले। अध्यापक शिक्षा के अभिन्न अंगों के परिणामस्वरूप भावी अध्यापक कक्षा-कक्ष की स्थितियों में बाहर एवं अन्दर कार्य करते हैं। वे वैज्ञानिक ज्ञान, धनात्मक दृष्टिकोण एवं तकनीकों का प्रयोग करते हैं ताकि सीखने के व्यवहार को और अधिक संशोधित करें तथा सीखने वाले की वास्तविक क्षमताओं का प्रयोग कर सकें। साथ ही साथ अध्यापक शिक्षा प्रक्रिया में लचीलापन, मानवीयता तथा अन्तःअनुशासन होना चाहिए।

इसमें कोई दो राय नहीं कि एक अध्यापक में ये योग्यताएँ होनी ही चाहिए। अध्यापकों में वांछित योग्यताओं के बारे में गांधी जी का कथन है—"हमें असली जरूरत ऐसे शिक्षकों की है जिनके विचार मौलिक हों, जिनमें सच्चा उत्साह और जोश हो और जो हर रोज यह सोच सकें कि आज विद्यार्थी को क्या सिखाया जाए। शिक्षक को यह ज्ञान पुरानी पोथियों से नहीं मिलेगा। उसे अपनी निरीक्षण और विचार करने की शक्ति का उपयोग करना है और उसका अर्थ यह है कि शिक्षा पद्धति में क्रान्ति आनी चाहिए।" प्रश्न यह है कि इस क्रान्ति की या अध्यापक शिक्षा के विकास की योजना क्या है और उस योजना का प्रभावी क्रियान्वयन किस प्रकार होगा? खेद के साथ यह कहना पड़ता है कि योजनाओं का बेहतर तथा प्रभावी तरीके से क्रियान्वयन नहीं हो पाया है या हो पा रहा है। जबकि निश्चित रूप से किसी राष्ट्र की प्रगति उसके अध्यापकों पर निर्भर करती है, क्योंकि बालकों में वांछित योग्यताओं, कुशलताओं, गुणों के विकास में अध्यापक की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। साथ ही उतना ही महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक है स्वयं अध्यापकों में उन गुणों, योग्यताओं, कुशलताओं का मौजूद होना। जब तक वह स्वयं अध्यापक सुयोग्य, उनमें कुशल तथा अपने व्यवसाय के प्रति समर्पित नहीं होगा तब तक वह बच्चों की योग्यता, उनमें कुशलता का विकास कैसे कर पायेगा? इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर प्रायः सभी आयोगों, समितियों या विद्वानों ने समय-समय पर विभिन्न स्तरों पर विभिन्न प्रकार के अध्यापक शिक्षा/प्रशिक्षण कार्यक्रमों के आयोजन/क्रियान्वयन की सिफारिशें की हैं।

भारत में आजकल अध्यापक शिक्षा के विकास, स्तरोन्नयन व सुधार तथा अध्यापक शिक्षा को बदलती परिस्थितियों में देश समाज की आवश्यकता के अनुरूप बनाने की दिशा में कई संस्थाएँ कार्यरत हैं। इनमें राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद (जो भारत सरकार का एक विधिक संस्थान है) भी निरंतर संलग्न है। परिषद द्वारा प्रस्तावित 'टीचर प्रोफाइल' में अध्यापक के लिए निम्नलिखित क्षमताओं तथा योग्यताओं पर विशेष ध्यान देने की बात कही गयी है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(*i*) शिक्षण कार्य में सक्षमता, प्रतिबद्धता एवं शिक्षण कार्य से जुड़ी आचार संहिता के आंतरिक व वाह्य मूल्यों को जागृत करना।

(*ii*) सृजनात्मक तथा पुर्ननवी तत्वज्ञान।

(*iii*) ज्ञानार्जन के विभिन्न संसाधनों का चयन, व्यवस्थापन एवं उनका समुचित उपयोग करना।

(*iv*) पाठ्यक्रम का प्रभावपूर्ण निष्पादन, शिक्षार्थियों की विशेष आवश्यकताओं के अनुरूप शैक्षणिक गतिविधियों और कार्यक्रमों का चयन और उनका व्यवस्थापन करना।

(*v*) मीडिया एवं उपयुक्त शैक्षणिक तकनीकों का उपयोग करना।

(*vi*) निरन्तर और परिवर्तन की चुनौतियों के प्रति प्रभावी सम्प्रेषणीयता तथा प्रतिक्रिया देना।

(*vii*) छात्रों को उनके व्यक्तित्व विकास, विभिन्न परिस्थितियों में समायोजन और अधिक से अधिक ज्ञानार्जन हेतु परामर्श देना।

(*viii*) निरन्तर शोध करते रहना विशेषतया व्यावहारिक शोध करना और नवोन्मेष पद्धतियों का सृजन करना।

(*ix*) छात्रों हेतु विभिन्न गतिविधियों का आयोजन करना।

(*x*) उपयुक्त निर्णय क्षमता, प्रतिबद्धता एवं संप्रेषणीयता के नैतिक मूल्यों का बोध कराना।

(*xi*) संस्कृति एवं शिक्षा और संस्कृति एवं व्यक्तित्व के बीच परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने की समझ विकसित करना।

(*xii*) आजीवन ज्ञानार्जन की रूचि विकसित करना।

(*xiii*) समाज की अपेक्षाओं और आकांक्षाओं को समझना एवं विद्यालय एवं समाज के बीच परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने में सहयोग प्रदान करना।

(*xiv*) आधुनिकीकरण और विकास के लिए परिवर्तनकारी अभिकर्ता (चेंज ऐजेन्ट) के रूप में कार्य करना।

अतः भावी अध्यापकों के लिए शैक्षणिक कार्यक्रमों को तदनुसार ही बनाए जाने की आवश्यकता है, जिससे उनमें वांछित सामर्थ्य एवं सक्षमता विकसित की जा सके।

आज परिषद अध्यापक शिक्षा की नई आकृति प्रदान करने/पुनर्कल्प या जीर्णोद्धार करने की दिशा में कार्यरत है; परिषद अपने स्तर पर अध्यापक शिक्षा के स्तरोन्नयन एवं सुधार हेतु निरन्तर संलग्न तो है किन्तु यहाँ शिक्षा आयोग (1964-66) की एक टिप्पणी भी उल्लेखनीय है- ''स्कूल की प्रतिदिन की समस्याओं के समान प्राथमिक एवं माध्यमिक अध्यापकों के लिए प्रशिक्षण संस्थाएँ विश्वविद्यालय की शैक्षणिक जीवन की मुख्य धारा से भिन्न एवं कटी हुई है। कुछ अपवादों के साथ प्रशिक्षण संस्थाओं का स्तर या तो मध्यम या निम्न स्तर का है। योग्य अधिकारियों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समूह की कमी, पाठ्यक्रम में यथार्थवाद की कमी और मुख्य रूप से परम्परागत कार्यक्रम एवं शिक्षण अभ्यास की कठोर तकनीकियों को ग्रहण किया जाता है और वर्तमान आवश्यकताओं एवं उद्देश्यों को उपेक्षित किया जाता है।" राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद के वजूद में आने के बाद यह उम्मीद बंधी थी कि अध्यापक शिक्षा के स्तर पर व्यावहारिक धरातल पर अवश्य गुणात्मक सुधार होगा। बहुत हद तक सुधार हो भी रहा है किन्तु वर्ष 1966 में जिस समस्या का उल्लेख शिक्षा आयोग ने किया था वह कमोवेश आज भी मौजूद है। परिषद द्वारा मान्यता प्राप्त जो अध्यापक शिक्षा संस्थाएं हैं, उनमें से अनेक में अनेक समस्याएँ आज भी विद्यमान हैं, जिनका निराकरण किए बिना वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति असम्भव होगी।

वर्तमान में दो प्रकार की शिक्षा संस्थाएं चल रही हैं। पहला, सरकारी व अनुदानित संस्थाओं और दूसरा, स्ववित्तपोषित संस्थाओं में। वास्तव में गुणवत्ता के मानक एक समान होने चाहिए लेकिन व्यवस्था में भिन्नता के कारण गुणवत्ता की स्थापना में निःसन्देह कहीं न कहीं कमियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। यदि समय रहते उनमें सुधार न हुआ तो शिक्षा अपने सकारात्मक दिशा से भटक जाएगी।

शिक्षक-शिक्षा में प्रशिक्षणार्थियों के चयन के लिए प्रवेश परीक्षाओं का आयोजन कराया जाता है। उत्तम विकल्प होने के बावजूद आज प्रवेश परीक्षाओं की पवित्रता संदिग्ध हो गई है। कई विश्वविद्यालयों द्वारा प्रवेश परीक्षा को निरस्त करके उसे पुनः कराना पड़ा जो इसका ज्वलन्त दृष्टान्त है। ऐसी स्थिति में जब अच्छा छात्र प्रवेश से वंचित हो जाता है एवं अनुचित रास्ते से कमजोर छात्र प्रवेश पा जाता है तो शिक्षक-शिक्षा में गुणवत्ता की बात करना बेमानी हो जाती है। आज स्ववित्तपोषित शिक्षक-शिक्षा महाविद्यालयों में प्रबन्धकीय व्यवस्था के तहत प्रवेश में अनियमितता पायी जा रही है।

शिक्षा में गुणवत्ता बनाए रखने के लिए हर स्तर पर शिक्षक छात्र का उचित अनुपात होना अत्यन्त आवश्यक है। अध्यापक शिक्षा संस्थाओं में यह अनुपात एन.सी.टी.ई. ने 1:10 (स्ववित्तपोषित संस्थाओं में 7 शिक्षक पर 100 सीट) निश्चित किया है। अनुदानित संस्थाओं में यह मानक तो काफी हद तक पालन हो रहा है जबकि प्रायः स्ववित्तपोषित संस्थाओं में दो या तीन ही अध्यापक कार्यरत हैं वे भी या तो योग्यता पूरी नहीं रखते या वे एक से अधिक जगह कार्यरत हैं जबकि स्ववित्तपोषित संस्थाओं की संख्या अनुदानित से काफी अधिक है। प्रशिक्षण संस्थाओं में मानक के अनुरूप शिक्षकों का न होना शिक्षक-शिक्षा की गुणवत्ता के लिए एक विचारणीय प्रश्न है।

सामान्य शिक्षा हो अथवा शिक्षक-शिक्षा, इनकी कक्षाएं वर्ष में कम से कम 180 कार्य दिवस चलनी चाहिए। एन.सी.टी.ई. ने शिक्षक-शिक्षा के लिए न्यूनतम 200 कार्य दिवस निर्धारित किया है। शिक्षक-शिक्षा में प्रवेश इतने विलम्ब से होता है कि 180

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या 200 दिन को कौन कहे 100 कार्य दिवस भी पूर्ण नहीं हो पाता है। स्ववित्तपोषित संस्थाएं इस परिधि में अधिक आती हैं। इन संस्थाओं में नियमित शिक्षक वेतन के अभाव में उपलब्ध नहीं हो पाते हैं, जिसकी पूर्ति हुए बिना उन्हें प्रवेश हेतु छात्र नहीं मिलते। इनका समाधान जब तक गम्भीरता से नहीं होगा तब तक नियत अवधि तक कक्षाएं नहीं चल सकेंगी और गुणवत्ता बाधित होती रहेगी। वर्तमान में यह समस्या विकट है।

शिक्षक-शिक्षण संस्थाओं में प्रशिक्षणार्थियों की उपस्थिति में कमी देखी जा रही है। प्रशिक्षणार्थी प्रवेश परीक्षोपरान्त प्रयासरत रहता है कि किस संस्था में प्रवेश लिया जाए जहाँ बिना एक दिन गए व मेहनत किए सैद्धान्तिक एवं अभ्यास शिक्षण की पद्धतियों की परीक्षाओं को दिया जा सके और अच्छा अंक पाया जा सके। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रायः ऐसे छात्र नियमित छात्रों से बेहतर श्रेणी पाने में सफल हो जाता है क्योंकि निःसंदेह आज ऐसी अनेकानेक प्रशिक्षण संस्थाएं विद्यमान है जो अपने अनैतिक लाभ के लिए इस तरह की सुख-सुविधाएं देकर शिक्षक-शिक्षा की गुणवत्ता को रसातल में पहुंचा रही हैं।

एन.सी.टी.ई. शिक्षण अभ्यास के लिए सम्बद्ध विद्यालयों में कम से कम 40 दिन के लिए प्रशिक्षणार्थियों को भेजने का सुझाव देता है, ताकि वहाँ जाकर छात्राध्यापक अभ्यास के साथ-साथ विद्यालय के अन्य क्रिया-कलापों में भी दक्षता हासिल कर सके। इन समस्त कार्यों का मूल्यांकन शिक्षण-प्रशिक्षण महाविद्यालय के शिक्षकों द्वारा कुशलता-पूर्वक किया जाए। लेकिन शिक्षक कभी-कभी उपेक्षापूर्ण ढंग से कार्यों की निगरानी करता है। शिक्षक-शिक्षा में सैद्धान्तिक ज्ञान अपरिहार्य है जिसमें छात्र वास्तविक कक्षाओं में जाकर 40 पाठ योजनाओं को बनाकर शिक्षण अभ्यास करता है, जिससे छात्र सभी कौशलों का कक्षा कक्ष में प्रयोग कर सके। आज प्रायः शिक्षण-प्रशिक्षण संस्थाओं में छात्र एवं शिक्षक दोनों स्तरों पर अनियमितता पायी जा रही है।

वर्तमान में उपाधि प्रदान करने हेतु परीक्षा एक समस्या बनी हुई है क्योंकि नकल विहीन परीक्षा सम्पन्न कराना विश्वविद्यालय प्रशासन के लिए एक टेढ़ी खीर है जिससे सैद्धान्तिक एवं प्रयोगात्मक दोनों ही परीक्षाएं प्रभावित हो रही हैं। प्रभाववाद अनेकमुखी है। साथ ही साथ मूल्यांकन कार्य पर भी प्रश्न चिन्ह लगा है क्योंकि आज सभी विश्वविद्यालयों द्वारा केन्द्रीय मूल्यांकन कराया जा रहा है जिसमें प्रतिदिन 75 से 100 कापियां मूल्यांकन के लिए दी जाती हैं जो वास्तव में बहुत अधिक एवं औचित्यपूर्ण नहीं है।

अध्यापकों का निर्माण अर्थात् शिक्षित/प्रशिक्षित करने वाले अध्यापकों की भूमिका सामान्य अध्यापकों से भी कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण है क्योंकि ये उन अध्यापकों को तैयार करने में लगे हैं जो विद्यालयों में (जहाँ भारत के भाग्य/भविष्य का निर्माण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो रहा है) देश के भावी कर्णधारों को शिक्षित करेंगे। इनकी स्थिति, योग्यता, दक्षता, इनकी शिक्षा व्यवस्था, इनकी सेवा शर्तों, सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों आदि महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर गम्भीरतापूर्वक विचार की आवश्यकता है।

जब अध्यापक प्रशिक्षक स्वयं शिक्षण की नयी तकनीकों से विधिवत् परिचित नहीं होगा, वह अपने प्रशिक्षणार्थी अध्यापकों में तकनीकी कौशल का विकास कैसे कर पायेगा? नयी तकनीकों से परिचित कराने, अध्यापकों के बेहतर व्यावसायिक विकास तथा शिक्षा में नवाचार हेतु पुनश्चर्या, अभिनवीकरण एवं अन्य विभिन्न कार्यक्रमों का आयोजन तो काफी पहले से ही किया जा रहा है किन्तु आज भी देश में अनेक ऐसी संस्थाएं हैं जिनमें कार्यरत अनेक अध्यापक प्रशिक्षक परम्परागत विधियों से ही अपने प्रशिक्षणार्थियों को प्रशिक्षित करने को अभिशप्त हैं। परिणामस्वरूप आज वे बदलती परिस्थितियों के अनुरूप शिक्षा की मुख्य धारा से कहीं दूर हैं। क्या अध्यापक-शिक्षा से सम्बद्ध विभिन्न संस्थाएं इस दिशा में कोई प्रभावी कदम उठायेंगी? अध्यापक को पथ-प्रदर्शक माना गया है। पथ-प्रदर्शक वह है भी। किन्तु जब वह स्वयं मार्ग में उलझा हुआ होगा तो दूसरों को मार्ग कैसे दिखायेगा ? अध्यापक शिक्षा के नीति- निर्धारकों एवं नियामकों को उपरोक्त समस्त समस्याओं को ध्यान में रखनी होगी तथा तद्नुरूप प्रभावी कदम भी उठाने होंगे। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं :-

(*i*) सभी अध्यापक-शिक्षा संस्थाओं में शिक्षक-छात्र अनुपात 1:10 का होना चाहिए।

(*ii*) अध्यापक प्रशिक्षण की अवधि बढ़ायी जाए।

(*iii*) स्ववित्तपोषित योजना के अन्तर्गत विभिन्न विश्वविद्यालयों/संस्थाओं द्वारा चलाये जा रहे अध्यापक शिक्षा कार्यक्रमों पर रोक लगायी जाय तथा अध्यापक शिक्षा के व्यापारीकरण (कमर्शियलाइजेशन) जो अभी भी मौजूद है, पर प्रभावी रोक लगायी जाय।

(*iv*) पत्राचार पाठ्यक्रमों द्वारा अध्यापक शिक्षा (कम से कम प्राथमिक व माध्यमिक स्तर की) पर प्रभावी रोक लगायी जाय।

(*v*) प्रत्येक अध्यापक विशेषतः अध्यापक प्रशिक्षकों के लिए सेवाकालीन प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था की जाय तथा इनमें उनकी सहभागिता अनिवार्य बनायी जाय।

(*vi*) सेवारत अध्यापकों के लिए एक निश्चित अन्तराल पर प्रवीणता परीक्षाएं (proficiency tests) आयोजित की जाय तथा इनके आधार पर ही इन्हें पदोन्नति या वेतनवृद्धि दी जाय।

(*vii*) अध्यापक शिक्षा पाठ्यक्रम के सैद्धान्तिक विषयों में विषयवस्तु की पुनरावृत्ति (repetition of contents) दूर की जाय तथा सैद्धान्तिक विषय-वस्तु को कम भी किया जाएँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(*viii*) अध्यापक शिक्षा संस्थाओं में परीक्षा हर परिस्थिति में कम से कम 200 दिन कक्षाएं संचालित होने पर ही सम्पन्न करायी जाए।

(*ix*) छात्रों की विद्यालय में उपस्थिति निर्धारित मानक के अनुरूप न होने पर उन्हें परीक्षा से वंचित किया जाएँ।

(*x*) परम्परागत शिक्षण को आधुनिक शिक्षण से संतुलित रूप से जोड़ा जाय। जैसे—(अ) पाठ-योजना लेखन की परम्परागत पद्धति की अनिवार्यता नहीं होनी चाहिए। बल्कि प्रशिक्षणार्थी को बेहतर शिक्षण सामग्री की तैयारी और उनके प्रयोग को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। (ब) शिक्षण अभ्यास के पूर्व कुछ अध्यापकों द्वारा निर्देशन पाठ के साथ-साथ प्रत्येक विषय के कुछ विडियो रिकार्डेड अच्छे पाठों को दिखाया जाय, जिनमें शिक्षकों/शिक्षक प्रशिक्षकों तथा प्रशिक्षणार्थियों के भी अध्यापन पाठ शामिल हों; इत्यादि।

(*xi*) शिक्षण प्रयोगाभ्यास के दौरान प्रशिक्षणार्थी को सम्बद्ध विद्यालय के एक सदस्य के रूप में अंगीकृत किया जाए तथा उन्हें औपचारिक कक्षा शिक्षण के साथ साथ विद्यालय की अन्य सभी गतिविधियों में भी शामिल किया जाए।

(*xii*) सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ शिक्षण के व्यावहारिक पक्ष पर विशेष बल दिया जाए। प्रत्येक शिक्षण पद्धति के कम से कम 50 से 60 पाठों का अध्यापन अभ्यास कराया जाय। आलोचना, टिप्पणियां इत्यादि विधिवत् होनी चाहिए। पाठ पढ़ाया गया जैसी लिखने की परम्परा समाप्त होनी चाहिए।

(*xiii*) सेमिनार, कार्यशाला तथा अन्य पाठ्य सहगामी क्रियाओं का आयोजन तथा इनमें प्रत्येक प्रशिक्षणार्थी को अनिवार्य सहभागिता सुनिश्चित किया जाय।

(*xiv*) प्रवेश परीक्षा एवं उपाधि परीक्षा को नकल विहीन, अध्यापक शिक्षा के अभिरुचि से सम्बन्धित, ईमानदारी व निष्ठा से करानी चाहिए। इसमें ढ़िलाई होने पर कठोरतम रूप से दण्डित किया जाय।

(*xv*) उत्तर पुस्तिकाओं के मूल्यांकन तथा प्रायोगिक कार्य के मूल्यांकन में सुचिता बरती जाय।

पिछले कुछ वर्षो में जितनी तेजी से वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास हुआ है व्यक्ति के नैतिक संस्कारों, मानवीय मूल्यों एवं व्यावसायिक प्रतिबद्धताओं का ह्रास भी उसी तेजी से हुआ है। शिक्षा, अध्यापक शिक्षा भी, इससे अछूती नहीं है। बल्कि कहें कि शिक्षा के नये सन्दर्भो में आज नैतिक, चारित्रिक मूल्यों की गिरावट एक विकट समस्या बनती जा रही है जिसका प्रभावी परिष्कार अत्यावश्यक है। गांधी जी के अनुसार, "जिस शिक्षा से हम चरित्रवान बन सकें वही सच्ची शिक्षा मानी जा सकती है।" वर्तमान सन्दर्भ में शिक्षा में विशेषतः अध्यापक शिक्षा में नैतिक चारित्रिक गुणों के विकास तथा मानवीय मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा पर विशेष बल दिए जाने एवं अध्यापकों में इसके प्रति प्रतिबद्धता विकसित किए जाने की आवश्यकता है। हालांकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज स्वार्थपरक तथा भौतिकवादी परिवेश में यह इतना आसान नहीं है, किन्तु यदि समन्वित प्रयास किया जाय तो असम्भव भी नहीं; और यह दायित्व अध्यापक ही बेहतर निभा सकता है।

अध्यापकों में तकनीकी कुशलता तथा व्यावसायिक विकास के साथ-साथ महत्त्वपूर्ण है कार्य के प्रति लगन, निष्ठा, व्यावसायिक प्रतिबद्धता, उनका चरित्रा एवं सद्व्यवहार जो मुख्यतः संस्कारों एवं मूल्यों से जुड़ा है। चाहे जितने अच्छे भौतिक संसाधन (जैसे-भवन, पुस्तकालय, प्रयोगशालाएं, विभिन्न उपकरण, साज-सज्जा आदि) उपलब्ध हों किन्तु यदि उपर्युक्त गुणों का अध्यापक में अभाव है तो किसी बेहतर परिणाम की उम्मीद करना व्यर्थ है। आशा की जानी चाहिए कि आने वाले दिनों में हमारा समन्वित प्रयास अवश्य सकारात्मक परिणाम देगा और एक उत्कृष्ट शिक्षा व्यवस्था तथा उसके माध्यम से एक सुशिक्षित, समृद्ध, सुदृढ़, समुन्नत भारत की संकल्पना साकार हो सकेगी।

संदर्भ

1. शर्मा, शशि प्रभा : टीचर एजूकेशन—प्रिन्सिपल्स, थ्योरिस एण्ड प्रैक्टिस, कनिष्का पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2006
2. राव, वी.के. : टीचर एजूकेशन, ए.पी.एच. पब्लिशिंग कारपोरेशन, नई दिल्ली, 2004
3. चक्रवर्ती, मोहित : टीचर एजूकेशन - माडर्न ट्रेन्डस्, कनिष्का पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2006
4. जनार्दन प्रसाद : एजूकेशन एण्ड द टीचर, कनिष्का पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2006
5. मुकलेल, जोसेफ सी : गांधीयन एजूकेशन, डिस्कवरी पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 2006
6. सक्सेना, मिश्रा एवं मोहन्ती : अध्यापक शिक्षा, आर. लाल बुक डिपो, मेरठ, 2005
7. सिंह, प्रेम नारायण : शिक्षा के विविध आयाम, भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी, 2005
8. सोनी, रामगोपाल : अध्यापक शिक्षा, एच.पी. भार्गव बुक हाऊस, आगरा, 2006-07
9. तालामार्थी शिक्षकों के साथ चर्चा (09-02-1939) सम्पूर्ण गांधी वाड्.मय-68:4/4-5 एवं खण्ड-13, पृष्ठ-300
10. टीचर प्रोफाइल नोट : कॅरिकुलम फ्रेम वर्क फॉर क्वालिटी टीचर एजूकेशन, पृष्ठ 23 व 24
11. सिंह, दिग्विजय : अध्यापक शिक्षा-समस्या एवं समाधान, शिक्षक अभिव्यक्ति (पत्रिका), शिक्षा संकाय, हंडिया पी.जी. कालेज, हंडिया, इलाहाबाद (उ.प्र.), 2004-05

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक समीक्षा

प्रकृति, प्रकाश, कविता एवं बच्चों में अपने होने का एहसास*

डॉ. कमल किशोर गोयनका**

साहित्य में कविता का महत्त्व इसलिए है, क्योंकि वह मनुष्य के अस्तित्व, संस्कृति, जिजीविषा और संघर्ष को वाणी देती है। कविता जीवन के प्रति आस्थावान बनाती है और अंधेरे द्वीप में भी जीवित रहने की ललक उत्पन्न करती हैं। वरुण कुमार तिवारी का यह कविता संग्रह कुछ ऐसी ही अनुभूतियाँ कराता है। इस संग्रह की कविताओं में, 'साँझ का धुँधलका' है, 'मुरझाये चेहरे' हैं, 'अंधेरी सुरंग' है, जीवन में 'भूख-प्यास-थकान' है, आदमखोरों से भरा, भयावह जंगल है, शहर सन्नाटा-सूनेपन-अँधेरे एवं भयंकर अट्टहास से घिरा है और 'कंक्रीट के घने जंगल' में बदल रहा है तथा 'अंधकार का आतंक' पहाड़ के नीचे गहरी खाई में कैद होकर मनुष्य को डरा रहा है। तब कवि सीना तान कर कहता है—'सूरज और बादलों के बीच / लगातार स्पर्धा में / पक्षधर हूँ मैं / उजाले का / मैंने देखा है / अंधेरे के खिलाफ / धूप का हँसना / अनगिन काँटों के बीच / फूलों का खिलना / और हिंसा व आतंक भरे / निर्मम वक्त में भी / बर्फ का गिरना।'

कवि चाहता है कि भोर से एक किरण मांगे, परंतु उसके लिए विश्वास के पंख पर सवार होना होगा—'माँग लो / एक किरण भोर से / जो ले जायेंगी / मंजिल तक मुझे / मगर इससे पहले / विश्वास के पंख पर / होना होगा सवार / फिर अनन्त आकाश से / होओगे तुम एकाकार / खुद के होने तक। कवि प्रकाशगामी है, इस अंधेरे द्वीप में प्रकाश चाहिए। कवि रोशनी से कहता है—'रोशनी!/ अब तो रहम करो और उँड़ेल दो। कुछ किरणें / मेरी खाली सुराही में।' कवि को कविता की शक्ति पर विश्वास है। कविता अंधेरी सुरंग में रोशनी फैला सकती है, कविता आदमी और मूल्य को अपनी पीठ पर ढोती है और कविता प्रत्येक आँगन के लिए सूरज की

---

* अपने होने का एहसास : वरुण कुमार तिवारी, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, पहला संस्करण-2007, मूल्य : 125 रुपये, पृष्ठ संख्या : 104

** डॉ. कमल किशोर गोयनका, ए-98, अशोक विहार, फेज-प्रथम, दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किरण, चाँद की चाँदनी तथा पूरी धरती के लिए मुक्त आकाश बनाना चाहती है–'और प्रत्येक आँगन के लिए / सूरज की किरणें / चाँदनी की छाँह / और पूरी धरती के लिए / मुक्त आकाश / होना चाहती है / कविता।' यह कविता आदमी को ढूँढ़ती है, आदमी दुर्लभ है, कहीं कोई आदमी नहीं लेकिन कवि को विश्वास है कि एक दिन कविता आदमी को ढूँढ़ ही लेगी–'ढूँढ़ती ही रहती है वह / इस भयावह जंगल में भी / एक अदद आदमी को लगातार / और जानता हूँ मैं / एक-न-एक दिन / अपने आकाश को / ढूँढ़ ही लेगी / कही-न-कहीं / कविता।' कवि का यह विश्वास अटूट है और उसकी कविता का भी क्योंकि–'कविता के हाथों में है / सुबह का उजाला / और उसकी आँखों में है / संभावनाओं की भरपूर चमक।'

कवि को यह चमक, उल्लास, जीवन-रस प्रकृति और बच्चों में भी दिखाई पड़ता है। कवि केवल प्रकृति, प्रेम, बच्चों का ही नहीं जीवन सौन्दर्य का भी प्रेमी है। प्रेम पर कुछ कविताएँ हैं और कवि मानता है कि जिसके जीवन में प्रेम नहीं है, उसके जीवन में 'जीवन' नहीं है। प्रकृति का सौन्दर्य तो अनेक कविताओं में परिवेश की सृष्टि करता है और वह जो बिम्ब निर्मित करता है, वे मन को प्रकृतिमय बना देते हैं। इस संग्रह में बाल-जीवन का अद्‌भुत एवं आकर्षक सौन्दर्य विद्यमान है।

कवि की आँखें बच्चों को देखते ही चमक उठती हैं और उसे स्पर्श करने पर उसके रोम-रोम में सहस्र कमल खिल उठते हैं। कवि इस बच्चे को अपने कंधे पर बैठाता है तो वह ऊर्जावान एवं प्राणवान बन जाता है–'मैंने उठा लिया / कंधे पर उसे / और मेरे बाजुओं में / आ गयी / सब राष्ट्रों की / सभी आकाशों की / नयी ऊर्जा / प्राणवत्ता के साथ।' कवि बच्चों को उत्सवमय देखता है और उन्हें संसार की सुन्दरतम चीज मानता है–'कृतज्ञ हूँ मैं / संसार की सुन्दरतम चीज़ / बच्चों की कोमल आँखों का / जिनमें मैं / पेड़-पर्वत-नदी / और चिड़ियों की भाषा को / पढ़ पाया / और उनसे बतियाते हुए / सहज सीख पाया / स्वयं से बातें करना।' इस बच्चे को कवि प्रकृति और अपने आत्म से जोड़ते हैं। बच्चों को मौसम, मिट्टी और ओस में भीगे गुलाबों से प्रेम है, अतः वे कवि उदास नहीं होंगे। जो प्रकृतिमय है, जो चिड़ियों, झरनों, पेड़ों तथा पत्थरों से प्रेम करते हैं, वे कंक्रीट के घने जंगल से बचे रहते हैं।

कवि आशावान है, स्वप्नदर्शी है तथा नयी रचना के लिए संकल्पशील है। वह कल की दुनिया को बेहतर बनाना चाहता है। वह इसके लिए स्वप्न देखता है–'मैं / आगत सुबह के लिए / सँजोने लगता हूँ। सुन्दर-सुन्दर सपने।' उसे इन सपनों के फलीभूत होने की आशा है। वह अपने प्रेमी से कहता है–'मेरे मन के पोर-पोर को / नयी आशाओं के / देश-राग से / झंकृत कर दो।' ये आशाएँ देश-राग पूर्ण हैं, पूर्ण देश के लिए, सभी मनुष्यों के लिए हैं, सभी पीड़ित, प्रताड़ित और परेशान आदमियों के लिए हैं, और इसके लिए वह किसी भी तानाशाह, हैवान और शैतान के लिए 'धधकती आग' बनने को उद्यत है, लेकिन यह लड़ाई वह हँसिया-हथौड़े से नहीं करेगा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह एक हाथ में फावड़ा और दूसरे हाथ में सलीब होकर चलेगा, अर्थात् अब कवि हिंसा-संहार तथा खूनी क्रांति से नहीं, निर्माण और बलिदान से देश की, समाज की और आदमी की रचना करेगा। कवि की यह चेतना उसे मार्क्स के स्थान पर गाँधी से जोड़ती है। विध्वंस और क्रान्ति का स्वप्न टूट चुका है, अब निर्माण के साथ बेहतर आदमी बनाने की प्रक्रिया भारतीय चेतना से ही करनी होगी। इस प्रकार इस कविता संग्रह में अपना आत्म-बोध ही नहीं है अपना मार्ग चुनने का भी साहस है। यह हिन्दी कविता का नया स्वर है, और निश्चय ही इक्कीसवीं शताब्दी की कविता का यह शुभारम्भ है। कवि की आशा, आस्था और विश्वास ने मनुष्य को नई ऊर्जा दी है। वह संकल्प के साथ, नई संभावनाओं को लेकर 'देश-राग' के लिए अपनी कविता का द्वार खोलता है, अतः इसका स्वागत होना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक-समीक्षा

'समस्त भारतीय भाषाओं के लिए एक अनुकरणीय प्रयास**

डॉ. कामेश्वर पंकज*

तेलुगु भाषा अन्य भारतीय भाषाओं की तरह समृद्ध और प्रगतिशील है। यह सबसे बड़ी संख्या में बोली जाने वाली हिन्दी के बाद दूसरी भाषा है। इसकी भाषिक एवं साहित्यिक परम्परा विशाल और समुन्नत है। इसके साहित्य में भारत की धड़कन है। तेलुगु भाषा-साहित्य अपनी जातीय चेतना की महक लेकर भारतीय जनमानस को पूर्णता में व्यक्त करता है। वस्तुतः यह सभी भारतीय भाषा साहित्य का स्वधर्म है। तेलुगु साहित्य ने अपने प्रारम्भिक काल (सन् 700 ई.) से 20वीं शताब्दी तक एक लम्बी यात्रा तय की है और भारतीय भाषा-साहित्य को समृद्ध किया है। इनका आधुनिक युग सन् 1750 ई. से आरम्भ होता है, जिसे इतिहासकारों ने गद्य युग या नवीन विकास युग कहा है। इस युग का आरम्भिक काल 'ह्रास युग' कहलाता है। 19वीं सदी के अंतिम चरण में गद्य युग का चतुर्दिक विकास हुआ है। इसका नेतृत्व केन्दुकुरि वीरेश लिंगम् पंतुलु ने किया। इन्होंने गद्य की लगभग सभी विधाओं में लेखन कर समकालीन रचनाकारों को साहित्य के नवीन क्षेत्रों और आधुनिक दृष्टिकोणों से परिचित करवाया। हिन्दी साहित्य में जो कार्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया वही कार्य तेलुगु साहित्य में के. वी. पंतुलु ने किया। समीक्ष्य पुस्तक '20वीं सदी का तेलुगु साहित्य', संपादक डॉ. विजयराघव रेड्डी का प्रस्थान बिन्दु यही से आरम्भ होता है।

सम्पादक डॉ. विजयराघव रेड्डी का दृष्टिकोण बहुत ही स्पष्ट और व्यापक है। वे एक तरफ भारतीय साहित्य को निरंतरता में देखते हैं तो दूसरी ओर भाषाई साहित्य की निजता को भी रेखांकित करते हैं। उनका मानना है कि ''हर भाषा-साहित्य की अपनी साहित्यिकता होती है। तेलुगु साहित्य की भी अपनी साहित्यिकता एक ही सांस्कृतिक साझेदारी से सम्बद्ध अलग-अलग भारतीय भाषाओं के साहित्यों में एक ही साहित्यिकता सहज ही दूसरे में अन्तर्लीन रहती है।'' (पृष्ठ सं. 13)

---

* समीक्षक : डॉ. कामेश्वर पंकज, प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, के.बी. झा महाविद्यालय, कटिहार (बिहार)

** बीसवीं सदी का तेलुगु साहित्य, सम्पादक : डॉ. विजय राघव रेड्डी, आलेख प्रकाशन, बी-8, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः सभी भारतीय भाषा-साहित्य की अपनी साहित्यिकता होते हुए भी परस्पर भाव धारा का सातत्य है, जिसमें यहाँ का धर्म, दर्शन, संस्कृति, सभ्यता आदि प्रवाहमान है।

पुस्तक में साहित्य की हर विधा कविता-कहानी से लेकर रेडियो-टी.वी. आलेख तक को लिया गया है। इन्हें निम्नलिखित नौ वर्गों में रखा गया है—

1. तेलुगु साहित्य सृजन : बीसवीं शती की भूमिका
   —के. के. रंगनाथाचार्युलु
2. कविता (मुक्तक, प्रबंध और गीतिकाव्य सहित)
   —विजयराघव रेड्डी
3. कथा साहित्य (उपन्यास, कहानी और गल्पिका)
   —पोरंकि दक्षिणामूर्ति, सी. मृणालिनी
4. नाटक और रंगमंच
   —एस. ए. सूर्यनारायण वर्मा, पी. वी. नरसा रेड्डी
5. आलोचना (व्यावहारिक, सैद्धान्तिक, नवचिंतन)
   —कोवेल संपत्कुमाराचार्य
6. निबंध (निबंध, ललित निबंध, शोध प्रबंध)
   —वेलुदंड नित्यानंद राव
7. अन्य गद्य विधाएँ-1 : (आत्मकथा, यात्रा, पत्र, डायरी, साक्षात्कार)
   - जी. गौरीशंकर
8. अन्य गद्य विधाएँ-2 (जीवनी, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, रेडियो, टी.वी. आलेख)
   —जी. चेन्नकेशव रेड्डी, वी. मल्लिकार्जुन राव, ओलेटि पार्वतीशम्
9. समग्र अवदान
   —निखिलेश्वर

सम्पादक वि. रेड्डी की दक्षता है कि विश्लेषण में साहित्य का कोई कोना शेष नहीं रहा। 'तेलुगु साहित्य सृजन ... भूमिका' में लेखक के. के. रंगनाथाचार्युलु ने जिन परिस्थितियों को कलमबंद किया है, वह पूरे भारतीय साहित्य के सन्दर्भ में सच है। यह वह फलक है, जिस पर हिन्दी-बंगला से लेकर तमिल, कन्नड़ आदि साहित्य चित्रित हैं। लेखक ने 20वीं सदी की भूमिका में 1830 ई. से लेकर 1995 ई. तक की उन सारी परिस्थितियों का वर्णन किया है, जिनकी पृष्ठभूमि पर तेलुगु साहित्य की रचना हुई है। लेखक ने बहुत ही दक्षता के साथ 20वीं सदी के विभिन्न साहित्यिक वादों, आन्दोलनों आदि को रेखांकित करते हुए उनके कारक तत्त्वों को स्पष्ट किया है। उनका मानना है कि ''आधुनिक युग में अनेक सामाजिक, राजनैतिक, दार्शनिक सिद्धान्त, विचार व दृष्टिकोण प्रकट हुए जिनके कारण आधुनिक तेलुगु साहित्य के रूप में और उसके मूलतत्त्व में बहुत विविधता प्रकट हुई। सामाजिक व राजनैतिक आन्दोलन के समानांतर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में साहित्यिक आन्दोलन उठ खड़े हुए।'' (पृष्ठ सं. 16) 20वीं सदी के आरम्भिक तेलुगु साहित्य के सृजन में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कंपनी की शिक्षा नीति, ईसाई मिशनरी, ब्रह्म समाज, आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी आदि धार्मिक संस्थाओं का प्रभाव रहा है। 20वीं सदी में राष्ट्रीय स्तर पर जितने परिवर्तन—राजनीति, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि— हुए उनका प्रभाव भी तेलुगु साहित्य पर पड़ा। तेलुगु साहित्य में राष्ट्र को हर झरोखे से देखा गया।

डॉ. विजयराघव रेड्डी ने तेलुगु साहित्य के कविता जगत् का गम्भीर विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इनकी परिपक्व दृष्टि हमेशा इस बात पर भी रहती है कि यह पुस्तक हिन्दी में छप रही है तो हिन्दी काव्यधारा, वाद, आन्दोलन, शब्दावली आदि से मेल खाते हुए तेलुगु साहित्य के बाद आन्दोलन आदि की भी चर्चा हो। इसलिए उन्होंने तेलुगु = हिन्दी—वचन कविता = मुक्त छन्द, भाव कविता = छायावाद, अभ्युदय साहित्य = प्रगतिवाद, अनुभूति कविता = रहस्यवाद आदि शब्दावलियों का समानांतर प्रयोग किया है। अन्य विधा के समीक्षकों ने इस तरह का प्रयास बहुत कम ही किया है। डॉ. रेड्डी की सधी हुई लेखनी ने तेलुगु साहित्य की कविता का सर्वेक्षण बहुविध कोणों से किया है। विश्लेषण में डॉ. सी. आर. रेड्डी की कविता—'मुसलम्मा मरणम्' (1899 ई.) से लेकर 21वीं सदी की दहलीज पर रची जाने वाली दलित और माइनारिटी कविता का यथासम्भव वर्गीकरण भी है। स्वरूपगत वर्गीकरण—प्रबन्ध मुक्तक, गीतिकाव्य, वादगत वर्गीकरण—भावकविता, अभ्युदयवादी कविता आदि; विचारगत वर्गीकरण—विप्लव कविता, दलित, नारीवादी, माइनारिटी कविता आदि—इस वर्गीकरण और विश्लेषण से तेलुगु साहित्य-कविता का पूरा परिदृश्य सहज ही दृष्टिगोचर होता है।

तेलुगु साहित्य का प्रथम उपन्यास 1872 ई. में नरहरि गोपाल कृष्णम्मा कृत 'श्री रंगराज चरितमु' है। यह तेलुगु साहित्य में कथा साहित्य का आरम्भ है। इसकी विकास यात्रा में कहानी, गल्पिका (लघुकथा) का सृजन हुआ है। लेखक पोरंकि दक्षिणामूर्ति एवं सी. मृणालिनी ने तेलुगु कथा साहित्य के विधागत वर्णन के साथ-साथ उपन्यास—कहानी के कालगत और भावगत विभाजन कर इनके अध्ययन को सुगम बनाया है। तेलुगु साहित्य की प्रथम आधुनिक कहानी 1910 ई. में गुरजाडा अप्पाराव कृत—'दिद्दुबाटु' है। सन् 1940 ई. के आसपास गल्पिका का आरम्भ हुआ। गल्पिका (लघुकथा) लेखन में गोपीचंद और के. कुटुम्बराव का नाम लिया जाता है।

तेलुगु नाटक और रंगमंच आलेख की प्रस्तुति लेखक द्वय ने सम्यक् और संतुलित रूप से की है। नाटक और रंगमंच के उद्भव और विकास के साथ-साथ युगीन परिस्थितियों का वर्णन भी किया गया है। तेलुगु नाटक के विकास में गुरजाडा अप्पाराव और के. वीरेशलिंगम् के योगदान को भी रेखांकित किया है। लेखक ने हर दशक में नाटक की प्रवृत्तियों और उसके विकास की दशा और दिशा पर प्रकाश डाला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। लेखक द्वय ने नाटक, एकांकी, वीथि नाटक (नुक्कड़ नाटक) और रंगमंच के विवेचन में तेलुगु समाज का भी अच्छा चित्रण किया है।

तेलुगु साहित्य में आधुनिक आलोचना का इतिहास सौ वर्ष पुराना है। आलेख लेखक कोवेल संपत्कुमाराचार्य ने लिखा है—"साहित्यालोचन का आधुनिकता का रूप धारण करना 1892 ई. में सी. दक्षिणामूर्ति के द्वारा रचित कृति 'पिंगलि सूरना' से हुआ।" (पृ. 119) तेलुगु आधुनिक साहित्यालोचन में ब्रह्मय्या शास्त्री अविस्मरणीय हैं, जिन्होंने समालोचना को एक सुनिश्चित दिशा प्रदान की। इसके बाद इसके विकास और विविधता में प्रेसिडेंसी कॉलेज और क्रिष्टियन कॉलेज मद्रास की आंध्र भाषा समाज के छात्रों का अधिक योगदान रहा है। तेलुगु समालोचना के कई विकास चरण रहे हैं। भाव कविता (छायावादी) की समीक्षा ने तेलुगु समीक्षा के कई नये द्वारों को खोल दिया। 1985 के आसपास तेलुगु समीक्षा में नारीवाद और दलित विमर्श का प्रवेश हुआ। इसके साथ ही आधुनिकानंतर वाद (उत्तर-आधुनिकवाद), नव्य सम्प्रदायवादी आलोचना आदि का विकास तेलुगु भाषा-साहित्य को समृद्ध करता है। लेखक ने इन समालोचनाओं की विस्तृत व्याख्या की है।

निबंध आलेख के लेखक वेलुदंड नित्यानंद राव ने तेलुगु-निबंध साहित्य के उद्‌भव-विकास पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"तेलुगु निबंध-साहित्य सौध के चार मूल स्तम्भ माने जाते हैं—वीरेशलिंगम् पंतुलु, गुरजाडा अप्पाराव, गिडुगु राममूर्ति पंतुलु, एवं पानुगंटि लक्ष्मी नरसिम्ह राव।" (पृ. 135) लेखक ने 1862 ई. से 1991 ई. तक के निबंध रचना एवं संग्रह का इतिवृत्त प्रस्तुत किया है। निबंध साहित्य के विकास में हर भाग को दर्शाते हुए उनकी प्रवृत्तियों का भी वर्णन किया है। अन्य गद्य विधाएँ-1 और 2 में कथा निबंध, नाटक, समीक्षा को छोड़ कर सभी गद्य विधाओं को समेटा गया है। आत्मकथा से लेकर रिपोर्ताज तक का विश्लेषण कालक्रमबद्ध ढंग से किया गया है। भारतीय भाषा-साहित्य की सभी विधाएँ एक-दूसरे के सम्पर्क में आकर विकसित और समृद्ध हुई हैं। यह तथ्य तेलुगु भाषा-साहित्य के लिए भी सत्य है। इसे स्वीकारते हुए जी. गौरीशंकर लिखते हैं—"तेलुगु भाषा-साहित्य...अन्य भाषा-साहित्यों के सम्पर्क व संसर्ग से प्राप्त वैविध्यपूर्ण विधाओं को लिए आदान-प्रक्रिया से सुसंपन्न होता आया है।" (पृ. 145) 'आत्मकथा' विधा के लिए तेलुगु भाषा-साहित्य में कई पर्यायवाची शब्द प्रचलित हैं—जीवित कथा, ब्रतुकु पुस्तकमु, मुच्चट्लु, एरूका, ज्ञापकालु, स्वीय चरित आदि। 'स्वीय चरित्र' अधिक प्रचलित है। तेलुगु की पहली 'आत्मकथा' 1911 ई. में रचित कंदुकूरि वीरेशलिंगम् पंतुलु की है और आज तक एक सौ से अधिक आत्मकथाएं तेलुगु साहित्य में हैं। प्रथम यात्रा साहित्य 1836 ई. 'काशी यात्रा चरित्र' लेखक—वीरास्वामय्या है, प्रथम जीवनी 1913 ई.—के. वीरेशलिंगम् पंतुलु कृत—'विक्टोरिया महाराणी चरितमु' है। गद्य विधाओं के विवेचन में लेखकों ने उन विधाओं का भी विश्लेषण किया है, जो साहित्य विवेचन में प्रायः छूट जाते हैं, जैसे—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेडियो, टी.वी. आलेखन, फीचर लेखन, सम्पादकीय, पुस्तक आमुख इत्यादि। लेखकों ने इन विधाओं का शुमार करके साहित्य के क्षेत्र को विस्तृत किया है।

निखिलेश्वर जी का यह कथन बिल्कुल सत्य है कि "एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में तेलुगु साहित्य का ऐतिहासिक मूल्यांकन करना इस सीमित दायरे में कठिन कार्य है"–(पृ. 196) तेलुगु भाषा-साहित्य के 20वीं सदी के 'समग्र अवदान' की पृष्ठभूमि में इन्होंने लिखा है कि "बीती हुई बीसवीं शती में विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य पर जो भी पश्चिमी विचारधारा का प्रभाव रहा, वह सब कुछ इधर तेलुगु साहित्य में भी घटता गया...पश्चिमी साहित्य में जो परिवर्तन पिछले तीन सौ वर्षों में हो गये थे, वे तेलुगु में सौ वर्ष में ही संपन्न हुए।" (पृ. 196) तेलुगु भाषा-साहित्य की 20वीं सदी समाज सुधारवादी रचना से आरम्भ होती है फिर भाववादी, अभ्युदयवादी, दिगम्बर कविता (हिन्दी की बीटनिक कविता), विप्लव कविता (नक्सलवादी कविता), स्त्रीवाद, दलित कविता, माइनारिटी कविता की धारा प्रवाहित रही। लेखक निखिलेश्वर ने अपने साहित्यिक दर्शन को व्यक्त किया है कि–"केवल मनोरंजन के लिए रचना की जाय, यह बात बेमानी लगती है। किसी भी समाज का यथार्थ रूप साहित्य में दर्शाना हो तो कलात्मक शिल्परंजकता के साथ-साथ एक मानवीय दर्शन का अंतर्निहित आधार होना ही चाहिए।" (पृ. 199)

उनका यह भी मानना है कि "विश्व साहित्य की आधुनिक कविता में आई सभी प्रवृत्तियों को तेलुगु कविता ने आत्मसात किया।" (पृष्ठ 198) लेखक निखिलेश्वर अपने लघु निबंध में तेलुगु भाषा साहित्य के समग्र अवदान को व्यक्त करने में सफल हुए हैं।

समीक्ष्य पुस्तक का अवलोकन एक सुखद अध्ययन-यात्रा के समान है जिसमें तेलुगु भाषा-साहित्य में प्रवेश कर हम समस्त भारतीय भाषा-साहित्य में पसर जाते हैं। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि तेलुगु भाषा-साहित्य को भारतीय भाषा-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में रखकर प्रस्तुत किया गया है और भिन्न-भिन्न लेखकों ने जो अपने आलेख प्रस्तुत किए उनमें कोई व्यवधान नहीं है। यह निश्चय ही सम्पादकीय परिपक्वता और विशाल दृष्टिकोण का परिचायक है। भारतीय भाषाओं की सभी भाषा-साहित्य में ऐसी पुस्तक और उन पुस्तकों का सभी भाषाओं में अनुवाद की आवश्यकता है। ऐसे कार्य से भारतीय साहित्य के सातत्य को उजागर किया जा सकता है। यह स्पष्ट किया जा सकता है कि सभी भारतीय भाषाओं की साहित्यिक धारा (जनमानस की) भावात्मकता एक है। भाषा का लिपिगत भिन्नता के पार्थक्य से उनकी दूरियाँ बढ़ती नहीं हैं। आज के समय में ऐसे प्रयास की अधिक आवश्यकता है। डॉ. वी. रेड्डी का यह प्रयास समस्त भारतीय भाषाओं के लिए अनुकरणीय है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठकीय प्रतिक्रिया

चिंतन-सृजन का जनवरी-मार्च 09 अंक डॉ. नरेन्द्र कोहली के माध्यम से प्राप्त हुआ। अपने नाम के अनुरूप पत्रिका सृजनात्मक चिंतन को सफलतापूर्वक प्रकाशित कर रही है।

मैं कुछ माह ही पूर्व अजंता का भ्रमण कर के आया और उसके बाद लोकेशचद्र जी का आलेख पढ़ा। अफसोस यह हो रहा है कि यह आलेख पहले मिल जाता तो अजंता को सतही तौर पर जानने के अपराध-बोध से कुछ तो बच ही जाता। अत्यधिक ही विश्लेषणकारक चिंतन के साथ लोकेशचन्द्र जी ने, और सही कहा—ये गुहाएँ हमें एक अद्‌भुत प्रशांतता की धड़कनों में पहुँचा देती हैं।

डॉ. नरेन्द्र कोहली ने विष्णुकांत शास्त्री की पुस्तक के माध्यम से सीता के संबंध में विचारवान सामग्री प्रस्तुत की है। इस सामग्री पर बहस हो सकती है।

अंक पढ़ रहा हूँ। एक बार पुनः विचारवान सामग्री प्रदान करने के लए आभार।

पुनशचः काव्य यात्रा की सूचना देने के लिए धन्यवाद।

—प्रेम जनमेज्ञय, 73, साक्षर अपार्टमेंट्स,
ए-3, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063।

संपादक मंडल के पाँच पाण्डवों! आप अधूरे युद्ध के वीर हैं। पत्रिका में ''चिन्तन'' तो है, पराई रचनाओं की! किन्तु ''सृजन'' (कहानी, कविता, नाटक) नहीं है। पाठकों की टोली की उपेक्षित, और पाँच दस विद्वान समीक्षकों के लिये प्रिय पत्रिका है। यह एक ऐसा अस्पताल है, जहाँ खास रोग का रोगी आता है, जैसे टी. बी. अस्पताल। यहाँ हम एक सदर अस्पताल चाहते हैं, जहाँ साहित्य ''सृजन'' साकार हो सके। सभी विधाओं को सेहत और हमारे डाक्टर (संपादक) को यश मिला सके।

- भाई कमला प्र. बेखबर, फारबिसगंज, बिहार।

भाई बेखबरजी,

हिन्दी में सृजन को समर्पित पत्रिकाओं की भरमार है। फिर एक छोटी सी आधे अधूरे विचारों को समर्पित पत्रिका उन पत्रिकाओं के बीच रहे तो हर्ज ही क्या है? उसे झेल लें। वैसे आप रोगियों के लिए सदरअस्पताल चला ही रहे हैं। फिर उनकी की क्या चिन्ता?

- सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपके पुरस्कृत होने पर 10.2.2009 को एक अभिनन्दन पत्र भेजा था। मिला होगा। आज डॉ. रमानाथ त्रिपाठी द्वारा प्रेषित सामग्री में 'चिन्तन-सृजन' के अक्टूबर-दिसंबर, 2008 अंक में शंख-सिन्दूर पर आपकी समीक्षा देखने को मिली। चिंतन-सृजन का जुलाई-सितंबर 2008 अंक के बांद कोई अंक नही मिला। कृपया अक्टू-दिस. 2008 अंक प्रेषित करने का कष्ट करेंगे।

- (प्रो.) भूपेन्द्र रायचौधरी,
58, गौहाटी विश्वविद्यालय परिसर, जुवाहाटी-781014

'चिन्तन-सृजन' की प्रद्धितयाँ मिलीं। अंक का सौंदर्यशास्त्र एवं आशयधनता बहुत अच्छी है। देश के विद्वानों की प्रतिभा एवं ग्यान का प्रकाश आपके पत्रिकाओं में दिखाई देता है। मैं गत आठ साल से जन संचार विभाग में कार्यरत हूँ। मुझे आशा है आपका सदा मार्गदर्शन मिलता रहेगा।

- डॉ. तुकाराम दौड,
जनसंववाद कॉलेज, लातूर (महाराष्ट्र)।

... लगभग पाँच वर्षो से इसे (चिन्तन-सृजन को) पढ़ रहा हूँ। कुछ वैचारिक लगाव सा भी है।

- के. सी. पन्त, सुखताल, नैनीताल।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

With Best Compliments
from
VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.

Administrative Office
LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office
1/3575, Netaji Subhash Marg, Darya Ganj,
New Delhi-110002 Phone Off. 3277883, 3711848

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

We Strive
to Satisfy
Our Customers

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080
☎ 3277883 (Off.)

Regd. Office
1/3575, Netaji Subhash Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri